नित्यस्त्रोत पाठ संग्रह

प्रेरणा

तपोमूर्ति क्षु. राजमति माता जी

सम्पादन

ब्र. धर्मचन्द शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य

प्रकाशक

श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद्

❑ नित्य स्त्रोत पाठ संग्रह

❑ सम्पादन : ब्र. धर्मचन्द्र जैन शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य

❑ आशीर्वाद : क्षु. राजमति माता जी

❑ सह सम्पादक : ब्र. जयमाला जैन, मेरठ
रेखा जैन, टीकमगढ़

❑ प्रकाशन वर्ष : 2003

❑ प्रथमावृत्ति : 100 रुपये

❑ मूल्य : 100.00/-

❑ प्राप्ति स्थान :
श्री पार्श्वनाथ जैन मंदिर, गुलाब वाटिका, लोनी रोड, दिल्ली
फोन : 0120-2600074

❑ मुद्रक : **कौशिक प्रिन्टर्स**
1/11848, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

❑ प्रकाशन सहयोगी
श्री इन्द्रसैन जैन
पहाड़ी धीरज, दिल्ली।

समर्पण

जिन्होंने आत्मोपलब्धि हेतु अन्तरंग तथा वस्त्रादि बाह्य परिग्रह का परिग्रह का परित्याग करके विशुद्ध दिगम्बरत्व अंगीकार किया,
जो भोगाकांक्षा, यशोलिप्सा आदि मनमोहक प्रवृत्तियों से विरत हो आत्मशोधन की मंगल साधना में संलग्न रहे,
जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया आदि दुर्गति के द्वार रूप अनिष्ट प्रवृत्तियों से अभिर्भूत नहीं हुए,
जो भौतिकता के मोहक जाल से ग्रस्त इस विश्व में लोकोत्तर प्रतीत होते थे,
जो अतीत के अध्यात्म प्रधान युग के मुनीद्र कुन्दकुन्द, समंतभद्र, अकलंक, जिनसैन आदि महान आत्माओं के पदचिह्नों का अनुगमन करते थे,
उन ज्ञान ध्यान एवं तप के अनुरक्त समाधि साधक

चारित्र चक्रवर्ति श्री स्वर्गीय श्री १०८ आचार्य
शान्ति सागर जी महाराज
का १३१ वाँ जन्म जयन्ती संयम वर्ष की
पावन-स्मृति में समर्पित

ब्र. धर्मचन्द शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य
अध्यक्ष
श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद्
गुलाव वाटिका

सम्पादकीय

आधुनिक विश्व में सदैव लोक कल्याण के लिए एक धर्म एवं संस्कृति की आवश्यकता रहती है। आवश्यकता आविष्कारों की जननी है। इस नीति से सम्पूर्ण विश्व में अहिंसा धर्म, अनेकान्त दर्शन का उदय हुआ। कर्मयुग के प्रारंभ में मानव की जीवन यात्रा के लिए आदिनाथ ने सर्वप्रथम उपदेश दिया। जैनाचार्यो ने अपने षट्कर्मों के विश्लेषण में लिखते हैं।

देवपूजा गुरुपास्ति, स्वध्याय संयमस्पतः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने।।

उक्त पट् कर्तव्यों में देव पूजा, सबसे प्रथम कर्तव्य कहा है कारण की परमात्मा के गुणों का स्मरण करने से मानव के हृदय में बचन एवं शरीर की शुद्धि होती है। इन तीन भागों की शुद्धि होने से सम्पूर्ण मानव जीवन पवित्र हो जाता है। व्यक्तिगत जीवन पवित्र होने से सामाजिक जीवन एवं पारिवारिक जीवन पवित्र हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा के गुणों का गुणानुवाद अर्चन आत्मशुद्धि का कारण है।

पूजा, अर्चा, अर्चन, उपासना, भक्ति, कीर्तन, स्तुति, स्त्रोत, स्तव, भजन, वंदना, नमस्कृति, नमस्कार, कृतिकर्म, विनयकर्म इन सब पर्यायवाची शब्दों का तात्पर्य एक ही है कि परमात्मा या तीर्थकरों या पंच परमेष्ठी में गर्भित अर्हन्त, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय एवं साधु इनके पूज्य गुणों की आराधना ही पूजा हैं। स्तुति के माध्यम से आत्मा को सुखी बनाना है जो पंचपरमेष्ठियों के गुणों का आत्मा में अनुभव और निरंतर उन्हीं को स्मरण करते हैं वे अपने शाश्वत सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं उन्हीं को योगी कहते है। पंच परमेष्ठी की आराधना ही सच्ची पूजा है।

आत्म विशुद्धता को प्राप्त कर सिद्ध परमात्मा बनने के लिए जैन संस्कृति में सर्वज्ञ वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा अनेकान्तमय जिनवाणी की आराधना प्राथमिक

स्थिति में आवश्यक मानी गई है। प्रतिदिन श्रावक-श्राविका अरिहंत श्रुत सिद्धान्त गुरु निर्ग्रन्थ नित पूजा रचूँ यह पाठ पढ़ता है। वर्तमान युग में संहनन की हीनता के कारण सर्वज्ञता की उपलब्धि के हेतु शुक्लध्यान की समाराधना संभव नहीं अतःस्व सर्वज्ञ देव मनोमंदिर में वंदना योग्य हो गए अथवा स्थापना निक्षेप द्वारा प्रतिमा के रूप में पूजनीय है। जिनेन्द्र वाणी जीवों का उपकार करती हुई आज भी सर्वज्ञ शासन का प्रकाशमय जीवों को प्रदान कर रही है।

धर्माराधना से सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है धर्म के ही द्वारा मुक्ति सुख को प्राप्त किया जाता है। संसार दुःखतः सत्वानों धरत्युत्तमें सुखे--अर्थात् जो विश्व के प्राणियों को जन्म, मरण, राग, द्वेष, मोह आदि विकारों को दूर कर मोक्ष के अविनाशी सुख को प्राप्त करा देता है वही यथार्थ धर्म कहा जाता है।

सो ही आचार्यों ने कहा है--

देव पूजा दया दानं तीर्थयात्रा जपस्पतः।
शास्त्रं परोपकारत्वं मर्त्य जन्म फलाष्टकम्।।

जो देव पूजा, दया, दान, तीर्थयात्रा, जप, तप, शास्त्र अध्ययन, परोपकार को मनुष्य जन्म के उत्तम फल है। मनुष्यों को ये प्रतिदिन करते रहना चाहिए ताकि आत्मा में सुख की अनुभूति हो सके।

जो व्यक्ति भक्ति के माध्यम से जिन गुणों का गुणगान करता है वह उनके गुणों का एक दिन धारक बन जाता है। जिनेन्द्र भगवान की स्तुति भी अपना महत्व रखती है जिसके अनुशीलन करने से परमात्मा श्रुत और परम गुरु के गुणों का चिन्तन होता है, ज्ञान की वृद्धि होती है तथा शान्त रस के पान करने से आत्मा आह्लादित होती है।

इस पुस्तक में कई आचार्य प्रणीत ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद सहित संकलन परम पूज्य क्षु. राजमति माता जी ने किया है।

इस स्त्रोत पाठ संग्रह में क्ष. राजमति माता जी ने नित्य स्वाध्याया हेतु तत्वार्थसूत्र, रत्नकाण्ड श्रावाकाचार, द्रव्यसंग्रह, छहढाला, पंचस्त्रोत आदि का संकलन किया तथा प्रेरणा रही कि इसका प्रकाशन हो।

अतः वर्तमान की आवश्कता देखते हुए इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया है।

ग्रन्थ प्रकाशन में सभी दान दाताओं का आभरी हूँ कि जिन्होंने अपनी चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग कर पुण्य के भागी बने। वे सभी सहयोगी मंगल आशीर्वाद के पात्र है।

इस पुस्तक से अपने जीवन को नई दिशा मिले तथा आप उपादेय का ज्ञान कर मोक्ष मार्ग पर चले यही मंगल कामना है।

—ब्र. धर्मचंद शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य
गुलाब वाटिका

अनुक्रम

मंगलाचरणम्

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

ॐ कारं विन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐ काराय नमो नमः।।१।।

अर्थ– ॐ नमः सिद्धेभ्यः, पांचों परमेष्ठी सहित सिद्धों को नमस्कार हो।

अर्थ– योगी जन बिन्दु सहित ॐ अक्षर का सर्वदा ध्यान करते हैं। जो कि अभिलषित पदार्थ और मोक्ष का देने वाला है। ऐसे ॐकार को बारम्बार नमस्कार हो।

अविरलशब्द घनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितम्।।२।।

अर्थ– निरन्तर शब्द करती हुई जल धारा से सम्पूर्ण पृथ्वीतल के कलंक (मिथ्यात्व) को धो डालने वाली, मुनियों ने जिस तीर्थ की उपासना की है, ऐसी सरस्वती गंगा हम सबके पापों को हरे।

अज्ञान तिमिरांधाणाम् ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।
परम गुरवे नमः परम्पराचार्य गुरवे नमः।।
सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसांपरिवर्धकं भव्यजीवमनः।
प्रतिबोधकारकं पुण्यप्रकाशकं पापप्रणाशकमिदं।।
शास्त्रंजिनस्तोत्रसंग्रहं अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवाः।
तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवाः।।

तेषां वचोऽनुसारमासाद्यश्रीकुंदकुंदाचार्याम्नाये विरचितम्। श्रोतारः सावधानतयाश्रृणवन्तु!।

मङ्गलं भगवान वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुंदकुंदाद्यौ जैन धर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।

अर्थ– ज्ञानरूपी अञ्जन की सलाई से जिसने अज्ञान- रूपी अन्धकार से (एक प्रकार का तिमिर- रोग जिससे दीखता नहीं है) ग्रस्त अन्धे पुरुष की आंखें खोल दी हैं, ऐसे श्रीगुरु के लिए मेरा नमस्कार हो। परम (श्रेष्ठ अंग-पूर्व ज्ञानधारी) गुरुओं को नमस्कार हो। तथा परम्परागत आचार्य गुरुओं को नमस्कार हो। सम्पूर्ण कर्मों का नाशक, कल्याणों का बढ़ानेवाला, भव्य जीवों के मन को धर्म में प्रतिबुद्ध करने वाला, पुण्य का निरूपण करने वाला, पाप का नाशक यह शास्त्र 'जिनस्तोत्र- संग्रह' है। इसके मूल ग्रन्थ बनाने वाले तो सर्वज्ञ देव हैं। उनके अनन्तर ग्रन्थ रचियता गणधर देव एवं प्रति गणधर देव हैं। आगे उन्हीं के वचन अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्य की आम्नाय में यह विरचित हुआ है। श्रोतागण सावधानी पूर्वक पढ़ें। १००८ श्री भगवान महावीर मंगल- स्वरूप हों, गौतम गणधर मंगल स्वरूप हों, सबसे प्रथम कुन्दकुन्दाचार्य मंगल स्वरूप हों, जैन धर्म मंगल स्वरूप हो।

मंगल शब्द का अर्थ इस प्रकार है– 'मंग' का अर्थ होता है, 'सुख' इसको जो देवे सो मंगल है। अथवा 'मल' कहिये 'पाप'' इसको जो गाले अर्थात् नष्ट करे सो मंगल है। इस प्रकार जो सुख को देवे अथवा पाप को नष्ट करे वह मंगल है।

●

पंचाक्षरी स्तोत्र

या योगीन्द्रनरेन्द्रवृन्दमहितामोक्षस्य निश्रेणिका: ।
स्वर्गारोहणमिच्छतां तनुभृतां सोपानमालोपमा ।।
याऽनर्घाभुवनत्रयस्य विमला या मुक्तिसौख्यावहा ।
वंदेऽहं त्रिविधेन तां भगवतीं स्वाराधनादेवताम् ।।१।।
या निर्वाणविशिष्टसौख्यजननी स्वर्गार्गलोद्घाटिनी ।
संसारार्णवशोषिणी शिवकरी कर्माष्टकोच्चाटिनी ।।
या विघ्नांतकरोगशोकमथनी या कामधेनूपरा ।
वंदेऽहं त्रिविधेन तां भगवतीं स्वाराधनादेवताम् ।।२।।
स्वात्मीयात्मतयापराशिवतया स्वात्मोत्थितास्वात्मना ।
भक्त्याबोधिसमाधिमुक्तिकुशला दारिद्र्यनिर्णासिनी ।।
या शुद्धात्मनि संस्थिता च महती स्वात्मीयबोधोद्भवा ।
वन्देऽहं त्रिविधेन तां भगवतीं स्वाराधनादेवताम् ।।३।।
या सम्यक्त्वमहार्घरत्नजननी ज्ञानोद्भवा या परा ।
शुद्धा धर्ममयी स्वसिद्धिविषया तुर्यास्तपोनिर्मिता ।।
या दत्ते पदमक्षयं शुभधियां कल्याणमालापरा ।
वन्देऽहं त्रिविधेन तां भगवतीं स्वाराधनादेवताम् ।।४।।
स्वात्मन्या परमात्मनां बहुविधा स्वात्मीकृता स्वात्मना ।
स्वात्मानं परमात्मना निरुपमा या ध्यायते योगिभि: ।।
भव्या स्वात्मनि संस्थिता यतिनुत संग्रह्य ज्ञानात्मना ।
वंदेऽहं त्रिविधेन तां भगवतीं स्वाराधनादेवताम् ।।५।।

या मूलं सकलागमस्य सकलज्ञानस्य या कारणं।
शुभ्रा वालमृणालकान्तिसदृशी ज्ञानोद्भवा भास्करा।।
ध्येया सर्व नरामरेन्द्रनिवहैश्चिन्तनसां ध्वंसिका।
वन्देऽहं त्रिविधेन तां भगवतीं स्वाराधनादेवताम्।।६।।
याऽभ्यर्च्या मलवर्जिता शुभकरी पापत्रयोन्मूलिनी।
हृष्टा कुष्टविनाशिनी हितकरी मातैव शर्मप्रदा।।
या लौकाग्रनिवासिनी शिवमयं दत्ते पदं शाश्वतं।
वंदेऽहं त्रिविधेन तां भगवतीं स्वाराधनादेवतां।।७।।
या दत्ते च जिनेशिनां पदयजं त्रैलोक्यसंशोभकम्।
स्थानं जन्मजरावियोगरहितं ज्ञानं परं निर्मलं।।
सौख्यं सर्व सुरासुरेन्द्रमहितं लौकान्तिकानां पदं।
वंदेऽहं त्रिविधेन तां भगवतीं स्वाराधनादेवतां।।८।।
या कर्मारिविनाशिनी जिनमता या मंगला योगिनां।
या सर्वासुमनोहरा गणधरैराराध्यमाना सदा।।
वै बुद्धा स्वयमात्मनो भयहरी या स्वेन स्वात्मीकृता।
वन्देऽहं त्रिविधेन तां भगवतीं स्वाराधनादेवताम्।।९।।
तावत् दुर्गतिदु:खभारभरित: प्राणी चिरं विद्यते।
नाना दु:खभराकुले बहुतरं दु:खं भवे सह्यते।।
यावन्नीति न देवतां गुरुवतां भो श्री महाराधिनां।
वंदेऽहं त्रिविधेन तां भगवतीं स्वाराधनादेवताम्।।१०।।

धन्यास्ते धरणीतलेऽपि मनुजास्ते योगिनो ज्ञानिना- ।
स्ते ज्ञानोदधिपारगास्त्रिभुवने ते पुण्यवन्ते नराः ।।
ते संसारसमुद्रशोषणपरास्ते भाजनं सम्पदां ।
ये ध्यायंति दिवानिशं भुविनुतां स्वाराधनादेवताम् ।।११।।
आकृष्टिं सुरसंपदां विदधते मुक्तिश्रियो वश्यता ।
मुच्चाटं विपदां चतुर्गतिर्भवां विद्वेषमात्मैनसाम् ।।
स्तंभं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहिनीम् ।
वन्दे पंचनमस्क्रियाक्षरमयीं स्वाराधनादेवताम् ।।१२।।

●

मंगलाष्टकम्

श्रीमन्नम्र-सुरासुरेन्द्र-मुकुट-प्रद्योत-रत्नप्रभा
भास्वत्-पाद-नखेन्दवः प्रवचनांभोधीन्दवः स्थायिनः ।
ये सर्वे जिन-सिद्ध सूर्यनुगतास्ते पाठकाः साधवः,
स्तुत्या योगिजनैश्च पञ्च-गुरवः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ।।१।।

अणिमादि अनेक ऋद्धियों के धारक तथा नतमस्तक सुरेन्दों और असुरेन्द्रों के मुकुटों में लगे हुए कान्तियुक्त रत्नों की प्रभा से भासमान नखरूपी- चन्द्र से जिनके चरण सुशोभित हो रहे हैं, जो प्रवचनरूपी- वारिधि को उद्वेलित करने के लिए चन्द्रमा के समान हैं, जो सदा अपने स्वरूप में ही स्थित रहते हैं और जिनकी स्तुति योगीजन किया करते हैं- वे अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु- ये पांच परमेष्ठी सदा तुम्हारा मंगल करें ।

सम्यग्दर्शन-बोध-वृत्तममलं रत्नत्रयं पावनं,
मुक्ति श्री नगराधिनाथ-जिनपत्युक्तोऽपवर्गप्रदः ।।

धर्मः सूक्तिसुधा च चैत्यमखिलं चैत्यालयं श्रयालयं,
प्रोक्तं च त्रिविधं चतुर्विधममी कुर्वन्तु ते मंगलम्।।२।।

निर्दोष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का समन्वय ही रत्नत्रय है। श्री सम्पन्न मोक्षनगरी के स्वामी भगवान् जिनदेव ने इसे अपवर्ग अर्थात् मोक्ष को देने वाला धर्म कहा है। तीन प्रकार का धर्म जो पूर्व में कहा गया है वह, तथा सूक्तिसुधा, समस्त जिन-प्रतिमा और लक्ष्मी का आकारभूत जिनालय- ये मिलकर चार प्रकार का धर्म कहा गया है। यह चार प्रकार का धर्म तुम्हारा मंगल करे।

नाभेयादि- जिनाधिपास्त्रिभुवनख्याताश्चतुर्विंशतिः,
श्रीमन्तो भरतेश्वर-प्रभृतयो ये चक्रिणो द्वादशः।।
ये विष्णु-प्रति विष्णु-लांगलधराः सप्तोत्तरा विंशतिः,
त्रैकाल्ये प्रथितास्त्रिषष्टि-पुरुषाः कुर्वन्तु ते मंगलम्।।३।।

तीन लोक में विख्यात जो नाभेय ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, नाना प्रकार की उत्तम विभूति से युक्त जो भरत आदि बारह चक्रवर्ती हुए हैं, और जो नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र हुए हैं- वे समस्त प्रसिद्ध त्रेसठ महापुरुष तीनों कालों में तुम्हारा मंगल करें।

देव्योऽष्टौ च जयादिका द्विगुणिता विद्यादिका देवताः,
श्रीतीर्थङ्कर-मातृकाश्च जनका यक्षाश्च यक्ष्यस्तथा।।
द्वात्रिंशत्त्रिदशाधिपास्तिथिसुरा दिक्कन्यकाश्चाष्टधा,
दिक्पाला दश चेत्यमी सुरगणाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम्।।४।।

जयादि आठ देवियाँ, सोलह विद्या आदि देवता, चौबीस तीर्थंकरों के चौबीस पिता- माताएँ तथा उनके चौबीस यक्ष और चौबीस यक्षिणी,

बत्तीस इन्द्र, तिथिदेवता, आठ दिक्कन्याएँ और दश दिक्पाल- ये सब देवगण तुम्हारा मंगल करें।

ये सर्वौषध-ऋद्धयः सुतपसो वृद्धिंगताःपंच ये,
ये चाष्टांग-महा-निमित्त-कुशला-येऽष्टा-विधाश्चारणाः।
पंचज्ञान-धरास्त्रयोऽपि बलिनो ये बुद्धि ऋद्धीश्वराः,
सप्तैते सकलार्चिता गणभृतः कुर्वन्तु ते मङ्गलम्।।५।।

जो उत्तम तप से प्राप्त हुई पांच सर्वौषधि- ऋद्धियों के स्वामी हैं, अष्टांग महानिमित्तों में कुशल हैं, आठ चारण ऋद्धियों के धारी हैं, पाँच प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न हैं, तीन प्रकार के बल से युक्त हैं, बुद्धि आदि सात प्रकार की ऋद्धियों के अधिपति हैं– वे जगतपूज्य गणधर देव तुम्हारा मंगल करें।

कैलासे वृषभस्य निर्वृति मही वीरस्य पावापुरे,
चम्पायां वसुपूज्य-सज्जिनपतेः सम्मेद-शैलेऽर्हताम्।।
शेषाणामपि चोर्जयन्त-शिखरे नेमीश्वरस्यार्हतो,
निर्वाणावनयः प्रसिद्धविभवाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम्।।६।।

ऋषभ की निर्वाण- भूमि कैलाश, वीर की मुक्ति- भूमि पावापुर, वासुपूज्य की निर्वाण- भूमि चम्पापुरी, नेमीश्वर की मुक्ति- भूमि ऊर्ज्जयन्त (गिरनार) और शेष २० जिनों का निर्वाण क्षेत्र सम्मेदशिखर है। वे विभवसम्पन्न निर्वाण भूमियां तुम्हारा मंगल करें।

ज्योति-र्व्यन्तर-भावनाऽमर-गृहे मेरौ कुलाद्रौ तथा,
जम्बू-शाल्मलि-चैत्यशाखिषु तथा वक्षार-रूप्याद्रिषु।।
इष्वाकारगिरौ च कुण्डलनगे द्वीपे च नन्दीश्वरे,
शैले ये मनुजोत्तरे जिनगृहाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम्।।७।।

ज्योतिषी, व्यन्तर भवनवासी और वैमानिकों के निवास स्थान में तथा मेरु, कुलाचल, जम्बूवृक्ष, शाल्मलीवृक्ष, चैत्यवृक्ष, वक्षारगिरि, विजयार्धगिरि, इष्वाकारगिरि, कुण्डलनगर, नन्दीश्वरद्वीप और मानुषोत्तर पर्वत पर स्थित जिन चैत्यालय तुम्हारा मंगल करें।

यो गर्भावतरोत्सवो भगवतां जन्माभिषेकोत्सवो,
यो जातः परिनिष्क्रमेण विभवो यः केवलज्ञानभाक्।।
ये कैवल्य-पुर-प्रवेश-महिमा, सम्भावितः स्वर्गिभिः,
कल्याणानि च तानि पञ्च सततं, कुर्वन्त ते मङ्गलम्।।८।।

समस्त तीर्थंकरों के जो गर्भ- कल्याणक महोत्सव, जन्माभिषेक उत्सव, तप- कल्याणक महोत्सव, केवलज्ञान महोत्सव और निर्वाण महोत्सव हुए हैं वे पंचकल्याणक निरन्तर तुम्हारा मंगल करें।

इत्थं श्री-जिन-मगंलाष्टकमिदं सौभाग्य-सम्पत्-प्रदं,
कल्याणेषु महोत्सवेषु सुधियस्तीर्थङ्कराणामुषः।।
ये शृण्वन्ति पठन्ति तैश्च सुजनै-र्धर्मार्थ-कामान्विताः,
लक्ष्मीराश्रयते व्यपाय-रहिता निर्वाण-लक्ष्मीरपि।।९।।

इस प्रकार तीर्थंकरों के पांच कल्याणक महोत्सवों के समय तथा प्रातः काल जो बुद्धिमान हर्षपूर्वक सौभाग्य और सम्पत्ति को देने वाले इस जिन मंगलाष्टक को पढ़ते हैं, अथवा सुनते हैं, वे सज्जन पुरुष, धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ से युक्त लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं एवं शनैः शनैः अन्त में अपायरहित हो मोक्ष- लक्ष्मी को भी प्राप्त कर लेते हैं।

●

श्री सरस्वती स्तोत्रम्

चन्द्रार्क कोटिघटितोज्ज्वल दिव्य- मूर्ते,
श्री चन्द्रिकाकलित निर्मल शुभ्रवस्त्रे ।।
कामार्थदायि कलहंस समाधि रूढे,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि ।।१।।

अर्थ– करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा के एकत्रित तेज से भी अधिक तेज धारण करने वाली चन्द्रकिरण के समान अत्यन्त स्वच्छ एवं श्वेत जस्त्र को धारण करने वाली, सकल मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाली तथा कलहंस पक्षी पर आरुढ़ दिव्यमूर्ति श्री सरस्वती देवी! हमारी प्रतिदिन रक्षा करें।

देवा सुरेन्द्र नतमौलि मणि प्ररोचिः,
श्री मञ्जरी निविड़ रंजित पाद पद्मे ।।
नीलालके प्रमदहस्ति समानयाने,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि ।।२।।

अर्थ– जिनके चरण कमलों में देवेन्द्र नत-मस्तक हैं, देवों के मस्तक में लगे हुए किरीटों के ऊपर बहुमूल्य रत्नों की प्रभा से जिनके चरण सुशोभित हैं, जिनके केश नीलवर्ण हैं तथा जिनकी गति मदोन्मत्त हाथी के समान मन्द है, ऐसी श्रीसरस्वती देवी! हमारी नित्यप्रति रक्षा करें।

केयूर-हार - मणिकुण्डल - मुद्रिकाद्यैः,
सर्वांग भूषण नरेन्द्र मुनीन्द्र वंद्ये।
नाना - सुरत्न वर - निर्मल - मौलियुक्ते,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि ।।३।।

अर्थ– जिनका सर्वांग बाजूबन्द, हार, मणियों के कुण्डल और मुद्रिका आदि आभूषणों से आभूषित हैं, राजाओं और मुनियों से जो वन्दनीय हैं, नाना प्रकार के उत्तम रत्नों से युक्त मुकुट से जिनका मुखमण्डल सुशोभित है, ऐसी सरस्वती देवी! हमारी रक्षा करें।

मञ्जीर कोत्कनक कंकण किंकणीनां,
कांच्याश्च झंकृतरवेण विराजमाने।।
सद्धर्म वारिनिधि संतत वर्द्धमाने,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि।।४।।

अर्थ– जो स्वर्ण के तोड़े, कंकण और घुंघुरुओं तथा कमर- बन्धों की झंकार करती हुई विराजमान हैं, भगवान् जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित अहिंसा प्रधान- धर्मरूपी- समुद्र को निरन्तर बढ़ाने वाली हैं- ऐसी हे सरस्वती देवी! आप हम सबकी रक्षा करें।

कंकेलि पल्लव विनिंदित पाणि युग्मे,
पद्मासने दिवस पद्म समान वक्त्रे।।
जैनेन्द्र वक्त्र भव दिव्य समस्त भाषे,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि।।५।।

अर्थ– जिन्होंने अपने सुकोमल करों से अशोकवृक्ष के कोमल पत्तों को भी तिरस्कृत कर दिया है, जिनका आसन कमल का है, जिनका मुख मण्डल दिन में विकसित होने वाले कमल के समान अत्यन्त सुन्दर है और जो भगवान् जिनेश्वर के मुख से उत्पन्न होने वाली सर्वभाषामयी स्वरूप में प्रकट हुई हैं, ऐसी सरस्वती देवी! सदा हमारी रक्षा करें।

अर्द्धेन्दु मण्डित जटा ललित स्वरूपे,
शास्त्र प्रकाशिनि समस्त कलाधिनाथे।।

चिन्मुद्रिका जप सराभय पुस्तकांके,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि।।६।।

अर्थ– अर्द्ध चन्द्र से विभूषित जटा के संयोग से जिनका स्वरूप अत्यन्त मनोहर है, जो सम्पूर्ण शास्त्रों को प्रकाश करने वाली हैं, जो समस्त कलाओं की स्वामिनी हैं और जिनकी ज्ञानमुद्रा, जपमाला, अभयदान तथा पुस्तक ही जिनके लक्षण हैं, ऐसी श्री सरस्वती देवी! सदा हमारी रक्षा करें।

डिंडीरपिंड हिम शंख सिताभ्रहारे,
पूर्णेन्दु बिम्बरुचि शोभित दिव्यगात्रे।।
चांचल्यमान मृगशाव ललाट नेत्रे,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि।।७।।

अर्थ– समुद्र के फेन अथवा बर्फ के समान अत्यन्त सफेद हार जिनके कण्ठ में है, जिनका शरीर पूर्णिमा के चन्द्रबिम्ब के समान अत्यन्त सुशोभित है, तथा जिनके नेत्र कमल मृग के छोटे छोटे बच्चों के समान चंचल हैं, ऐसी हे सरस्वती देवी! तुम हमारी सदा रक्षा करो।

पूज्ये पवित्र करणोन्नत कामरूपे,
नित्यं फणीन्द्र गरुड़ाधिप किन्नरेन्द्रैः।
विद्याधरेन्द्र सुरयक्ष समस्त वृन्दैः,
वागीश्वरि प्रतिदिनं मम रक्ष देवि।।८।।

अर्थ– जो सभी को पवित्र करने वाली उन्नत काम स्वरूप हैं, जो नागराज, गरुड़राज, किन्नरेन्द्र, विद्याधरराज, देवेन्द्र, यक्ष आदि समस्त देवों के समुदाय से सदा पूजनीय हैं ऐसी हे सरस्वती देवी! तुम सदा हमारी रक्षा करो।

श्री सरस्वती नाम स्तोत्र

सरस्वत्याः प्रसादेन, काव्यं कुर्वन्ति मानवाः।
तस्मान्निश्चल भावेन, पूजनीया सरस्वती।।१।।

अर्थ– श्री सरस्वती के प्रसाद से सभी मनुष्य काव्य को पूर्ण करते हैं, इसलिए वह सरस्वती देवी निश्चलभाव से सदा पूजनीय है।

श्री सर्वज्ञ-मुखोत्पन्ना, भारती बहुभाषिणी।
अज्ञान तिमिरं हन्ति, विद्या बहु विकासिनी।।२।।

अर्थ– जो श्रीसर्वज्ञ वीतराग प्रभु के मुख-कमल से उत्पन्न हुई हैं, जो अनेक भाषारूप हैं अर्थात् जो विविध प्रकार की विद्याओं का विकास करके अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाली हैं, ऐसी हे सरस्वती देवी! तुम सदा ही हम सब की रक्षा करो।

सरस्वती मया दृष्टा, दिव्याकमल लोचना।
हंस स्कन्ध समारूढा, वीणा पुस्तक धारिणी।।३।।

अर्थ– (जो अनेक विद्याओं का विकास करने वाली हैं,) जिनके नेत्र कमल के समान दिव्य एवं अत्यन्त सुन्दर हैं, जो हंसपक्षी पर सवार हैं, जो अपने हाथों में वीणा और पुस्तक धारण किये हुई हैं, ऐसी श्री सरस्वती देवी को मैंने देखा, अर्थात् ऐसी भव्य सरस्वती देवी के दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ।

प्रथमं भारती नाम, द्वितीयं च सरस्वती।
तृतीयं शारदा देवी, चतुर्थं हंसगामिनी।।४।।

पञ्चमं विदुषां माता, षष्ठं वागीश्वरी तथा।
कुमारी सप्तमं प्रोक्तं, अष्टमं ब्रह्मचारिणी।।५।।

नवमं च जगन्माता, दशमं ब्राह्मिणी तथा।
एकादशं तु ब्रह्माणी, द्वादशं वरदा भवेत्।।६।।

वाणी त्रयोदशं नाम, भाषा चैव चतुर्दशं।
पंचदशं च श्रुतदेवी, षोडशं गौर्निगद्यते।।७।।

अर्थ– सरस्वती का पहला नाम भारती, दूसरा सरस्वती, तीसरा शारदा देवी, चौथा हंसगामिनी, पाँचवां विद्वज्जनों की माता, छट्ठा वागीश्वरी, सातवाँ कुमारी, आठवाँ ब्रह्मचारिणी, नववां जगन्माता, दशवां ब्राह्मिणी, ग्यारहवां ब्रह्माणी, बारहवां वरदा, तेरहवां वाणी, चौदहवां भाषा, पन्द्रहवां श्रुत देवी और सोलहवां गौ– इस प्रकार श्री सरस्वती देवी के पर्यायवाची नाम हैं।

एतानि श्रुतनामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
तस्य संतुष्यति माता, शारदा वरदा भवेत्।।८।।

अर्थ– उपर्युक्त सरस्वती के पर्यायवाची नामों का जो मनुष्य प्रातः उठकर पाठ करता है, उसके ऊपर सरस्तवी माता संतुष्ट होती हैं और उसके सकल मनोरथों को पूर्ण करती हैं।

सरस्वती नमस्तुभ्यं, वरदे कामरूपिणी।
विद्यारम्भं करिष्यामि, सिद्धि र्भवतु मे सदा।।९।।

अर्थ– हे सरस्वती देवी! तुम इष्ट को पूर्ण करने के लिए कामरूप हो, अतः तुम्हें हमारा नमस्कार हो। हे देवी! मैं विद्यारम्भ करूंगा, इसलिए आप सहायक हों जिससे कि हमारी सिद्धि सदा होती रहे।

प्रातः विधि

प्रातरेव समुत्थाय तल्पाद्दक्षिणपार्श्वतः।
निषण्णस्तत्र पूर्वस्य एकाग्रश्चिंतयेदिति।।१।।

अर्थ– प्रात: काल अर्थात् सूर्योदय से पहले दो घटिका रात्रि शेष रहने पर शय्या के दक्षिण भाग से उठकर, वहीं पर पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठना चाहिए और एकाग्रचित्त से णमोकार मंत्र का स्मरण करके इस प्रकार विचार करना चाहिए।

अनादौ घोरसंसारे भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा कुयोनिषु।
कथञ्चिज्जिनधर्मोऽयं गृहस्थीयो मया धृतः।।२।।

अर्थ– इस अनादि कालीन भयंकर संसार में नाना प्रकार की कुयोनियों में बार बार परिभ्रमण करे बड़े कष्ट से यह गृहस्थ सम्बन्धी जिनधर्म मैंने प्राप्त किया है।

अद्यादि भुवनाराध्यो यतिधर्मो न लक्ष्यते।
हनत चरित्रमोहेन लब्धो निर्वाहयतेऽधुना।।३।।

अर्थ– आज तक जगत पूज्य मुनिधर्म का दर्शन मुझे नहीं मिला है, यह बड़े दु:ख की बात है। फिर भी प्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीय कर्म के मंद उदय से प्राप्त हुआ यह गृहस्थ धर्म मैं अभी पालता हूं।

चिन्तयित्वेति निर्दोषं स्मृत्वा स्तुत्वा जिनेश्वरम्।
वंदित्वा च परामृश्य कृतं पूर्वेद्युरात्मना।।४।।

इस प्रकार विचार करके सर्व दोष- रहित श्री जिनेश्वर का स्मरण स्तुति और वंदना करें, इसके अनन्तर पहले दिन मैंने क्या क्या किया है इसका विचार करना चाहिए।

णमोकार मंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

ॐ अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।

णमोकार मंत्र का माहात्म्य

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितोदुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते।।१।।
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानं स वाह्याभ्यन्तरे शुचिः।।२।।
अपराजितमन्त्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः।।३।।
एसो पंच णमोयारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणंच सव्वेसिं, पढमं होई मंगलं।।४।।
मंत्रं संसारसारं त्रिजगदनुपमं सर्वपापारिमंत्रम्।
संसारोच्छेदमंत्रं विषमविषहरं कर्मनिर्मूलमंत्रम्।।
मंत्रं सिद्धिप्रधानं शिवसुखजननं केवलज्ञानमंत्रम्।
मंत्रं श्रीजैनमंत्रं जप जप जपितं जन्मनिर्वाणमंत्रम्।।५।।
आकृष्टिं सुरसंपदां विदधते मुक्तिश्रियो वश्यता,–
मुच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां विद्वेषमात्मैनसाम्।
स्तंभं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनं।
पायात्पंचनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता।।६।।

णमोकार मंत्र का माहात्म्य

भाषा

णमोकार है मत्र सर्व पापों का हर्ता।
मंगल सबसे प्रथम यही शुचि ज्ञान सुकर्ता।।
संसार सार है मंत्र जगत में अनुपम भाई।
सर्व पाप अरि नाश मंत्र सबको सुख दाई।।१।।

संसार छेद के लिए मंत्र है सर्वप्रधाना।
विष को अमृत करे जगत ने यह सब माना।।
कर्मनाश कर ऋद्धि सिद्धि शिव सुख का दाता।
मंत्र जिनमंत्र सदा तू क्यों नहिं ध्याता।।२।।

सुरसंपत्ति प्रधान मुक्ति लक्ष्मी प्राप्त भी होती।
सर्व विपत्ति विनाश ज्ञान की ज्योति जगती।।
पशु, पक्षी, नर, नारी, श्वपद जो धारण करते।
ज्ञान, मान, धन, और सुख सम्पत्ति भरते।।३।।

जीवन्धर थे स्वामी एकजनकरुणाधारी।
कुत्ते को दे मंत्र शीघ्र गति भली सुधारी।।
मंत्र प्रभाव स्वर्ग में जाकर सब सुख पाये।
ध्याये जो जन उसे सर्व सुख हों मनचाहे।।४।।

●

सुप्रभात स्तोत्रम्

यत्स्वर्गावतरोत्सवे यदभवज्जन्माभिषेकोत्सवे।
यद्दीक्षा ग्रहणोत्सवे यदखिल, ज्ञानप्रकाशोत्सवे।।
यन्निर्वाणगमोत्सवे जिनपते: पूजाद्भुतं तद्भवै:
सङ्गीत स्तुति मङ्गलै: प्रसरतां, मे सुप्रभातोत्सव:।।१।।

अर्थ– श्री जिनेश के स्वर्ग से माता के गर्भ में आने के समय किये गये उत्सव में, जन्माभिषेक के समय किये गये उत्सव में, दीक्षाग्रहण करने के समय किये गये उत्सव में, केवलज्ञान प्रगट होने के समय किये गये उत्सव में एवं मोक्ष प्राप्ति के समय किये गये उत्सव के प्रसंग पर श्री जिनेन्द्र भगवान् की जो आश्चर्यकारी पूजा हुई, उसी प्रकार के मंगल रूप गायन और स्तुति से मेरा प्रात: काल का भी उत्सव हो।

श्रीमन्नतामर-किरीट-मणि प्रभाभि-,
रालीढपाद– युग– दुर्धर कर्मदूर।
श्री नाभिनन्दन ! जिनाजित ! सम्भवाख्य !
त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्।।२।।

अर्थ– अणिमादि विभूति युक्त और नम्रित हुए देवों के मुकुट के मणियों की कान्ति से जिनके दोनों चरण स्पर्श किये गये तथा जिन्होंने दुर्धर कर्मों को दूर कर दिया, ऐसे हे आदिनाथ, अजितनाथ और संभवनाथ भगवान, मेरा प्रात: काल का समय हमेशा आपके ध्यान में व्यतीत हो।

छत्रत्रय- प्रचल- चामर वीज्यमान,

देवाभिनन्दनमुने ! सुमते ! जिनेन्द्र।
पद्मप्रभारुणमणि -द्युति भासुरांग,
त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्।।३।।

अर्थ– जिनके मस्तक पर तीन छत्र सुशोभित होते हैं तथा जिनके दोनों पार्श्व में ६४ चमर ढुरते हैं, ऐसे हे अभिनन्दन और सुमतिनाथ जिनेन्द्र! तथा पद्मरागमणि की कान्ति के समान जिनका शरीर सुशोभित होता है, ऐसे हे पद्मप्रभ भगवान् मेरा प्रात: काल का समय सर्वदा आपके ध्यान में व्यतीत हो।

अर्हन् सुपार्श्व-कदलीदल वर्णगात्र,
प्रालेयतार-गिरि-मौक्तिक-वर्णगौर !
चन्द्रप्रभ स्फटिक-पाण्डुर पुष्पदन्त !
त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्।।४।।

अर्थ– केले के पत्ते के समान जिनके शरीर का रंग है। ऐसे हे सुपार्श्वजिन! तथा हिमालय पर्वत, चांदी के विजयार्ध पर्वत और मोती के समान जिनके शरीर का शुभ्र वर्ण है। ऐसे हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र! तथा स्फटिक के समान निर्मल कान्ति के धारक ऐसे हे पुष्पदन्त भगवान्! मेरा प्रात: काल का सर्वदा आपके ध्यान में व्यतीत हो।

सन्तप्त-कांचनरुचे ! जिन शीतलाख्य !
श्रेयान् ! विनष्ट दुरिताष्ट कलंक पंक।
बंधूकबंधुररुचे जिनवासुपूज्य,
त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्।।५।।

अर्थ- तपाये हुए सोने के समान शरीर की कान्ति है, ऐसे हे शीतलनाथ भगवान्! पाप स्वरूप आठ कर्म- रूपी कीचड़ जिन्होंने नष्ट कर दिया है, ऐसे हे श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र! तथा दुपारी के फूल के समान जिनके शरीर की कान्ति सुन्दर है, ऐसे हे वासुपूज्य भगवान! मेरा प्रातः काल का समय आपके ध्यान में सर्वदा व्यतीत हो।

उद्दण्डदर्प - करिपो विमलामलांग,
स्थेमन्ननन्त जिदनन्त-सुखाम्बुराशे।
दुष्कर्म कल्मष विवर्जित धर्मनाथ,
त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्।।६।।

अर्थ- उदण्ड ऐसे काम का नाश करने वाले तथा सुन्दर शरीर को धारण करने वाले हे विमलनाथ जिनेन्द्र! अनन्त सुख के समुद्र तथा धैर्यशाली ऐसे हे अनन्तनाथ भगवान्! दुष्ट कर्म-रूपी मल से रहित ऐसे हे धर्मनाथ भगवान्! मेरा यह प्रातः काल का समय आपके ध्यान में सर्वदा व्यतीत हो।

देवामरी-कुसुम सन्निभ शान्तिनाथ !
कुन्थो ! दयागुण-विभूषण भूषितांग।
देवाधिदेव भगवन्नर तीर्थनाथ,
त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्।।७।।

अर्थ- अमरी नाम के फूल के समान जिनके शरीर का रंग है, ऐसे हे शान्तिनाथ भगवान्! दया-गुण भूषण से विभूषित है अंग जिनका, ऐसे हे कुंथुनाथ भगवान्! देवाधिदेव तथा तीर्थके अधिपति ऐसे हे अरहनाथ जिनेन्द्र! मेरा प्रातः काल का समय आपके ध्यान मे सदा व्यतीत हो।

यन्मोह- मल्लमदभञ्जन मल्लिनाथ,
क्षेमंकराऽवितथ- शासन सुव्रताख्य।
सत्सम्पदा प्रशमितो नमिनामधेय,
त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्।।८।।

अर्थ– मोह रूपी मल के मद का नाश करने वाले हे मल्लिनाथ भगवान्! कल्याणकारी और सत्य है, शासन जिनका ऐसे हे मुनिसुव्रतनाथ भगवान्! उत्तम परम वैराग्य- सम्पत्ति से परम प्रशान्त अवस्था को प्राप्त ऐसे हे नमिनाथ भगवान्! मेरा प्रातः काल का समय आपके ध्यान में सदा व्यतीत हो।

तापिच्छ-गुच्छरुचिरोज्ज्वल नेमिनाथ,
घोरोपसर्ग-विजयिन् जिन पार्श्वनाथ।
स्याद्वाद सूक्ति मणि दर्पण वर्द्धमान!
त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्।।९।।

अर्थ– तमाल वृक्ष के समुदाय के समान कान्ति को धारण करने वाले ऐसे हे नेमिनाथ भगवान्! भयंकर उपसर्ग को सहन करने वाले ऐसे हे पार्श्वनाथ जिनेन्द्र! स्याद्वादसूक्तिरूपी मणि के लिए दर्पण के समान ऐसे हे वर्द्धमान भगवान्! मेरा प्रभात का समय आपके ध्यान में सर्वदा व्यतीत हो।

प्रालेय नील-हरितारुण-पीतभासं,
यन्मूर्तिमव्यय सुखावसथं मुनीन्द्राः।
ध्यायन्ति सप्ततिशतं जिनवल्लभानां,
त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्।।१०।।

अर्थ– जिनके शरीर की कान्ति सफेद, नील, हरित, लाल और

पीली है, जो अविनाशी सुख के स्थान हैं, तथा ७०० मुनीश्वर जिनका ध्यान करते हैं, ऐसे तीर्थकरों के ध्यान में मेरा प्रातः काल का समय सर्वदा व्यतीत हो।

सुप्रभातं सुनक्षत्रं मांगल्यं परिकीर्तितम्।
चतुर्विंशति तीर्थाणां, सुप्रभातं दिने दिने।।११।।

अर्थ– चौबीस तीर्थंकरों का प्रातः काल प्रत्येक दिन (सबके लिए) उत्तम नक्षत्र रूप तथा मंगल-रूप एवं कीर्तन करने योग्य माना गया है।

सुप्रभातं सुनक्षत्रं श्रेयः प्रत्यभिनन्दितम्।
देवता ऋषयः सिद्धाः, सुप्रभातं दिने दिने।।१२।।

अर्थ– देवता, ऋषि और सिद्ध- ये प्रत्येक दिन के सुप्रभात रूप हैं और सुप्रभात उत्तम नक्षत्र-रूप तथा उत्तम मंगल-रूप माना गया है।

सुप्रभातं तवैकस्य, वृषभस्य महात्मनः।
येन प्रवर्तितं तीर्थं भव्य सत्त्व सुखावहम्।।१३।।

अर्थ– जिसने भव्य जीवों को सुख देने वाले तीर्थ को चलाया है, ऐसे महात्मा आदिनाथ भगवान् का ही प्रातः काल उत्तम मानने योग्य है।

सुप्रभातं जिनेन्द्राणां ज्ञानोन्मीलित चक्षुषाम्।
अज्ञान तिमिरान्धानां, नित्यमस्तमितो रविः।।१४।।

अर्थ– जिन्होंने अपने केवलज्ञान के द्वारा दूसरे जीवों के चक्षु

खोल दिये हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात, अज्ञान- रूपी अन्धकार से अन्ध पुरुषों के लिए शुभ हो। अर्थात् ये संसारी अज्ञानी-जन जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदेश किये हुए सन्मार्ग का आश्रय कर अपने अज्ञानान्धकार को दूर करें। यह दिखने वाला सूर्य हमेशा अस्तस्वरूप है। अर्थात् यह सूर्य बाह्य प्रकाश देता है, तो भी अज्ञान-रूपी अन्धकार दूर करने में समर्थ नहीं है।

सुप्रभातं जिनेन्द्रस्य वीरः कमल-लोचनः।
येन कर्माटवी दग्धा शुक्लध्यानोग्र वह्निना।।१५।।

अर्थ- कमल के समान जिनके नेत्र हैं, ऐसे जिन वीर भगवान् ने शुक्ल ध्यान रूपी उग्र वह्नि से कर्म-रूपी जंगल जला दिया, उन वीर जिनेन्द्र का सुप्रभात सबके लिए हो।

सुप्रभातं सुनक्षत्रं सुकल्याणं सुमंगलम्।
त्रैलोक्य-हित-कर्तृणां, जिनानामेव शासनम्।।१६।।

अर्थ- तीन लोक का हित करने वाले जिनेन्द्र देव का शासन ही सुप्रभात रूप नक्षत्र-रूप, कल्याण-रूप और मंगल स्वरूप हैं।

●

सामायिक करने की विधि

सामायिक मोक्ष प्राप्ति का एक मुख्य अंग है। सामायिक के बिना अष्टकर्म नष्ट नहीं हो सकते। इसलिए आचार्यों ने इसका निरुपण चार स्थानों पर किया है। (१) श्रावक के १२ व्रतों में पहला शिक्षा व्रत (२) श्रावक की ११ प्रतिमाओं में तीसरी प्रतिमा। (३) पांच प्रकार के चारित्रों में पहला चारित्र। (४) षडावश्यकों में प्रथम आवश्यक।

इसलिए प्रत्येक श्रावक को प्रति दिन सवेरे ही एक बार, द्वितीय प्रतिमाधारी को सुबह, शाम दो बार, और तीसरी प्रतिमाधारी को सुबह दोपहर, शाम तीन बार सामायिक करना चाहिए।

सामायिक का काल जघन्य दो घड़ी (४८ मिनट) मध्यम ४ घड़ी (९६ मिनट) उत्कृष्ट ६ घड़ी (१४४ मिनट) है। जो प्रतिमाधारी नहीं हैं, उनके लिए कोई नियम नहीं है, वे यथावकाश कम ज्यादा भी कर सकते हैं। सामायिक सवेरे ब्रह्ममुहूर्त में अर्थात् शेष रात्रि में ४ बजे उठकर हाथ पैर धो, शुद्ध हो, कपड़ा बदल एकांत स्थान में उत्तर या पूर्व मुख होकर करना चाहिए। श्री मन्दिरजी में उत्तर या पूर्व मुख होकर बैठने को कोई नियम नहीं है।

सामायिक करने वाले पहले दर्भासन अथवा चटाई पर सीधा खड़ा होकर पैरों के अग्रभाग को चार अंगुल के अन्तर से रख, दोनों हाथ लटका, दृष्टि नासा के अग्रभाग पर रख, यह प्रतिज्ञा करे कि- 'मैं इतने समय तक सामायिक करूंगा, जब तक सामायिक की क्रिया करूं तब तक मैं सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करता हूं और इस स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान पर नहीं जाऊँगा। पश्चात् नौ अथवा तीन बार णमोकार मंत्र का उच्चारण करके पंचांग नमस्कार करे। इसके बाद खड़े-खड़े ही या बैठ कर नौ बार णमोकार मंत्र पढ़ कर हाथ जोड़ कर, तीन आवर्त देकर मिले हुए हाथों पर एक बार शिरोनति करे, बाद में इसी प्रकार दाहिने हाथ की दिशा में, फिर बायें हाथ की दिशा में करे। इस प्रकार चारों दिशाओं में चार शिरोनति और बारह आवर्त करना चाहिए।

इस प्रकार चार शिरोनति और बारह आवर्त करने के बाद शान्त- चित्त होकर आगे दिये हुए संस्कृत अथवा भाषा सामायिक का पाठ धीरे-धीरे करना चाहिए।

सामायिक पाठ में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, सामायिक, स्तवन, वन्दना और कायोत्सर्ग- ये छह: आवश्यक कर्म हैं। इनका वर्णन हिन्दी सामायिक पाठ से जानना चाहिए। इस प्रकार सामायिक के अन्त में भी बारह आवर्त और चार शिरोनति करना चाहिए। इस प्रकार करने से सबसे थोड़े समय का सामायिक करना तो पूरा हो जाता है, किंतु इतना पाठ पढ़ने व सामायिक करने में बहुत थोड़ा समय लगा, इसलिए अधिक समय तक शान्त- परिणाम रखने के लिए एक या दो नमस्कार मंत्र की माला फेर लेना चाहिए तथा बारह भावना का पाठ भी पढ़ लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त सामायिक धारण करने से पहले आलोचना पाठ भी, जो प्रतिक्रमण कर्म ही है, पढ़ लेना चाहिए। नमस्कार मंत्र की माला फेरने में ज्यादा समय लगता हो तो उसकी जगह अरहन्त सिद्ध' ऐसे छ. अक्षरों के मंत्र की अथवा अरहन्त ऐसे चार अक्षरों के मंत्र की अथवा सिद्ध ऐसे दो अक्षरों के मंत्र की अथवा 'ॐ' ऐसे एक-एक अक्षर के मंत्र की माला जप लेना चाहिए।

जबकि सामायिक पाठ पढ़ने के बाद माला फेरना तथा बारह भावना आदि और भी पाठ पढ़ना हो तो इन सबको अन्त के कायोत्सर्ग के पहले करे। अन्त में कायोत्सर्ग और आवर्तादि क्रिया करके सामायिक पूर्ण करना चाहिए।

इस प्रकार नित्य एक बार अथवा तीन बार आलोचना पाठ सहित सामायिक करने से परिणामों में बडी शान्ति होती है, प्रमाद, जो कि महादु:ख का कारण है, छूट जाता है।

●

सामायिक पाठ

संस्कृत

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।१।।

अर्थ– हे देव! मेरी आत्मा निरन्तर सम्पूर्ण जीवों के ऊपर मैत्री-भाव, गुणी जीवों में प्रमोद-भाव, दु:खी जीवों में दया-भाव और विपरीत आचरण करने वालों में माध्यस्थ-भाव को धारण करे।

शरीरत: कर्त्तुमनन्त-शक्तिं, विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेंद्र! कोषादिव खड्गयष्टिं, तव प्रसादेन ममास्तु शक्ति:।।२।।

अर्थ– जिस प्रकार म्यान में से तलवार भिन्न की जाती है उसी प्रकार अनन्त शक्तिवान् और दोष रहित इस आत्मा को शरीर से भिन्न करने के लिए, हे जिनेन्द्र! आपके प्रसाद से मुझे शक्ति लाभ हो।

दु:खे सुखे वैरिणि बन्धु- वर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेष ममत्व - बुद्धे:, समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ।।३।।

अर्थ– हे देव! सम्पूर्ण ममत्व बुद्धि से रहित मेरा मन सर्व दु:ख, सुख, बैरी बन्धुवर्ग, संयोग, वियोग, घर और वन इन सबमें समरूप हो।

मुनीश! लीनाविव कीलिताविव, स्थिरौ निषाताविव बिम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा, तमोधुनाना हृदि दीपकाविव।।४।।

अर्थ– हे मुनीश! आपके दोनों चरण- कमल मेरे हृदय में सर्वदा लीन की तरह, स्थिर गड़े हुए की तरह, कीलित हुए की भांति,

प्रतिबिम्बित से तथा अन्धकार को नाश करने वाले दीपक की तरह स्थित हो।

एकेन्द्रियाद्या यदि देव ! देहिन:, प्रमादत: सञ्चरता इतस्तत:।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता:, तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा।।५।।

अर्थ– हे देव! इधर-उधर संचार करते हुए एकेन्द्रिय आदिक जीवों को यदि प्रमाद से मैंने नष्ट किया हो, तोड़ा हो, मिलाया हो, अथवा दु:ख दिया हो तो मेरा वह असद्व्यवहार मिथ्या हो।

विमुक्ति- मार्ग-प्रतिकूलवर्तिना, मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया।
चारित्र-शुद्धेर्यदकारि लोपनं, तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो!।।६।।

अर्थ– मोक्षमार्ग के प्रतिकूल व्यवहार करने वाले और दुर्बुद्धि वश मैंने कषाय और इन्द्रियों के आधीन होकर जो चारित्र की शुद्धि का लोप किया है, हे प्रभो! वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो जावे।

विनिन्दनालोचन-गर्हणैरहं,
मनोवच: काय - कषाय - निर्मितम्।
निहन्मि पापं भव - दु:ख कारणं,
भिषग्विषं मन्त्र गुणैरिवाखिलम्।।७।।

अर्थ– जिस प्रकार वैद्य मंत्र की सामर्थ्य से सम्पूर्ण विष को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार मैं भी मन, वचन, काय और कषाय के निमित्त से किये गये पाप को निन्दा, आलोचना और गर्हा करके नष्ट करता हूं।

अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं, जिनातिचारं सुचरित्र- कर्मण:।
व्यधामनाचारमपि प्रमादत:, प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये।।८।।

अर्थ– हे जिन! मैंने मोहभाव और प्रमाद से जो सम्यक्चारित्र का अतिक्रम और व्यतिक्रम किया है, उसमें अतिचार लगाये हैं, अनाचार-रूप प्रवृत्ति की है, इसलिए चारित्र की शुद्धि के लिए मैं प्रतिक्रमण करता हूं।

क्षतिं मन: - शुद्धि-विधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं, वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्।।९।।

अर्थ– हे प्रभो ! मानसिक शुद्धि की हानि को अतिक्रम कहते हैं, शील-रूपी बाढ़ के उल्लंघन को व्यतिक्रम कहते हैं, विषयों में प्रवृत्ति करने को अतिचार कहते हैं और विषयों में अति आसक्ति करने का अनाचार कहते हैं।

यदर्थ-मात्रा-पद-वाक्य-हीनं, मया प्रमादाद्यदि किञ्चिनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी, सरस्वती केवलबोध - लब्धिम्।।१०।।

अर्थ– प्रमाद से मैंने जो कुछ भी अर्थ, मात्रा, पद, और वाक्य से हीन कहा हो, मेरी उस कमी को क्षमा करके हे सरस्वती देवी! मेरे लिए केवलज्ञान की प्राप्ति में सहायक हो।

बोधि: समाधि: परिणाम शुद्धि:, स्वात्मोपलब्धि: शिव सौख्यसिद्धि।
चिन्तामणिं चिन्तित वस्तु दाने, त्वां वन्द्यमानस्य ममास्तु देवि।।११।।

अर्थ– हे सरस्वती देवी! चिंतवन की हुई वस्तु के प्रदान करने में चिंता मणि के समान तुझे वन्दना करने वाले मेरे लिए सम्यग्ज्ञान, समाधि परिणामों की शुद्धि, शुद्ध आत्मा की प्राप्ति और मोक्ष सुख की सिद्धि हो।

य: स्मर्यते सर्व मुनीन्द्र - वृन्दै:, य: स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रै:।
यो गीयते वेद पुराण शास्त्रै:, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्।।१२।।

अर्थ– जिसका सर्व मुनिसमुदाय स्मरण करते हैं, जिसकी चक्रवर्ती और देवेन्द्र स्तुति करते हैं, वेद पुराण और शास्त्रों में जिसका गान किया गया है, वह देवाधिदेव अरहन्तदेव मेरे हृदय में निवास करें।

यो दर्शन ज्ञान सुखस्वभावः, समस्त संसार विकार वाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्म संज्ञः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्।।१३।।

अर्थ– जो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त सुखस्वरूप हैं, जो सम्पूर्ण सांसारिक विकारों से रहित हैं, जो समाधिगम्य हैं और जो परमात्मा इस नाम को प्राप्त हुए हैं, वह देवाधिदेव श्री अरहन्तदेव मेरे हृदय में निवास करें।

निषूदते यो भवदुःख जालं, निरीक्षते यो जगदंतरालम्।
योऽन्तर्गतो योगि निरीक्षणीयः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्।।१४।।

अर्थ– संसार के दुःख समुदाय को जिसने नष्ट कर दिया है, जो सम्पूर्ण चराचर जगत् को देखता है, जो अध्यात्म अवस्था को प्राप्त हुआ है और जिसको योगी लोग ही देख सकते हैं, ऐसे वे देवाधिदेव मेरे हृदय में निवास करें।

विमुक्ति मार्ग प्रतिपादको यो, यो जन्म मृत्यु व्यसनाद्व्तीतः।
त्रिलोक लोकी विकलोऽकलंकः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्।।१५।।

अर्थ– जिसने मोक्ष-मार्ग का निरुपण किया है, जो जन्म मरण और दुःखों से रहित हैं, जो अपने दिव्य-ज्ञान से तीन लोक को जानते हैं, जो शरीर रहित हैं और जो निर्दोष हैं, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में निवास करें।

क्रोडीकृताशेषशरीरि वर्गाः, रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्।।१६।।

अर्थ– सम्पूर्ण प्राणी वर्ग को जिसने अपने-अपने आधीन कर लिया है, रागादिक विकार-दोष जिसके नहीं हैं, जो इन्द्रियातीत हैं, जो ज्ञान स्वरूप हैं और जो सर्व अपायों से रहित हैं, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में निवास करें।

यो व्यापको विश्व जनीन वृत्तेः, सिद्धो विबुद्धो धुत कर्म बन्धः।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्।।१७।।

अर्थ– जो संसार के सम्पूर्ण व्यापारों में ज्ञान-रूप से व्यापक हैं, जो सिद्ध हैं, जो बुद्ध अवस्था को प्राप्त हैं, जो कर्मबन्ध से रहित हैं और जिसका ध्यान करने से सम्पूर्ण विकार नष्ट हो जाते हैं, वे देवाधिदेव मेरे हृदय में वास करे।

न स्पृश्यते कर्म कलंक दोषैः, यो ध्वान्त संघैरिव तिग्मरश्मिः।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये।।१८।।

अर्थ– जिस प्रकार सूर्य को अन्धकार स्पर्श नहीं कर सकता है, उसी प्रकार जो द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म रूपी दोषों द्वारा स्पर्श नहीं किया जाता है, जो निरंजन हैं, नित्य हैं, एक रूप होकर भी अनेक रूप हैं, उन परमदेव की शरण में मैं जाता हूँ।

विभासते यत्र मरीचिमाली, न विद्यमाने भुवनावभासि।
स्वात्म स्थितं बोधमय प्रकाशं, तं देवमाप्तं शरणम् प्रपद्ये।।१९।।

अर्थ– जिसके विद्यमान रहते हुए बाह्य-जगत को प्रकाश देने वाला सूर्य भी शोभायमान नहीं होता है, जो अपने स्वरूप में स्थित हैं, जो बोधमय प्रकाश से प्रकाशित हैं, उन परमदेव की शरण में मैं जाता हूँ।

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं, विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम्।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं, तं देवमाप्तं शरणम् प्रपद्ये।।२०।।

अर्थ– जिनके सम्पूर्ण संसार को देखने पर यह अलग अलग स्पष्ट दिखता है, जो शुद्ध हैं, शान्त हैं, आदि और अन्त से रहित हैं, मैं उन देव की शरण में जाता हूँ।

येन क्षता मन्मथ मान मूर्छा, विषाद निद्रा भय शोक चिन्ता:।
क्षयोऽनलेनेव तरु प्रपञ्च:, तं देवमाप्तं शरणम् प्रपद्ये।।२१।।

अर्थ– जिस प्रकार अग्नि वृक्ष समुदाय को नष्ट कर देती है उसी प्रकार जिसने काम, मान, मूर्च्छा, विषाद, निद्रा, भय, शोक और चिंता को नष्ट कर दिया है, मैं उन्हीं देव की शरण में जाता हूँ।

न संस्तरोऽश्मो न तृणं न मेदिनी, विधानतो नो फलको विनिर्मित:।
यतो निरस्ताक्ष कषाय विद्विष:, सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मत:।।२२।।

अर्थ– जबकि इन्द्रिय और कषाय- रूपी शत्रु को नष्ट कर देने से केवल आत्मा ही अत्यन्त निर्मल माना गया है, तब शय्या, पत्थर, घास, पृथ्वी और फलक आदि अन्य वस्तु कुछ भी योग्य नहीं है।

न संस्तरो भद्र! समाधि साधनं, न लोक पूजा न च संघ मेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं, विमुच्य सर्वामपि बाह्य वासनाम्।।२३।।

अर्थ– हे कल्याणकांक्षी! जिस प्रकार शय्या भी समाधि का कारण नहीं है, लोकपूजा भी समाधि का कारण नही है, और संघ-सम्मेलन भी समाधि का कारण नहीं है, तो तू सम्पूर्ण बाह्य वासना को छोड़कर, निरन्तर अध्यात्मरत हो जा।

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था:, भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चत्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थ: सदा त्वं भव भद्र! मुक्त्यै।।२४।।

अर्थ– बाहरी कोई पदार्थ मेरे नहीं हैं, और मैं भी किसी का नहीं हूँ, इस प्रकार निश्चय करके हे भद्र! सम्पूर्ण वाह्य वस्तु का त्याग करो एवं मुक्ति के लिए सदा अपनी आत्मा में स्थित हो।

आत्मानमात्मन्यवलोकमानः, त्वं दर्शन ज्ञान मयो विशुद्धः।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र, स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्।।२५।।

अर्थ– दर्शन और ज्ञानस्वरूप तथा विशुद्ध अपनी आत्मा में ही अपने को देख। क्योंकि जिस समय साधु, आत्मा में एकाग्रचित्त होकर स्थित होता है उसी समय वह समाधि को प्राप्त करता है।

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगम स्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः।।२६।।

अर्थ– मेरा यह आत्मा सर्वदा एक है, नित्य है, निर्मल है, शांत-स्वभाव है। बाकी के सम्पूर्ण बाहरी भाव मुझ से भिन्न हैं अनित्य हैं और कर्मजात हैं।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं, तस्यास्ति किम् पुत्र कलत्र मित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोम कूपाः, कुतोहि तिष्ठन्ति शरीर मध्ये।।२७।।

अर्थ– जिसकी शरीर के साथ भी एकता नहीं है, उसकी पुत्र, स्त्री और मित्र के साथ एकता कैसे हो सकती है? क्योंकि चमड़े को शरीर से अलग करने पर इस शरीर में रोमकूप कैसे रह सकते हैं?।

संयोगतो दुःखमनेक भेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासो परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम्।।२८।।

अर्थ– यह प्राणी जिस कारण इस जन्मरूपी जंगल के संयोग के कारण जैसे अनेक प्रकार के दुःखों को उठाता है, इसलिए अपने आत्मा को मुक्त करने की इच्छा रखने वाले इस प्राणी को मन, वचन और काय से वह सम्बन्ध छोड़ देना चाहिए।

सर्वं निराकृत्य विकल्प जालं, संसार कान्तारनिपात हेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्म तत्त्वे।।२९।।

अर्थ– संसार रूपी जंगल में पड़ने के कारण रूप सम्पूर्ण विकल्प-जाल को छोड़ कर अपनी आत्मा को भिन्न देखनेवाला तू परमात्मा तत्त्व में लीन हो जा।

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा।।३०।।

अर्थ– पहले इस प्राणी ने जो कर्म किये हैं उन्हीं का अच्छा बुरा फल यह प्राणी भोगता है। यदि ऐसा माना जावे कि वह दूसरे के द्वारा प्रदत्त फल को भोगता है तो स्वतः किये हुए निरर्थक हो जावेंगे।

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः, परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।।३१।।

अर्थ– स्वतः अर्जन किये हुए कर्म को छोड़कर दूसरा कोई भी इस प्राणी को कुछ भी नहीं देता है। ऐसा समझकर और अनन्यमन होकर दूसरा देता है इस विचार को छोड़।

यैः परमात्माऽमितगति वन्द्यः, सर्व विविक्तो भृशमनवद्यः।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते, मुक्ति निकेतं विभव वरं ते।।३२।।

अर्थ– जो अपरिमित माहात्म्यवाले अथवा अमितगति आचार्य द्वारा वन्दनीय सर्व संग से रहित और अत्यन्त निर्दोष हैं, ऐसे परमात्मा का निरन्तर चिंतवन करते हैं वे वैभव से परिपूर्ण मुक्ति स्थान को प्राप्त करते हैं।

इति द्वात्रिंशता वृत्तैः, परमात्मानमीक्षते।
योऽनन्यगत चेतस्को, यात्यसौ पदमव्ययम्।।३३।।

अर्थ- इस प्रकार जो अनन्यमनस्क होकर इस बत्तीस श्लोकों के द्वारा परमात्मा का ध्यान करता है, वह अव्यय पद को प्राप्त करता है।

●

श्री जिनसहस्रनाम स्तोत्रम

श्री भगवज्जिसेनाचार्य कृत

स्वयंभुवे नमस्तुभ्य-मुत्पाद्यात्मानमात्मनि।
स्वात्मनैव तथोद्भूत-वृत्तयेऽचिन्त्यवृत्तये।।१।।

अर्थ- हे भगवान्! आपने स्वयं अपने आत्मा को प्रगट किया है, इसलिए आप स्वयंभू अर्थात् अपने- आप उत्पन्न हुए कहलाते हैं। इसके सिवाय आपको आत्मवृत्ति अर्थात् आत्मा में ही तल्लीन होने योग्य चारित्र की प्राप्ति हुई है, तथा अचिंत्य माहात्म्य की प्राप्ति हुई है, इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो।

नमस्ते जगतां पत्ये लक्ष्मी भर्त्रे नमोऽस्तु ते।
विदांवर ! नमस्तुभ्यं नमस्ते वदतांवर।।२।।

अर्थ- आप जगत के स्वामी हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी के अधीश्वर हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो। आप विद्वानों में श्रेष्ठ हैं, तथा आप वक्ताओं में भी श्रेष्ठ हैं, इसलिए भी आपको हमारा नमस्कार हो।

कामशत्रुहणं देवमामनन्ति मनीषिणः।
त्वामानमत्सुरेणमौलि भा-मालाभ्यर्चितक्रमम्।।३।।

अर्थ– हे देव! बुद्धिमान लोग आपको कामदेव रूपी शत्रु को नाश करने वाला मानते हैं, और इन्द्र लोग भी अपने मुकुटों की कान्तिपुञ्ज से आपके चरण कमलों की पूजा करते हैं, इसलिए मैं भी आपकी स्तुति करता हूं।

ध्यान-दुर्घण-निर्भिन्न-घन-घाति-महातरुः।
अनन्त-भव-सन्तान-जयादासी-रनन्तजित्।।४।।

अर्थ– आपने अपने ध्यान-रूपी कुठार से बहुत कठोर धातिया कर्म-रूपी बड़े वृक्ष को काट डाला है तथा अनन्त जन्म मरण रूप संसार की सन्तान परम्परा को जीत लिया है, इसलिए आप 'अनन्तजित' कहलाते हैं।

त्रैलोक्य-निर्जयावाप्त- दुर्दर्पमतिदुर्जयम्।
मृत्युराजं विजित्यासीज्जिन! मृत्युंजयो भवान्।।५।।

अर्थ– हे जिन! तीनों लोकों को जीत लेने पर जिसे अत्यन्त अभिमान उत्पन्न हुआ है, तथा जो अन्य किसी से भी नहीं जीता जा सकता है, ऐसे मृत्युराज को भी आपने जीत लिया है, इसलिए आप ही 'मृत्युञ्जय' कहलाते हैं।

विधूताशेष-संसार-बन्धनो भव्य-बान्धवः।
त्रिपुरारिस्त्वमेवासि जन्म-मृत्युजरान्तकृत्।।६।।

अर्थ– आपने संसार रूपी समस्त बन्धन नष्ट कर दिये हैं, भव्य जीवों के आप बन्धु हैं, और आप ही जन्म, मरण तथा बुढ़ापा इन तीनों को नाश करने वाले हैं, इसलिए आप की 'त्रिपुरारि' हैं।

त्रिकाल-विषयाऽशेष-तत्त्वभेदात् त्रिधोत्थितम्।
केवलाख्यं दधच्चक्षुस्त्रिनेत्रोऽसि त्वमीशित:।।७।।

अर्थ– हे अधीश्वर! भूत भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालों के समस्त तत्त्वों को एवं उनके तीन भेदों को जानने योग्य केवलज्ञान-रूप नेत्र को आप धारण करते हैं, इसलिए आप ही 'त्रिनेत्र' कहलाते हैं।

त्वामन्धकान्तकं प्राहुर्मोहान्धासुर-मर्दनात्।
अर्द्धं ते नारयो यस्मा-दर्धनारीश्वरोऽस्यत:।।८।।

अर्थ– आपने मोह-रूपी अन्धासुर का नाश किया है, इसलिए आप अन्धकान्तक कहलाते हैं, आठ कर्म रूपी शत्रुओं में से आपके आधे शत्रु अर्थात् चार घातिया कर्म नहीं हैं, इसलिए आप 'अर्धनारीश्वर' (अर्ध न अरि ईश्वर) कहलाते हैं।

शिव: शिवपदाध्यासाद् दुरितारि-हरो हर:।
शंकर: कृतशं लोके संभवस्त्वं भवन्सुखे।।९।।

अर्थ– आप शिवपद अर्थात् मोक्षस्थान में निवास करते हैं, इसलिए शिव कहे जाते हैं, पाप-रूपी शत्रुओं को नाश करने वाले हैं, इसलिए हर कहलाते हैं, जगत् को आनन्द देने वाले हैं, इसलिए शंकर कहलाते हैं और सुख से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए 'शम्भव' कहे जाते हैं।

वृषभोऽसि जगज्ज्येष्ठ: पुरु: पुरुगुणोदयै:।
नाभेयो नाभि-संभूतेरिक्ष्वाकु-कुल-नन्दन:।।१०।।

अर्थ– जगत में श्रेष्ठ होने के कारण 'वृषभ' कहलाते हैं, बहुत से गुणों की खान होने से 'पुरु' कहे जाते हैं, महाराज नाभिराय

से आप उत्पन्न हुए हैं, इसलिए 'नाभेय' कहलाते हैं, और इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न हुए हैं इसलिए 'इक्ष्वाकु कुलनन्दन' कहे जाते हैं।

त्वमेक: पुरुषस्कन्धस्त्वं द्वे लोकस्य लोचने।
त्वं त्रिधा बुद्ध-सन्मार्गस्त्रिज्ञस्त्रिज्ञान-धारक:।।११।।

अर्थ– सब पुरुषों में आप ही एक श्रेष्ठ हैं, लोगों के दो नेत्र होने के कारण आप दो-रूप धारण करते हैं तथा आपने मोक्ष का मार्ग तीन-रूप से जाना है, अथवा भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालों के समस्त पदार्थों को एक साथ जानने वाले हैं, रत्नत्रय को धारण करने वाले हैं, इसलिए 'त्रिज्ञ' कहलाते हैं।

चतु:शरण-मांगल्यमूर्तिस्त्वं चतुरस्त्रधी:।
पंच-ब्रह्ममयो देव पावनस्त्वं पुनीहि माम्।।१२।।

अर्थ– आप अरहन्त सिद्ध साधु एवं केवली प्रणीत धर्म- ये चार शरण तथा मंगल रूप हैं, इसके अतिरिक्त आप चतुरस्त्रधी अर्थात् चारों दिशाओं के समस्त पदार्थों को जानने वाले कहलाते हैं। हे देव! आप ही पंच परमेष्ठी स्वरूप हैं, अतिशय पवित्र हैं, आप मुझे भी पवित्र कीजिए।

स्वर्गावतारिणे तुभ्यं सद्योजातात्मने नम:।
जन्माभिषेक-वामाय वामदेव नमोऽस्तु ते।।१३।।

अर्थ– हे भगवन् आप स्वर्गावतार के समय ही 'सद्योजात्' (अर्थात् उसी समय उत्पन्न होने वाले) कहलाये थे, इसलिए आपको नमस्कार हो। और जन्माभिषेक के समय बहुत ही सुन्दर दिखाई पड़ते थे, इसलिए हे वामदेव! आपको नमस्कार हो।

सन्निष्क्रान्तावघोराय परं प्रशममीयुषे।
केवलज्ञान-संसिद्धावीशानाय नमोऽस्तु ते।।१४।।

अर्थ– दीक्षा कल्याण के समय आपने परम शान्त मुद्रा धारण की थी तथा केवल-ज्ञान के समय आप परम पद को प्राप्त हुए, और ईश्वर कहलाये, इसलिए आपको नमस्कार हो।

पुरस्तत्पुरुषत्वेन विमुक्त-पद-भाजिने।
नमस्तत्पुरुषावस्थां भाविनीं तेऽद्य बिभ्रते।।१५।।

अर्थ– अब आगे शुद्ध आत्म स्वरूप के द्वारा मोक्ष-स्थान को प्राप्त होंगे एवं आगामी काल में सिद्ध अवस्था को धारण करने वाले होंगे इसलिए आपको आज ही मेरा नमस्कार हो।

ज्ञानावरण- निर्ह्रासान्नमस्तेऽनन्तचक्षुषे।
दर्शनावरणोच्छेदान्नमस्ते विश्वदृश्वने।।१६।।

अर्थ– ज्ञानावरण कर्म के नाश करने से आप 'अनन्तज्ञानी' कहलाते हैं तथा दर्शनावरण कर्म के नाश करने के कारण आप 'विश्वदृश्वा' अर्थात् समस्त देखने वाले कहलाते हैं। इसलिए हे देव! आपके लिए मेरा नमस्कार हो।

नमो दर्शमोहघ्ने क्षायिकाऽमलदृष्टये।
नमस्चारित्रमोहघ्ने विरागाय महौजसे।।१७।।

अर्थ– आप दर्शन मोहनीय के नाश करने वाले तथा निर्मल क्षायिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले हैं, आप चारित्र मोहनीय कर्म को नाश करने वाले हैं, वीतराग और अतिशय तेजस्वी हैं, इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो।

नमस्तेऽनन्त-वीर्याय नमोऽनन्त-सुखात्मने ।
नमस्तेऽनन्त-लोकाय लोकालोकाविलोकिने ।।१८।।

अर्थ– अनन्तवीर्य को धारण करने वाले आपको मेरा नमस्कार हो, अनन्तसुख को धारण करने वाले तथा लोकालोक को देखने वाले और अनन्त प्रकाश रूप आपको मेरा नमस्कार हो।

नमस्तेऽनन्त-दानाय नमस्तेऽनन्त-लब्धये ।
नमस्तेऽनन्त-भोगाय नमोऽनन्तोपभोगिने ।।१९।।

अर्थ– दानान्तराय कर्म के नाश होने से आपको अनन्त दान की प्राप्ति हुई है, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्त लब्धियों को धारण करने वाले हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्त भोग को धारण करने वाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, तथा आप अनन्त उपभोग को धारण करने वाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो।

नमः परम-योगाय नमस्तुभ्यम् योनये ।
नमः परम-पूताय नमस्ते परमर्षये ।।२०।।

अर्थ– आप परम ध्यानी हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप चौरासी लाख योनियों से रहित हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप परम पवित्र हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो, और आप परम ऋषि व सर्वोत्कृष्ट मुनि हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो।

नमः परम-विद्याय नमः पर-मत-च्छिदे ।
नमः परम-तत्त्वाय नमस्ते परमात्मने ।।२१।।

अर्थ– आप परम विद्या अर्थात् केवलज्ञान को धारण करने वाले हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अन्य सब मतों का नाश करने

वाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप परमतत्त्व स्वरूप हैं अर्थात् रत्नत्रय रूप हैं तथा आप ही सर्वोत्कृष्ट परमात्मा हैं, इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो।

नमः परम-रूपाय नमः परम-तेजसे।
नमः परम-मार्गाय नमस्ते परमेष्ठिने।।२२।।

अर्थ– आप बहुत सुन्दर रूप को धारण करने वाले परम तेजस्वी हैं, इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो, आप रत्नत्रय रूप होने के कारण साक्षात् मोक्षमार्ग स्वरूप हैं और आप परम स्थान में रहने वाले परमेष्ठी हैं, इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो।

परमर्धिजुषे धाम्न परम-ज्योतिषे नमः।
नमः पारेतमः प्राप्तधाम्ने परतरात्मने।।२३।।

अर्थ– आप मोक्ष स्थान का सेवन करने वाले हैं, तथा ज्योति स्वरूप हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अज्ञान-रूपी अंधकार के पारंगत अर्थात् सर्वज्ञ है, और इसलिए ही प्रकाश रूप हैं तथा सर्वोत्कृष्ट हैं, इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो।

नमः क्षीण-कलंकाय क्षीण-बन्ध नमोऽस्तु ते।
नमस्ते क्षीण-मोहाय क्षीण-दोषाय ते नमः।।२४।।

अर्थ– आप कर्म रूपी कलंक से रहित हैं, आप कर्मों के बन्धन से रहित हैं, आपका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है, तथा आप सब दोषों से रहित हैं, इन सब गुणों के लिए भी आपको नमस्कार हो।

नमः सुगतये तुभ्यं शोभनां गतिमीयुषे।
नमस्तेऽतीन्द्रिय-ज्ञान-सुखायाऽनिन्द्रियात्मने।।२५।।

अर्थ– आप मोक्ष- रूपी शुभगति को प्राप्त होने वाले 'शुभगति' हैं आप अतीन्द्रिय (जो इन्द्रियों से न जाना जाय) ज्ञान-सुख को धारण करने वाले हैं, तथा स्वयं इन्द्रियों के अगोचर अतींद्रिय हैं, इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो।

काय-बन्धन-निर्मोक्षा-दकायाय नमोऽस्तु ते।
नमस्तुभ्य-मयोगाय योगिनामधियोगिने।।२६।।

अर्थ– आप 'शरीर बन्धन- नामक' नाम-कर्म को नष्ट करने के कारण ही 'शरीर रहित' कहलाते हैं, आप मन, वचन, काय के योगों से रहित हैं, और योगियों में भी सर्वोत्कृष्ट हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो।

अवेदाय नमस्तुभ्यमकषायाय ते नमः।
नमः परम-योगीन्द्र-वन्दिताङ्घ्रि-द्वयाय ते।।२७।।

अर्थ– आप स्त्री- पुरुष- नपुंसक तीनों वेदों से रहित हैं, और आप 'कषाय रहित' हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो, परम योगिराज भी आपके दोनों चरणकमलों को नमस्कार करते हैं, इसलिए भी आपको नमस्कार हो।

नमः परम-विज्ञान नमः परम-संयम।
नमः परमदृग्दृष्ट-परमार्थाय ते नमः।।२८।।

अर्थ– हे 'परम विज्ञान'! उत्कृष्ट ज्ञान को धारण करने वाले, आपके लिए मेरा नमस्कार हो, 'परमसंयम' अर्थात् उत्कृष्ट चरित्र को धारण करने वाले हे देव! आप 'परम दृष्टि' से परमार्थ को देखने वाले हैं तथा जगत की रक्षा करने वाले हैं, इसलिए आपको मेरा नमस्कार है।

नमस्तुभ्यम् लेश्याय शुक्ल-लेश्यांशक-स्पृशे।
नमो भव्येतरावस्था-व्यतीताय विमोक्षिणे।।२९।।

अर्थ- आप लेश्याओं से रहित तथापि शुद्ध शुक्ललेश्या के कुछ उत्तम अंशों को स्पर्श करने वाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप भव्य अभव्य दोनों अवस्थाओं से रहित हैं और मुक्त रूप हैं इसलिए भी आपको नमस्कार हो।

संज्ञ्यसंज्ञिद्वयावस्था-व्यति रिक्तामलात्मने।
नमस्ते वीतसंज्ञाय नमः क्षायिकदृष्टये।।३०।।

अर्थ- आप सैनी असैनी दोनों अवस्थाओं से रहित हैं, निर्मल शुद्ध आत्मा को धारण करने वाले हैं तथा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह चारों संज्ञाओं से रहित हैं इसलिए आपको हमारा नमस्कार हो इसके अतिरिक्त आप क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं इसलिए भी मैं आपको नमस्कार करता हूं।

अनाहाराय तृप्ताय नमः परमभाजुषे।
व्यतीताशेषदोषाय भवाब्धेः पारमीयुषे।।३१।।

अर्थ- आप आहार रहित होकर भी सदा तृप्त रहते हैं अतिशय कांतियुत हैं, समस्त दोषों से रहित हैं और संसाररूपी समुद्र के पार हैं इसलिए आपको हमारा नमस्कार हो।

अजराय नमस्तुभ्यं नमस्तेस्तीदजन्मने।
अमृत्यवे नमस्तुभ्यमचलायाऽक्षरात्मने।।३२।।

अर्थ- आप जरा रहित हैं आप जन्म रहित हैं, आप मृत्यु रहित हैं तथा अचल और अविनश्वर हैं इसलिए भी आपको हमारा नमस्कार हो।

अलमास्तां गुणस्तोत्रमनन्तास्तावका गुणाः।
त्वां नाम स्मृति-मात्रेण पर्युपासिसिषामहे।।३३।।

अर्थ– हे देव! आपके अनन्तगुण हैं, सबका वर्णन असम्भव है इसलिए अब आपके गुणों का वर्णन न कर केवल आप के नामों का ही स्मरण करके आपकी उपासना करना चाहते हैं।

एवं स्तुत्वा जिनं देवं भक्त्या परमया सुधीः।
पठेदष्टोत्तरं नाम्नां सहस्रं पाप-शान्तये।।३४।।

अर्थ– इस प्रकार उत्कृष्ट भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र देव की स्तुति करके सुधीजन पापों की शान्ति के लिए एक हजार आठ नामों को निरन्तर पढ़ें।

इति प्रस्तावना।

प्रसिद्धाष्ट-सहस्रेद्ध-लक्षणं त्वां गिरां पतिम्।
नाम्नामष्टसहस्रेण तोष्टुमोऽभीष्ट-सिद्धये।।१।।

अर्थ– आप समस्त वाणियों के स्वामी हैं, आपके एक हजार आठ लक्षण प्रसिद्ध हैं, इसलिए हम लोग भी अपनी इष्ट सिद्धि के लिए एक हजार आठ नामों से आपकी स्तुति करते हैं।

श्रीमान्स्वयंभूर्वृषभः शंभवः शंभुरात्मभूः।
स्वयंप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः।।२।।

अर्थ– आप अनन्त चतुष्टय-रूप अन्तरंग लक्ष्मी और समवसरण रूप बहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं इसलिए 'श्रीमान' (१) कहलाते हैं। अपने आप उत्पन्न हुए हैं अथवा बिना गुरु के ही अपने आप समस्त पदार्थों के जानने वाले हैं, अथवा अपने ही आत्मा में रहते हैं, अथवा

आपने अपने आप ही कल्याण किया है, (अथवा) अपने ही गुणों से आप वृद्धि को प्राप्त हुए हैं) अपने आप केवल ज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा समस्त लोकालोक में व्याप्त हो रहे हैं वा भव्य जीवों को मोक्ष रूप सम्पत्ति देने वाले हैं, वा द्रव्य पर्यायों को अपने आप जानते हैं, अथवा ध्यान करने वाले योगियों को आप प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं, अथवा लोकशिखर पर अपने आप जाकर, विराजमान होते हैं इसलिए आप 'स्वयंभू' (२) कहलाते हैं। आप वृष अर्थात् धर्म से 'भा' अर्थात् सुशोभित रहते हैं अथवा धर्म की वर्षा करते हैं अथवा भक्त लोगों को इष्टवस्तु की वर्षा करने वाले हैं, इसलिए 'वृषभ' (३) कहलाते हैं। आप से सब जीवों को सुख मिलता है, अथवा आपका 'भव' अर्थात् जन्म अत्यन्त ही उत्कृष्ट है, अथवा आप सुखपूर्वक उत्पन्न हुए हैं, इसलिए 'शंभव वा 'संभव' (४) कहलाते हैं। आप परमानन्द मोक्ष- रूप सुख को देने वाले हैं, इसलिए 'शंभु' (५) कहलाते हैं। आप अपने आत्मा के द्वारा ही कृतकृत्य हुए हैं, अथवा शुद्ध-बुद्ध चित्चमत्कार स्वरूप आत्मा में ही रहते हैं, अथवा ध्यान के द्वारा योगियों की आत्मा में ही प्रत्यक्ष होते हैं, इसलिए 'आत्मभू' (६) कहे जाते हैं। आप अपने आप ही प्रकाशमान होते हैं, अथवा शोभायमान होते हैं, इसलिए 'स्वयंप्रभ' (७) कहलाते हैं। सबके स्वामी हैं वा समर्थ हैं, इसलिए 'प्रभु' (८) हैं। परमानन्द स्वरूप सुख का उपभोग करने वाले हैं, इसलिए 'भोक्ता' (९) हैं। केवलज्ञान के द्वारा सब जगह व्याप्त हैं, वा समस्त लोक में मंगल करने वाले हैं, अथवा ध्यानादि के द्वारा समस्त लोक में प्रत्यक्ष प्रगट होते हैं, अथवा समस्त लोकालोक को जानने वाले हैं, इसलिए 'विश्वभू' (१०) हैं। आपका जन्म मरण रूप संसार बाकी नहीं है, वा अब आप संसार में उत्पन्न नहीं होंगे, इसलिए ही आपको 'अपुनर्भव' (११) कहते हैं।

विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः।
विश्वविद्विश्वविद्येशो विश्वयोनि-रनश्वरः।।३।।

अर्थ– आप समस्त लोक को अपने समान जानते हैं, अथवा आप विश्व अर्थात् केवलज्ञान स्वरूप हैं, इसलिए 'विश्वात्मा' (१२) कहे जाते हैं, तीनों लोकों में रहने वाले समस्त प्राणियों के आप स्वामी हैं, इसलिए 'विश्वलोकेश' (१३) हैं। आपके चक्षु अर्थात् केवलदर्शन समस्त जगत् में व्याप्त हैं, इसलिए 'विश्वतश्चक्षु' (१४) हैं। कभी नाश नहीं होते, इसलिए 'अक्षय' (१५) हैं। छः द्रव्यों से भरे हुए इस विश्व अर्थात् जगत् को जानते हैं, इसलिए 'विश्ववित्' (१६) हैं। समस्त विद्याओं के ईश्वर हैं, अथवा केवल ज्ञान के स्वामी हैं, अथवा समस्त विद्याओं के जानने वाले गणधरादिकों के स्वामी हैं, इसलिए 'विश्वविद्येश' (१७) कहे जाते हैं। समस्त पदार्थों की उत्पत्ति के कारण हैं, अर्थात् सब पदार्थों को उपदेश देने वाले हैं, इसलिए 'विश्वयोनि' (१८) कहलाते हैं। आपके स्वरूप का कभी विनाश नहीं होता, इसलिए 'अविनश्वर' (१९) कहे जाते हैं।

विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः।
विश्वव्यापी विधिर्वेधाः शाश्वतो विश्वतोमुखः।।४।।

अर्थ– समस्त लोक अलोक को देखने से 'विश्वदृश्वा' (२०) कहलाते हैं, केवलज्ञान के द्वारा सब जगह व्याप्त हैं, अथवा जीवों को संसार से पार करने में समर्थ हैं, अथवा परम विभूति संयुक्त हैं, इसलिए आप को 'विभु' (२१) कहते हैं। चारों गतियों में परिभ्रमण करने वाले जीवों का उद्धार कर मोक्ष-स्थान में पहुंचाने वाले हैं, अथवा दयालु होने से सब जीवों की रक्षा करने वाले हैं, इसलिए 'धाता' (२२) कहलाते हैं। समस्त जगत् के स्वामी होने से 'विश्वेश'

(२३) कहे जाते हैं, समस्त जीवों को सुख की प्राप्ति का उपाय दिखलाया है, इसलिए सब जीवों के नेत्रों के समान होने से 'विश्वलोचन' (२४) कहलाते हैं। केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक में व्याप्त हैं, अथवा केवलिसमुद्घात करते समय आपके आत्मा के प्रदेश समस्त लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं, इसलिए आपको 'विश्वव्यापी' (२५) कहते हैं। कर्मों का नाश करने वाले हैं, अथवा केवलज्ञान रूपी किरणों के द्वारा मोह- रूपी अन्धकार को नाश करने वाले हैं, इसलिए 'विधु' (२६) कहे जाते हैं, धर्म-रूप जगत् को उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए 'वेधा' (२७) कहलाते हैं। नित्य हैं, सदा विद्यमान रहते हैं, इसलिए 'शाश्वत' (२८) कहे जाते हैं। आपके मुख चारों दिशाओं में दिखते हैं अथवा आपके मुख के दर्शन करने मात्र से ही जीवों की चतुर्गति नष्ट हो जाती हैं, इसलिए अथवा जैसे- विश्वतोमुख नाम जल का है, एवं आप जल के समान कर्म-रूप मल को धोने वाले हैं, विषयों की तृष्णा को नष्ट करने वाले और अत्यन्त स्वच्छ हैं, इसलिए आप -'विश्वतोमुख' (२९) कहलाते हैं।

विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः।
विश्वदृग् विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनीश्वरः।।५।।

अर्थ– आपके मतानुसार समस्त कर्म ही दु:ख देने वाले हैं अथवा आपने जीविका के लिए छह कर्मों का उपदेश दिया है, इसलिए आपको 'विश्वकर्मा' (३०) कहते हैं। जगत के समस्त प्राणियों में आप वृद्ध हैं, अथवा श्रेष्ठ हैं इसलिए 'जगज्ज्येष्ठ' (३१) कहलाते हैं। आप अनंत गुणमय हैं इसलिए 'विश्वमूर्ति' (३२) कहलाते हैं। समस्त अशुभ कर्मों के नाश करने के कारण गणधर देवों को तथा चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक रहने वाले जीवों को जिन कहते हैं, आप

जिनों के ईश्वर हैं इसलिए आपको 'जिनेश्वर' (३३) कहते हैं। समस्त जगत को देखते हैं इसलिए 'विश्वदृक्' (३४) कहलाते हैं, तथा समस्त प्राणियों के ईश्वर होने के कारण एवं आप तीनों लोकों की लक्ष्मी के स्वामी हैं इसलिए 'विश्वभूतेश' (३५) कहे जाते हैं। आपका केवलदर्शनरूपी तेज सब जगह भरा हुआ है अथवा आप समस्त जगत् को प्रकाश देने वाले हैं, इसलिए 'विश्वज्योति' (३६) कहलाते हैं। आपका कोई ईश्वर अथवा स्वामी नहीं है। इसलिए आपको 'अनीश्वर' (३७) कहते हैं।

जिनो जिष्णुरमेयात्मा विश्वरीशो जगत्पतिः।
अनन्तचिदचिन्त्यात्मा भव्यबन्धुरबन्धनः।।६।।

अर्थ– आपने कर्मरूपी शत्रु अथवा काम, क्रोध, रागद्वेष आदि शत्रुओं को जीता है इसलिए 'जिन' (३८) कहलाते हैं। आपका स्वभाव ही सबसे उत्कृष्ट किंवा प्रकाश रूप है, इसलिए 'जिष्णु' (३९) कहे जाते हैं। आपका ज्ञान प्रमाण रहित अनंत है इसलिए आप 'अमेयात्मा' (४०) कहलाते हैं।। विश्वरी अर्थात् पृथ्वी के ईश अर्थात् स्वामी हैं इसलिए आप 'विश्वरीश' (४१) कहलाते हैं। आप तीनों लोकों के स्वामी हैं इसलिए 'जगत्पति' (४२) कहे जाते हैं तथा अनंत संसार को जीतने वाले हैं इसलिए 'अनंतजित' (४३) कहे जाते हैं। आपके आत्मा का स्वरूप मन से चिंतवन करने तक की शक्ति अन्य प्राणियों में नहीं है इसलिए आपको 'अचिंतकाय' (४४) कहते हैं। भव्य जीवों का आप सदा उपकार करते हैं इसलिए 'भव्यबन्धु' (४५) कहलाते हैं, तथा पाप के कर्म का बन्ध नहीं हैं अर्थात् घातिया कर्मों के द्वारा आप बधे हुए नहीं हैं इसलिए आप 'अबंधन' (४६) कहे जाते हैं।

युगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममयः शिवः।
परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः।।७।।

अर्थ– आप कर्मभूमि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए हैं, इसलिए 'युगादिपुरुष' (४७) कहलाते हैं। आपके यहां केवलज्ञान आदि समस्त गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं, इसलिए 'ब्रह्मा' (४८) कहे जाते हैं पंचपरमेष्ठी स्वरूप होने के कारण 'पंचब्रह्ममय' (४९) कहलाते हैं। सदा परमानंद में रहते हैं तथा सबका कल्याण करने वाले हैं, इसलिए आपको -'शिव' (५०) कहते हैं। आप जीवों को मोक्षस्थान में पहुंचाते हैं इसलिए 'पर' (५१) कहे जाते हैं तथा धर्मोपदेशक एवं सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए 'परतर' (५२) कहलाते हैं। इन्द्रियों के द्वारा आप जाने नहीं जा सकते, केवल ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं, इसलिए 'सूक्ष्म (५३) कहलाते हैं, तथा इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य मोक्षस्थान में अरहंत पद में रहते हैं, इसलिए 'परमेष्ठी' (५४) कहलाते हैं और तीनों कालों में आप नित्य रहते हैं, इसलिए 'सनातन' (५५) कहे जाते हैं।

स्वयंज्योतिरजोऽजन्मा ब्रह्मयोनिरयोनिजः।
मोहारिविजयी जेता धर्मचक्री दयाध्वजः।।८।।

अर्थ– आप स्वयं प्रकाशरूप हैं, इसलिए 'स्वयंज्योति' (५६) हैं, संसार में उत्पन्न नहीं होते इसलिए 'अज' (५७) हैं, कभी शरीर धारण नहीं करते इसलिए 'अजन्मा' (५८) हैं, ब्रह्म अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की योनि अर्थात् खानि हैं इसलिए 'ब्रह्मयोनि' (५९) कहे जाते हैं। मोक्षस्थान में चौरासी लाख योनियों से रहित होकर उत्पन्न होते हैं इसलिए 'अयोनिज' (६०) कहलाते हैं। आप मोहनीय कर्मरूपी शत्रु को जीतने वाले हैं, इसलिए 'मोहारिविजयी' (६१) सबसे उकृष्ट रीति से रहने से 'जेता' (६२)

सदा आपके आगे धर्म चक्र चलता रहता है, इसलिए 'धर्मचक्री' (६३) तथा आपकी प्रसिद्ध ध्वजा फहराकर सब प्राणियों पर दया करना सिखाती है, इसलिए आप 'दयाध्वज' (६४) कहलाते हैं।

प्रशान्तारि रनन्तात्मा योगी योगीश्वरार्चितः।
ब्रह्मविद् ब्रह्मतत्त्वज्ञो ब्रह्मोद्याविद्यतीश्वरः।।९।।

अर्थ– आपके कर्मरूपी शत्रु शांत हो गये हैं इसलिए 'प्रशांतारि' (६५) अनंत गुणों को धारण करने वाले हैं, तथा आपका ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता, आप केवलज्ञानी हैं इसलिए आप 'अनंतात्मा' (६६) कहे जाते हैं। आपने अपने योगों को निरोध किया है। इसलिए 'योगी' (६७) गणधरादि योगीश्वर भी आपकी पूजा करते हैं इसलिए 'योगीश्वरार्चित' (६८) अपने ब्रह्म अर्थात् आत्मा का स्वरूप जानने के कारण 'ब्रह्मवित' (६९) तथा ब्रह्मतत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व का अथवा केवलज्ञान का वा दया का अथवा कामदेव के नष्ट करने का मर्म जानते हैं, इसलिए 'ब्रह्मतत्वज्ञ' (७०) कहे जाते हैं। ब्रह्म अर्थात् आत्मा के समस्त तत्त्वों को अथवा आत्मविद्या को जानने के कारण 'ब्रह्मोद्यावित' (७१), तथा रत्नत्रय सिद्ध करने वाले यतियों में भी श्रेष्ठ हैं इसलिए 'यतीश्वर' (७२) कहे जाते हैं।

शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः।
सिद्धः सिद्धान्तविद् ध्येयः सिद्धसाध्यो जगद्धितः।।१०।।

अर्थ– क्रोधादि कषायों से रहित होने से 'शुद्ध' (७३) केवलज्ञानी होने से अथवा सबको जानने से 'बुद्ध' (७४) आत्मा का स्वरूप जानने के कारण हैं इसलिए 'प्रबुद्धात्मा' (७५), तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करने के कारण अथवा मोक्ष प्राप्ति ही मुख्य उद्देश्य के कारण अथवा जीवादि पदार्थों की सिद्धि

के कारण अथवा मोक्ष के कारण रत्नत्रय को सिद्ध करने के कारण आपको 'सिद्धार्थ' (७६) कहते हैं। आपका शासन अर्थात् मत पूर्ण वा प्रसिद्ध है, इसलिए आप 'सिद्धशासन' (७७) कहे जाते हैं तथा कर्मों का नाश करने से 'सिद्ध' (७८) कहलाते हैं। आप द्वादशांग सिद्धांत के पारगामी हैं इसलिए 'सिद्धांतवित' (७९) योगी लोगों के ध्यान योग्य होने ये 'ध्येय' (८०) हैं, तथा मुनियों द्वारा आराध्य होने से अथवा सिद्ध जाति के देव द्वारा पूज्य होने से 'सिद्धसाध्य' (८१) कहे जाते हैं। आप जगत का हित अथवा उपकार करते हैं इसलिए आपको 'जगद्धित' (८२) कहते हैं।

सहिष्णु-रच्युतोऽनन्तः प्रभविष्णुर्भवोद्भवः।
प्रभूष्णुरजरोऽजर्यो भ्राजिष्णु र्धीश्वरोऽव्ययः।।११।।

अर्थ— सहनशील होने से 'सहिष्णु' (८३) हैं, आत्मा के स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते इसलिए 'अच्युत' (८४) हैं, आपके गुणों का अन्त नहीं इसलिए 'अनन्त' (८५) हैं, आपमें अनन्त शक्ति है इसलिए 'प्रभविष्णु' (८६) हैं, आपका सांसारिक जन्ममरण नष्ट हो गया तथा संसार में आपका जन्म उत्कृष्ट है इसलिए आप 'भवोद्भव' (८७) हैं। अपनी स्वाभाविक परिणति से समय समय में परिणत अथवा सौ इन्द्रों की प्रभुता का आपका स्वभाव है, इसलिए 'प्रभूष्णु' (८८) कहलाते हैं। जरा अर्थात् बुढापारहित हैं इसलिए 'अजर' (८९), कोई भी आपको जीत नहीं सकता इसलिए 'अजेय' (९०), करोड़ों सूर्य चन्द्रमा की कांति से अधिक आपकी कांति है इसलिए 'भ्राजिष्ण' (९१) पूर्ण ज्ञान के स्वामी होने के कारण 'धीश्वर' (९२) हैं, सदा अविनश्वर, न कम न अधिक होने के कारण 'अव्यय' (९३) कहलाते हैं।

विभावसुरसंभूष्णुः स्वयंभूष्णुः पुरातनः।
परमात्मा परंज्योति-स्त्रिजगत्परमेश्वरः।।१२।।

अर्थ– कर्मरूपी ईंधन को जलाने से 'विभावसु' अर्थात् 'अग्नि', मोहरूपी अंधकार को नाश करने से 'विभावसु' अर्थात् सूर्य, धर्मरूपी अमृत की वर्षा करने से 'विभावसु' अर्थात् 'चन्द्र', अथवा रागद्वेष आदि विभाव परिणामों को आपने नाश किया है इसलिए भी 'विभावसु' (९४) कहे जाते हैं। संसार में उत्पन्न होना आपका स्वभाव नहीं है, इसलिए 'असंभूष्ण' (९५) हैं, अपने आप ही प्रगट अर्थात् प्रकाश हुए हैं इसलिए 'स्वयंभूष्णु' (९६) अनादि सिद्ध हैं इसलिए 'पुरातन' (९७) आत्मा के परमोत्कृष्ट होने के कारण 'परमात्मा' (९८), मोक्षमार्ग को प्रगट करने वाले हैं इसलिए 'परमज्योति' (९९) और तीनों लोकों में आप उत्कृष्ट हैं अथवा तीनों लोकों के स्वामी होने के कारण आप 'त्रिजगत्परमेश्वर' (१००) कहलाते हैं।

इति श्रीमदादिशतम्।।१।।

दिव्यभाषापतिर्दिव्यः पूतवाक्पूतशासनः।
पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमीश्वरः।।१।।

अर्थ– दिव्यध्वनि के स्वामी हैं, इसलिए 'दिव्यभाषापति' (१०१), अतिशय मनोहर होने से 'दिव्य' (१०२), वाणी निर्दोष होने के कारण 'पूतवाक्' (१०३), तथा उपदेश वा मत पवित्र होने से 'पूतशासन' (१०४) कहलाते हैं। आपकी आत्मा पवित्र है, अथवा आप भव्यजीवों को पवित्र करते हैं इसलिए 'पूतात्मा' (१०५) हैं, आपका केवलज्ञानरूपी तेज सर्वोत्कृष्ट है इसलिए 'परमज्योति' (१०६) हैं, धर्म के अधिकारी हैं इसलिए 'धर्माध्यक्ष' (१०७) हैं, और इन्द्रियों के निग्रह करने में श्रेष्ठ हैं इसलिए 'दमीश्वर' (१०८) हैं।

श्रीपतिर्भगवानर्हन्नरजा विरजाः शुचिः।
तीर्थकृत्केवलीशानः पूजार्हः स्नातकोऽमलः।।२।।

अर्थ– मोक्षादि लक्ष्मी के भोक्ता व स्वामी होने से 'श्रीपति' (१०९), महाज्ञानी होने से 'भगवान्' (११०) हैं, परम पूज्य होने से तथा सबके द्वारा आराधित होने से 'अर्हन्' (१११), कर्मरूपी रज-रहित होने से 'अरजा' (११२), एवं भव्यजीवों के कर्ममूल दूर करने में सहायक होने से अथवा पापरूप ज्ञानावरण, दर्शनावरणरहित होने से 'विरजा' (११३) कहे जाते हैं, परम पवित्र, पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालन करने वाले मल मूत्र रहित, मोहरहित हैं अतएव 'शुचि' (११४) हैं। धर्मरूप तीर्थ के कर्ता अथवा संसार से पार करने वाले द्वादशांगरूप तीर्थ के कर्त्ता हैं, इसलिए तीर्थकृत' (११५) हैं, केवलज्ञानी होने से 'केवली' (११६), अनंत शक्तिमान किंवा सबके ईश्वर होने से 'ईशान' (११७), आठ प्रकार की पूजा के योग्य होने से 'पूजार्ह' (११८), घातिया कर्मों के नष्ट होने से, पूर्ण ज्ञान होने से 'स्नातक' (११९) और धातु उपधातु आदि मलरहित होने से 'अमल' (१२०) कहे जाते हैं।

अनन्तदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयंबुद्धः प्रजापतिः।
मुक्तः शक्तो निराबाधो निष्कलो भुवनेश्वरः।।३।।

अर्थ– आपकी केवलज्ञानरूपी दीप्ति अनंत है, आपके शरीर की कांति अनंत है, इसलिए आपको 'अनंतदीप्ति' (१२१) कहते हैं, ज्ञानस्वरूप होने से 'ज्ञानात्मा' (१२२), स्वयं ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हुए हैं, बिना गुरु के स्वयं महाज्ञानी हुए हैं, इसलिए 'स्वयंबुद्ध' (१२३), तीनों लोकों के स्वामी हैं और सबको उपदेश देते हैं, इसलिए 'प्रजापति' (१२४) हैं, संसार और कर्मों से रहित होने से 'मुक्त'

(१२५) हैं, समर्थ होने से अथवा अनंत शक्ति के धारक होने से 'शक्त' (१२६), बाधारहित होने से व दु:खरहित होने से 'निराबाध' (१२७) शरीर रहित होने से 'निष्कल' (१२८), और तीनों लोकों के स्वामी होने से 'भुवनेश्वर' (१२९) कहलाते हैं।

निरंजनो जगज्ज्योति-र्निरुक्तोक्तिर्निरामय: ।
अचलस्थितिरक्षोभ्य: कूटस्थ: स्थाणुरक्षय: ।।४।।

अर्थ– कर्मरूपी अंजन से रहित होने से 'निरंजन' (१३०), जगत को प्रकाशित करने से अथवा मोक्षमार्ग का स्वरूप दिखलाने से 'जगज्ज्योति' (१३१), वचन पूर्वा पर अविरुद्ध प्रमाण होने से आपको 'निरुक्तोक्ति' (१३२) कहते हैं। रोग रहित अथवा पसीना रहित होने से 'अनामय' (१३३), अनन्त काल बीतने पर भी आप अचल रहते हैं, इसलिए 'अचलस्थिति' (१३४) हैं, व्याकुलतारहित होने से अथवा आपकी शान्ति का कभी भंग न होने से आप 'अक्षोभ्य' (१३५) कहलाते हैं। सदा नित्य रहने से अथवा लोकशिखर पर विराजमान होने से 'कूटस्थ' (१३६) कहे जाते हैं तथा गमनागमन रहित होने से 'स्थानु' (१३७) एवं क्षय रहित होने से 'अक्षय' (१३८) कहलाते हैं।

अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता प्रणेता न्यायशास्त्रकृत् ।
शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ।।५।।

अर्थ– तीनों लोकों में मुख्य होने से 'अग्रणी' (१३९), मोक्षपद को प्राप्त होने से 'ग्रामणी' (१४०), तथा समस्त प्रजा को धर्म के अनुसार चलाने से 'नेता' (१४१), तथा शास्त्र को उत्पन्न करने वाले, किंवा धर्म वा मोक्ष मार्ग का उपदेश देने वाले होने के कारण 'प्रणेता' (१४२) कहे जाते हैं। प्रमाण और नयों के स्वरूप- द्रष्टा शास्त्रों के वक्ता हैं, इसलिए 'न्यायशास्त्रकृत' (१४३) कहलाते हैं,

सबको हितोपदेश देने के कारण 'शास्ता' (१४४), तथा रत्नत्रय धर्म के अथवा उत्तम क्षमा आदि धर्मों के स्वामी होने से 'धर्मपति' (१४५) कहलाते हैं। धर्म स्वरूप होने से आप 'धर्म्य' (१४६) धर्म की वृद्धि करने से 'धर्मात्मा' (१४७), और धर्मरूप तीर्थकी प्रवृत्ति करने से 'धर्मतीर्थकृत' (१४८) कहलाते हैं।

वृषध्वजो वृषाधीशो वृषकेतुर्वृषायुधः।
वृषो वृषपतिर्भर्ता वृषभांको वृषोद्भव।।६।।

अर्थ– आपकी ध्वजा पर बैल का चिन्ह होने से अथवा वृष अर्थात् धर्म की ध्वजा फहराने से 'वृषध्वज' (१४९) अहिंसारूप धर्म के स्वामी होने से 'वृषाधीश' (१५०), धर्म को प्रसिद्ध करने से 'वृषकेतु' (१५१), तथा कर्मरूप शत्रु को नाश करने के लिए आपने धर्मरूपीशस्त्र धारण कर रखा है, इसलिए 'वृषायुध' (१५२) कहलाते हैं। धर्म की वृष्टि करने से 'वृष' (१५३), धर्म के नायक होने से 'वृषपति' (१५४), सबके स्वामी होने से 'भर्ता' (१५५) तथा बैल का चिन्ह होने से 'वृषभांक' (१५६) कहलाते हैं। माता के स्वप्न में वृषभ देखने से एवं उपरांत आप उत्पन्न हुए हैं अथवा महापुण्य से उत्पन्न हुए हैं इसलिए 'वृषोद्भव' (१५७) कहलाते हैं।

हिरण्यनाभिर्भूतात्मा भूतभृद् भूतभावनः।
प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवान्तकः।।७।।

अर्थ– सुन्दर नाभि होने से अथवा नाभिराज की संतति होने से 'हिरण्यनाभि' (१५८), यथार्थ स्वरूप एवं अविनाशी होने से 'भूतात्मा' (१५९), जीवों की रक्षा करने से अथवा कल्याण करने से 'भूतभृत्' (१६०), तथा भावना के सदा मंगलस्वरूप होने से आप 'भूतभावन' (१६१) कहलाते हैं। आपका जन्म प्रशंसनीय है, आपसे

आपके वंश की वृद्धि हुई है, इसलिए 'प्रभव' (१६२), संसार रहित होने से 'विभव' (१६३), तथा केवलज्ञानरूपी कांति से प्रकाशमान होने से 'भास्वान्' (१६४) कहलाते हैं। समय समय में आपमें उत्पाद होता रहता है इसलिए 'भव' (१६५), आत्म स्वभाव में सदा लीन होने से 'भाव' (१६६), तथा भव अर्थात् संसार- परिभ्रमण का नाश करने वाले होने से 'भवांतक' (१६७) कहलाते हैं।

हिरण्यगर्भः श्रीगर्भः प्रभूतविभवोऽभवः।
स्वयंप्रभुः प्रभूतात्मा भूतनाथो जगत्पति।।८।।

अर्थ– गर्भावतार के समय सुवर्ण की वृष्टि होने से 'हिरण्यगर्भ' (१६८), गर्भावतार के समय लक्ष्मी द्वारा आपकी माता की सेवा होने से अथवा आपके अंतरंग में स्फुरायमान लक्ष्मी शोभायमान है, इसलिए आपको 'श्रीगर्भ' (१६९) कहते हैं। अनन्त विभूति के स्वामी होने से 'प्रभूतविभव' (१७०), जन्मरहित होने से 'अभव' (१७१), तथा समर्थ होने से 'स्वयंप्रभु' (१७२) कहलाते हैं। केवलज्ञान के द्वारा आत्मा व्याप्त होने से 'प्रभूतात्मा' (१७३), समस्त जीवों के स्वामी होने से 'भूतनाथ' (१७४) और तीनों लोकों के स्वामी होने से 'जगत्पति' (१७५) कहे जाते हैं।

सर्वादिः सर्वदृक् सार्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शनः।
सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्ववित्सर्वलोकजित्।।९।।

अर्थ– सबसे प्रथम एवं श्रेष्ठ होने से 'सर्वादि' (१७६), समस्त लोकालोक को देखने से 'सर्वदृक्' (१७७), हितोपदेश देकर सबका कल्याण करने से 'सार्व' (१७८), तथा सबको जानने से 'सर्वज्ञ' (१७९) कहे जाते हैं। सम्यक्त्व को धारण करने से 'सर्वदर्शन' (१८०), सर्व प्रिय होने से 'सर्वात्मा' (१८१), तीनों लोकों के जीवों

के स्वामी होने से 'सर्वलोकेश' (१८२) समस्त पदार्थों के ज्ञाता होने से 'सर्ववित्' (१८३) तथा अनन्तवीर्य एवं समस्त लोक को जीतने वाले होने के कारण 'सर्वलोकजित्' (१८४) कहलाते हैं।

सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुत् सुवाक् सूरिर्बहुश्रुतः।
विश्रुतः विश्वतः पादो विश्वशीर्षः शुचिश्रवाः।।१०।।

अर्थ– आप की पंचम मोक्षगति अतिशय सुन्दर होने से अथवा आपका ज्ञान प्रशंसनीय होने से 'सुगति' (१८५), अत्यन्त प्रसिद्ध होने से अथवा उत्तम शास्त्रज्ञान को धारण करने से 'सुश्रुतः' (१८६), भक्तों की प्रार्थना अच्छी तरह सुनने के कारण 'सुश्रुत' (१८७) वाणी सप्तभंग- स्वरूप होने से अथवा हितोपदेश देने से 'सुवाक्' (१८८), सबके गुरु होने से 'सूरि' (१८९), तथा शास्त्रों के पारगामी होने से 'बहुश्रुत' (१९०) हैं, जगत्प्रसिद्ध होने से अथवा शास्त्रों में भी आपका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता, इसलिए आप 'विश्रुत' (१९१) हैं, आप की केवलज्ञान रूपी किरणें सब ओर फैली हुई हैं, इसलिए 'विश्वतः पाद' (१९२) है, लोक के शिखर पर विराजमान होने से 'विश्वशीर्ष' (१९३) हैं, तथा आप का ज्ञान अत्यन्त निर्दोष है इसलिए आप को 'शुचिश्रवा' (१९४) कहते हैं।

सहस्रशीर्षः क्षेत्रज्ञः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
भूतभव्यभवद्भर्ता विश्वविद्यामहेश्वरः।।११।।

अर्थ– अनन्त सुखी होने से 'सहस्रशीर्ष' (१९५) हैं, आत्मा का स्वरूप जानने से अथवा लोकालोक को जानने से 'क्षेत्रज्ञ' (१९६) हैं, अनन्तदर्शी होने से 'सहस्राक्ष' (१९७) हैं, अनन्तवीर्य को धारण करने से 'सहस्रपात्' (१९८) हैं, भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों के स्वामी होने से 'भूतभव्यभवद्भर्ता' (१९९) हैं और समस्त विद्याओं

अथवा केवलज्ञान के स्वामी होने से 'विश्वविद्यामहेश्वर' (२००) कहे जाते हैं।

इति दिव्यादिशतम्।।२।। अर्घ्यम्।

स्थविष्ठ: स्थविरो ज्येष्ठ: पृष्ठ: प्रेष्ठो वरिष्ठधी:।
स्थेष्ठो गरिष्ठो बंहिष्ठ: श्रेष्ठोऽणिष्ठो गरिष्ठगी:।।१।।

अर्थ– सद्गुणों से विभूषित अथवा समस्त जीवों को अवकाश देने की शक्ति होने से आप को 'स्थविष्ठ' (२०१) कहते हैं, आदि अन्तरहित होने से अत्यन्त वृद्ध हैं, अथवा ज्ञान से वृद्ध हैं, इसलिए 'स्थविर' (२०२) कहते हैं, मुख्य होने से 'ज्येष्ठ' (२०३), सबके अग्रेसर होने से 'पृष्ठ' (२०४), अत्यन्त प्रिय होने से 'प्रेष्ट' (२०५), अतिशय बुद्धि को धारण करने से 'वरिष्ठधी' (२०६), अत्यन्त स्थिर अर्थात् अविनाशी होने से 'स्थेष्ठ' (२०७), अत्यन्तगुरु होने से 'गरिष्ठ' (२०८), अनन्त गुणों को धारण करने से अथवा अनेक स्वरूप होने से 'बंहिष्ठ' (२०९), प्रशंसनीय होने से 'श्रेष्ठ' (२१०), अतिशय सूक्ष्म अर्थात् केवलज्ञान के गोचर होने से 'अनिष्ठ' (२११), तथा वाणी पूज्य होने से आप 'गरिष्टगी' (२१२) कहे जाते हैं।

विश्वमुद् विश्वसृट् विश्वट् विश्वभुग् विश्वनायक:।
विश्वाशीर्विश्वरूपात्मा विश्वजिद्विजितान्तक:।।२।।

अर्थ– चतुर्गति रूप संसार को नाश करने से 'विश्वमुट्' (२१३), विधि विधान के कर्त्ता होने से 'विश्वसृट्' (२१४), तीनों भुवनों के स्वामी 'विश्वेट्' (२१५) जगत् की रक्षा करने से 'विश्वसृक' (२१६) सबके स्वामी होने से 'विश्वनायक' (२१७), समस्त प्राणियों के विश्वासयोग्य होने से अथवा केवलज्ञान के द्वारा सब जगह निवास करने से 'विश्वाशी' (२१८) कहे जाते हैं। विश्वरूप अर्थात् केवलज्ञान ही

आपका स्वरूप है, अथवा केवल आपका आत्मा अनन्त स्वरूप है, इसलिए आपको 'विश्वरूपात्मा' (२१९) कहते हैं, संसार को जीतने से विश्वजित् (२२०) और काल को जीतने से 'विजितान्तक' (२२१) कहलाते हैं।

विभवो विभयो वीरो विशोको विजरो जरन्।
विरागो विरतोऽसंगो विविक्तो वीतमत्सरः।।३।।

अर्थ– किसी प्रकार का मनोविकार नहीं है, इसलिए 'विभव' (२२२), भय रहित होने से 'विभय' (२२३) लक्ष्मी के स्वामी होने से अथवा अतिशय बलशाली होने से 'वीर' (२२४), शोक- रहित होने से 'विशोक' (२२५), जरा-रहित होने से 'विजर' (२२६) नवीन न होने से अर्थात् अनादिकालीन होने से 'जरन् वा वृद्ध' (२२७), रागरहित होने से 'विराग' (२२८) समस्त विषयों से विरक्त होने से 'विरत्' (२२९), पर वस्तु का सम्बन्ध न रखने से 'असङ्ग' (२३०), एकाकी अथवा पवित्र होने से 'विविक्त' (२३१), तथा किसी से ईर्ष्या द्वेष न करने से 'वीतमत्सर' (२३२) कहे जाते हैं।

विनेय जनता बन्धु र्विलीना , शेष कल्मषः।
वियोगी योगविद् विद्वान् विधाता सुविधिः सुधीः।।४।।

अर्थ– भक्तों के बंधु होने से 'विनयेजनताबन्धु' (२३३), कर्म रूपी समस्त कालिमा से रहित होने से 'विलिनाशेषकल्मष' (२३४), अन्य किसी वस्तु के साथ सम्बन्ध न होने से अथवा योग-रहित होने से 'वियोग' (२३५), योग के जानकार होने से 'योगवित्' (२३६), महापण्डित अथवा पूर्णज्ञानी होने से 'विद्वान' (२३७), धर्म रूपी सृष्टि के कर्ता होने से अथवा सबके गुरु होने से 'विधाता' (२३८), अनुष्ठान वा क्रिया अत्यन्त प्रशंसनीय होने से 'सुविधि' (२३९), तथा अतिशय बुद्धिमान होने से 'सुधी' (२४०) कहलाते हैं।

शान्तिभाक्पृथ्वीमूर्तिः शान्तिभाक् सलिलात्मकः ।
वायुमूर्तिरसंगात्मा, वह्निमूर्तिरधर्मधृक् ।।५।।

अर्थ– उत्तम क्षमा को धारण करने से 'शान्तिभाक्' (२४१), पृथ्वी के समान सहन शक्ति होने से 'पृथिवीमूर्ति' (२४२), शांतता धारण करने से 'शान्तिभाक्' (२४३), जल के समान अत्यन्त निर्मल होने से तथा अन्य जीवों को कर्ममल- रहित शुद्ध करने से 'सलिलात्मक' (२४४), वायु के समान परके सम्बंध से रहित होने से 'वायुमूर्ति' (२४५), परिग्रह रहित होने से 'असंगात्मा' (२४६) अग्नि के समान ऊर्ध्वगमन-स्वभाव होने से अथवा कर्म-रूपी ईंधन को जलाने से 'बह्निमूर्ति' (२४७) और अधर्म का नाश करने से 'अधर्मधृक्' (२४८) कहलाते हैं।

सुयज्वा यजमानात्मा सुत्वा सुत्रामपूजितः ।
ऋत्विग्यज्ञपतिर्यज्ञो यज्ञांगममृतं हविः ।।६।।

अर्थ– कर्म रूपी सामग्री का होम करने से 'सुयज्वा' (२४९), स्वभावभाव का आराधन करने से अथवा भाव पूजा के कर्ता होने से 'यजमानात्मा' (२५०), परमानन्द सागर में अभिषेक करने से 'सुत्वा' (२५१), इन्द्र के द्वारा पूज्य होने से 'सुत्रामपूजित' (२५२), ध्यान रूपी अग्नि में शुभाशुभ- रूप कर्मों को भस्म करने से अथवा ज्ञान-रूप यज्ञ करने से 'आचार्य' कहलाते हैं। इसलिए आपको 'ऋत्विक' (२५३) कहते हैं। यज्ञ के मुख्य अधिकारी होने से 'यज्ञपति' (२५४) पूज्य होने से 'यज्य' (२५५), यज्ञ के साधन अर्थात् मुख्य कारण होने से 'यज्ञांग' (२५६), मरण रहित होने से अथवा संसार-तृष्णा को निवारण करने से 'अमृत' (२५७), और अपनी आत्मा में तल्लीन रहने से 'हवि' (२५८) कहलाते हैं।

व्योममूर्तिरमूर्तात्मा निर्लेपो निर्मलोऽचलः।
सोममूर्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः।।७।।

अर्थ– आकाश के समान निर्मल अथवा केवलज्ञान के द्वारा सर्वव्यापी होने से 'व्योममूर्ति' (२५९), रूप, रस, गंध, स्पर्श-रहित होने से 'अमूर्तात्मा' (२६०), कर्म रूपी लेप से रहित होने से 'निर्लेप' (२६१), रागादि- रहित होने से अथवा मलमूत्रादि-रहित होने से 'निर्मल' (२६२), सर्वदा स्थिर रहने से 'अचल' (२६३), एवं चंद्रमा के समान प्रकाशमान और शांत होने से अथवा अत्यन्त सुशोभित होने से 'सोममूर्ति' (२६४), कहे जाते हैं। अतिशय सौम्य होने से 'सुसौम्यात्मा' (२६५) सूर्य के समान अत्यन्त कान्ति-सहित होने से 'सूर्यमूर्ति' (२६६), तथा अतिशय प्रभावशाली होने से अथवा केवलज्ञान-रूपी तेज से सुशोभित होने से 'महाप्रभ' (२६७), कहलाते हैं।

मन्त्रविन्मन्त्रकृन्मन्त्री मन्त्रमूर्तिरनन्तगः।
स्वतन्त्रस्तन्त्रकृत्स्वान्तः कृतान्तान्तः कृतान्तकृत्।।८।।

अर्थ– मंत्र के ज्ञाता होने से 'मंत्रवित्' (२६८), प्रथमानुयोग आदि चारों अनुयोगरूप मंत्रों के अथवा जप करने योग्य मंत्रों के कर्ता होने से 'मंत्रकृत' (२६९), आत्मा का विचार करने से अथवा लोक की रक्षा करने से अथवा मुख्य होने से 'मन्त्री' (२७०), मंत्रस्वरूप होने से 'मंत्रमूर्ति' (२७१), तथा अनन्तज्ञानी होने से 'अनंतग' (२७२), कहलाते हैं। स्वाधीन होने से अथवा आत्मा ही आपका सिद्धान्त होने से 'स्वतन्त्र' (२७३), आगम के मुख्यकर्ता होने से 'तन्त्रकृत' (२७४), शुद्ध अन्तः करण होने से 'स्वन्त' (२७५), यम अर्थात् मरण को नाश करने से 'कृतांतांत' (२७६), और पुण्य वृद्धि के कारण होने से 'कृतांतकृत' (२७७), कहे जाते हैं।

कृती कृतार्थः सत्कृत्यः कृतकृत्यः कृतक्रतुः ।
नित्यो मृत्युंजयोऽमृत्युरमृतात्माऽमृतोद्भवः । ।९ । ।

अर्थ– प्रवीण अथवा अतिशय पुण्यवान् अथवा हरिहरादि द्वारा पूज्य होने से 'कृती' (२७८), मोक्षरूप परमपुरुषार्थ को सिद्ध करने से 'कृतार्थ' (२७९), कृत्य अतिशय प्रशंसनीय होने से 'सत्कृत्य' (२८०), कर्तव्य समस्त कार्य करने से अथवा सब कार्यों में सफलीभूत होने से 'कृतकृत्य' (२८१), तथा ध्यानरूपी अग्नि में कर्म, नोकर्म आदि को भस्म करने से अथवा ज्ञानरूपी यज्ञ को करने से, अथवा तपश्चर्यारूपी यज्ञ समाप्त होने से 'कृतक्रतु' (२८२), कहे जाते हैं। अविनाशी होने से 'नित्य' (२८३), मृत्यु को जीतने से 'मृत्युञ्जय' (२८४), आत्मा कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होती इसलिए 'अमृत्यु' (२८५), तथा मरणरहित होने से अथवा अमृतस्वरूप होने से 'अमृतात्मा' (२८६) कहे जाते हैं। जन्ममरण रहित होने से अथवा अविनश्वर अवस्था को प्राप्त होने से अथवा भव्यजीवों को मोक्ष प्राप्ति का कारण होने से 'अमृतोद्भव' (२८७), नाम से आप पूजित हैं।

ब्रह्मनिष्ठः परंब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्मसंभवः ।
महाब्रह्मपतिर्ब्रह्मेट् महाब्रह्मपदेश्वरः । ।१० । ।

अर्थ– शुद्ध आत्मा में तल्लीन रहने से 'ब्रह्मनिष्ठ' (२८८), सबमें उत्कृष्ट केवलज्ञान को धारण करने से 'परब्रह्म' (२८९), ज्ञान स्वरूप होने से 'ब्रह्मात्मा' (२९०), ज्ञान की उत्पत्ति स्थल होने से, शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होने से 'ब्रह्मसंभव' (२९१), कहे जाते हैं। गणधरादि के स्वामी होने से 'महाब्रह्मपति' (२९२), केवली भी आपकी स्तुति करते हैं अथवा केवलज्ञान के स्वामी हैं इसलिए 'ब्रह्मेट्' (२९३), तथा मोक्ष के स्वामी अथवा समवसरण के स्वामी होने से 'महाब्रह्मपदेश्वर' (२९४), कहे जाते हैं।

सुप्रसन्नः प्रसन्नात्मा ज्ञान धर्म दमप्रभुः।
प्रशमात्मा प्रशान्तात्मा पुराणपुरुषोत्तमः।।११।।

अर्थ– भक्तों को देने से अथवा सदा आनंदस्वरूप होने से 'सुप्रसन्न' (२९५), मलरहित होने से 'प्रसन्नात्मा' (२९६), केवलज्ञान और इन्द्रियनिग्रह तपश्चरण के स्वामी होने से 'ज्ञानधर्मदमप्रभु' (२९७), क्रोधादि रहित होने से 'प्रशमात्मा' (२९८), परमशांतरूप होने से 'प्रशांतात्मा' (२९९), और अनादिकाल से मोक्षस्थान में निवास करने से अथवा अनादिकाल से होने वाले त्रेसठ शलाका पुरुषों में उत्कृष्ट होने से 'पुराणपुरुषोत्तम' (३००), कहलाते हैं।

इति स्थविष्ठादिशतम्।।३।। अर्घ्यम्।

महाशोकध्वजोऽशोकः कः स्रष्टा पद्मविष्टरः।
पद्मेशः पद्मसंभूतिः पद्मनाभिरनुत्तरः।।१।।

अर्थ– महा अशोकवृक्ष का चिन्ह होने से 'महाअशोकध्वज' (३०१), शोक रहित होने से 'अशोक' (३०२), सबके पितामह होकर, सबको सुख देने से 'क' (३०३), भक्तों को स्वर्ग प्राप्त कराने से 'स्रष्टा' (३०४), कमलासन होने से 'पद्मविष्टर' (३०५), लक्ष्मी के स्वामी होने से 'पद्मेश' (३०६), तथा विहार काल में चरणों के नीचे कमलों की रचना होने से 'पद्मसम्भूति' (३०७), कहे जाते हैं। कमल के समान सुन्दर नाभि होने से 'पद्मनाभि (३०८), तथा अनन्य श्रेष्ठ होने से 'अनुत्तर (३०९), कहलाते हैं।

पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्यः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः।
स्तवनार्हो हृषीकेशो जितजेयः कृतक्रियः।।२।।

अर्थ– लक्ष्मी की उत्पत्तिस्थल होने से 'पद्मयोनि' (३१०), जगत् की उत्पत्ति के कारण होने से 'जगत्योनि' (३११), ज्ञानगम्य होने से 'इत्य' (३१२), सबके द्वारा स्तुति करने योग्य होने से 'स्तुत्य' (३१३), तथा समस्त स्तुतियों के ईश्वर होने से 'स्तुतीश्वर' (३१४), कहे जाते हैं। स्तुतियों के पात्र होने से 'स्तवनार्ह' (३१५), इन्द्रियों को वश करने से 'हृषीकेश' (३१६), काम, क्रोध, राग आदि को जीत लेने से 'जितजेय' (३१७), और शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के सब कृत्य पूर्ण करने से 'कृतक्रिय' (३१८), कहलाते हैं।

गणाधिपो गणज्येष्ठो गण्यः पुण्यो गणाग्रणीः।
गुणाकरो गुणाम्भोधिर्गुणज्ञो गुणनायकः।।३।।

अर्थ– बारह प्रकार की सभाओं के स्वामी होने से 'गणाधिप' (३१९), समस्त संघ के मुख्य होने से 'गणज्येष्ठ' (३२०), अनन्त गुणों के स्वामी होने से 'गण्य' (३२१), पवित्र होने से 'पुण्य' (३२२), तथा सबके अग्रेसर होने से 'गणाग्रणी' (३२३), नाम से प्रसिद्ध हैं। गुणों की खानि होने से 'गुणाकर' (३२४), गुणों के समुद्र होने से 'गुणांभोधि' (३२५), गुणों के जानने से 'गुणज्ञ;' (३२६), तथा समस्त गुणों के नायक होने से 'गुणनायक' (३२७), हैं।

गुणादरी गुणोच्छेदी निर्गुणः पुण्यगीर्गुणः।
शरण्यः पुण्यवाक्पूतो वरेण्यः पुण्यनायकः।।४।।

अर्थ– गुणों का आदर करने से 'गुणादरी' (३२८), क्रोधादि अवगुणों का नाश करने से अथवा इन्द्रियों को दमन करने से 'गुणोच्छेदी' (३२९), केवलज्ञानादि निश्चित-रूप से होने से अथवा विभाव गुणों का नाश करने से अथवा गुण अर्थात् तन्तु वा वस्त्र-रहित होने से 'निर्गुण' (३३०), की संज्ञा आप को दी गई है। वाणी पवित्र

होने से 'पुण्यगी' (३३१), शुद्ध गुण-स्वरूप होने से 'गुण' (३३२), सबके शरणभूत होने से 'शरण्य' (३३३), पुण्य-रूप वचन होने से 'पुण्यवाक्' (३३४), पवित्र होने से 'पूत' (३३५), सबसे श्रेष्ट होने से अथवा जीवों को मुक्ति दिलाने से 'वरेण्य' (३३६), तथा पुण्य के स्वामी होने से 'पुण्यनायक' (३३७) कहे जाते हैं।

अगण्यः पुण्यधीर्गुण्यः पुण्यकृत्पुण्यशासनः।
धर्मारामो गुणग्रामः पुण्यापुण्यनिरोधकः।।५।।

अर्थ– आप परिमाण से परे हैं अथवा आपके गुण अनगिनत हैं इसलिए आप 'अगण्य' (३३८) हैं। पवित्र ज्ञान होने से 'पुण्यधी' (३३९), सबका कल्याण करने से एवं समवशरण के योग्य होने से 'गुण्य' (३४०), पुण्य के कर्ता होने से 'पुण्यकृत्' (३४१), तथा मार्ग वा शत पुण्य-रूप होने से 'पुण्यशासन' (३४२), कहे जाते है। धर्म का बाग (समूह), होने से 'धर्माराम' (३४३), गुणों के समूह होने से 'गुणग्राम' (३४४), तथा पुण्य और पाप दोनों का निरोध करने से 'पुण्यापुण्यनिरोधक' (३४५), कहे जाते हैं।

पापापेतो विपापात्मा विपात्मा वीतकल्मषः।
निर्द्वन्द्वो निर्मदः शान्तो निर्मोहो निरुपद्रवः।।६।।

अर्थ– हिंसादि समस्त पापों से रहित होने से 'पापापेत' (३४६), पाप रहित होने से 'विपापात्मा' (३४७), पापकर्म नष्ट होने से 'विपात्मा' (३४८), एवं कर्ममल-रहित होने से 'वीतकल्मष' (३४९), कहलाते हैं। परिग्रह रहित होने से 'निर्द्वन्द्व' (३५०), अहंकार न होने से 'निर्मद' (३५१), उपाधि रहित होने से 'शांत' (३५२), मोह रहित होने से 'निर्मोह' (३५३), तथा उपद्रवरहित होने से 'निरुपद्रव' (३५४), कहे जाते हैं।

निर्निमेषो निराहारो निष्क्रियो निरुपप्लवः।
निष्कलंको निरस्तैना निर्धूतांगा निरास्रवः।।७।।

अर्थ– आपके नेत्रों के पलक दूसरे पलक से नहीं लगते, अथवा आपकी पलकें नहीं झपकती इसलिए 'निर्निमेष' (३५५), कवलाहार न करने से 'निराहार' (३५६), क्रिया रहित होने से 'निष्क्रिय' (३५७), एंव सर्वप्रकार के संकट रहित होने से 'निरुपप्लव' (३५८), कहे जाते हैं। कलंकरहित होने से 'निष्कलंक' (३५९), पापों को दूरे करने से 'निरस्तैना' (३६०), अपराधों का नाश करने से 'निर्धूतांगा' (३६१), तथा आस्रव रहित होने से 'निरास्रव' (३६२), की संज्ञा आपको प्राप्त है।

विशालो विपुलज्योति–रतुलोऽचिन्त्यवैभवः।
सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सुभूत् सुनयतत्त्ववित्।।८।।

अर्थ– वृहदाकार होने से 'विशाल' (३६३), केवलज्ञानरूप अपार ज्योति को धारण करने से 'विपुलज्योति' (३६४), अनुपम होने से 'अतुल' (३६५), असामान्य तथा आपकी विभूति का कोई चिंतवन भी नहीं कर सकता, इसलिए 'अचिंत्यवैभव' (३६६), संवृतरूप होने से अथवा गणधरादिकों से वेष्टित रहने से 'सुसंवृत' (३६७), आत्मा गुप्त होने से अथवा आस्रवादि से अलग होने से 'सुगुप्तात्मा' (३६८), उत्तम ज्ञाता होने से 'सुभूत' (३६९), तथा नैगम संग्रह आदि नयों का मर्म जानने से 'सुनयतत्त्ववित्' (३७०), कहलाते हैं।

एकविद्यो महाविद्यो मुनिः परिवृढः पतिः।
धीशो विद्यानिधिः साक्षी विनेता विहतान्तकः।।९।।

अर्थ– एक केवलज्ञान को धारण करने से अर्थात् एक अध्यात्म विद्या को धारण करने से 'एकविद्य' (३७१), कहलाते हैं, अनेक

विद्यायें धारण करने से 'महाकवि' (३७२), प्रत्यक्षज्ञानी होने से 'मुनि' (३७३), तपस्वियों के स्वामी होने से 'परिवृढ़' (३७४), हैं, जगत की रक्षा करने से अथवा दु:ख दूर करने से 'पति' (३७५), बुद्धि के स्वामी होने से 'धीश' (३७६), ज्ञान के सागर होने से 'विद्यानिधि' (३७७), मोक्षमार्ग को प्रगट करने से 'विनेता' (३७९), तथा यम का नाश करने से 'विहतांतक' (३८०), कहे जाते हैं।

पिता पितामह: पाता पवित्र: पावनो गति:।
त्राता भिषग्वरो वर्यो वरद: परम: पुमान्।।१०।।

अर्थ- नरकादि गतियों से रक्षा करने से 'पिता' (३८१), सबके गुरु होने से 'पितामह' (३८२), सबकी रक्षा करने से 'पाता' (३८३), भक्तों को पवित्र करने से 'पवित्र' (३८४), सबको शुद्ध करने से 'पावन' (३८५), तथा ज्ञानस्वरूप होने से 'गति' (३८६), कहे जाते हैं। सबकी रक्षा करने से 'त्राता' (३८७), नाम लेने से ही समस्त रोग अथवा जन्म जरा मरण आदि रोग दूर हो जाने से 'भिषग्वर' अर्थात् 'उत्तम वैद्य' (३८८), सबसे श्रेष्ठ होने से 'वर्य' (३८९), स्वर्गमोक्षादि के दाता होने से 'वरद' (३९०), तथा भक्तों की इच्छा पूर्ण होने से 'परम' (३९१), कहलाते हैं। अपनी आत्मा को तथा भक्तों को पवित्र करने से 'पुमान' (३९२) हैं।

कवि: पुराणपुरुषो वर्षीयान्वृषभ: पुरु:।
प्रतिष्ठा प्रसवो हेतु-र्भुवनैकपितामह:।।११।।

अर्थ- धर्म अधर्म का निरुपण करने से 'कवि' (३९३), अनादिकालीन होने से 'पुराणपुरुष' (३९४), अतिशय वृद्ध होने से 'वर्षीयान् (३९५), ज्ञानी होने से 'वृषभ' (३९६), तथा सब में अग्रग्रामी होने से 'पुरु' (३९७) कहलाते हैं। आपसे स्थैर्य गुण की

उत्पत्ति हुई है अथवा आपकी सेवा करने से यह जीव जगतमान्य हो जाता है, इसलिए आप 'प्रतिष्ठाप्रसव' (३९८), हैं। मोक्ष के कारण होने से हेतु'(३९९), तथा तीनों लोकों के जीवों की रक्षा करने से किंवा हितोपदेश देने से 'भुवनैकपितामह' (४००) नाम से प्रसिद्ध हैं।

इति महाशोकध्वजादिशतम्।।४।। अर्घ्यम्।

श्रीवृक्षलक्षणः श्लक्ष्णो लक्षण्यः शुभलक्षणः।
निरक्षः पुण्डरीकाक्षः पुष्कलः पुष्करेक्षणः।।१।।

अर्थ– श्रीवृक्ष का चिन्ह होने से 'श्रीवृक्षलक्षण' (४०१), सूक्ष्म होने से अथवा लक्ष्मी के द्वारा आलिंगित होने से 'श्लक्ष्ण' (४०२), लक्षण-सहित होने से 'लक्षण्य' (४०३), तथा अनेक शुभ लक्षण होने से 'शुभलक्षण' (४०४), कहलाते हैं। इन्द्रिय-रहित होने से 'निरक्ष' (४०५), कमल के समान सुन्दर नेत्र होने से 'पुंडरीकाक्ष' (४०६), केवलज्ञान के वृद्धिंगत होने से 'पुष्कल' (४०७), और कमलदल के समान दीर्घ नेत्र होने से 'पुष्करेक्षण' (४०८), कहलाते हैं।

सिद्धिदः सिद्धसंकल्पः सिद्धात्मा सिद्धसाधनः।
बुद्धबोध्यो महाबोधि-वर्धमानो महर्द्धिकः।।२।।

अर्थ–मोक्षरूप सिद्धि को देने से 'सिद्धिद' (४०९), समस्त मनोरथ सफल होने से 'सिद्धसंकल्प' (४१०), पूर्ण आनन्द-स्वरूप होने से 'सिद्धात्मा' (४११), मोक्षमार्ग-रूप साधन होने से 'सिद्धसाधन' (४१२), तथा सम्यग्दृष्टियों द्वारा अथवा विशेष ज्ञानियों के द्वारा जानने योग्य होने से 'बुद्धबोध्य' (४१३), नाम से प्रसिद्ध हैं। रत्नत्रय अत्यन्त प्रशंसनीय होने से अथवा अतिशय ज्ञानी होने से 'महाबोधि' (४१४), अतिशय पूज्यपना होने से 'वर्द्धमान' (४१५), तथा बड़ी भारी विभूति को धारण

करने से 'महर्द्धिक' (४१६), कहे जाते हैं।

वेदांगो वेदविद् वेद्यो जातरूपो विदांवरः।
वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेदो वदतांवरः।।३।।

अर्थ– प्रथमानुयोग आदि चारों वेदों के कारण -रूप होने से अथवा ज्ञानस्वरूप होने से 'वेदांग' (४१७), चारों अनुयोगों को जानने से अथवा आत्मा का स्वरूप जानने से 'वेदवित्' (४१८), आगम के द्वारा जानने योग्य होने से 'वेद्य' (४१९), तथा उत्पन्न होते समय के समान ही आपका रूप दिगम्बर है इसलिए 'जातरूप' (४२०), विद्वानों में श्रेष्ठ होने से 'विदांवर' (४२१) केवलज्ञान के द्वारा अथवा आगम के द्वारा जानने योग्य होने से 'वेदवेद्य' (४२२), अनुभवगम्य होने से 'स्वसंवेद्य' (४२३), विलक्षण ज्ञानी होने से अथवा आगम के अगोचर होने से 'विवेद' (४२४), तथा वक्ताओं में श्रेष्ठ होने से आप 'वदतांवर' (४२५), हैं।

अनादिनिधनोऽव्यक्तो व्यक्तवाग्व्यक्तशासनः।
युगादिकृद्युगाधारो युगादिर्जगदादिजः।।४।।

अर्थ– आदि अन्त-रहित होने से 'अनादिनिधन' (४२६), ज्ञान के द्वारा स्पष्ट प्रतिभासित होने से 'व्यक्त' (४२७), वचन प्राणियों के बोधगम्य होने से 'व्यक्तवाक्' (४२८), तथा आपकी आज्ञा वा मत समस्त संसार में प्रसिद्ध होने से अथवा आपके कहे हुए शास्त्र पूर्वापर -विरोध रहित होने से आप 'व्यक्तशासन' (४२९), कहलाते हैं। युग की आदि अर्थात् कर्म-भूमि के कर्त्ता होने से 'युगादिकृत' (४३०), युगों का आधार होने से 'युगाधर' (४३१), युग के प्रारम्भ में होने से 'युगादि' (४३२), और जगत् की आदि से अर्थात् कर्मभूमि

की आदि में उत्पन्न होने से 'जगदादिज' (४३३), कहलाते हैं।

अतीन्द्रोऽतीन्द्रियो धीन्द्रो महेन्द्रोऽतीन्द्रियार्थदृक्।
अनिन्द्रियोऽहमिन्द्रार्च्यो महेन्द्रमहितो महान्।।५।।

अर्थ– इन्द्र नरेन्द्र आदि सबके विशेष स्वामी होने से 'अतीन्द्र' (४३४), इन्द्रियगोचर न होने से 'अतीन्द्रिय' (४३५), ज्ञान के स्वामी होने से अथवा शुक्लध्यान के द्वारा परमात्म-स्वरूप होने से 'धीन्द्र' (४३६), पूजा के अधिपति होने से अथवा इन्द्र से भी अधिक सम्पत्तिमान् होने से 'महेन्द्र' (४३७), तथा इन्द्रिय और मन के अगोचर पदार्थों को जानने से 'अतिन्द्रियार्थदृक' (४३८), कहलाते हैं। इन्द्रिय रहित होने से 'अनिन्द्रिय (४३९), अहमिन्द्रों के द्वारा पूज्य होने से 'अहमिन्द्रार्च्य' (४४०), समस्त बड़े-बड़े इन्द्रों के द्वारा पूज्य होने से 'महेन्द्रमहित' (४४१), तथा सबसे पूज्य व बड़े होने से 'महान्' (४४२), नाम से प्रसिद्ध हैं।

उद्भवः कारणं कर्ता पारगो भवतारकः।
अगाह्यो गहनं गुह्यं परार्घ्यः परमेश्वरः।।६।।

अर्थ– जन्म मरण रहित सर्वोत्कृष्ट जन्म होने से 'उद्भव' (४४३), मोक्ष के कारण होने से 'कारण' (४४४), शुद्ध-भावों के कर्ता होने से 'कर्ता' (४४५), तथा संसार-समुद्र के पारगामी होने से 'पारग' (४४६), कहलाते हैं। भव्य जीवों को संसार-समुद्र के पार लगाने से 'भवतारक' (४४७), किसी के भी द्वारा अवगाहन न करने से 'अग्राह्य' (४४८), आप का स्वरूप हर कोई नहीं जान सकता, इसलिए 'गहन' (४४९), तथा परम रहस्य-रूप अर्थात् गुप्त रूप होने से 'गुह्य' (४५०), कहे जाते हैं। उत्कृष्ट विभूति के स्वामी होने से 'परार्घ्य'

(४५१), और सबके स्वामी होने से अथवा मोक्षलक्ष्मी के स्वामी होने से 'परमेश्वर' (४५२), नाम से पुकारे जाते हैं।

अनन्तर्द्धिरमेयर्द्धि-रचिन्त्यर्द्धिः समग्रधीः।
प्राग्रयः प्राग्रहरोऽभ्यग्रः प्रत्यग्रोऽग्रयोऽग्रिमोऽग्रजः।।७।।

अर्थ– अनन्त ऋद्धियों को धारण करने से 'अनन्तर्द्धि (४५३), अपरिमित ऐश्वर्य को धारण करने से 'अमेयर्द्धि' (४५४), सम्पत्ति का कोई परिमाण न होने से 'अचिंत्यर्द्धि' (४५५), तथा जगत के समस्त पदार्थों को जानने योग्य पूर्ण ज्ञान होने से 'समग्रधी' (४५६), कहे जाते हैं। सबमें मुख्य होने से 'प्राग्र' (४५७), सबसे श्रेष्ठता प्राप्त करने से 'प्राग्रहर' (४५८), श्रेष्ठों में श्रेष्ठ होने से 'अभ्यग्र' (४५९), हैं, तथा बलवानों में अत्यन्त श्रेष्ठ होने से अथवा लोक का मुख्य भाग पसन्द करने से 'प्रत्यग्र' (४६०), नाम से पुकारे जाते हैं। सबके नायक होने से 'अग्रय' (४६१), सबके अग्रेसर होने से 'अग्रिम' (४६२), तथा सबसे बडे होने से 'अग्रज' (४६३), हैं।

महातपा महातेजा महोदर्को महोदयः।
महायशा महाधामा महासत्त्वो महाधृतिः।।८।।

अर्थ– कठिन तपश्चरण करने से 'महातपा' (४६४), अतिशय तेजस्वी एवं पुण्यवान् होने से 'महातेजा' (४६५), तथा आपकी तपश्चर्या का फल केवलज्ञान है, इसलिए आप 'महोदर्क' (४६६), कहलाते हैं। अतिशय प्रतापी होने से अथवा सबको आनन्द देने वाला जन्म होने से 'महोदय' (४६७), अतिशय यशस्वी होने से 'महायशा' (४६८), अतिशय प्रकाश-रूप होने से 'महाधामा' (४६९), अतिशय बलवान होने से 'महासत्त्व' (४७०), और अतिशय धीर वीर होने से 'महाधृति' (४७१), नाम से भक्त आपको पुकारते हैं।

महाधैर्यो महावीर्यो महासंपन्महाबलः।
महाशक्ति र्महाज्योति र्महाभूति र्महाद्युतिः।।९।।

अर्थ– कभी भी व्यग्र न होने से 'महाधैर्य' (४७२), अतिशय सामर्थ्यवान् होने से 'महावीर्य' (४७३), हैं, समवसरण रूपी अद्वितीय विभूति को धारण करने से 'महासंपत्' (४७४), अतिशय बलवान् होने से 'महाबल' (४७५), अनन्त शक्ति होने से महाशक्ति (४७६), अतिशय कांतियुक्त होने से 'महाज्योति' (४७७), पंचकल्याणकों की महाविभूति के स्वामी होने से 'महाभूति' (४७८), और अतिशय शोभायमान होने से 'महाद्युति' (४७९), कहे जाते हैं।

महामति र्महानीति र्महाक्षान्ति र्महोदयः।
महाप्राज्ञो महाभागो महानन्दो महाकविः।।१०।।

अर्थ– अतिशय बुद्धिमान होने से 'महामति' (४८०) अतिशय न्यायवान होने से 'महानीति' (४८१), अतिशय क्षमावान होने से 'महाक्षांति' (४८२), अतिशय दयालु होने से 'महोदय' (४८३), अतिशय प्रवीण होने से 'महाप्राज्ञ' (४८४), अतिशय भाग्यशाली होने से 'महाभाग' (४८५), अतिशय आनन्द स्वरूप होने से अथवा भव्यजीवों को आनन्द देने से 'महानन्द' (४८६), तथा शास्त्रों के मुख्य कर्ता होने से 'महाकवि' (४८७), के नामों से आपकी प्रसिद्धि है।

महामहा महाकीर्ति-र्महाकान्तिर्महावपुः।
महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः।।११।।

अर्थ– अत्यन्त तेजस्वी होने से 'महामहा' (४८८), कीर्ति सब जगह व्याप्त होने से 'महाकीर्ति' (४८९), अत्यंत कांतियुक्त होने से 'महाकांति' (४९०), अतिशय सुन्दर शरीर होने से 'महावपु'

(४९१), बड़े भारी दानी होने से 'महादानी' (४९२), केवलज्ञान को धारण करने से 'महाज्ञानी' (४९३), योगों का निरोध करने से 'महायोगी' (४९४), तथा लोकों का कल्याण करने वाले गुणों से 'महागुणी' (४९५), के नाम से प्रसिद्ध हैं।

महामहपतिः प्राप्तमहाकल्याणपंचकः।
महाप्रभुर्महाप्राति-हार्याधीशो महेश्वरः।।१२।।

अर्थ– पंचकल्याण रूप महा पूजा के स्वामी होने से 'महामहपति' (४९६), तथा गर्भावतार आदि पांचों कल्याणों को प्राप्त होने से 'प्राप्तमहा कल्याण पंचक' (४९७), कहलाते हैं। अतिशय समर्थ अथवा सबसे बड़े स्वामी होने से 'महाप्रभु' (४९८), अशोक वृक्ष आदि आठों प्रातिहार्यों के स्वामी होने से 'महाप्रातिहार्याधीश' (४९९), और इन्द्रादि सब देवों के अधीश्वर होने से 'महेश्वर' (५००), कहलाते हैं।

इति श्रीवृक्षादिशतम्।।५।। अर्घ्यम्।

महामुनिर्महामौनी महाध्यानो महादमः।
महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामखः।।१।।

अर्थ– मुनियों में उत्तम होने से अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानी होने से 'महामुनि' (५०१), वचनालाप-रहित होने से 'महामोनी' (५०२), शुक्लध्यान करने से 'महाध्यानी' (५०३), तथा विषय-कषायों के दमन करने से 'महादम' (५०४) कहलताते हैं। अतिशय क्षमावान् होने से 'महाक्षम' (५०५), पूर्ण ब्रह्मचारी होने से अथवा शीलयुक्त होने से 'महाशील' (५०६), स्वाभाविक परिणति रूप अग्नि में विभाव-परिणति रूप सामग्री को हवन कर अथवा तपश्चरण-रूप अग्नि में विषयाभिलाषा को हवन कर महायज्ञ करने से अथवा

केवलज्ञान-रूप महायज्ञ प्राप्त होने से 'महायज्ञ' (५०७), तथा अतिशय पूज्य होने से 'महामख' (५०८), कहे जाते हैं।

महाव्रतपतिर्मह्यो महाकान्ति धरोऽधिपः।
महामैत्री मयामेयो महोपायो महोमयः।।२।।

अर्थ– पंच महाव्रतों के स्वामी होने से 'महाव्रतपति' (५०९), जगत्पूज्य होने से 'मह्य' (५१०), अत्यन्त तेज को धारण करने से 'महाकांतिधर' (५११), तथा समस्त जीवों की रक्षा करने से अथवा सबके स्वामी होने से 'अधिप' (५१२), नाम से प्रसिद्ध हैं। समस्त जीवों के साथ मैत्री भाव रखने से 'महामैत्रीमय' (५१३), किसी भी परिमाण से गिने अथवा नापे नहीं जाते इसलिए 'अमेय' (५१४), मोक्ष के लिए सबसे उत्तम उपाय करने से 'महोपाय' (५१५), तथा मंगलमय, ज्ञानमय अथवा तेज-स्वरूप होने से 'महोमय' (५१६), कहलाते हैं।

महाकारुणिको मन्ता महामन्त्रो महायतिः।
महानादो महाघोषो महेज्यो महसांपतिः।।३।।

अर्थ– सब जीवों में दया करने से 'महाकारुणिक' (५१७), सबको जानने से 'मन्ता' (५१८), अनेक मंत्रों के स्वामी होने से 'महामंत्र' (५१९), सबसे श्रेष्ठ इन्द्रिय निग्रही होने से 'महायति' (५२०), कहे जाते हैं। गम्भीर दिव्यध्वनि करने से 'महानाद' (५२१), ध्वनि अतिशय सुन्दर होने से 'महाघोष' (५२२), बड़े पुरुषों के द्वारा पूज्य होने से अथवा केवल ज्ञान-रूप यज्ञ करने से 'महेज्य' (५२३), तथा समस्त तेज के अधिकारी होने से 'महासाम्पति' (५२४), कहे जाते हैं।

महाध्वरधरो धुर्यो महौदार्यो महेष्ठ-वाक्।

महात्मा महसांधाम महर्षिर्महितोदयः।।४।।

अर्थ– अहिंसादि व्रतों के धारण करने से 'महाध्वरधर' (५२५), धुरन्धर होने से 'धुर्य' (५२६), अतिशय उदार होने से 'महौदार्य' (५२७), तथा वाणी परम पूज्य होने से 'महेष्टवाक्' (५२८), हैं। सर्वपूज्य होने से 'महात्मा' (५२९), समस्त प्रकाश वा तेज के स्थान होने से 'महसांधाम' (५३०), सब प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त होने से 'महर्षि' (५३१), और सबके पूज्य तीर्थंकर रूप होने से 'महितोदय' (५३२), कहलाते हैं।

महाक्लेशाङ्कुशः शूरो महाभूतपतिर्गुरुः।
महापराक्रमोऽनन्तो महाक्रोधरिपुर्वशी।।५।।

अर्थ– महान् संकटों को दूर करने से तथा महाक्लेश अर्थात् तपश्चरण-रूप अंकुश को धारण करने से 'महाक्लेशांकुश' (५३३), घातिया कर्म रूप शत्रुओं को जीतने से 'शूर' (५३४), गणधर चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े पुरुषों के स्वामी होने से 'महाभूतपति' (५३५), तथा सबको धर्मोपदेश देने से 'गुरु' (५३६), हैं। अतिशय पराक्रमी होने से अथवा ज्ञानशक्ति अधिक होने से महापराक्रम (५३७), अन्त रहित होने से 'अनन्त' (५३८), क्रोध के भारी शत्रु होने से 'महाक्रोधरिपु' (५३९), और सबको तथा इन्द्रियों को वश करने से 'वशी' (५४०), कहलाते हैं।

महाभवाब्धि- संतारी महामोहाद्रिसूदनः।
महागुणाकरः क्षान्तो महायोगीश्वरः शमी।।६।।

अर्थ– संसार-सागर से पार कराने से 'महाभवाब्धिसंतारी' (५४१), तथा मोह-रूपी महा पर्वत को भेदन करने से 'महामोहाद्रिसूदन' (५४२), सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुणों की खानि

होने से 'महागुणाकर' (५४३), कषाय रहित होने से 'क्षान्त' (५४४), गणधर आदि महायोगियों के स्वामी होने से 'महायोगीश्वर' (५४५), तथा समस्त कर्मों का क्षय करने से अथवा परम सुखी होने से 'शमी' (५४६), कहलाते हैं।

महाध्यानपतिर्ध्याति महाधर्मा महाव्रतः।
महाकर्मा रिहाऽत्मज्ञो महादेवो महेशिता।।७।।

अर्थ– परम शुक्लध्यान के स्वामी होने से 'महाध्यानपति' (५४७), अहिंसा धर्म का ध्यान करने से 'ध्यातमहाधर्म' (५४८), तथा महाव्रतों को धारण करने से 'महाव्रत' (५४९), हैं। कर्म-रूपी महा शत्रुओं को नाश करने से 'महाकर्मारिहा' (५५०), आत्मा का स्वरूप जानने से 'आत्मज्ञ' (५५१), समस्त देवों के स्वामी होने से 'महादेव' (५५२), तथा विलक्षण ऐश्वर्य को धारण करने से 'महेशिता' (५५३), कहलाते हैं।

सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोषहरो हरः।
असंख्येयोऽप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः।।८।।

अर्थ– शारीरिक और मानसिक क्लेशों के दूर करने से 'सर्वक्लेशापह' (५५४), रत्नत्रय को सिद्ध करने से 'साधु' (५५५), भव्य जीवों के समस्त दोष दूर करने से 'सर्वदोषहर' (५५६), तथा अनेक जन्मों के किये हुए पापों को हरण करने से 'हर' (५५७), हैं। असंख्यात गुणों को धारण करने से 'असंख्येय' (५५८), प्रमाण रहित शक्ति को धारण करने से 'अप्रमेयात्मा'' (५५९), परम शान्त स्वरूप होने से 'शमात्मा' (५६०), तथा शान्तता की मूर्ति होने से 'प्रशमाकर' (५६१) हैं।

सर्वयोगीश्वरोऽचिन्त्यः श्रुतात्मा विष्टरश्रवाः।
दान्तात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा ज्ञानसर्वगः।।९।।

अर्थ– समस्त योगियों के ईश्वर होने से 'सर्वयोगीश्वर' (५६२), चिंतवन के अतीत होने से 'अचिंत्य' (५६३), समस्त शास्त्रों के रहस्य-रूप होने से अथवा भावश्रुतज्ञान- रूप होने से 'श्रुतात्मा' (५६४), तथा तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को जानने से 'विष्टरश्रवा' (५६५), हैं। जितेन्द्रिय होने से अथवा सबको शिक्षा देने से 'दान्तात्मा' (५६६), इन्द्रियों के दमन-रूप तीर्थ के स्वामी होने से अथवा योगशास्त्र के स्वामी होने से 'दमतीर्थेश' (५६७), योग स्वरूप होने से 'योगात्मा' (५६८), तथा ज्ञान के द्वारा सब जगह होने से 'ज्ञानसर्वग' (५६९), कहे जाते हैं।

प्रधानमात्मा प्रकृतिः परमः परमोदयः।
प्रक्षीणबन्धः कामारिः क्षेमकृत्क्षेमशासनः।।१०।।

अर्थ– एकाग्रता से आत्मा का ध्यान करने से 'प्रधान' (५७०), ज्ञान-स्वरूप होने से 'आत्मा' (५७१), समवशरण -रूपी उत्कृष्ट लक्ष्मी के स्वामी होने से अथवा धर्मोपदेश' रूप कार्य से प्रशंसनीय होने से अथवा सबके कल्याणकारी होने से 'प्रकृति' (५७२), उत्कृष्ट लक्ष्मी को धारण करने से 'परम' (५७३), तथा परम कल्याणकारी उदय को धारण करने से 'परमोदय' (५७४), हैं। कर्म-बंध सब नष्ट होने से 'प्रक्षीण-बंध' (५७५), कामदेव के परम शत्रु होने से 'कामारि' (५७६), सबका कल्याण करने से 'क्षेमकृत' (५७७), और उपदेश कल्याणकारी होने से 'क्षेमशासन' (५७८), कहलाते हैं।

प्रणवः प्रणयः प्राणः प्राणदः प्रणतेश्वरः।

प्रमाणं प्रणिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्युरध्वरः ।।११।।

अर्थ– ओंकार स्वरूप होने से 'प्रणव' (५७९), सबके मित्र होने से 'प्रणय' (५८०), जगत प्रिय होने से अथवा सबके शरणस्थल होने से 'प्राण' (५८१), अतिशय दयालु होकर प्राणदान करने से 'प्राणद' (५८२), तथा प्रणाम करते हुए इन्द्रादिकों के स्वामी अथवा प्रणाम करते हुए भव्यजीवों का पालन- पोषण करने वाले होने से 'प्रणतेश्वर' (५८३), हैं, प्रमाण नय के वक्ता अथवा ज्ञानस्वरूप होने से वा ज्ञान का साधन अथवा लोकप्रमाण वा देह प्रमाण होने से 'प्रमाण' (५८४), योगियों द्वारा गुप्त रीति से चिंतित होने से अथवा सबके मर्मज्ञ होने से 'प्रणिधि' (५८५), मोक्ष प्राप्ति में चतुर कारण होने से 'दक्ष' (५८६), सरलस्वभाव होने से 'दक्षिण'' (५८७), केवलज्ञानरूप यज्ञ को करने से अथवा पापरूप कर्मों का हवन करने से 'अध्वर्यु' (५८८), तथा सन्मार्ग की प्रवृत्ति करने से 'अध्वर' (५८९), हैं।

आनन्दो नन्दनो नन्दो वन्द्योऽनिन्द्योऽभिनन्दनः ।
कामहा कामदः काम्यः कामधेनु-ररिञ्जयः ।।१२।।

अर्थ– सदा संतुष्ट रहने से 'आनन्द' (५९०), सबको आनन्द देने से 'नन्दन' (५९२), सबके वंद्य अथवा स्तुत्य होने से 'वंद्य' (५९३), अठारह दोषों से रहित होकर सब प्रकार की निंदा के अयोग्य हैं, इसलिए 'अनिंद्य' (५९४), तथा सर्वथा आनंददायक होने से अथवा आपके समवसरण के चारों ओर से वन भयरहित होने से 'अभिनन्दन' (५९५), कहे जाते हैं कामदेव को नाश करने से 'कामहा' (५९६), भक्त भव्य जीवों की इच्छा पूर्ण कर देने से 'कामद' (५९७), अतिशय मनोहर होने से अथवा आपकी प्राप्ति की इच्छा सबको होने से 'काम्य' (५९८), इच्छित पदार्थों को देने से 'कामधेनु' (५९९), और रागादि

समस्त शत्रुओं को जीत लेने से 'अरिंजय' (६००), कहलाते हैं।

इति महामुन्यादिशतम्।।६।। अर्घ्यम्।

असंस्कृतः सुसंस्कारः प्राकृतो वैकृतान्तकृत्।
अन्तकृत्कान्तगुः कान्तश्चिंतामणिरभीष्टदः।।१।।

अर्थ– बिना किसी संस्कार के, स्वभाव से ही सुन्दर होने से 'असंस्कृतसु संस्कार' (६०१), आपका स्वरूप प्रकृति से उत्पन्न नहीं हुआ है, असाधारण वा अद्वितीय है, इसलिए आप 'अप्राकृत' (६०२), तथा राग अथवा विकारों को नाश करने से आप 'वैकृतांतकृत्' (६०३), जन्ममरण रूप संसार को नाश करने से अथवा मोक्ष को सुगम करने से 'अंतकृत्' (६०४), सुन्दर वाणी अथवा सुन्दर प्रभा होने से 'कांतगु' (६०५), शोभायुक्त होने से 'कांत' (६०६), चिंतामणि के समान इच्छित पदार्थों को देने से 'चिंतामणि' (६०७), तथा भव्य जीवों को इष्ट पदार्थों की प्राप्ति कराने से 'अभीष्टद' (६०८), कहे जाते हैं।

अजितो जितकामारि-रमितोऽमितशासनः।
जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तकः।।२।।

अर्थ– काम क्रोधादि योद्धा से जीते नहीं जाते इसलिए 'अजित' (६०९), कामरूप शत्रु को जीतने से 'जितकामारि' (६१०), मर्यादारहित होने से 'अमित' (६११), तथा शासन अपार होने से 'अमितशासन' (६१२), कहलाते हैं। क्रोध को जीत लेने से 'जितक्रोध' (६१३), कर्मरूप शत्रुओं को जीतने से 'जितामित्र' (६१४), समस्त क्लेशों को जीतने से 'जितक्लेश' (६१५), और यम को जीतने से जितांतक' (६१६), कहे जाते हैं।

जिनेन्द्रः परमानन्दो मुनीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः।
महेन्द्रवन्द्यो योगीन्द्रो यतीन्द्रो नाभिनन्दनः।।३।।

अर्थ–गणधरादि जिनों के इन्द्र होने से 'जिनेन्द्र' (६१७), उत्कृष्ट आनंद स्वरूप होने से 'परमानन्द' (६१८), मुनियों के इन्द्र होने से 'मुनीन्द्र' (६१९), तथ दुंदुभियों के समान आपकी ध्वनि होने से 'दुंदुभिस्वन' (६२०), हैं महेन्द्र के द्वारा पूज्य होने से 'महेन्द्रवंद्य' (६२१), योगियों के इन्द्र होने से 'योगीन्द्र' (६२२), यतियों के इन्द्र होने से 'यतीन्द्र' (६२३), और महाराज नाभि के पुत्र होने से 'नाभिनन्दन' (६२४), कहलाते हैं।

नाभेयो नाभिजोऽजातः सुव्रतो मनुरुत्तमः।
अभेद्योऽनत्ययोऽनाश्वानधिकोऽधिगुरुः सुगीः।।४।।

अर्थ– नाभि पुत्र होने से 'नाभेय' (६२५), महाराज नाभि के कुल में उत्पन्न्न होने से 'नाभिज' (६२६), उत्पत्तिरहित होने से 'अजात' (६२७), अहिंसा आदि उत्तम व्रत के धारक होने से 'सुव्रत' (६२८), तथा कर्म भूमि की रचना एवं मोक्षमार्ग का स्वरूप बताने से 'मनु' (६२९) एवं श्रेष्ठ होने से 'उत्तम' (६३०), हैं, दूसरों के द्वारा आपका भेदन सम्भव नहीं इस लिए 'अभेद्य' (६३१), नाशरहित होने से 'अनत्यय' (६३२), अनशन आदि तश्चरण करने से 'अनाश्वान्' (६३३), सबसे अधिक पूज्य होने से 'अधिक' (६३४), सबसे उत्तम उपदेश देने से 'अधिगुरु' (६३५), तथा आपकी दिव्यध्वनि कल्याणकारी होने से 'सुगी' (६३६), कहलाते हैं।

सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो निरुत्सुकः।
विशिष्टः शिष्टभुक् शिष्टः प्रत्ययः कामनोऽनघः।।५।।

अर्थ– सम्यग्ज्ञान होने से 'सुमेधा' (६३७), महापराक्रमी होने से 'विक्रमी' (६३८), सबके स्वामी होने से अथवा सब पदार्थों के यथार्थ ज्ञानी होने से 'स्वामी' (६३९), किसी के द्वारा निवारण नहीं किये जाते, इसलिए 'दुराधर्ष' (६४०), अभिलाषा रहित होने से अथवा स्थिर स्वभाव होने से 'निरुत्सुक' (६४१), विशेष रूप होने से 'विशिष्ट' (६४२), शिष्ट पुरुषों का पालन करने से 'शिष्टभुक्' (६४३), रागद्वेष मोह आदि दोषों से रहित होने से 'शिष्ट' (६४४), विश्वासरूप होने अथवा ज्ञानस्वरूप होने से 'प्रत्यय' (६४५), मनोहर होने से 'कामन' (६४६), और पापरहित होने से 'अनघ' (६४७), के नाम से प्रसिद्ध हैं।

क्षेमी क्षेमंकरोऽक्षय्यः क्षेमधर्मपतिः क्षमी।
अग्राह्यो ज्ञाननिग्राह्यो ध्यानगम्यो निरुत्तरः।।६।।

अर्थ– मोक्ष प्राप्त होने से 'क्षेमी' (६४८), सबका कल्याण करने से 'क्षेमंकर' (६४९), कभी क्षय नहीं होता इसलिए 'अक्षय्य' (६५०), जीवों के कल्याणकारी जैनधर्म -प्रवर्तक होने से 'क्षेमधर्मपति' (६५१), क्षमावान होने से 'क्षमी' (६५२), इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य होने से अथवा मिथ्यात्वियों द्वारा अग्राह्य होने से 'अग्राह्य' (६५३), निश्चयज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य होने से 'ज्ञाननिग्राह्य' (६५४), ध्यान के द्वारा जानने योग्य होने से 'ध्यानगम्य' (६५५), और सबसे उत्कृष्ट होने से 'निरुत्तर' (६५६), कहे जाते हैं।

सुकृती धातुरिज्यार्हः सुनयश्चतुराननः।
श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्-चतुरास्यश्चतुर्मुखः।।७।।

अर्थ– पुण्यवान होने से 'सुकृती' (६५७), शब्दों की खानि होने से 'धातु' (६५८), पूजा योग्य होने से 'इज्यार्ह' (६५९), नयों के

अच्छे जानकार होने से 'सुनय' (६६०), तथा एक मुख होकर भी चारों ओर से दर्शन होने से अथवा लोगों को चार मुख दिखने से 'चतुरानन' (६६१), कहे जाते हैं। लक्ष्मी के निवासस्थान होने से 'श्रीनिवास' (६६२), हैं, एक मुख होकर भी चार मुख दिखने से 'चतुर्वक्त्र' (६६३), 'चतुरास्य' (६६४), तथा 'चतुर्मुख' (६६५), कहलाते हैं।

सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक्सत्यशासनः।
सत्याशीः सत्यसन्धानः सत्यः सत्यपरायणः।।८।।

अर्थ– सत्यस्वरूप होकर जीवों को कल्याण करने से 'सत्यात्मा' (६६६), विज्ञान सत्य एवं सफल होने से 'सत्यविज्ञान' (६६७), वाणी यथार्थ पदार्थों का निरुपण करने वाली होने से 'सत्यवाक्' (६६८), तथा शासन (मत) यथार्थ एवं साक्षात् मोक्ष प्राप्त करने वाला होने से 'सत्यशासन' (६६९), कहे जाते हैं। दोनों लोकों में फलदायक होने से 'सत्याशी' (६७०), प्रतिज्ञा दृढ़, सत्यस्वरूप रखने से 'सत्यसन्धान्' (६७१), शुद्ध मोक्ष स्वरूप होने से 'सत्य' (६७२), तथा सत्य स्वरूप में तत्पर होने से 'सत्यपरायण' (६७३), कहे जाते हैं।

स्थेयान्स्थवीयान्नेदीया-न्दवीयान् दूरदर्शनः।
अणोरणीया-ननणु-र्गुरुराद्यो गरीयसाम्।।९।।

अर्थ– अत्यन्त स्थिर होने से 'स्थेयान' (६७४), अतिशय स्थूल होने से 'स्थवीयान्' (६७५), भक्तों के समीप होने से 'नेदीयान्' (६७६), पापों से दूर रहने से 'दवीयान' (६७७), तथा आपके दर्शन दूर से ही होने से 'दूरदर्शन' (६७८), कहे जाते हैं। परमाणु से भी 'सूक्ष्म होने से 'अणोरणीयान्' (अणोः अणीयान्) (६७९), सूक्ष्म

न होने से 'अनणु' (६८०), तथा सबसे बड़े होने से 'आद्य गुरु' (६८१), कहलाते हैं।

सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः।
सदागतिः सदासौख्यः सदाविद्यः सदोदयः।।१०।।

अर्थ– सदा योगस्वरूप होने से 'सदायोग' (६८२), सदा आनन्द के भोक्ता होने से 'सदाभोग' (६८३), सदा तृप्त रहने से 'सदातृप्त' (६८४), तथा सदा कल्याणस्वरूप मोक्षस्वरूप होने से 'सदाशिव' (६८५), के नाम से पूज्य हैं। सदा गति स्वरूप होने से 'सदागति' (६८६), सदा सुख स्वरूप होने से 'सदासौख्य' (६८७), सदा ज्ञानस्वरूप रहने से 'सदाविद्य' (६८८), और सदा प्रकाशदायक उदयस्वरूप होने से 'सदोदय' (६८९), कहलाते हैं।

सुघोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सुहितः सुहृत्।
सुगुप्तो गुप्तिभृद् गोप्ता लोकाध्यक्षो दमीश्वरः।।११।।

अर्थ– शब्द सुन्दर होने से 'सुघोष' (६९०), सुन्दर मुख के कारण 'सुमुख' (६९१), शांत रहने से 'सौम्य' (६९२), सबको सुख देने से 'सुखद' (६९३), सबका हित करने वाले 'सुहित' (६९४), तथा निष्कपट, शुद्ध निर्मल हृदय के धारी आप सबका हित करने वाले 'सुहृत' (६९५), मिथ्यादृष्टियों को आपका स्वरूप ज्ञात न होने से 'सुगुप्त' (६९६), तीनों गुप्तियों को पालन करने से 'गुप्तिभृत्' (६९७), पापों से आत्मा की एवं जीवों की रक्षा करने से 'गोप्ता' (६९८), तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखने से 'लोकाध्यक्ष' (६९९), और तपश्चरण के द्वारा इन्द्रिय दमन करने से 'दमीश्वर' (७००), कहलाते हैं।

इति असंस्कृतादिशतम्।।७।। अर्घ्यम्।

वृहन्वृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पति-रुदारधीः।
मनीषी धिषणो धीमाञ्-छेमुषीशो गिरांपतिः।।१।।

अर्थ- इन्द्रों के गुरु होने से 'वृहदवृहस्पति' (७०१), विलक्षण वक्ता होने से 'वाग्मी' (७०२), वाणी के स्वामी होने से 'वाचस्पति (७०३), तथा उदारबुद्धि होने से 'उदारधी' (७०४), कहलाते हैं। बुद्धिमान् होने से 'मनीषी' (७०५), अपार बुद्धिमान् होने से 'धिषण' (७०६) 'धीमान्' (७०७), एंव बुद्धि के स्वामी होने से 'शेमुषीश' (७०८), तथा सब प्रकार की भाषाओं के स्वामी होने से 'गिरांपति' (७०९), के नाम से पुकारे जाते हैं।

नैकरूपो नयोत्तुंगो नैकात्मा नैकधर्मकृत्।
अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा कृतज्ञः कृतलक्षणः।।२।।

अर्थ- अनेकरूप होने से 'नैकरूप' (७१०), नयों का उत्कृष्ट स्वरूप कहने से 'नयोत्तुंग' (७११), अनेक गुणों को धारण करने से 'नैकात्मा' (७१२), तथा पदार्थ का अनेक धर्म बताने से 'नैकधर्मकृत' (७१३), कहे जाते हैं। साधारण पुरुषों के ज्ञानगम्य होने से 'अविज्ञेय' (७१४), आपके स्वरूप में कोई तर्क विर्तक नहीं चल सकता इसलिए 'अप्रतर्क्यात्मा' (७१५), जीवों के समस्त कृत्य जानने से 'कृतज्ञ' (७१६), और समस्त सुलक्षणों से सहित होने से 'कृतलक्षण' (७१७), हैं।

ज्ञानगर्भो दयागर्भो रत्नगर्भः प्रभास्वरः।
पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः।।३।।

अर्थ- अंतरंग में ज्ञान होने से 'ज्ञानगर्भ' (७१८), दयालु होने से 'दयागर्भ' (७१९), रत्नत्रय को धारण करने से अथवा गर्भावस्था

में रत्नत्रय का स्वरूप जानने से अथवा गर्भावतार होने से पहले ही रत्नों की वर्षा होने से 'रत्नगर्भ' (७२०), तथा अतिशय प्रभावशाली होने से 'प्रभास्वर' (७२१), कहे जाते हैं। गर्भावस्था में ही लक्ष्मी प्राप्त होने से 'पद्मगर्भ' (७२२), हैं, आपके ज्ञान में समस्त जगत समाहित है इसलिए 'जगद्गर्भ' (७२३), हैं, आत्मा सुवर्ण के समान निर्मल होने से अथवा गर्भावतार के समय सुवर्ण की वर्षा होने के कारण हेमगर्भ' (७२४), हैं तथा आपका दर्शन सुन्दर होने के कारण 'सुदर्शन' (७२५), कहलाते हैं।

लक्ष्मीवांस्त्रिदशाध्यक्षो दृढीयानिन ईशिता।
मनोहरो मनोज्ञांगो धीरो गम्भीरशासनः।।४।।

अर्थ– समवसरणादि ऐश्वर्य सहित होने से 'लक्ष्मीवान्' (७२६), देवों को तथा तेरह प्रकार के चारित्र को धारण करने वाले मुनियों को अथवा बाल-युवा वृद्ध तीनों अवस्थाओं में एक-सा प्रत्यक्ष होने से 'त्रिदशाध्यक्ष'; (७२७), अत्यन्त दृढ़ होने से 'दृढ़ीयान्' (७२८), सबके स्वामी होने से 'इन' (७२९), तथा तेजोनिधि अथवा ऐश्वर्यवान् होने के कारण 'ईशिता' (७३०), के नाम से प्रसिद्ध हैं। भव्य जीवों के अन्तः करण को हरण किया इसलिए 'मनोहर' (७३१), अंगोपांग मनोहर होने से 'मनोज्ञांग' (७३२), बुद्धि को प्रेरित कर भव्य जीवों को सुबुद्धि बनाने से 'धीर' (७३३), तथा आपका शासन या शास्त्र गंभीर है इसलिए 'गंभीर शासन' (७३४), नाम के योग्य हैं।

धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिर्मुनीश्वरः।
धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषणः।।५।।

अर्थ– धर्म के स्तम्भ होने से 'धर्मयूप' (७३५), सब जीवों पर

दया करना ही आपका धर्म होने से 'दयायाग' (७३६), धर्मरूप रथ की धुरा होने से 'धर्मनेमि' (७३७), तथा मुनियों के ईश्वर होने से 'मुनीश्वर' (७३८), कहलाते हैं। धर्मचक्र ही आपका आयुध होने से 'धर्मचक्रायुध' (७३९), परमानन्द में क्रीड़ा करने से देव' (७४०), शुभाशुभ कर्मों का नाश करने से 'कर्महा'' (७४१), और धर्म का उपदेश देने के हेतु 'धर्मघोषण' (७४२), नाम द्वारा पूजित हैं।

अमोघवागमोघाज्ञो निर्मलोऽमोघशासनः।
सुरूपः सुभगस्त्यागी समयज्ञः समाहितः।।६।।

अर्थ– यथार्थ का बोध कराने वाली वाणी होने से 'अमोघवाक्' (७४३), कभी व्यर्थ न होने वाली आज्ञा के कारण 'अमोघाज्ञ' (७४४), ममत्वरहित होने से 'निर्मल' (७४५), तथा शास्त्र कभी व्यर्थ न होने से अर्थात् जीवों को मोक्ष कराने के कारण 'अमोघशासन' (७४६), कहलाते हैं। स्वरूप आनन्ददायक होने से 'सुरूप' (७४७), ज्ञान का अतिशय माहात्म्य होने के हेतु 'सुभग' (७४८), ज्ञानदान अभयदान आदि के दान से 'त्यागी' (७४९), आत्मा-सिद्धांत तथा काल का स्वरूप जानने से 'समयज्ञ' (७५०), और समाधानरूप होने से अथवा ध्यानरूप होने से 'समाहित' (७५१), कहे जाते हैं।

सुस्थितः स्वास्थ्यभाक्स्वस्थो नीरजस्को निरुद्धवः।
अलेपो निष्कलंकात्मा वीतरागो गतस्पृहः।।७।।

अर्थ– निश्चल अथवा सुख में निमग्न रहने से 'सुस्थित' (७५२), आत्मा की निश्चलता को सेवन करने से 'स्वास्थ्यभाक्' (७५३), सदा आत्मनिष्ठ होने से 'स्वस्थ' (७५४), कर्म-रूप रज

से रहित होने से अथवा ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म-रहित होने से 'नीरजस्क' (७५५), तथा आपका कोई स्वामी न होने से 'निरुद्धव' (७५६), कहलाते हैं। कर्म के लेप से रहित होने से 'अलेप' (७५७), दोष रहित होने से 'निष्कलंकात्मा' (७५८), रागादि दोषों से रहित होने से 'वीतराग' (७५९), तथा इच्छा-रहित होने से 'गतस्पृह' (७६०), नाम से पूज्य हैं।

वश्येन्द्रियो विमुक्तात्मा नि:सपत्नो जितेन्द्रिय: ।
प्रशान्तोऽनन्तधामर्षिर्मंगलं मलहानघ: ।।८।।

अर्थ– इन्द्रियों को वश करने से 'वश्येन्द्रिय' (७६१), संसार-रूपी बंधन से रहित होने से 'विमुक्तात्मा' (७६२), दुष्ट भाव से रहित निष्कण्टक होकर 'नि:सपत्न' (७६३), तथा इन्द्रियों को जीत कर 'जितेन्द्रिय' (७६४), कहलाये। शान्त अथवा राग-द्वेष रहित होने से 'प्रशांत' (७६५), अनन्त प्रकाश को धारण करते हुए पूज्य होने से 'अनन्तधामर्षि' (७६६), सबको सुख देने से मंगल (७६७), पाप को दूर करने से 'मलहा' (७६८), और पाप रहित होने से 'अनघ' (७६९) कहलाते हैं।

अनीदृगुपमाभूतो दिष्टिर्दैवमगोचर: ।
अमूर्तो मूर्तिमानेको नैको नानैकतत्त्वदृक् ।।९।।

अर्थ– आपके समान अन्य कोई न होने से 'अनीदृक्' (७७०), सबके लिए उपमायोग्य होने से 'उपमाभूत' (७७१), महाभाग्यशाली अथवा शुभशुभदाता होने से 'दिष्टि' (७७२), प्रबल अथवा स्तुतियोग्य होने से 'दैव' (७७३), तथा इन्द्रियों के एवं वचनों के अगोचर होने के कारण 'अगोचर' (७७४), कहे जाते हैं। शरीर-रहितता के कारण 'अमूर्त' (७७५), पुरुषाकार होने से 'मूर्तिमान' (७७६), हैं।

अद्वितीय होकर मोक्ष प्राप्ति कर लेने से 'एक' (७७७), अनेक रूप-होकर सब भव्य जीवों के सहायक होने से 'नैक' (७७८), और आत्मा के सिवा अन्य तत्त्वों को न देखने से अर्थात् उनमें तल्लीन न होने से 'नानैकतत्त्वदृक्' (७७९) कहलाये हैं।

अध्यात्मगम्यो ऽगम्यात्मा योगविद्योगिवन्दितः।
सर्वत्रगः सदाभावी त्रिकालविषयार्थदृक्।।१०।।

अर्थ– केवल अध्यात्म शास्त्र द्वारा ही जानने योग्य होने के हेतु 'अध्यात्मगम्य' (७८०), संसारी जीवों के जानने योग्य न होने से 'अगम्यात्मा' (७८१), हैं। योग के जानकार होकर 'योगवित्' (७८२), तथा योगियों के द्वारा वन्दना करने योग्य होने के हेतु 'योगिवन्दित' (७८३), कहलाये। ज्ञान के द्वारा सब जगह व्याप्त होने से 'सर्वत्रग' (७८४), सदा विद्यमान रहने से 'सदाभावी' (७८५), और त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पदार्थों को देखने से 'त्रिकालविषयार्थदृक्' (७८६), कहलाते हैं।

शंकरः शंवदो दान्तो दमी क्षान्तिपरायणः।
अधिपः परमानन्दः परात्मज्ञः परात्परः।।११।।

अर्थ– सबको सुख देने वाले 'शंकर' (७८७), यथार्थ सुख के अर्थात् मोक्ष रूप सुख के वक्ता 'शंवद' (७८८), मन को वश कर 'दांत' (७८९), इन्द्रियों को निग्रह कर 'दमी' (७९०), तथा क्षमा करने में सदा तत्पर रहने के हेतु 'क्षान्तिपरायण' (७९१), आप ही हैं, जगत् के अधिपति 'अधिप' (७९२), अत्यन्त सुखी होने से 'परमानन्द' (७९३), निज पर के ज्ञाता होने से अथवा विशुद्ध आत्मा का स्वरूप जानने से 'परात्मज्ञ; (७९४), तथा सबसे श्रेष्ठ 'परात्पर' (७९५), आप ही हैं।

त्रिजगद्वल्लभोऽभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मङ्गलोदय।
त्रिजगत्पतिपूज्याङ्घ्रिस्त्रिलोकाग्रशिखामणिः।।१२।।

अर्थ– तीनों लोकों को प्रिय 'त्रिजगद्वल्लभ' (७९६), सबके पूज्य 'अभ्यर्च्य' (७९७), तथा तीनों लोको में मंगलदाता होकर 'त्रिजगन्मंगलोदय' (७९८), आप ही कहलाये। आपके चरण-कमल तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य होने से 'त्रिजगत्पति पूज्यांघ्रि' (७९९), और तीनों लोकों के शिखर के शिखामणि होने से 'त्रैलोकाग्रशिखामणि' (८००), कहे जाते हैं।

इति वृहदादिशतम्।।८।। अर्घ्यम्।

त्रिकालदर्शी लोकेशो लोकधाता दृढ़व्रतः।
सर्वलोकातिगः पूज्यः सर्वलोकैकसारथिः।।१।।

अर्थ– भूत-भविष्यत वर्तमान तीनों कालों को प्रत्यक्ष देखने से 'त्रिकालदर्शी' (८०१), तीनों लोकों के प्रभु होने से 'लोकेश' (८०२), समस्त प्राणियों के रक्षक के रूप में 'लोकधाता' (८०३), तथा स्वीकृत चारित्र को निश्चल रखने से 'दृढ़व्रत' (८०४), कहलाते हैं। तीनों लोकों के प्राणियों में सर्वोत्कृष्ट होने से 'सर्वलोकातिग' (८०५), पूजा के योग्य होने से 'पूज्य' (८०६), और समस्त प्राणियों के लिए मुख्य रीति से मोक्षमार्ग का स्वरूप दिखलाने से 'सर्वलोकैकसारथि' (८०७) कहे जाते हैं।

पुराणः पुरुषः पूर्वः कृतपूर्वांग विस्तरः।
आदिदेवः पुराणाद्यः पुरुदेवोऽधिदेवता।।२।।

अर्थ– सबसे प्राचीन होकर मुक्तिपर्यन्त शरीर में निवास करने से 'पुराण' (८०८), सबमें बड़े, सबको तृप्त करने वाले अथवा

समवशरण में स्थित रहने से 'पुरुष' (८०९), सबसे पूर्व अर्थात् अग्रेसर होने से 'पूर्व' (८१०), तथा ग्यारह अंग चौदह पूर्व का समस्त विस्तार निरुपण करने से 'कृतपूर्वांगविस्तर' (८११), कहे जाते हैं। सब देवों में मुख्य होने से 'आदिदेव' (८१२), सब पुराणों में प्रथम होने से पुराणाद्य' (८१३), इन्द्रादि देवों के द्वारा मुख्यता से आराधित होकर अथवा सबके ईश्वर होकर 'पुरुदेव' (८१४), और देवों के भी देव होने के हेतु 'अधिदेवता' (८१५), कहलाते हैं।

युगमुख्यो युगज्येष्ठो युगादिस्थितिदेशकः।
कल्याणवर्णः कल्याणः कल्यः कल्याणलक्षणः।।३।।

अर्थ– इस अवसर्पिणी काल में मुख्य होने से 'युगमुख्य' (८१६), इसी युग में सबसे बड़े होने से 'युगज्येष्ठ' (८१७), तथा कर्म-भूमि के प्रारम्भ में कर्म-भूमि की स्थिति के मुख्य उपदेशक होने से 'युगादि 'स्थितिदेशक' (८१८), कहलाते हैं। शरीर की कांति सुवर्ण के समान होने से 'कल्याणवर्ण' (८१९), कल्याण-स्वरूप होने से 'कल्याण' (८२०), सबसे कल्याण्कारी 'कल्य' (८२१), तथा मंगल स्वरूप होने से अथवा कल्याण रूप लक्षणों को धारण करने से 'कल्याणलक्षण' (८२२), कहलाते हैं।

कल्याणप्रकृतिर्दीप्त-कल्याणात्मा विकल्मषः।
विकलंकः कलातीतः कलिलघ्नः कलाधरः।।४।।

अर्थ– आप का स्वभाव ही कल्याण-स्वरूप होने से 'कल्याणप्रकृति' (८२३), चारों ओर को प्रकाशमान करता हुआ पुण्य अथवा कल्याण ही आप का स्वरूप है, इसलिए आप 'दीप्तकल्याणात्मा' (८२४), तथा पाप-रहित होने से 'विकल्मष' (८२५), कहलाते हैं। काम आदि कलंक के रहित होने के कारण 'विकलंक' (८२६), शरीर रहित

होने से 'कलातीत' (८२७), पापों का नाश करने वाले हैं, अतएव 'कलिलघ्न' (८२८), और अनेक कलाओं को धारण करने से 'कलाधर' (८२९), कहे जाते हैं।

देवदेवो जगन्नाथो जगद्बन्धुर्जगद्विभुः।
जगद्धितैषी लोकज्ञः सर्वगो जगदग्रजः।।५।।

अर्थ– इन्द्रादि, सब देवों के देव होने से 'देवदेव' (८३०), तीनों लोकों के स्वामी होने से 'जगन्नाथ' (८३१), तीनों लोको के हित करने से 'जगद्बन्धु' (८३२), तथा समस्त जगत् के प्रभु होने से 'जगद्विभु' (८३३), कहलाते हैं। तीनों लोकों के लिए कल्याण करने की इच्छा रखने से 'जगद्धितैषी' (८३४), तीनों लोकों को जानने से 'लोकज्ञ' (८३५), केवलज्ञान द्वारा सब जगह व्याप्त होने से 'सर्वग' (८३६), तथा समस्त जगत् में श्रेष्ठ होने से अथवा जगत् के मुख्य स्थान में उत्पन्न होने से 'जगदग्रज' (८३७), कहे जाते हैं।

चराचरगुरुर्गोप्यो गूढात्मा गूढगोचरः।
सद्योजातः प्रकाशात्मा ज्वलज्ज्वलनसप्रभः।।६।।

अर्थ– त्रस स्थावर आदि सब जीवों के गुरु होने से 'चराचरगुरु' (८३८), हृदय में बड़े यत्न से स्थापन करने के योग्य होने से 'गोप्य' (८३९), आपका स्वरूप अत्यन्त गुप्त होने से 'गूढात्मा' (८४०), तथा गूढ अर्थात् जीवादि पदार्थों को जानने से 'गूढगोचर' (८४१), हैं। सदा सर्वदा प्रत्युत उत्पन्न होने के समान दीख पड़ते हैं, अर्थात् सदा नवीन ही जान पड़ते हैं, इसलिए 'सद्योजात' (८४२), प्रकाश स्वरूप होने से 'प्रकाशात्मा' (८४३), और जलती हुई अग्नि के समान देदीप्यमान होने से 'ज्वलज्ज्वलनसप्रभ' (८४४), कहे जाते हैं।

आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभः कनकप्रभः।
सुवर्णवर्णो रुक्माभः सूर्यकोटिसमप्रभः।।७।।

अर्थ– सूर्य के समान तेजस्वी होने से 'आदित्यवर्ण' (८४५), सुवर्ण के समान कांति युक्त होने से 'भर्माभ' (८४६), आनन्ददायक सुन्दर कान्ति होने से 'सुप्रभ' (८४७), तथा सुवर्ण के समान उज्ज्वल कांति होने से 'कनकप्रभ' (८४८), नाम से प्रसिद्ध हैं। स्वर्ण के सदृश वर्ण होने से 'सुवर्णवर्ण' (८४९), 'रुक्माभ' (८५०), तथा करोड़ों सूर्य के समान प्रभा होने से 'सूर्यकोटिसमप्रभ' (८५१) कहलाते हैं।

तपनीयनिभस्तुंगो बालार्काभोऽनलप्रभः।
सन्ध्याभ्रबभ्रुर्हेमाभ- स्तप्त चामीकरच्छविः।।८।।

अर्थ– सुवर्ण के समान पीतवर्ण होने से 'तपनीयनिभ' (८५२), ऊंचे शरीर को धारण करने से 'तुंग' (८५३), उदय होते हुए सूर्य के समान कान्तिमान और सुन्दर होने से 'बालार्काभ' (८५४), तथा अग्नि के समान होने से 'अनलप्रभ' (८५५), कहे जाते हैं। सन्ध्या के बादलों के समान सुन्दर होने से 'सन्ध्याभ्रबभ्रु' (८५६), सुवर्ण के समान होने से 'हेमाभ' (८५७), तथा तपाये हुए स्वर्ण के समान कांतियुक्त होने से 'तप्तचामीकरप्रभ' (८५८), कहलाते हैं।

निष्टप्तकनकच्छायः कनत्कांचनसन्निभः।
हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः शातकुम्भनिभप्रभः।।९।।

अर्थ– स्वर्ण के समान उज्ज्वल और कान्तियुक्त होने से 'निष्टप्तकनकच्छाय' (८५९), 'कनत्कांचनसंनिभ' (८६०), 'हिरण्यवर्ण' (८६१), 'स्वर्णाभ' (८६२), तथा 'शातकुम्भनिभप्रभ (८६३), कहे जाते हैं।

द्युम्नाभो जातरूपा भस्तप्त जाम्बूनदद्युतिः।
सुधौतकालधौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकद्युतिः।।१०।।

अर्थ– स्वर्ण के समान उज्ज्वल होने से 'द्युम्नाथ' (८६४), 'जातरूपाभ' (८६५), तथा 'तप्तजांबूनदद्युति' (८६६), कहे जाते हैं। तप्त स्वर्ण के समान निर्मल होने से 'सुधौतकलधौतश्री' (८६७), और 'हाटकद्युति' (८६८), तथा देदीप्यमान होने से 'प्रदीप्त' (८६९), कहलाते हैं।

शिष्टेष्टः पुष्टिदः पुष्टः स्पष्टः स्पष्टाक्षरः क्षमः।
शत्रुघ्नोऽप्रतिघोऽमोघः प्रशास्ता शासिता स्वभूः।।११।।

अर्थ– इन्द्रादि उत्तम पुरुषों के प्रिय होने से 'शिष्टेष्ट' (८७०), पुष्टि के दाता होने से 'पुष्टिद' (८७१), महा बलवान होने से 'पुष्ट' (८७२), तथा सबको प्रगट दिखाई देने से 'स्पष्ट' (८७३), हैं। वाणी स्पष्ट तथा आनन्ददायिनी होने से 'स्पष्टाक्षर' (८७४), समर्थ होने से 'क्षम' (८७५), कर्म-रूपी शत्रुओं को नाश करने से -'शत्रुघ्न' (८७६), क्रोध रहित होने से 'अप्रतिघ' (८७७), सफल अर्थात् कृतकृत्य होने से 'अमोघ' (८७८), धर्मोपदेश देने से 'प्रशास्ता' (८७९), रक्षक होने से 'शासिता' (८८०), तथा अपने-आप उत्पन्न होने से 'स्वभू' (८८१), कहलाते हैं।

शान्तिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवतातिः शिवप्रदः।
शान्तिदः शान्तिकृच्छान्तिः कान्तिमान्कामितप्रदः।।१२।।

अर्थ– काम, क्रोध आदि को नष्ट करने से अथवा शान्त होने से 'शान्तिनिष्ठ' (८८२), मुनियों में श्रेष्ठ होने से 'मुनिज्येष्ठ' (८८३), सुख की परम्परा होने से 'शिवताति' (८८४), कल्याण के दाता होने से 'शिवप्रद' (८८५), शान्तिदायक होने से 'शान्तिद'

(८८६), समस्त उपद्रवों को शांत करने से 'शान्तिकृत्' (८८७), कर्मों को क्षय करने से 'शांति' (८८८), कान्तियुक्त होने से 'कान्तिमान' (८८९), तथा मनवांछित फलों को देने से 'कामितप्रद' (८९०), कहे जाते हैं।

श्रेयोनिधि-रधिष्ठान-मप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः।
सुस्थिरः स्थावरः स्थाणुः प्रथीयान्प्रथितः पृथुः।।१३।।

अर्थ– कल्याण के समुद्र होने से 'श्रेयोनिधि' (८९१), हैं, धर्म के मूलकारण वा आधार होने से 'अधिष्ठान' (८९२), अपने-आप ही ईश्वर होने से 'अप्रतिष्ठ' (८९३), सब जगह प्रतिष्ठित होने से 'प्रतिष्ठित' (८९४), अतिशय स्थिर होने से 'सुस्थिर' (८९५), विहार-रहित होने से 'स्थावर' (८९६), निश्चल होने से 'स्थाणु' (८९७), विस्तृत होने से 'प्रथीयान्' (८९८), अतिशय प्रसिद्ध होने से 'प्रथित' (८९९), और बहुत बड़े होने से 'पृथु' (९००) कहलाते हैं।

इति त्रिकालदर्श्यादिशतम्।।९।। अर्घ्यम्।

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः।
निष्किंचनो निराशंसो ज्ञानचक्षुरमोमुहः।।१।।

अर्थ– दिशा रूप वस्त्रों को धारण करने से 'दिग्वासा' (९०१), वायु-रूपी करधनी को धारण करने से 'वातरशन' (९०२), निर्ग्रन्थ मुनियों में भी श्रेष्ठ होने से 'निर्ग्रंथेश' (९०३), वस्त्र-रहित होने से 'निरम्बर' (९०४), परिग्रह-रहित होने से 'निष्किंचन' (९०५), इच्छा वा आशा रहित होने से 'निराशंस' (९०६), ज्ञान-रूपी नेत्रों को धारण करने से 'ज्ञानचक्षु' (९०७), अत्यन्त निर्मोह होने से 'अमोमुह' (९०८) कहलाते हैं।

तेजोराशि-रनन्तौजा ज्ञानाब्धिः शीलसागरः।
तेजोमयोऽमितज्योति-र्ज्योतिर्मूर्तिस्तमोपहः।।२।।

अर्थ– तेज के समूह होने से 'तेजोराशि' (९०९), अनन्त पराक्रमी होने से 'अनंतौजा' (९१०), ज्ञान के सागर होने से 'ज्ञानाब्धि' (९११), शील के सागर अथवा स्वभाव के सागर होने से 'शीलसागर' (९१२), तेज स्वरूप होने से 'तेजोमय' (९१३), अनन्त ज्योति को धारण करने से 'अमितज्योति' (९१४), तेजस्वरूप होने से 'ज्योतिमूर्ति' (९१५), तथा अज्ञानरूपी अंधकार के नाशक होने से 'तमोपह' (९१६) कहलाते हैं।

जगच्चूडामणिर्दीप्तः शंवान्विघ्नविनायकः।
कलिघ्नः कर्मशत्रुघ्नो लोकालोकप्रकाशकः।।३।।

अर्थ– तीनों लोकों के मस्तक के रत्न होने से 'जगच्चूड़ामणि' (९१७), तेजस्वी अथवा प्रकाशवान होने से 'दीप्त' (९१८), अत्यन्त सुखी होने से 'शंवान' (९१९), विघ्नों को अथवा अन्तराय कर्म को नाश करने से 'विघ्नविनायक' (९२०), दोषों को दूर करने से 'कलिघ्न' (९२१), कर्मरूप शत्रुओं को नाश करने से 'कर्मशत्रुघ्न' (९२२), तथा लोक और अलोक को जानने देखने से 'लोकालोकप्रकाशक' (९२३) कहलाते हैं।

अनिद्रालु- रतन्द्रालुर्जागरूकः प्रभामयः।
लक्ष्मीपतिर्जगज्ज्योति-र्धर्मराजः प्रजाहितः।।४।।

अर्थ– निद्रा रहित होने से 'अनिद्रालु' (९२४), प्रमाद रहित होने से 'अतन्द्रालु' (९२५), अपने स्वरूप की सिद्धि के लिए सदा जाग्रतरूप रहने से 'जागरूक' (९२६), ज्ञानस्वरूप होने से 'प्रभामय'

(९२७), मोक्षरूपी अविनाशी लक्ष्मी के स्वामी होने से 'लक्ष्मीपति' (९२८), जगत को प्रकाश करने से 'जगज्ज्योति' (९२९), धर्म के स्वामी होने से 'धर्मराज' (९३०), धर्म के हितैषी होने से 'प्रजाहित' (९३१) कहलाते हैं।

मुमुक्षुर्बन्धमोक्षज्ञो जिताक्षो जितमन्मथः।
प्रशान्तरसशैलूषो भव्यपेटकनायकः।।५।।

अर्थ– निर्वाण की रुचि स्वरूप होने से 'मुमुक्षु' (९३२), बन्ध और मोक्ष का स्वरूप जानने से 'बन्धमोक्षज्ञ' (९३३), इन्द्रियों को जीतने से 'जिताक्ष' (९३४), कामदेव को जीतने से 'जितमन्मथ' (९३५), शांतरूपी रस का नृत्य करने से 'प्रशान्तरसशैलूष' (९३६), भव्य जीवों के समुदाय के नायक होने से 'भव्यपेटकनायक' (९३७), कहलाते हैं।

मूलकर्ताऽखिलज्योतिर्मलघ्नो मूलकारणः।
आप्तो वागीश्वरः श्रेयांछ्रायसोक्तिर्निरुक्तवाक्।।६।।

अर्थ– धर्म के मुख्य प्रकाशक होने से 'मूलकर्ता' (९३८), अनन्त ज्योतिस्वरूप होने से 'अखिलज्योति' (९३९), राग द्वेष आदि मल को नाश करने से 'मलघ्न' (९४०), मोक्ष के मूल कारण होने से 'मूलकारण' (९४१), यथार्थ वक्ता होने से 'आप्त' (९४२), सब प्रकार की वाणी के स्वामी होने से 'वागीश्वर' (९४३), कल्याणस्वरूप होने ने 'श्रेयान्' (९४४), वाणी कल्याणस्वरूप होने से 'श्रेयांसोक्ति' (९४५), कहलाते हैं तथा निः सन्देह वाणी होने से 'निरुक्तवाक्' (९४६), कहलाते हैं।

प्रवक्ता वचसामीशो मारजिद्विश्वभाववित्।
सुतनुस्तनुनिर्मुक्तः सुगतो हतदुर्नयः।।७।।

अर्थ– सबसे उत्तम वक्ता होने से 'प्रवक्ता' (९४७), सर्व प्रकार के वचनों के स्वामी होने से 'वचसामीश' (९४८), कामदेव को जीतने से 'मारजित्' (९४९), संसार के समस्त पदार्थों के जानने से अथवा समस्त प्राणियों के अभिप्राय जानने से 'विश्वभाववित्' (९५०), उत्कृष्ट शरीर को धारण करने से 'सुतनु' (९५१), शरीर रहित होने से 'तनुनिर्मुक्त' (९५२), आत्मा में तल्लीन होने से अथवा सम्यग्ज्ञान धारण करने से 'सुगत' (९५३), और मिथ्यादृष्टियों के खोटे नयों का नाश करने से 'हतदुर्नय' (९५४), कहलाते हैं।

श्रीश: श्रीश्रितपादाब्जो वीतभीरभयंकर:।
उत्सन्नदोषो निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सल:।।८।।

अर्थ– अंतरंग और बाह्य लक्ष्मी के स्वामी होने से 'श्रीश' (९५५), आप के चरण कमलों की सेवा लक्ष्मी करती है, इसलिए आप 'श्रीश्रितपादाब्ज' (९५६), कहे जाते हैं। भय-रहित होने से 'वीतभी' (९५७), भक्त लोगों का भय दूर करने से 'अभयंकर' (९५८), समस्त दोषों को नष्ट करने से 'उत्सन्नदोष' (९५९), हैं, विघ्न रहित होने से 'निर्विघ्न' (९६०), स्थिर होने से 'निश्चल' (९६१), और लोगों को अत्यन्त प्रिय होने से 'लोकवत्सल' (९६२), कहे जाते हैं।

लोकोत्तरो लोकपतिर्लोकचक्षुरपारधी:।
धीरधीर्बुद्धसन्मार्ग: शुद्ध: सुनृतपूतवाक्।।९।।

अर्थ– समस्त लोक में उत्कृष्ट होने से 'लोकोत्तर' (९६३), तीनों लोकों के स्वामी होने से 'लोकपति' (९६४), समस्त लोक के यथार्थ पदार्थों के दर्शक होने से 'लोकचक्षु' (९६५), अनन्त ज्ञान को धारण करने से 'अपारधी' (९६६), ज्ञान सदा स्थिर रहने के हेतु 'धीरधी' (९६७), यथार्थ मोक्षमार्ग को जानने से 'बुद्धसन्मार्ग'

(९६८), शुद्ध स्वरूप होने से 'शुद्ध' (९६९), तथा वचन यथार्थ और पवित्र होने से 'सूनृतपूतवाक्' (९७०) कहे जाते हैं।

प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेन्द्रियः।
भदन्तो भद्रकृद्भद्रः कल्पवृक्षो वरप्रदः।।१०।।

अर्थ– बुद्धि के पारगामी होने से 'प्रज्ञापारमित' (९७१), अतिशय बुद्धिमान, होने से 'प्राज्ञ' (९७२), मन को जीतने से अथवा सदा मोक्षमार्ग का प्रयत्न करने से 'यति' (९७३), इन्द्रियों को वश करने से 'नियमितेन्द्रिय' (९७४), पूज्य होने से 'भदन्त' (९७५), कल्याणकारी होने से 'भद्रकृत' (९७६), निष्कपट अथवा कल्याण-स्वरूप होने से 'भद्र' (९७७), इच्छित पदार्थों के दाता होने से 'कल्पवृक्ष' (९७८), तथा इष्ट पदार्थों की प्राप्ति करा देने से 'वरप्रद' (९७९) कहलाते हैं।

समुन्मूलितकर्मारिः कर्मकाष्ठाशुशुक्षणिः।
कर्मण्यः कर्मठः प्रांशु-र्हेयादेयविचक्षणः।।११।।

अर्थ– कर्म-शत्रुओं को उखाड़ कर फेंक देने से 'समुन्मूलितकर्मारि' (९८०), कर्म-रूपी लकड़ी को जलाने के लिए अग्नि के समान होने से 'कर्मकाष्ठ शुशुक्षणि' (९८१), कहलाते हैं। क्रिया अर्थात् चारित्र में नितान्त कुशल होने से 'कर्मण्य' (९८२), क्रिया करने से शूरवीर अथवा सर्वदा तैयार रहने से 'कर्मठ' (९८३), सबसे ऊँचे अर्थात् उत्कृष्ट वा प्रकाशमान होने से 'प्रांशु' (९८४), और छोड़ने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों को जानने में चतुर होने से 'हेयादेयविचक्षण' (९८५), कहलाते हैं।

अनन्तशक्ति-रच्छेद्य-स्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः।
त्रिनेत्रस्त्र्यम्ब कस्त्र्यक्षः केवलज्ञानवीक्षणः।।१२।।

अर्थ– आप में अनन्त शक्तियां प्रगट होने से 'अनन्तशक्ति' (९८६), छिन्न-भिन्न करने योग्य न होने से 'अछेद्य' (९८७), जन्म-जरा मरण इन तीनों को नाश करने से 'त्रिपुरारि' (९८८), कहलाते हैं। भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों के पदार्थों के जानने और देखने से 'त्रिलोचन' (९८९), 'त्रिनेत्र' (९९०), 'त्रयम्बक' (९९१), तथा 'त्रयक्ष' (९९२), कहे जाते हैं और केवलज्ञान ही आपके नेत्र होने से 'केवलज्ञानवीक्षण' (९९३) कहलाते हैं।

समन्तभद्रः शान्तारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः।
सूक्ष्मदर्शी जितानंगः कृपालुर्धर्मदेशकः।।१३।।

अर्थ– सर्वथा मंगल-स्वरूप होने से 'समन्तभद्र' (९९४), कर्म-रूप शत्रुओं को शान्त कर देने से 'शान्तारि' (९९५), धर्म के आचार्य होने से 'धर्माचार्य' (९९६), जीवों पर अतिशय दया करने से 'दयानिधि' (९९७), सूक्ष्म पदार्थों को भी साक्षात् देखने से 'सूक्ष्मदर्शी' (९९८), कहलाते हैं। कामदेव को जीतने से 'जितानङ्ग' (९९९), दयावान् होने से 'कृपालु' (१०००), हैं और धर्म का उपदेश देने से 'धर्मदेशक' (१००१) कहे जाते हैं।

शुभंयुः सुखसाद्भूतः पुण्यराशि-रनामयः।
धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः।।१४।।

अर्थ– मोक्ष रूप शुभ को प्राप्त करने से 'शुभंयु' (१००२), सुख को अपने आधीन करने से 'सुखसाद्भूत' (१००३), कहलाते हैं। पुण्य की राशि (समूह) होने से 'पुण्य-राशि' (१००४), कहे जाते हैं, रोग रहित होने से 'अनामय' (१००५), कहलाते हैं। धर्म की रक्षा करने से 'धर्मपाल' (१००६), जगत् का पालन करने से 'जगत्पाल' (१००७), हैं और धर्म-रूप साम्राज्य के स्वामी होने से

'धर्मसाम्राज्यनायक' (१००८), कहलाते हैं।

इति दिग्वासाद्यष्टोत्तरशतम्।।१०।। अर्घ्यम्।

धाम्नांपते तवामूनि नामान्यागमकोविदैः।
समुच्चितान्यनुध्याय-न्पुमान्पूतस्मृतिर्भवेत्।।१।।

अर्थ– हे महा तेजस्वी जिनेन्द्रदेव! विद्वान लोगों ने आपके ये एक हजार आठ नाम संचय किये हैं। जो पुरुष इन नामों का ध्यान करता है, उसकी स्मरण शक्ति बहुत ही पवित्र हो जाती है।

गोचरोऽपि गिरामासां त्वमवाग्गोचरो मतः।
स्तोता तथाप्यसंदिग्धं त्वत्तोऽभीष्टफलं भजेत्।।२।।

अर्थ– हे प्रभो! यद्यपि ऊपर लिखे हुए एक हजार आठ नाम रूपी वाणी के द्वारा आप का वर्णन किया गया है। तथापि आप का यथार्थ स्वरूप कोई वर्णन नहीं कर सकता। इसलिए वास्तव में आप वाणी के अगोचर हैं। यद्यपि आप वाणी के अगोचर हैं, तथापि आप की स्तुति करने वाला पुरुष निःसन्देह आप से इष्ट फल की प्राप्ति करता ही है।

त्वमतोऽसि जगद्बन्धु-स्त्वमतोऽसि जगद्भिषक्।
त्वमतोऽसि जगद्धाता त्वमतोऽसि जगद्धितः।।३।।

अर्थ– इसलिए हे प्रभो! इस संसार के आप ही बन्धु हैं आप ही जगत्वैद्य हैं, आप ही जगत् की रक्षा करने वाले हैं, और आप ही संसार का हित करने वाले हैं।

त्वमेकं जगतां ज्योति-स्त्वं द्विरूपोपयोगभाक्।
त्वं त्रिरूपैकमुक्त्यंगः - स्वोत्थानन्तचतुष्टयः।।४।।

अर्थ– जगत् को मुख्य रीति से प्रकाशक होने से आप एक ही हैं दर्शन तथा ज्ञान इन दोनों उपयोगों को धारण करने से दो हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र इन तीनों रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष का कारण होने से तीन हैं, आपनी आत्मा में उत्तम अनन्त चतुष्टयों के धारण करने से चार रूप हैं।

त्वं पंचब्रह्म तत्त्वात्मा पंचकल्याणनायकः।
षड्भेदभावतत्त्वज्ञसत्वं सप्तनयसंग्रहः।।५।।

अर्थ– पंच परमेष्ठी स्वरूप होने से अथवा गर्भावतार आदि पांचों कल्याणों के स्वामी होने से पांच-रूप हैं। जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छहों तत्त्वों का यथार्थ-स्वरूप जानने से छः रूप हैं और सातों नयों के समूह- रूप होने से सात-रूप भी कहे जाते हैं।

दिव्याष्टगुणमूर्तिस्त्वं नवकेवललब्धिकः।
दशावतार-निर्धार्यो मां पाहि परमेश्वरः।।६।।

अर्थ– सम्यक्त्व आदि आठ गुण स्वरूप होने से आठ हैं, नौ केवल लब्धियों को धारण करने से नौ हैं और महाबल आदि दस अवतार (पर्याय) धारण करने से दश स्वरूप हैं, अतएव हे परमेश्वर! मेरी रक्षा कीजिए।

युष्मन्नामावली-दृब्ध-विलसत्स्तोत्रमालया।
भवन्तं परिवस्यामः प्रसीदानुगृहाण नः।।७।।

अर्थ– हे प्रभो! हम लोग आपके एक हजार आठ नामों की बनी हुई सुन्दर स्तोत्रों की माला से आपकी आराधना करते हैं, हे देव हम पर प्रसन्न होकर कृपा कीजिये।

इदं स्तोत्रमनुस्मृत्य पूतो भवति भाक्तिकः।
यः संपाठं पठत्येनं स स्यात्कल्याणभाजनम्।।८।।

अर्थ– जो भगवान् का भक्त पुरुष इस स्तोत्र का स्मरण करता है, वह पवित्र हो जाता है, तथा जो इस स्तोत्र का पाठ पढ़ता है, उसे सब प्रकार के कल्याण प्राप्त होते हैं।

ततः सदेदं पुण्यार्थी पुमान्पठतु पुण्यधीः।
पौरूहूर्ती श्रियं प्राप्तुं परमा-मभिलाषुकः।।९।।

अर्थ– इसलिए जो पुरुष इन्द्र की परम विभूति को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं अथवा जो पुण्य की इच्छा रखते हैं ऐसे सुबुद्धिमान पुरुष को इस स्तोत्र का सदा पाठ करना चाहिए।

स्तुत्वेति मघवा देवं चराचरजगद्गुरुम्।
ततस्तीर्थविहारस्य व्यधात्प्रस्तावनामिमाम्।।१०।।

अर्थ– इस प्रकार इन्द्र ने चर-अचररूप इस जगत के गुरु, देवाधिदेव की स्तुति की, और फिर तीर्थविहार करने के लिए नीचे लिखी हुई प्रार्थना की।

स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः।
निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखम्।।११।।

अर्थ– पवित्र गुणों के प्रशंसापूर्वक कथन करने को स्तुति कहते हैं। प्रसन्न बुद्धिवाला भव्यजीव स्तुति करने वाला होता है, जिसने समस्त पुरुषार्थ समाप्त कर लिये हैं ऐसे आप स्तुत्य हैं और मोक्ष सुख मिलना इस स्तुति का फल है।

यः स्तुत्यो जगतां त्रयस्य न पुनः स्तोता स्वयं कस्यचित्,

ध्येयो योगिजनस्य यश्च नितरां ध्याता स्वयं कस्यचित् ।
यो नेतृन् नयते नमस्कृतिमलं नन्तव्यपक्षेक्षणः,
स श्रीमान् जगतां त्रयस्य च गुरुर्देवः पुरुः पावनः ।।१२।।

अर्थ– जो तीनों लोकों के प्राणियों के द्वारा स्तुति किया जाता है, परन्तु स्वतः किसी की स्तुति करने वाला नहीं होता है, योगीजन जिसका ध्यान करते हैं, परन्तु सकल अर्थ प्रत्यक्ष होने से जो स्वयं किसी का ध्यान नहीं करता है। नन्तव्यपक्ष को देखने वाला जो संसार के समस्त श्रेष्ठ पुरुषों को उत्कृष्ट नमस्कार को प्राप्त कराता है, जो अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी से युक्त हैं, सब में प्रधान हैं और अत्यन्त पवित्र हैं वह देवाधिदेव श्री अरहन्त देव को ही तीन लोक का गुरु समझना चाहिए।

तं देवं त्रिदशाधिपार्चितपदं घातिक्षयानन्तरं,
प्रोत्थानन्तचतुष्टयं जिनमिमं भव्याब्जिनीनामिनम् ।
मानस्तम्भविलोकनानत्तजगन्मान्यं त्रिलोकीपतिं,
प्राप्ताचिन्त्यबहिर्विभूतिमनघं भक्त्या प्रवन्दामहे ।।१३।।

अर्थ– जिसके चरणों की पूजा इन्द्र करते हैं, चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने के बाद जिनके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यस्वरूप चार अनन्त चतुष्टय उत्पन्न हुए हैं, जो भव्यरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने वाला है, जो मान स्तम्भ के देखने के लिए नम्रीभूत हुए जगत के द्वारा पूज्य हैं, जिसको अचिंत्य समवसरण आदि बाह्य विभूति प्राप्त हो चुकी है और जो सब प्रकार के पापों से रहित हैं ऐसे तीन लोक के अधीश्वर जिनदेव को हम लोग भक्ति पूर्वक नमस्कार करते हैं।

(पुष्पांजलि क्षिपामि)

●

भक्तामर स्त्रोत्रम्

श्रीमत् मानतुंगाचार्य विरचितम्।

(टीका अन्वय भावार्थ सहित)

भक्तामर - प्रणत - मौलि - मणि - प्रभाणा-
मुद्योतकं दलित - पाप - तमो - वितानम्।
सम्यक् - प्रणम्य जिन - पाद युगं युगादा -
वालम्बनं भव - जले पततां जनानाम्।।१।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो अरिहंताणं णमो जिणाणं ह्रां ह्रीं हूं ह्रौं ह्रः असिआउसा अप्रति चक्रे फट् विचक्राय झौं झौं नमः स्वाहा।**

मंत्र :- **ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं श्रीं क्लीं ब्लूं क्रौं ॐ ह्रीं नमः स्वाहा।**

टीका– भक्तामरेति। किलेति सम्भावनायां। अहमपि मानतुंङ्गाचार्यः। तं प्रथमं जिनेन्द्रम् श्रीऋषभदेवं। स्तोष्ये स्तविष्यामीत्यर्थः। ष्टुञ्स्तुतावित्यस्य धातोः प्रयोगः। किं कृत्वा? जिनपादयुगमर्हच्चरण द्वन्द्वम् सम्यग्यथोक्तप्रकारेण नत्वा। जिनपादयो युगं जिनपादयुगम्। कथंभूतं जिनपादयुग्म। भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणामुद्योतकं। भक्ताश्च तेऽमराः शतेन्द्रादयो देवास्तेषां प्रणता नम्रीभूता ये मौलयः। किरीटास्तेषां मणयस्तेषां प्रभाः कान्तयस्तासाम्। उद्योतयतीति उद्योतकम्। पुनः कथंभूतम्? दलितपा-पतमोवितानम्। दलितं पापान्येव तमांसि तेषां वितानं

येन तत्। पुनः कथंभूतम्? युगादावैतदवसर्पिणीकाले। भवजले- संसारसागरे, पततां -निमज्जतां, जनानां- लोकानां, आलम्बनं- हस्तावलम्बनमित्यर्थः। तं किम्?।

अन्वयार्थः— भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणां— भक्त देवों के नम्रीभूत मुकुटों के मणियों की प्रभाके, उद्योतकं- बढ़ाने वाले, दलितपापतमोवितानं पाप-रूप अंधकार के विस्तार के नाशक, च - और युगादौ- युग के प्रारम्भ में, भवजले- संसार-समुद्र में, पतताम्- गिरते हुए, जनानाम्— प्राणियों के, आलम्बनम्- रक्षक या सहारे, जिनपादयुगम— जिनेन्द्रदेव के चरणयुगल को, सम्यक्- भली-भांति, प्रणम्य- नमस्कार करके, स्तोष्ये- स्तुति करता हूं।

भावार्थ— प्रकाशमान मणि- मुक्ता-जड़ित मुकुटों से शोभित देवों के झुके हुए मस्तक द्वारा पूजित, पाप-रूपी अंधकार के विस्तार को नष्ट करने वाले एवं युग के प्रारम्भ से ही संसार -सागर में गिरते हुए प्राणियों को बचाने में सहायक-स्वरूप जिन भगवान के चरण-कमलों को उत्तम भाव-सहित नमस्कार करता हूं।

यः संस्तुतः सकल - वाङ्मय - तत्त्व - बोधा-
दुद्भूत - बुद्धि - पटुभिः सुर - लोकनाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय - चित्त - हरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्॥२॥

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हं णमो ओहिजिणाणं ह्रौं ह्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र :- ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं नमः। सकलार्थ सिद्धीणं।

टीका– यः भगवान् सुरलोकनाथैः शतेन्द्रादिभिः स्तौत्रै स्तवनैः संस्कृत। कंथभूतैः सुरलोकनाथैः। सकलावाङ् मयतत्त्वबोधात् सकलं- समस्तं यद्वाङ्मयं तस्य तत्त्वबोधो- यथार्थज्ञानं तस्मात्। उद्भूतबुद्धिपटुभिः उद्भूताः समुत्पन्ना या बुद्धयो मनीषास्ताभिः पटवो वाचालास्तैः। कथंभूतैः स्तोत्रैः जगत्त्रितयचित्तहरैः। जगतां त्रितयं तस्य चित्तानि मनांसि हरन्तीति तानि तैः। पुनरुदारैर्गंभीरैरित्यर्थः।।

अन्वयार्थः– यः– जो ऋषभदेव भगवान्, सकलावाङ्मयतत्त्वबोधात्- समस्त द्वादशांग के ज्ञान से, उद्भूतबुद्धिपटुभिः– उत्पन्न विशिष्टबुद्धि से चतुर, सुरलोकनाथै- इन्द्रों के द्वारा, जगत्त्रितयचित्तहरैः- तीनों लोकों के प्राणियों के चित्त को लुभाने वाले, च-और, उदारैः प्रशंसनीय, स्तोत्रैः- स्तोत्रों के द्वारा, संस्तुतः- स्तुति किये गये थे, तम्- उन, प्रथमम् पहले, जिनेन्द्रम- ऋषभनाथ जिनेन्द्र को, अहम्- मैं, अपि- भी, स्तोष्ये- स्तुति करता हूं, इति- यह, किल- आश्चर्य की बात है।

भावार्थ– तीनों लोकों के देवों द्वारा जिनकी स्तुति तत्त्वज्ञान से पूर्ण बुद्धिचातुर्य से उत्पन्न सुन्दर स्तोत्रों द्वारा हुई है, एवं ऐसे स्तोत्र जो कि सबके चित्त को मुग्ध करने वाले हैं- ऐसे ही उत्कृष्ट स्तोत्रों से मैं भी निश्चय ही प्रथम जिनेन्द्र की स्तुति करूंगा।

बुद्धया विनापि विबुधार्चित - पाद - पीठ !
स्तोतुं समुद्यत - मतिर्विगत - त्रपोऽहम्।

बालं विहाय जल - संस्थितमिन्दु - बिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्।।३।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हं णमो परमोहिजिणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।**

मंत्र :- **ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं सिद्धेभ्यो बुद्धेभ्यः सर्वसिद्धि दायकेभ्यो नमः स्वाहा। ॐ नमो भगवते परम तत्त्वार्थ भवकार्य सिद्धिः ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः असिआउसा अस्वरूपाय नमः।**

टीका :- हे विबुधार्चितपादपीठ! अहं मानतुङ्गः कविः। बुद्धया विनापिमतिहीनोऽपि। त्वां भगवन्तम्। स्तोतुं समुद्यतमतिर्वर्ते। विबुधैश्चतुर्णिकायाऽमरैः। अर्चितं पूजितं। पादयोः पीठं सिंहासनं यस्य स तस्यामंत्रणं। समुद्यता मतिर्यस्य सः। कथंभूतोऽहं विगता त्रपालज्जा यस्य सः। बालं विहाय इति किं परित्यज्यान्यः को मतिमान्पुमान्। जलसंस्थितं जले प्रतिबिम्बीभूतमिन्दुबिम्बं चन्द्रमण्डलं। सहसा सभसा। गृहीतमुपादातुम्। इच्छति वांछेत् न कोऽपीत्यर्थः।

अन्वयार्थः— विबुधार्चितपादपीठ-- देवों के द्वारा पूजित हैं पादपीठ- पैरों के रखने की चौकी जिनकी ऐसे हे जिनेश, विगतत्रपः- निर्लज्ज, अहम्- मैं बुद्धयाविनापि- बुद्धि के बिना भी, स्तोतुम्- स्तुति करने के लिए, समुद्यतमति- तत्पर, भवामि- हो रहा हूं, यतः- क्योंकि, जल- संस्थितम्- जल में प्रतिबिम्बित, इन्दुबिम्बम्- चन्द्रमण्डल को, सहसा- बिना विचारे, ग्रहीतुम्- पकड़ने को, बालम्-

बालक या मूर्ख को, विहाय- छोड़ कर, अन्य: दूसरा, क: कौन, जन:- मनुष्य, इच्छति- इच्छा करता है।

भावार्थ — जिस तरह अल्पबुद्धि बालक के सिवा अन्य कोई भी बिना विचारे जल में चन्द्र की छाया को चन्द्र समझ कर उसे ग्रहण करने की इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार मैं भी विद्याहीन होने पर भी लज्जा-रहित होकर, जिनकी पादपीठ की पूजा देवों ने की है, उन जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करने को तत्पर हुआ हूं।

वक्तुं गुणान्गुण - समुद्र शशांक - कान्तान्
कस्ते क्षम: सुर - गुरु - प्रतिमोऽपि बुद्ध्या।
कल्पान्त - काल -पवनोद्धत - नक्र - चक्रं,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम्।।४।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोहिजिणाणं झ्रौं झ्रौं नम: स्वाहा।

मंत्र :- ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं जलयात्राजलदेवताभ्यो नम: स्वाहा।

टीका :- भो गुणसमुद्र ! क: पुमान्। ते तव। गुणान् वक्तुम् यथार्थतय प्रतिपादयितुम्। क्षम: समर्थोऽस्ति। कथंभूत: सन:? बुद्धया कृत्वा सुरगुरुप्रतिमोऽपि सन् सुरगुरुणा वृहस्पतिना प्रतिमीयतेऽसौ। कथं भूतान् गुणान्? शशांक कान्तान् शशांक शरच्चन्द्रमण्डलस्त द्वत्कान्तान्मनोज्ञान् अथवा उज्ज्वलान्। स्वस्याशक्यतां दृष्टान्तेन दृढयति। वा इति पक्षान्तरे। क: पुमान् भुजाभ्यामम्बुनिधिं तरीतुमलं समर्थो भवति। न कोऽपीत्यर्थ: कथंभूतमम्बुनिधिं कल्पान्तकालस्य प्रलयकालस्य ये पवना वायवस्तैरुद्धता

प्रगटीभूता ये नक्रा: पाठीना मत्स्यादयो जीवास्तेषां समूहा यस्मिन् स तम्।

अन्वयार्थ– गुणसमुद्र– हे गुणों के सागर, ते– तुम्हारे, शशांककान्तान्- चन्द्र की कांति के समान उज्ज्वल, गुणान्- गुणों को, वक्तुम्- कहने के लिए, बुद्धया- बुद्धि से, सुरगुरुप्रतिम:- वृहस्पति के समान, अपि- भी, क: कौन पुरुष, क्षम: समर्थ, अस्ति- है, वा– जैसे, कल्पान्तकाल पवनोद्धतनक्र चक्रं- प्रलयकाल की प्रचण्ड वायु से कुपित मगरमच्छों से परिपूर्ण, अम्बुनिधिम्- समुद्र को, भुजाभ्याम्- भुजाओं से, तरीतुम्- पार करने को, क: कौन, अलम्- समर्थ, अस्ति- है, अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ– हे नाथ! जिस प्रकार प्रलय काल की वायुवेग से उन्मत्त एवं मगर मच्छादि से भरे हुए सागर को अपनी भुजाओं से पार करने में कोई भी मनुष्य समर्थ नहीं हो सकता, उसी प्रकार स्वयं वृहस्पति के समान अत्यन्त बुद्धिमान होने पर भी चंद्रकांति के समान रूपवान आपके निर्मल गुणों का कोई वर्णन नहीं कर सकता।

सोऽहं तथापि तव भक्ति - वशान्मुनीश !
कर्तुं स्तवं विगत - शक्तिरपि प्रवृत्त:।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगी मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निज - शिशो: परिपालनार्थम्।।५।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो अणंतोहिजिणाणं झौं झौं नम: स्वाहा।

मंत्र :- ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं क्रौं सर्वसंकटनिवारणेभ्य: पार्श्व

यक्षेभ्यो नमो नमः स्वाहा।

टीका :- हे मुनीश्वर भो योगीश्वर! सोऽहं मानतुङ्गाचार्यः। तथापि तथाविधः सन्। तव परमेश्वरस्य। भक्तिवशात् भक्त्या लीनः सन्। विगतशक्तिरपि स्तवं कर्तुमुद्यतः प्रवृतः। विगता शक्तिरस्य। स्वस्यधार्ष्ट्यतां दृष्टान्तेन दृढ़यति। मृगो हरिणः। प्रीत्या स्नेहेन। आत्मवीर्यं स्वपराक्रमविचार्य। निजशिशोः स्वसन्तानस्य परिपालनार्थं रक्षार्थं। मृगेन्द्रं सिंहं। किन्नाभ्येति किन्न सम्मुखी भवति? अपि तु सम्मुखी भवतीत्यर्थः।।

अन्वयार्थः—मुनीश! हे मुनिश्रेष्ठ! तथापि- तो भी, विगतशक्तिः अल्पज्ञ, अपि- भी, सः अहम्- मैं, तव- तुम्हारी, भक्तिवशात्- भक्ति के वश से, तव- आप की, स्तवनम्- स्तुति को, कर्तुं- करने के लिए, प्रवृत्तः- तैयार हुआ हूं यथा- जैसे, मृगी- हरिणी, आत्मवीर्यम्- अपनी शक्ति को, अविचार्य- बिना विचार किये, प्रीत्या- केवल प्रेम से, निजशिशोः- अपने बच्चे की, परिपालनार्थं- रक्षा के लिए, मृगेन्द्रम्- सिंह का, न अभ्येति- किम्- सामना नहीं करती है क्या?।

भावार्थ- हे भगवान्! जिस प्रकार अपनी शक्ति का कोई भी विचार न कर केवल स्नेहवश हरिणी अपनी संतान की रक्षा के लिए वनराज सिंह का भी सामना करने में संकोच नहीं करता, उसी प्रकार मैं भी अपनी बुद्धि-हीनता की ओर दृष्टि न दे, केवल भक्ति से प्रेरित होकर ही आप जैसे मुनीश की स्तुति करने को प्रस्तुत हुआ हूं।

अल्प - श्रुतं श्रुतवतां परिहास - धाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चारु - चाम्र कलिका -निकरैक - हेतुः।।६।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हं णमो कोट्ठबुद्धीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र :- ॐ ह्रीं श्रां श्रीं श्रूं श्रः हं सं थ थ थः ठः ठः सरस्वती भगवती विद्या प्रसादं कुरु कुरु स्वाहा।

टीका :- भो सर्वज्ञ ! त्वद्भक्तिरेव बलात्प्रसह्य। मां मानतुंगाचार्यं। मुखरीकुरुते वाचालयतीत्यर्थः। कथंभूत मामल्पश्रुत शास्त्र यस्य स तम्। पुनः कथंभूतं माम्? श्रुतवतां पण्डितानां मध्ये। परिहासस्य धाम गृहं हासस्य भाजनं। अजहल्लिगत्वादेव। अन्यथा परिहासधामानं पुल्लिंगे भवति। स्वस्योत्साहतां दृष्टान्तेन दृढयति। किल इति सत्ये। यत्कोकिलो मधौ बसन्ते। मधुरं विरौति ब्रूते। तत् चारु मनोज्ञाया आम्रकलिका आम्रमंजर्यस्तासां निकरः स एव एक हेतुः।

अन्वयार्थ– अल्पश्रुतं- अल्पज्ञानी, अतएव श्रुतवताम्- विद्वानों के, परिहास- धाम- हास्य के पात्र, माम्- मुझको, त्वद्भक्तिः- आपकी भक्ति, एव- ही, बलात्- हठ से, मुखरीकरोति- वाचाल कर रही है, यतः- क्योंकि, किल- निश्चय से, मधौ- बसन्त ऋतु में, कोकिलः- कोयल, यत्- जो, मधुरं- मीठा, विरौति- शब्द करती है, तत्- वह, आम्रचारुकलिकानिकरैकहेतुः- आम की सुन्दर मंजरी के कारण, एव- ही।

भावार्थ– जैसे बसंत ऋतु में केवल आम की मंजरी की प्राप्ति के लिए ही मूर्ख काली कोयल मीठे शब्द बोलती है, उसी प्रकार मैं भी अल्प ज्ञानी एवं ज्ञानियों के हास्य-पात्र होते हुए भी आपकी स्तुति के लिए तत्पर हुआ हूं- हे नाथ! यह केवल आपकी अगाध भक्ति से प्रेरित होकर ही मैंने किया है।

त्वत्संस्तवेन भव - सन्तति - सन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्त - लोकमलि - नीलमशेषमाशु,
सूर्यांशु - भिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्।।७।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हं णमो बीजबुद्धीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।**

मंत्र :- **ॐ ह्रीं हं सं श्रां श्रीं क्रौं क्लीं सर्वदुरितसंकटक्षुद्रोपद्रव कष्ट निवारणं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं क्रौं नमः।**

टीका :- भो नाथ! त्वत्संस्तवेन कृत्वा। शरीरभाजां प्राणिनां। भवसन्तति सन्निबद्धं नानाजन्मान्तरनिबद्धं। पापं क्षणात् क्षणमात्रेण। क्षयं ध्वंसं। उपैति प्राप्नोति। भवानां सन्ततिः श्रेणिस्तया सन्निबद्धं स्वस्य स्तवनमाहात्म्यं दृष्टान्तेन दृढयति। किमिव शार्वरमन्धकारमिव। यथा शार्वरं रात्रिसम्बन्धि अंधकारं। सूर्यांशुभिर्भिन्नं। तत्तु आशु शीघ्र अशेषं समग्रं क्षयं याति। कथंभूतमन्धकारं। आक्रान्ता पीडिता लोका येन तत्। पुनरलयो भ्रमरास्तद्वन्नीलं।

अन्वयार्थ:– आक्रान्तलोकम्- सम्पूर्ण लोक में फैले हुए, अलिनीलम्-

भौरों के समान काले, च- और, सूर्यांशुभिन्नम्- सूर्य की किरणों से खण्डित, शार्वरम्- रात्रिसम्बन्धी, अशेषम्- सम्पूर्ण, अन्धकारम् इव- अन्धकार की तरह, शरीरभाजाम्- प्राणियों के, भवसन्ततिसन्निबद्धम्- अनेक भवों के बन्धे हुए, पापम्- पापकर्म, त्वत्संस्तवेन- आपकी स्तुति से, क्षणात्- क्षण भर में, आशु- शीघ्र, क्षयम्- विनाश को, उपैति- प्राप्त होते हैं।

भावार्थ– हे नाथ, जिस प्रकार इस लोक में फैले हुए काले भंवरे के समान कृष्ण रात्रि का अन्धकार सूर्य- किरण के प्रकाश से ही खण्डित अर्थात् दूरीभूत हो जाता है, उसी प्रकार आपकी अनुपम स्तुति के द्वारा प्राणियों के भव-भवान्तर के बन्धे हुए पाप क्षणमात्र में ही दूर हो जाते हैं।

मत्त्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनी - दलेषु,
मुक्ता - फलद्युतिमुपैति ननूद - बिन्दुः।।८।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हं णमो अरिहंताणं णमो पादानुसारिणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।**

मंत्र :- **ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय झ्रौं झ्रौं स्वाहा। ॐ ह्रीं लक्ष्मणरामचंद्रदेवीभ्यो नमः स्वाहा।**

टीका :- मत्वेति मत्वा मनसेत्यवबुद्ध्य। इदं प्रसिद्धं। तव संस्तवनं प्रारभ्यते। कथंभूतेन मया तन्वी स्वल्पा धीर्बुद्धिर्यस्य स तेन तथापि तव प्रभावाद्भगवन् माहात्म्यात्। सतां

सत्पुरुषाणां। चेतो हरिष्यति। ननु निश्चितं। उदबिन्दुर्जलकण:। नलिनीदलेषु कमलिनीपत्रेषु। मुक्ताफलस्य द्युतिं दीप्ति मुपैति प्राप्नोति। नलिनीनां दलानि नलिनीदलानि तेषु। मुक्ताफलस्यद्युतिस्ताम्।

अन्वयार्थ— नाथ- हे प्रभो, इति- ऐसा, मत्वा- मानकर, तनुधिया- मन्दबुद्धि, मया- मेरे द्वारा, अपि- भी, तव- आपका, इदम्- यह, संस्तवनम्- स्तवन, आरभ्यते- प्रारम्भ किया जाता है, यत्- जो, तव- आपके, प्रभावात्- प्रभाव से, सताम्- सज्जनों के, चेत:- चित्तको, हरिष्यति- हरेगा, ननु- निश्चय से, उदबिन्दु- पानी की बूँद, नलिनीदलेषु- कमलिनी के पत्तों पर, मुक्ताफलद्युतिम्- मोती जैसी कान्ति को, उपैति- प्राप्त होती है।

भावार्थ— हे नाथ ! ऐसा मानकर अर्थात् आपकी भक्ति में विश्वास रखकर मैं आपकी स्तुति करना चाहता हूं। जैसे कमल के पत्तों पर स्थित रहने से ही सामान्य जल बिन्दु मुक्ता (मोती) के समान कान्तिमान हो जाती है, उसी प्रकार आपके अनन्य प्रभाव से मुझ जैसे अल्पज्ञ की स्तुति से भी सज्जनों के चित्त में आनन्द उत्पन्न होगा यह मैं निश्चय ही जानता हूं।

आस्तां तव स्तवनमस्त - समस्त - दोषं,
त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरण: कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभांजि।।९।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हं णमो अरिहंताणं णमो संभिण्ण सोदराणं ह्रौं ह्रौं नमः स्वाहा। ह्रां ह्रीं ह्रू ह्रः फट् स्वाहा ॐ ऋद्धये नमः।**

मंत्र :- **ॐ ह्रीं श्रीं क्रों प्वीं रः रः हं हः नमः स्वाहा। ॐ नमो भगवते जय यक्षाय ह्रीं हं नमः स्वाहा।**

टीका:- भो नाथ ! तव परमेश्वरस्य। स्तवनं दूरे आस्तां तिष्ठतु। त्वत्संकथाऽपि भागवती वार्ताऽपि। जगतां लोकानां। दुरितानि पापानि। हन्ति। स्फुटयति। तव सम्यग्भूता कथा त्वत्संकथा। कथंभूतं? अस्ता निर्गताः समस्ता दोषा यस्य तत्। सहस्रकिरणः सहस्ररश्मिः। प्रभैव पद्माकरेषु सरसीषु। जलजानि कमलानि। विकाशभांजि विकचानि कुरुते विदधातीत्यर्थः। विकाशं भजन्ति तानि विकाशभांजि। यस्य प्रभावादेतादृक् माहात्म्यं सर्वोत्कृष्टं तस्य कथायाः सकाशात् भगवतः स्तवनस्य माहात्म्यं सर्वोत्कृष्टम्।

अन्वयार्थ– तव- तुम्हारा, अस्तसमस्तदोषम्- निर्दोष, स्तवनम्- स्तवन, आस्ताम्- दूर रहे, किन्तु, त्वत्संकथा- तुम्हारी पवित्र कथा, अपि- भी, जगताम्- प्राणियों के, दुरितानि- पापों को, हन्ति- नष्ट कर देती है, यथा- जैसे, सहस्रकिरणः- सूर्य, दूरे- दूर, तिष्ठति- रहता है, किन्तु, प्रभा- सूर्य की किरण, एव- ही, पद्माकरेषु- तालाबों में, जलजानि- कमलों को, विकासभाञ्जि- विकसित, कुरुते- करती है।

भावार्थ– हे भगवन् ! आप की पवित्र स्तुति के प्रभाव से समस्त दोष-राशि स्वतः ही दूर रहती है, यह तो सत्य है ही, परन्तु आप की पुण्य गाथा में भी जगत् के जीवों के पाप

नष्ट करने की सामर्थ्य है। जैसे- सूर्य तो स्वयं दूर रहता है, किन्तु उसकी किरणों के स्पर्श मात्र से ही कमल-दल विकसित हो उठते हैं। धन्य हैं आप।

नात्यद्भुतं भुवन - भूषण भूत - नाथ ,
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति।।१०।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हं णमो सयंबुद्धाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र :- जन्मसध्यानतो जन्मतो वा मनोत्कर्षधृतावादि नोर्यानाक्षांता भावे प्रत्यक्षा बुद्धान्मनाह् म्म्ल्वर्यूं, ॐ ह्रां ह्रीं ह्रौं ह्रः श्रां श्रीं श्रूं श्रः सिद्धबुद्धकृतार्थो भव भव वषट् सम्पूर्णम् स्वाहा। ॐ ह्रीं नमो शत्रु विनाशनाय जय पराजय उपसर्ग हराय नमः।

टीका:- हे भुवनभूषण ! हे भूतनाथ ! । भूतैः सत्यैर्गुणैः। भुवि पृथिव्यां भवन्तं परमेश्वरं। अभिष्टुवन्तः। पुमांसः। भवतस्तव। तुल्या. समाना भवन्ति। न अत्यद्भुतं महाश्चर्यं न। भुवनं भूषणं तस्यामंत्रणे। भूतानां प्राणिनां नाथ। अथवा भूतानां देवानां नाथ तस्य सम्बोधने। अभि समन्तात् स्तुवन्ति इत्यभिष्टुवन्तः। वा अथवा। ननु निश्चितं। यः पुमान्। इह पृथिव्यामाश्रितं जनं। भूत्या स्वसमृद्धया। आत्मसमं न करोति स्वतुल्यं न विदधाति। तेन स्वामिना किं कार्यं भवति? अपि तु न भवतीत्यर्थः।

अन्वयार्थ– भुवनभूषण- हे संसार के भूषण, भूतनाथ- प्राणियों के स्वामी, भूतैः- सच्चे गुणैः- गुणों के द्वारा- भवन्तम्-

आप की, अभिष्टुवन्तः- स्तुति करने वाले पुरुष, भुवि- पृथ्वी पर, भवतः- आपके, तुल्या— समान, भवन्ति- हो जाते हैं, इदम्- यह, अत्यद्भुतम्- विशेष आश्चर्य की बात, न- नहीं, अस्ति- है, ननु- अथवा, तेन- उस स्वामी से, किम्- क्या प्रयोजन है? यः- जो, इह- इस लोक में, आश्रितम्- अपने आधीन व्यक्ति को, भूत्या- सम्पत्ति से, आत्मसमम्- अपने बराबर, न करोति- नहीं करता।

भावार्थ— हे जगत्भूषण! हे भूतनाथ! यह तो आश्चर्य की बात नहीं कि सच्चे गुणों के द्वारा आप की स्तुति करने वाले जगत् में आप के बराबर हो जाये, नहीं तो ऐसे प्रभु की क्या आवश्यकता है, जो अपनी सम्पत्ति द्वारा अपने सेवक को अपने तुल्य न बना ले। अर्थात् अच्छे स्वामी अपने गुणवान सेवक को अपनी सम्पत्ति दान के द्वारा अपनी बराबरी के बना लेते हैं।

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेष - विलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकर - द्युति - दुग्ध - सिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत्।।११।।

ऋद्धि :— ॐ ह्रीं अर्हम् णमो पत्तेयबुद्धाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र :— ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं श्रां श्रीं कुमतिनिवारिण्यै महामायायै नमः स्वाहा। ॐ नमो भगवते प्रसिद्धरूपाय भक्तियुक्ताय सां सीं सौं ह्रां ह्रीं ह्रौं झ्रौं झ्रौं नमः।

टीका— भो नाथ! जनस्य सम्यक्त्वधारिणो लोकस्य। चक्षुर्नेत्रं। भवन्तं भगवन्तं। दृष्ट्वान्यत्र हरिहरादिषु देवेषु। तोषं

प्रमोदं। न उपयाति न व्रजति। चक्षुरित्यर्थे जात्यपेक्षयैकवचनं। कथंभूतं भवन्तं? अनिमेषेणं विलोकनीयः। अनिमेषविलोकनीयस्तं। कः पुमान् शशिकरद्युतिदुग्धसिंधो क्षीरसमुद्रस्य पयः पीत्वा, जलनिधेः क्षारसमुद्रस्य क्षारं जलं। अशितुमास्वादितं। इच्छेत् वांच्छेत्? अपि तु न कोऽपीत्यर्थः।

अन्वयार्थ– अनिमेषविलोकनीयम्- बिना पलक झपाये टकटकी से देखने योग्य, भवन्तम्- आपको दृष्टवा- देखकर, जनस्य- मनुष्य के, चक्षुः- नेत्र, अन्यत्र- दूसरे देवों में, तोषम्- सन्तोष को, न उपयाति- प्राप्त नहीं होते, यथा- जैसे, दुग्धसिन्धोः- क्षीर-समुद्र के, शशिकरद्युति- चन्द्र-समान कान्तिवाले, पयः- जल को, पीत्वा- पीकर, जलनिधे- सामान्य समुद्र के, क्षारम् - खारे, जलम्- जल को, रसितुम्- पीने के लिए, कः- कौन मनुष्य, इच्छेत्- चाहेगा।

भावार्थ– हे भगवान्, दर्शनयोग्य आपको अपलक नेत्रों से देखने के अनन्तर मनुष्यों के नेत्र और कहीं भी सन्तोष को नहीं प्राप्त हो सकते। जैसे कि- क्षीर-सागर के नीर का पान करने वाला कभी भी अन्य सागर के खारे पानी पीने की इच्छा नहीं रखता। अर्थात् एक आप ही दर्शनयोग्य हैं' दर्शनीय हैं।

यैः शान्त - राग - रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैक - ललाम - भूतः।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति।।१२।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हं णमो बोहियबुद्धाणं ह्रौं ह्रौं नमः स्वाहा।**

मंत्र :- **ॐ आं आं अं अः सर्वराजाप्रजामोहिनी सर्व जनवश्यं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ नमो भगवते अतुलबलपराक्रमाय आदीश्वर यक्षाधिष्ठाय ह्रां ह्रीं नमः। ॐ श्रीं क्लीं जिनधर्मचिताय ह्रौं क्रौं रं ह्रीं नम।**

टीका– भो त्रिभुवनैकललामभूत। यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिः कृत्वा। त्वं भवान्। निर्मापित उत्पादितः। खलु निश्चितं। तेप्यणवः पृथिव्यां तावन्त एव विद्यन्ते। कुतो हेतोः? यद्यस्मात्कारणात् ते तव। समानं सदृश। परं रूपं न ह्यस्ति। शान्ता उपशमं प्राप्ता रागाणां इति रागद्वेषादीनां रुचय इच्छा येषान्ते तैः। त्रिभुवनस्य मध्ये कोऽद्वितीयः ललामभूतो रत्नसमानस्त्रिभुवनैकललामभूतस्तस्यामन्त्रणे।

अन्वयार्थ– त्रिभुवननैकललामभूत- हे तीनों लोकों के अद्वितीय शिरोभूषण- रूप, शान्तरागरुचिभिः- रागादि-रहित उज्ज्वल, यैः जिन, परमाणुभिः- परमाणुओं से, त्वम्- तुम, निर्मापितः- बनाये गए हो, ते- वे,अणवः- परमाणु, अपि- भी, पृथिव्याम्- पृथ्वी पर, खलु- निश्चय से, तावन्तः- उतने, एव- ही, बभूवुः- थे, यत्- क्योंकि, ते- तुम्हारे, समानम्- समान, रूपम्- रूप, पृथिव्याम्- पृथ्वी पर, अपरम्- दूसरा, न हि- नहीं, अस्ति- है।

भावार्थ– हे जिनेन्द्र भगवान्! आप अद्वितीय सुन्दर हैं, आप त्रिभुवन की एक अपूर्व विभूति हैं– क्योंकि आपके समान सुन्दर पुरुष दूसरा और कोई नहीं। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि जिन उज्ज्वल राग-रहित परमाणुओं से आप के

शरीर की रचना हुई है, वे संख्या में सीमित ही थे, आप की ही रचना में उन परमाणुओं की समाप्ति हो गई है। आप की रचना के अनन्तर परमाणु यदि शेष रहते तो आप जैसे सुन्दर दूसरे पुरुष की रचना भी हो सकती थी, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इससे आप ही अद्वितीय सुन्दर पुरुष हैं।

वक्त्रं क्व ते सुर - नरोरग - नेत्र - हारि,
नि:शेष - निर्जित - जगत्त्रितयोपमानम्।
बिम्बं कलंक - मलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डु - पलाश - कल्पम्।।१३।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो ऋजमदीणं झौं झौं** नम: स्वाहा।

मंत्र :- **ॐ ह्रीं श्रीं हं स: ह्रौं ह्रां द्रां द्रीं द्रौं द्र: मोहनी सर्वजनवश्यं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ भाना अष्टसिद्धि क्रीं ह्रौं ह्म्ल्व्र्यूं युक्ताय नम:। ॐ नमो भगवते सौभाग्यरूपाय नम:।**

टीका :- भो नाथ! द्वौ क्व शब्दौ महदन्तरं सूचयत:। ते तव परमेश्वरस्य वक्त्रं क्व? इदं प्रसिद्धं निशाकरस्य चन्द्रबिम्बं क्व? कथंभूतं वक्त्रं? सुराश्च नराश्चोरगाश्च सुरनरोरगास्तेषां नेत्राणि हरतीति सुर नरोरगनेत्रहारि। पुन: नि:शेषाणि समग्राणि निर्जितानि जगतां त्रितयस्य उपमानानि येन तत्। कथंभूतं चन्द्रबिम्बं? कलंकेन मलिनं। यच्चन्द्रबिम्बं। वासरे दिवसे पाण्डुपलाशकल्पं भवति। पलाशस्य पत्रं पलाशं। पाण्डु च तत्पलाशं च पाण्डुपलाशं पाण्डुपलाशादीषन्नूनं पाण्डुपलाशकल्पं।

अन्वयार्थ–सुरनरोरगनेत्रहारि- देव, मनुष्य और नागों के नेत्रों को हरण करने वाला, च- तथा, निःशेषनिर्जित जगत्त्रितयोपमानम्- सम्पूर्ण रूप से जीती हैं कमल, चन्द्र और दर्पण आदि सभी उपमायें जिसने, ऐसा, क्व- कहाँ तो, ते- तुम्हारा, मुखम्- मुख, च- और, क्व- कहाँ, निशाकरस्य- चन्द्रमा का, कलंकमलिनम्- कलंक से मलिन, बिम्बम्- मण्डल, यत्- जो, वासरे- दिन में, पलाशकल्पम्- ढाके के पत्ते के समान, पाण्डु- पीला, भवति- हो जाता है।

भावार्थ– हे नाथ!, तीनों जगत के सुननर धरणेन्द्र आदि के नेत्र को मोहने वाला सुन्दर एवं तीनों जगत की सुन्दर उपमाओं से भी परे आप के कान्तिवान मुख की तुलना चन्द्र से की जाती है' यह बड़ी भारी भूल है। क्योंकि चन्द्र भी सम्पूर्ण एवं चिर-सुन्दर नहीं है। चन्द्र कलंकित है एवं केवल रात्रि में ही शोभायमान होता है। सूर्योदय के साथ-साथ वह ढाक-पत्र की तरह फीका पड़ जाता है। किन्तु भगवन्! आपका मुखचन्द्र सदा एक ही प्रकार समुज्ज्वल रहता है, कभी भी आपकी कान्ति म्लान नहीं होती।

सम्पूर्ण -मण्डल - शशांक - कला - कलाप,
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लंघयन्ति।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर - नाथमेकं,
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम्।।१४।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो विपुलमदीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र :— ॐ नमो भगवती गुणवती महामानसी स्वाहा।

टीका :— भो परमेश्वर! तव परमेश्वरस्य गुणास्त्रिभुवनं लंघयन्ति। ये गुणा एकं त्रिजगदीश्वर नाथमिन्द्रधरणेन्द्र चक्रवर्तिस्वामिनं। संश्रिता आश्रिताः। कः पुमान् तान् गुणान् यथेष्टं संचरतो निवारयति निवारयितुं शक्तो भवति। त्रयाणां जगतामीश्वरास्तेषां नाथस्तं। कथंभूता गुणाः। सम्पूर्ण मण्डलं यस्य स एवंविधश्चासौ शशांकश्च सम्पूर्णमण्डलशशांकस्तस्य कलास्तासां कलापः समूहस्तद्वत् शुभ्रा उज्ज्वला इत्यर्थः।।

अन्वयार्थ— तव- तुम्हारे, सम्पूर्णमंडलशशाङ्ककलाकलापशुभ्राः- पूर्ण चन्द्र-मण्डल की कलाओं के समान उज्ज्वल, गुणाः- गुण, त्रिभुवनम्- तीनों लोकों को, लंघयन्ति- उल्लंघन करते हैं, यतः— क्योंकि, ये- जो गुण, एकम्- अद्वितीय, त्रिजगदीश्वरनाथाय- तीनों लोकों के नाथों के नाथ को, संश्रिता- आश्रित हैं, यथेष्टम्- इच्छानुसार, संचरत-- विचरण करते हुए, तान्- उन गुणों को, कः - कौन, निवारयति- रोक सकता है।

भावार्थ— हे त्रिलोकीनाथ! पूर्ण चन्द्र के सम्पूर्ण कलाकलाप तुल्य उज्ज्वल आपके गुण राशि को सम्पूर्ण जगत में अर्थात् तीनों लोकों में यथेष्ट फैलते हुए कोई नहीं रोक सकता। जो त्रिजगत् के स्वामी के आश्रित हैं, उन्हें यत्र-तत्र-सर्वत्र घूमते रहने से भी कोई कदापि नहीं रोक सकता है। अर्थात् आपके उज्ज्वल गुण राशि को तीन जगत के कोने कोने में फैलने में किसी प्रकार की बाधा का सामना नहीं

करना पड़ता। आपके गुण ही इतने स्वच्छ एवं पराक्रमी हैं। आपके गुणों की स्तुति मैं भी करता हूं।

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभि ,
र्नीतं मनागपि मनो न विकार - मार्गम्।
कल्पान्त - काल - मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रि - शिखरं चलितं कदाचित्।।१५।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो दसपुव्वीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र :- ॐ नमो भगवती गुणवती सुसीमा पृथ्वी वज्रशृंखला मानसी महामानसी स्वाहा। ॐ नमो अचिंत्यबल पराक्रमाय सर्वार्थकामरूपाय ह्रां ह्रीं क्रौं श्रीं नमः।

टीका :- भो परमेश्वर! यदि चेत्। त्रिदशांगनाभिर्देवाप्सरोभिः। ते तव भगवतो मनः। मनागपि किंचिदपि। विकारमार्गं न नीतं न प्रापितं। तर्हि अत्र किं चित्रं किमाश्चर्यं? त्रिदशानां देवानामंगनास्तिदशांगनास्ताभिः। कुतः कारणात्? कल्पान्तकालमरुता प्रलयकालवायुना। किं मन्दराद्रिशिखरं मेरुशृंगं। कदा चलितं कंपितं? अपि तु न कंपितमित्यर्थः। कल्पान्तकालस्य मरुत् कल्पान्तकालमरुतेन। मन्दराद्रेशिखरं मन्दराद्रि शिखरं। कथंभूतेन कल्पान्तकालमरुता? चलिता विधूता अचलाः पर्वता येन स तेन।

अन्वयार्थः– यदि- यदि, ते- तुम्हारा, मनः- मन, त्रिदशाङ्गनाभिः- देवाङ्गनाओं के द्वारा, मनाक्- लेशमात्र, अपि- भी, विकारमार्गम्- विकारमार्ग को, न नीतम्- नहीं प्राप्त हुआ, तर्हि- तो, अत्र- इसमें, चित्रम्- आश्चर्य, किम्-

क्या, अस्ति- है, यथा- जैसे, चलिता- चलने- पर्वतों को हिला देने वाली, कल्पातकालमरुता- प्रलयकाल की पवन से, मन्दराद्रिशिखरम- सुमेरु पर्वत का शिखर, चलितं किम्?- हिलाया गया है क्या?।

भावार्थ:- हे प्रभु ! इसमें आश्चर्य ही क्या है कि सुन्दरी से सुन्दरी देवांगनायें भी अपने हाव-भावों द्वारा आपके दृढ़ मन को किंचित मात्र भी विकृत नहीं कर सकीं। प्रलयकाल की वायु जैसे अपने उन्मत्त से उन्मत्त वेग द्वारा भी मेरु पर्वत के शिखर को किंचित भी हिला नहीं सकती, उसी प्रकार आपके मनरूपी शिखर को कोई भी सुर-सुन्दरी किंचित डिगा नहीं सकती- क्योंकि आप अटल हैं। और दृढ़संकल्पी हैं।

निर्धूम - वर्तिरपवर्जित - तैल - पूर:,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाश:।।१६।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो चउदस पुव्वीणं झ्रौं झ्रौं नम: स्वाहा।

मंत्र :- ॐ नम: सुमंगला सुमीमा नामदेवी सर्वसमीहितार्थ वज्रशृंखला कुरु कुरु स्वाहा।

टीका :- भो नाथ! त्वं जगन्मण्डलेऽपूर्व अपर: कश्चन दीप:। असि वर्तसे। कुतो हेतो:? यत् इदं कृत्स्नं जगत्त्रयं युगपत्प्रकटी करोषि उद्योतयसीत्यर्थ कथंभूतस्त्वल् लक्षणो दीप:? धूमश्च वर्तिश्च धूमवर्ती धूमवर्तिभ्यां निष्क्रान्तो निर्धूमवर्ति:।

पुनः कथंभूतः अपवर्जितो निराकृतस्तैलपूरो येन सः। पुनः कथंभूत? जातु कदाचिन्मरुतां गम्यो न मरुतां न दनीध्वस्यसे इत्यर्थः। कथंभूतानां मरुतां? चलिता अचला अद्रयो यैस्तेषां। पुनः कथंभूता जगति त्रिभुवने प्रकाशो यस्य स दीपः स धूमवर्ति पुनर्युक्ततैलपूरः। पुनः कथंभूतः? एकं गृहं प्रगटीकरोति स तु मरुतां वायूनां गम्यः स तु गृहप्रकाशकः।

अन्वयार्थः— नाथ- हे स्वामिन्, त्वम्- तुम, निर्धूमवर्तिः- धूम तथा बाती रहित, अपवर्जिततैलपूरः- तैल से शून्य, चलिताचलानाम्- पर्वतों को चलायमान करने वाले, मरुताम्- पवन के, जातु- कभी भी, न गम्यः- अगम्य, च- तथा, अपरः- अनोखे, दीपः- दीपक, असि- हो, तथा- और, त्वम्- तुम, इदम्- इस, कृत्स्नम्- समस्त, जगत्त्रयम्- त्रिभुवन को, प्रकटीकरोषि- प्रकाशित करते हो।

भावार्थ— हे नाथ ! आप बिना तैल भरे हुए दीपक के समान हैं एवं धुआं हीन प्रकाश के द्वारा तीनों लोक को प्रकाशित करते हैं। पर्वत को हिला देने वाली हवा भी आप की सीमा तक पहुँच नहीं पाती। आप इस प्रकार अनन्य अद्वितीय दीपक हैं, जो समस्त जगत् को प्रकाशित करते हैं। तात्पर्य यह है कि- भौतिक दीप में तैल की आवश्यकता होती है, उसकी शिखा से धुआं भी निकलता है, जो वायुमण्डल को दूषित कर देता है। प्रचण्ड पवन-वेग से उसके बुझ जाने की आशंका भी रहती है।

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहु - गम्य:,
स्पष्टीकरोषि सहसा युग पज्जगन्ति।
नाम्भोधरोदर - निरुद्ध - महा - प्रभाव:,
सूर्यातिशायि - महिमासि मुनीन्द्र ! लोके।।१७।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो अठ्ठंगमहाणिमित्त कुसलाणं झौं झौं नम: स्वाहा।

मंत्र :- ॐ नमो णमिउण अट्ठे मट्ठे क्षुद्रविघट्ठे क्षुद्रपीडां जठरपीडां भंजय भंजय सर्वपीडासर्वरोग निवारणं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ नमो अजितशत्रुपराजयं कुरु कुरु स्वाहा।

टीका:- भो मुनीन्द्र ! मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामिंद्रस्तस्यामन्त्रणे। लोके पृथिव्यां। त्वं सूर्यातिशायिमहिमा कदाचिदस्तं नोपयासि स सूर्य: अस्तमुपयाति। त्वं राहुगम्यो नासि स तु राहुगम्य:। त्वं सहसा वेगेन। युगपत्सहैव। जगन्ति त्रैलोक्यं स्पष्टीकरोषि उद्योतयसि। त्वमम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावो नांभोधरैर्मेघरुदर मध्ये निरुद्धो महाप्रभावो यस्य स:। स तु अम्भोधरोदर निरुद्धमहाप्रभाव:।

अन्वयार्थ– मुनीन्द्र- हे मुनियों के इन्द्र, त्वम्– तुम, कदाचित्– कभी, अस्तम्- अस्तको, न उपयासि- प्राप्त नहीं होते, न राहुगम्य:- राहु से प्राप्य, न- नहीं, असि- हो, अम्भोधरोदरनिरुद्ध- महाप्रभाव:- बादलों के बीच में छिप जाता है, महान् तेज जिसका ऐसे, न- नहीं, असि- हो, च- तथा, जगन्ति- तीनों लोकों को, युगपत्- एक

साथ, सहसा- सहज ही, स्पष्टीकरोसि- प्रकाशित करते हो, इति- इस प्रकार, सूर्यातिशायिमहिमा- सूर्य से अधिक महिमावाले, असि- हो।

भावार्थ-- हे नाथ! आप इतने महिमान्वित हैं कि आप की महिमा रूपी सूर्य न तो कभी अस्त होता है, न कभी राहु के द्वारा ग्रस्त होता है, अपितु एक साथ शीघ्र ही तीनों जगत् को प्रकाशित करता है। आप का प्रभाव कभी भी बादलों के बीच ढकता नहीं है। आप की महिमा, हे मुनीन्द्र! इस जगत् में सूर्य की महिमा से अधिक है। तात्पर्य यह है कि- सांसारिक सूर्य क्रम से अस्त होता है, राहु द्वारा ग्रसित होता है एवं केवल सीमित मध्यलोक को ही प्रकाशित कर सकता है, किन्तु आप समस्त जगत् को प्रकाशित करते हैं। यह सूर्य बादलके मध्य छुप भी जाता है, तब जगत् में अंधकार छा जाता है।

नित्योदयं दलित - मोह - महान्धकारं,
गम्यं न राहु-वदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति,
विद्योतयज्जगदपूर्व- शशांक- बिम्बम्।।१८।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो विउणइड्ढिपत्ताणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।**

मंत्र :- **ॐ नमो भगवते जय विजय मोहय मोहय स्तंभय स्तंभय स्वाहा। ॐ नमो शास्त्रज्ञानबोधनाय परमर्द्धिप्राप्तिजयंकराय ह्रां ह्रीं क्रौं श्रीं नमः। ॐ नमो भगवते शत्रुसैन्यनिवारणाय यं यं यं क्षुरविध्वंसनाय नमः। क्लीं ह्रीं नमः।**

टीका– भो जगदीश्वर! तव भगवतो। मुखाम्बुजं वक्त्रकमलं। अपूर्व- शशांकबिम्बं किंचिन्नवचन्द्रमण्डलं। विभ्राजते शोभते। भ्राजदीप्तावित्यस्य धातो: प्रयोग: कथंभूतं एवं मुखाब्जं? नित्यमजस्रमुदयो यस्य तत्। तत्तु कदाचिदुदयम्। पुनर्दलितं स्फेटितं मोहलक्षणं महान्धकारं येन तत्। पुन: राहुवदनस्य गम्यं। न पुन: वारिदानां मेघानां न गम्यं। पुनरनल्पा प्रबला कांति: रुक् यस्य तत्। पुनर्जगत्त्रैलोक्यं विद्योतयत्। अपूर्वमेव शशांकबिम्बमपूर्वशशांकबिम्बम्।

अन्वयार्थ– नित्योदयम्– सदा उदय रहने वाला, दलितमोह महान्धकारम्– मोहरूपी अंधकार का नाशक, राहुवदनस्य– राहु के मुख के, न गम्यम्– ग्रास के अयोग्य, वारिदानाम्– मेघों के, न गम्यम्– ढकने के अयोग्य, अनल्प कान्ति– अधिक कान्ति वाला, च- तथा, जगत्-संसार को, विद्योतयत्– प्रकाशित करने वाला, तव- तुम्हारा, मुखाब्जम्- मुखकमल, अपूर्वशशांकबिम्बम्- विलक्षण चन्द्र के बिम्बरूप, विभ्राजते- शोभित होता है।

भावार्थ– हे निष्कलंक भगवन्! आप का मुख चन्द्र अनन्य एवं अभूतपूर्व है– क्योंकि यह सतत् उदीयमान रहता है एवं कभी अस्त नहीं होता। इसे राहु भी कभी ग्रसित नहीं कर सकता और मेघों में भी ऐसी शक्ति नहीं है जो इसे अपने गर्भ में छुपा सके। इसका प्रभाव इतना प्रबल है कि यह समस्त जगत के अन्धकार को दूर कर देता है। आपका मुखरूप कमल अति ही रमणीयता से शोभायमान है जिसकी उपमा जगत के किसी भी वस्तु से नहीं हो सकती।

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
युष्मन्मुखेन्दु - दलितेषु तमःसु नाथ।
निष्पन्न-शालि - वन - शालिनि जीव - लोके
कार्यं कियज्जलधरैर्जल - भार -नम्रैः।।१९।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो विज्जाहराणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र :- ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः यक्ष ह्रीं वषट् नमः स्वाहा।

टीका:- भो नाथ! युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु भवन्मुख- चन्द्रस्फोटितेषु। तमस्सु अन्धकारेषु। शर्वरीषु रात्रिषु। शशिना चन्द्रेण किं कार्यं?। वा -अथवा, अह्नि दिवसे। विवस्वता सूर्येण किं कार्यं?। युष्मत्तव मुखमेवेन्दुश्चन्द्रस्तेन दलितानि तेषु। जीवलोके पृथिव्यां। निष्पन्नशालिवन शालिनि सति जलभारनम्रैर्जलधरैर्मेघैः कियत्कार्यं किं प्रयोजनं? निष्पन्नानि च तानि शालीनां वनानि च निष्पन्नशलिवनानि तै. शालते शोभते इति निष्पन्नशालिवनशालि तस्मिन् निष्पन्नशालिवन शालिनी। जलभारेण नम्रा जलभारनम्रास्तैः।

अन्व्यार्थ- नाथ- हे स्वामिन्, तमः सु- अंधकारों के, युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु- आपके मुखचन्द्र से ही नष्ट हो जाने पर, शर्वरीषु- रात में, शशिना- चन्द्रमा से, वा- अथवा, अह्नि- दिन में, विवस्वता- सूर्य से, किम्- क्या लाभ, अस्ति- है? यथा- जैसे, निष्पन्नशालिवन- शालिनि- परिपक्व धान्य के खेतों से सुशोभित, जीवलोके- संसार में, जलभारनम्रैः- जल के बोझ से झुके हुए, मेघैः- मेघों से, कियत्- क्या, कार्यम्- प्रयोजन, अस्ति- है।

भावार्थ-- हे नाथ ! रात्रि में चन्द्रमा की एवं दिन में सूर्य की आवश्यकता ही क्या है-- जब कि आपके मुखचन्द्र की प्रभा से ही समस्त लोक के अन्धकार नष्ट हो जाते हैं। खेतों में धान्य के परिपक्व हो जाने पर जलभार से नम्र बादलों के कार्य ही फिर क्या रह जाते हैं? अर्थात् जैसे खेतों में धान्य के परिपक्व हो जाने पर वृष्टि की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है, उसी प्रकार आपके मुखचन्द्र की कान्ति के समक्ष दिन में सूर्य एवं रात्रि में चन्द्रमा की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरि - हरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काच-शकले किरणाकुलेऽपि।।२०।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो चारणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र :- ॐ श्रां श्रीं श्रूं श्रः शत्रु भयनिवारणाय ठः ठः नमः स्वाहा। ॐ नमो भगवते पुत्रार्थसौख्यं कुरु कुरु स्वाहा। ह्रीं नमः।।

टीका:-- भो देव! यथा त्वयि विषयज्ञानं कैवल्यं कृतावकाशं विभाति शोभते। तथा हरिहरादिषु नायकेषु ब्रह्माविष्णुमहेशेषु। एवं ज्ञानं कृतावकाशं नास्ति। कृतोऽवकाशः स्थानं तत्। हरिहरा आदिर्येषां ते हरिहरादयस्तेषु। यथा तेजो जात्येषु महामणिषु महत्त्वं याति प्राप्नोति। तथा तु पुनः किरणाकुलेऽपि काचशकले एवं तेजो महत्त्वं न याति। महान्तश्च ते मणयश्च महामणयस्तेषु। काचस्य शकलं

काचशकलं तस्मिन्। किरणैराकुलं व्याप्तं तस्मिन्। भो देव! यत्त्वयि विषयज्ञानं विभ्राजते शोभते। तज्ज्ञानं हरिहरादिषु देवेषु नास्ति। यदि चेदेवं ज्ञानं स्यात् सदा संसारे परिभ्रमणं कथं कुर्वन्तीति तात्पर्यार्थः।

अन्वयार्थ– कृतावकाशम्- अनन्त पर्यायात्मक पदार्थों का प्रकाशक, ज्ञानम्- ज्ञान, यथा- जैसा, त्वयि- आप में, विभाति- शोभायमान होता है, तथा– वैसा ज्ञान, हरिहरादिषु– विष्णु और शंकर आदि, नायकेषु– देवों में, न विभाति- शोभायमान नहीं होता, यथा– जिस प्रकार, तेजः- प्रकाश, स्फुरन्मणिषु- स्फुरायमान मणियों में, यथा- जैसे, महत्त्वम्– गौरव को, याति– प्राप्त होता है, एवं तु– वैसा, किरणाकुले– चमकते हुए, अपि– भी, काचशकले– कांच के टुकड़े में, न– नहीं।

भावार्थ– हे भगवन्! अनंत पर्यायात्मक पदार्थों का प्रकाशक ज्ञान जिस प्रकार आप में ही शोभायमान होता है। उस प्रकार विष्णु, शंकर आदि देवों में नहीं होता है। चमकती हुए मणियों में ही तेज की शोभा प्रकाशित होती है, लेकिन कांच के टुकड़ों में किरणों से भी कोई शोभा नहीं होती- अर्थात् प्रकाश नहीं होता। अर्थात् आप विष्णु शंकर आदि देवों से भी श्रेष्ठ हैं। आप में ज्ञान अपनी पूर्णता को प्राप्त होकर सन्निवेशित है।

मन्ये वरं हरि - हरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः।
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि।।२१।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो पण्णसमणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।**

मंत्र :- **ॐ नमः श्रीमणिभद्र जय विजय अपराजिते सर्वसौभाग्यं सर्व सौख्यं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ नमो भगवते शत्रुभय निवारणाय नमः।**

टीका:- नाथ! अहमेवम्मन्ये हरिहरादय एव देवा। वरं दृष्टा समीचीनं विलोकिता:। कुतश्चेत्तेषु हरिहरादिषु दृष्टेसु सत्सु हृदयं ममान्त: करणं। त्वयि भगवति विषये। तोष प्रमोदं। एति प्राप्नोतीत्यर्थ:। भो देव भवता श्रीतीर्थंकरपरमदेवेन। वीक्षितेन किं भवति? एतदेव भवति। येन कारणेनान्य: कश्चिद्देव:। भुवि पृथिव्यां। भवांतरेऽपि परजन्मन्यपि। मनो न हरति अन्त: करणं न विकचीकरोति।

अन्वयार्थ- *नाथ- हे स्वामिन्, मन्ये- मैं मानता हूं, यतं- कि, दृष्टा:-* देखे गये, हरिहरादय:- विष्णु और महादेव आदि देव, एव- ही, वरम्- अच्छे हैं, येषु- जिनके, दृष्टेसु सत्सु- देखे जाने पर, हृदयम्- चित्त, त्वयि- आप में, तोषम्- सन्तोष को, एति- पाता है, किन्तु वीक्षितेन- देखे गये, भवता- आपसे, किम- क्या लाभ, अस्ति- है येन- जिससे, भुवि- पृथ्वी पर, कश्चित्- कोई, अन्य:- दूसरा, देव:- देव, भवान्तरे- जन्म जन्मान्तरों में, अपि- भी, मन:- चित्त को, न हरति- संतोष नहीं कर सकता।

भावार्थ- हे नाथ! मैं मानता हूँ कि पृथ्वी में विष्णु, महादेव आदि देव अच्छे हैं, जिन्हें देखने के अनन्तर चित्त आपके

विषय में सन्तोष प्राप्त होता है। किन्तु क्या कोई प्रयोजन है उन देवों से? जब कि आप को देखने से ही चित्त इस प्रकार सन्तुष्ट होता है कि दूसरे जन्म में भी वह आप के सिवा अन्य किसी देव को देखने की कल्पना तक नहीं करता। इसलिए हे भगवन्! केवल आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं एवं आप के ही दर्शन करने की अभिलाषा हमारा यह चित्त सर्वदा उन्मुख रहता है।

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्र - रश्मिम्,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्।।२२।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो आगासगामिणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र :- **ॐ ह्रीं नमो श्रीवीरेहिं जृंभय जृंभय मोहय मोहय स्तंभय स्तंभय अवधारणं कुरु कुरु स्वाहा।**

टीका :- भो परमेश्वर भो देवाधिदेव! स्त्रीणां शतानि नाना स्त्रियः। शतशोऽनेकशः पुत्राञ्जनयन्ति। पुनरन्या काचन जननी त्वदुपमं भवता तुल्यं सुतं। न प्रसूता न जनिता। त्वयोपमीयतेऽसौ तदुपमस्तं। सर्वा एव दिशः। भानि नक्षत्राणि। दधति धरन्ति। प्राच्येव पूर्वदिगेव। स्फुरदंशुजालं सहस्ररश्मिं सूर्यं। जनयति उत्पादयति। स्फुरन्ति दीप्यमानानि अंशुजालानि यस्य सः स्फुरदंशुजालस्तं। परं त्वदुपमां नैतीति तात्पर्यम्।।

अन्वयार्थ—स्त्रीणां शतानि- सैकड़ों स्त्रियां, शतशः- सैकड़ों,

पुत्रान्– पुत्रों को, जनयन्ति– पैदा करती हैं, किन्तु, त्वदुपमम्– आप जैसे, सुतम्– पुत्र को, अन्या– दूसरी, जननी– माता, न प्रसूता– उत्पन्न नहीं कर सकी, यथा– जैसे, भानि– नक्षत्रों को, सर्वा– समस्त, दिश:– दिशाएं, दधति-धारण करती हैं, परन्तु, स्फुरदंशुजालम- देदीप्यमान किरणसमूह सहित, सहस्ररश्मिम्– सूर्य को, प्राची- पूर्व, दिक्– दिशा, एव- ही, जनयति- प्रगट करती है।

भावार्थ– सैंकड़ों स्त्रियां शत्-शत् संतानें पैदा करती हैं, किंतु सिवा आपकी माता के और कोई अन्य स्त्री आप जैसा पुत्र उत्पन्न कर न सकीं। नक्षत्रगण तो सब दिशाओं में परिव्याप्त हैं, किन्तु जाज्वल्यमान किरणों का समूह लिए हुए सूर्य तो एकमात्र पूर्व दिशा से ही प्रकट होता है। अर्थात् साधारण स्त्रियों से एकाधिक साधारण पुत्र उत्पन्न होने पर भी कोई महानता की बात नहीं, किन्तु गौरवान्वित माता से होनहार एकमात्र पुत्र भी हों तो उसकी ख्याति दिगादिगन्त में फैलती रहती है। असंख्य तारकागण के शोभित होने पर भी अन्यान्य दिशाओं की महानता पूर्व दिशा से अत्यधिक कम है, क्योंकि एकमात्र पूर्व दिशा ही प्रकाशमान सूर्य को प्रगट करने वाली है।

त्वामामनन्ति मुनय: परमं पुमांस,
मादित्य - वर्णममलं तमस: पुरस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्य: शिव: शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्था:।।२३।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो आसीविसाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र :- ॐ नमो भगवती जयावती मम समीहितार्थं मोक्षसौख्यं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं सर्व सिद्धाय श्रीं नमः।

टीका:- भो भगवन् भो देव! मुनयः योगीश्वराः। त्वां परमं पुमांसं सर्वोत्कृष्टपुरुषं। आमनन्ति अंगीकुर्वन्ति इत्यर्थः। भो नाथ! मनुयस्त्वाम् तमसोऽन्धकारस्य पुरस्तात्। अमलं भासमानमादित्यवर्णं सूर्यमामन्ति। भो मुनीन्द्र मुनयत्वामेव भगवन्तं सम्यगुपलभ्य परिप्राप्य मृत्युं जयन्ति शिवपदस्य शिवस्थानस्यान्यः पन्था मार्गः शिवः कल्याणकारी न स्यात्।।

अन्वयार्थ– मुनीन्द्र– हे मुनीनाथ, मुनयः– ऋषिगण, त्वाम्– तुम्हें आदित्यवर्णम्– सूर्य के समाज तेजस्वी, अमलम्– निर्मल, च- तथा, तमसः पुरस्तात्– मोहरूप अंधकार से रहित, परमं पुमांसम्- परम पुरुष, आमनन्ति– मानते हैं, त्वाम्– तुम्हें, एव– ही, सम्यक्– भली प्रकार, उपलभ्य– प्राप्त कर, मृत्युम्– मृत्यु को, जयन्ति- जीतते हैं तथा, शिवपदस्य– मोक्ष पद का, अन्यः– आपसे भिन्न कोई दूसरा, शिव– हितकर, पन्थाः– रास्ता, न– नहीं, अस्ति– है।

भावार्थ– हे मुनीन्द्र ! मुनिजन आप को सूर्य की तरह निर्मल, अन्धकार से दूर रहने वाले श्रेष्ठ पुरुष मानते हैं। आपको विशेष रूप से प्राप्त होकर वे मृत्यु को भी जीत लेते हैं। स्वर्ग प्राप्ति के लिए आप से दूसरा उत्तम मार्ग और कोई

नहीं है। हे भगवन्! आप सूर्य की तरह निर्मल हैं एवं प्रकाशमान भी हैं, जिससे जगत् को अन्धकार रहित करने से आप समर्थ हैं। जिसने आप की अर्थात् आप के गुणों को सम्यक्-रूप से प्राप्त कर लिया है, वह निश्चय से ही मोक्ष का अधिकारी होगा।

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वर मनन्तमनंगकेतुम्।
योगीश्वरं विदित -योगमनेकमेकं,
ज्ञान - स्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः।।२४।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो दिट्ठिविसाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।**

मंत्र :- **स्थावरजंगमं वायकृतिमं सकलविषं यद्भक्तेः अप्रणमिताय ये दृष्टि विषयान् मुनीन् ते वड्ढमाणसामी सर्वहितं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।**

टीका— भो नाथ! सन्तः सत्पुरुषाः। त्वां एवंविधं वदन्ति कथयन्तीत्यर्थः। कथंभूतं त्वां? विभुं ज्ञानस्वरूपेण व्यापकमित्यर्थः। पुनरचिन्त्य अनेकातिशयैः कृत्वा चिन्तयितु न शक्यमित्यर्थः। पुनरसंख्यं असंख्यातगुणैः कृत्वा संख्यारहितमित्यर्थः। पुनराद्यं एतदेवाव सर्पिणीकालसम्बन्धिचतुर्विंशति तीर्थंकराणां मध्ये प्रथममित्यर्थः। पुनः कथंभूतं? ब्रह्माणं परब्रह्म स्वरूपाढयमित्यर्थः। पुनः कथं? ईश्वरमष्टप्रातिहार्या दिसमवसरणर्द्धिविराजमानत्वात्। पुनः कथं? अनन्तमनन्तदर्शनज्ञानसुख वीर्याणामानन्त्यात्। पुनः

कथं? अनंगकेतुं काम प्रज्वलने केतुर्धूमकेतु: कन्दर्पस्य दहनत्वात्। पुन: कथं? योगीश्वरं योगिनां कैवल्यादिमुनीनामीश्वरस्तं तीर्थंकरत्वात्। पुन: कथं विदितयोगं विदिता ज्ञाता योगा ध्यानानि रत्नत्रयस्वरूप व्यापारा येन स तं। पुन: कथं? अनेकं अनेकान्ततीर्थंकर नामत्वात्। पुन: कथं? एकं त्रैलोक्यमध्ये एकोऽद्वितीय: तं सर्वोत्तमज्ञानस्वरूप मयत्वात् ज्ञानस्वरूपं त्वां भणन्ति। पुन: कथं? अमलं मलरहितमष्टकर्मविनाशकत्वात्।।

अन्वयार्थ:– सन्त:– विद्वज्जन, त्वाम्- तुम्हें, अव्ययम्- अक्षय, विभुम्– विभु, अचिन्त्यम्- अचिन्त्य, असंख्यम्– असंख्य, आद्यम्– आदि पुरुष, ब्रह्माणम्– ब्रह्मा, ईश्वर, अनन्तम्- अनंत, अनङ्गकेतुम्– अनङ्गकेतु, योगीश्वरम्- योगीश्वर, विदितयोगम्– विदितयोग, अनेकम्- अनेक, एकम्-एक, ज्ञानस्वरुपम्– ज्ञान स्वरूप, च– और, अमलम्–अमल, प्रवदन्ति– कहते हैं।

भावार्थ– हे भगवन्! सज्जन पुरुष आप को अविनाशी, चिन्तवन शक्ति के परे, संख्यातीत, अन्तहीन, कामविजयी, योगिराज, योग के ज्ञाता, बहु-रूपी, एकात्म, ज्ञानवान, निर्मल आदि सद्गुणों से विभूषित कहते हैं,। संसार में सब वस्तु नाशवान हैं, किंतु आप ही एक अविनाशी हैं। समस्त कल्पना-शक्ति से भी आप दूर हैं। आप संख्यातीत हैं। आपने काम-रूप भीषण शत्रु को जीता है, समस्त ज्ञान आप में प्रतिमूर्त है। आप अनेक रूप हैं, इसलिए आप को 'अनेक' कहते हैं। आप सामान्य स्वरूप की अपेक्षा एक हैं, इसलिए 'एक' कहते हैं। आप को जितने

भी विशेषणों से विभूषित किया जावे वह कम हैं।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित - बुद्धि - बोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवन - त्रय - शंकरत्वात्।
धातासि धीर शिव - मार्ग-विधेर्विधानाद्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि।।२५।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो उग्गतवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।**

मंत्र :- **ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा। ॐ नमो भगवते जय विजय अपराजिते सर्वसौभाग्यं सर्वसौख्यं कुरु कुरु स्वाहा।**

टीका:- भो भगवन्! त्वमेव बुद्धोऽसि बुद्धदेवोऽसीत्यर्थः। कुतः? विबुधार्चितबुद्धिबोधात्। विबुधैर्देवरर्चितः पूजितः। बुद्धे र्बोधः प्रतिबोधो यस्य स तस्मात्। भो नाथ! त्वं शंकरोऽसि। त्वमेव शंकरदेवोऽसीत्यर्थः। कस्मात् भुवनत्रयाणां शं सुखं करोतीति भुवनत्रय शंकरस्तस्य भावस्तस्मात्। हे धीर! त्वमेव धाताऽसि। कस्मात् शिवस्य मोक्षस्य मार्गः पंथास्तस्य विधिः आचारस्तस्य विधानात् करणत्वात्। भो भगवन्! व्यक्तम् स्पष्टम् यथा स्यात्तथा त्वमेव पुरुषोत्तमोऽसि त्रिषष्ठिपुरुषाणां मध्ये उत्तमः पुरुषोत्तमस्तीर्थंकरः साक्षान्मोक्षांगत्वात्।

अन्वयार्थः- धीर- हे गम्भीर, विबुधार्चितबुद्धिबोधात्- देवों के द्वारा पूजित ज्ञान वाले होने से, त्वम्- तुम, एव- ही, बुद्धः- बुद्ध, असि- हो, भुवनत्रयशङ्करत्वात्- लोकत्रय में सुख या शान्ति के कर्ता होने से, त्वम् एव- तुम ही, शङ्कर-

शंकर, असि– हो, शिवमार्गविधेः– मोक्षमार्ग की विधि के, विधानात्– विधान करने से, त्वम् एव– तुम ही, धाता– विधाता, असि– हो, च– तथा, भगवन्– हे प्रभो, त्वम् एव– तुम ही, व्यक्तम्– स्पष्ट रूप से, पुरुषोत्तमः– पुरुषोत्तम, असि– हो।

भावार्थ– हे पुरुषोत्तम्! आप ही बुद्ध हैं, देवों द्वारा पूजित हैं तीन लोक के शुभ करने वाले होने के कारण आप ही शंकर हैं, मोक्षमार्ग के निर्देशक होने से आप ही धीर एवं जगत् के पालक हैं। स्पष्ट रूप से आप ही पुरुषोत्तम अर्थात् नारायण हैं।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्ति - हराय नाथ !
तुभ्यं नमः क्षिति - तलामल - भूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय।
तुभ्यं नमो जिन भवोदधि - शोषणाय।।२६।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो दित्ततवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र : ॐ नमो ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रूं ह्रूं परजनशान्तिव्यवहारे जयं कुरु कुरु स्वाहा।

टीका:– भो नाथ! तुभ्यं भगवते नमः। कथंभूताय तुभ्यं। त्रिभुवनस्यार्तिं दुःखं हरतीति त्रिभुवनार्तिहरस्तस्मै। भो देव! तुभ्यं नमः। कथं भूताय तुभ्यं? क्षितितलेऽमलभूषणं क्षितितलामलभूषणं तस्मै। भो जिन! तुभ्यं नमः। कथंभूताय तुभ्यं? त्रिजगतश्चाधोमध्यो र्ध्वलोकस्य। परमश्चासौ ईश्वरः परमेश्वरस्तस्मै। भो जिन! तुभ्यं नमः। कथंभूताय तुभ्यं? भवलक्षणो य उदधिः समुद्रस्तं

शोषयतीति भवोदधिशोषणस्तस्मै ।

अन्वयार्थः— जिन! नाथ! हे जिनेश, त्रिभुवनार्तिहराय- तीनों लोकों की पीड़ा हरने वाले, तुभ्यम्- आपके लिए, नमः— नमस्कार, अस्तु— हो, क्षितितामलभूषणाय— भूतल के अनुपम अलंकार रूप, तुभ्यम्— आपके लिए, नमोस्तु— नमस्कार हो, त्रिजगतः— तीनों लोकों के, परमेश्वराय— परमेश्वर रूप, तुभ्यम् नमः अस्तु— आप के लिए नमस्कार हो, च— तथा, भवोदधिशोषणाय— संसार-समुद्र के सुखाने वाले, तुभ्यम् नमः अस्तु— आप के लिए नमस्कार हो ।

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ।
दोषैरुपात्त विविधाश्रय-जात-गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ।।२७।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो तत्तवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ।**

मंत्र : **ॐ नमो चक्रेश्वरी देवी चक्रधारिणी चक्रेण अनुकूलं साधय- साधय शत्रून् उन्मूलय- उन्मूलय स्वाहा । ॐ नमो भगवते सर्वार्थ सिद्धाय सुखाय ह्रीं श्रीं नमः ।**

टीका:— मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामीशः । तस्यामन्त्रणे । भो मुनीश! अत्र जगन्मण्डले । को विस्मयः किमाश्चर्यम् । यदि चेत् नामेति सत्ये । अशेषैः समग्रैर्गुणैः । निरवकाशतया अनवकाशतया अवकाशरहितत्वेन । त्वं भगवान् संश्रितः । अवकाशान्निष्क्रान्तो निवकाशस्तस्य भावस्तत्ता तया । भो नाथ! दोषैरष्टादशदोषैः । स्वप्नमध्येऽपि स्वप्नान्तरेऽपि ।

त्वं कदाचिदपि नेक्षितोऽसि न दृष्टोऽसि। अत्रापि को विस्मयः? कथंभूतैर्दोषैः उपात्ताः आदृताश्च ते विविधा अनेकाश्रयाश्च तैः कृत्वा जात उत्पन्नो गर्वोऽभिमानो येषांते तैः।

अन्वयार्थः— मुनीश— हे मुनीश्वर, यदि नाम- यदि, अशेषै— समस्त, गुणैः— गुणों के द्वारा, त्वम्- तुम, निरवकाशतया- सघनता से, संश्रितः— आश्रित किये गये, च— तथा, उपात्त विविधाश्रयजातगर्वैः- प्राप्त अनेक देवादिकों के आश्रय से गर्वित, दोषैः— दोषों के द्वारा, स्वप्नान्तरे— स्वप्न में, अपि— भी, कदाचित्— कभी, अपि— भी, न ईक्षितः असि— नहीं देखे गये हो, अत्र— इस विषय में, कः— क्या, विस्मय-आश्चर्य, विद्यते— है।

भावार्थः— हे मुनीराज! इसमें आश्चर्य ही क्या कि सारे अच्छे गुण आप में ही आश्रित हो रहे हों, क्योंकि और कहीं इनको जगह नहीं मिलती। गर्व द्वारा उत्पन्न दोषों को बहुत-सी अन्य जगह यानी आश्रय मिल जाने से वे अन्यत्र चले गये, कदाचित् वे स्वप्न में भी आप में नहीं देखे गये। ऐसा देखा जाता है कि जिसे अन्यत्र कहीं स्थान नहीं मिलता वह किसी एक विशेष के ही आश्रय में रहता है, अन्यत्र नहीं जाता। और जिसे हर जगह आश्रय मिलता रहता है, वह हर समय हर कहीं जाने की इच्छा प्रकट करता है, इसलिए किसी भी स्थान में उसकी मर्यादा नहीं होती है।

उच्चैरशोक - तरु - संश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।

स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त - तमो - वितानं,
बिम्बं रवेरिव पयोधर- पार्श्ववर्ति।।२८।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो महातवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र : ॐ नमो भगवते जय विजय जृंभय जृंभय मोहय मोहय सर्वसिद्धि संपत्तिसौख्यं कुरु कुरु स्वाहा।

टीका:- भो नाथ ! भगवतस्तव परमेश्वरस्य। अमलं रूपं जगन्मोहन सौन्दर्यं। उच्चैरशोकतरुसंश्रितं प्रथमप्रातिहार्याशोकवृक्षाश्रितं। स तु नितान्तं निरन्तरमाभाति राजतीत्यर्थः। उच्चैश्चासावशोक तरुश्चोच्चैरशोकतरुस्तं संश्रितं रूपं। कथंभूतं रूपं? उत इति निःसरन्तो मयूखाः किरणा यस्मात्तत्। कस्य किमिव रवेर्बिम्बमिव। यथा रवेः सूर्यस्य बिम्बं पयोधरपार्श्ववर्ति। कथं ? रवेर्बिम्बं स्पष्टं प्रकटं यथा स्यात्तथा। उल्लसन्तः विस्फुरन्तः किरणा यस्य तत्। पुनः कथं? अस्तं निराकृतं तमसां पापानां वितानं समूहोयेन तत्।

अन्वयार्थः- उच्चैरशोकतरुसंश्रितम- ऊँचे अशोक वृक्ष के नीचे स्थित, उन्मयूखम्- ऊपर की ओर फैल रही हैं, किरणें जिसकी, ऐसा च- तथा, नितान्तम्- अत्यन्त, अमलम्- निर्मल, भवतः- आपका, रूपम्- रूप, रवेः- सूर्य के, स्पष्टोल्लसत्किरणम्- व्यक्त रूप ऊपर को फैली हैं किरणें जिसकी, ऐसे, अस्ततमोवितानम्- अन्धकार समूह के नाशक, च- और, पयोधरपार्श्ववर्ति- मेघ के पास रहने वाले, बिम्बम् इव- बिम्ब की तरह, आभाति- शोभित होता है।

भावार्थ:— हे नाथ ! सघन अशोक वृक्ष के नीचे बैठे हुए आप के रूप की छटा पवित्र सूर्य किरण की भांति ऊपर की ओर जाती हुई बड़ी ही रमणीय मालूम होती है। ऐसा लगता है जैसे कि काले बादल के निकट ही किरणावलि को बिखेरता हुआ सूर्य प्रकाशित हो रहा है। तात्पर्य यह है कि काले बादल के संस्पर्श में आकर लोहित सूर्य जैसा सुन्दर और प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार घने श्यामल अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ भगवान् की स्वर्णकान्ति की छटा उर्ध्वमुखी हो अति ही रमणीय प्रतीत हो रही है।

सिंहासने मणि-मयूख-शिखा-विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलता - वितानं,
तुंगोदयाद्रिशिरसीव सहस्र - रश्मेः।।२९।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो घोरतवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र : ॐ णमो णमिऊणपासं बिसहरफुल्लिंगमंतो विसहरनामकारमंतो सव्वसिद्धिमीहे इह समरंताणमण्णा जागईकप्प दुमच्चं सव्वसिद्धिं ॐ नम स्वाहा।

टीका:— भो नाथ ! मणिमयूखशिखाविचित्रे नानारत्नकिरणप्रभा भासुरे। सिंहासनेऽनर्घ्यविष्टरे। कनकावदातं प्रतप्तकांचनसन्निभं। तव परमेश्वरस्य। सप्तधातु विवर्जितं परमौदारिकं वपुर्देहो विभ्राजते अतिशयेन विराजित इत्यर्थः। मणीनां मयूखाः किरणस्तेषां शिखाः कांतिकलापाः ताभिर्विचित्रं तस्मिन्। किमिवसहस्ररश्मेः सूर्यस्य बिम्बमण्डलं। तुंगोदयाद्रि शिरसि उच्चैस्तरोदयशिखरे।

विराजते शोभते। तुंगश्चासावुदयाद्रिश्च तुंगोदयाद्रिस्तस्य शिखरस्तस्मिन्। कथंभूतं बिम्बम्? वियद्विलसदंशुलतावितानं वियति गगने विलसच्छोभमानमंशुलतानां वितानं यस्मिन्तत्।

अन्वयार्थः— मणिमयूखशिखाविचित्रे— रत्नों की किरण पंक्ति से चित्र-विचित्र, सिंहासने— सिंहासन पर, तव— आप का, कनकावदातम्— सुवर्ण के समान उज्ज्वल, वपुः— शरीर तुङ्गोदयाद्रिशिरसि— ऊँचे उदयाचल के शिखर पर, सहस्ररश्मेः— सूर्य के, वियद्विलसदंशुलतावितानम्— आकाश में शोभित है, किरण-रूपी लताओं का चन्दोबा जिसका ऐसे, बिम्बम् इव— मण्डल की तरह, विभ्राजते— शोभायमान होता है।

भावार्थ— हे नाथ! रत्नों की चकाचौंध करने वाली किरणों से शोभित आप का उज्ज्वल सोने की कांति की तरह चमकने वाला शरीर ऐसा शोभित हो रहा है कि जैसे ऊँचे उदयाचल पर्वत के शिखर पर सूर्य अपनी किरणमालाओं से सुशोभित हो प्रतिभासित हो रहा है।

कुन्दावदात - चल -चामर - चारु - शोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौत - कान्तम्।
उद्यच्छशांक - शुचि - निर्झर - वारि - धार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम्।।३०।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो घोरतवाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र : ॐ नमो अट्ठे मट्ठे क्षुद्रविघट्टे क्षुद्रान् स्तंभय स्तंभय रक्षां कुरु कुरु स्वाहा।

टीका:- भो भगवन् ! तव वपुः कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं सत् विभ्राजते चकास्तीत्यर्थः। कुन्दवदवदातानि उज्ज्वलानि चलानि वीज्यमानानि च तानि चामराणि च कुन्दावदातचलचामराणि तैः चार्वी मनोज्ञा शोभा यस्य तत्। कथंभूतं वपुः? कलधौतवत्कान्तं मनोज्ञं कलधौतकान्तं। किमिव सुरगिरेः शातकौंभं। उच्चैस्तटमिव यथा सुरगिरेर्मेरोः शातकौंभं। सुवर्णमयं उच्चैस्तटं। विभ्राजते। शातकुम्भस्येदं शातकौंभं। कथंभूतमुच्चैस्तटं? उद्यतश्चासौ शशांकश्चोद्यच्छशांकस्तद्वच्छुचीन्युज्ज्वलानि च निर्झराणां वारीणि च उद्यच्छशांकशुचिनिर्झरवारीणि तेषां धारा यस्मिन् तत्।

अन्वयार्थः- तव- आप का, कुन्दावदातचलचामरचारुशोभम्- कुन्द के फूल के समान उज्ज्वल और ढुरते हुए चँवरों से सुन्दर है, शोभा जिसकी ऐसी, च- तथा, कलधौत कान्तम्- सुवर्ण के समान सुन्दर, वपुः- शरीर, सुरगिरेः- सुमेरु पर्वत के, उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झर वारिधारम्- उदय रूप चन्द्रमा के समान निर्मल झरने के जल की धारा बह रही है जिसमें ऐसे, शातकौम्भम्- सुवर्णनिर्मित, उच्चैस्तटम् इव- ऊँचे तटों के समान, विभ्राजते- शोभायमान होता है।

भावार्थ- हे भगवन्! आप का शरीर जब कुन्द फूल के समान श्वेत सुन्दर चमरों के ढोरने से सुशोभित होता है एवं उसमें से स्वर्ण जैसी कान्ति निरखती है, तो ऐसा मालूम होता है कि यह मेरु पर्वत के ऊँचे तटों के बीच में से बहती हुई चन्द्रमा के सदृश शुभ्र झरने की जलधारा है।

छत्र-त्रयं तव विभाति शशांक - कान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगित -भानु-कर-प्रतापम्।
मुक्ता-फल-प्रकर-जाल-विवृद्ध-शोभं,
प्रख्यापयत्रिजगतः परमेश्वरत्वम्।।३१।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो घोरगुणपरक्कमाणं झौं झौं नमः स्वाहा।

मंत्र : ॐ उवसग्गहरं पासं वंदामि कम्मघणमुक्कं विसहर विसणिर्णासिणं मंगलकल्याणआवास ॐ ह्रीं नमः स्वाहा।

टीका:- भो भगवन्! तव भगवतः। छत्रत्रयं शशांकवदुज्ज्वलं शशांककांत। पुन. कथं? स्थगित उत्तंभितो भानुकराणां सूर्यकिरणानां प्रतापो येन तत्। पुनः कथं? मुक्ताफलानां प्रकरा. गुच्छा मुक्ताफल प्रकरास्तेषां जालानि पुञ्जास्तैर्विशेषेण वृद्धा वर्धमाना शोभा यस्य तत्। पुनः कथं? त्रिजगतः परमेश्वरस्य परमैश्वर्यं प्रख्यापयत् प्रवदत्। प्रकर्षेण ख्यापयति कथयतीति प्रख्यापयत्। परमेश्वरस्य भावः परमेश्वरत्वं।

अन्वयार्थ:- तव- आप का, शशाङ्ककान्तम्- चन्द्रमा के समान रमणीय, स्थगितभानुकरप्रतापम्- सूर्य की किरणों के सन्ताप को रोकने वाला, मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्- मोतियों के समूह के जड़ाव से बढ़ी हुई है शोभा जिसकी ऐसे, च- तथा, उच्चैः स्थितम्- आपके शिर पर सुशोभित, छत्रत्रयम्- तीन छत्र, भवति- आप में, त्रिजगत.- तीनों जगत् के, परमेश्वरत्वम्- स्वामित्व

को, प्रख्यापयत्– सूचित करता हुआ, विभाति– शोभायमान होता है।

गम्भीर - तार - रव - पूरित - दिग्विभाग-
त्रैलोक्य - लोक - शुभ - संगम - भूति - दक्षः।
सद्धर्मराज - जय - घोषण - घोषकः सन्
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी।।३२।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो घोरगुण बंभचारिणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र : ॐ नमो ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः सर्वदोषनिवारणं कुरु कुरु स्वाहा। सर्व सिद्धिं वृद्धिं वांछां कुरु कुरु स्वाहा।

टीका :– खे आकाशे। ते तव तीर्थंकरस्य। दुन्दुभिः पटहः। ध्वनति शब्दायते। कथंभूतं दुन्दुभिः? गम्भीरोऽगाध- स्तार उच्चैस्तरो यो रवः शब्दस्तेन पूरिता दिग्विभागा येन सः। पुनः कथंभूतं? त्रैलोक्यस्य लोकाः इन्द्रधरणेन्द्र चक्रवर्त्यादयस्तेषां। शुभस्य संगमः प्राप्तिस्तस्य भूतिर्भवनं तत्र दक्षो निपुण इत्यर्थः। पुनः कथं? सत्समीचीनो यो धर्मराजस्तस्य जयघोषणं जयपटहं घोषयति कथयतीति सद्धर्मराज जयघोषणघोषकः। अथवा सन् विद्यमानो धर्मराजो यमस्तस्य जयस्तस्य घोषणं घोषयतीति पुनः कथं? सन् उत्तमः। पुनः कथंभूतं? यशसः प्रवादी। प्रकर्षेण वदत्येवंशीलः प्रवादी।

अन्वयार्थः– ते– आप का, गम्भीरताररवपूरितदिग्विभागः– गम्भीर और उच्च शब्द- आवाज से दशों दिशाओं को पूरित करने वाला, त्रैलोक्यलोकशुभसङ्गमभूतिदक्षः– तीनों

लोकों के प्राणियों को शुभ समागम की विभूति देने में दक्ष, च– तथा, सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः– जैन धर्म के समीचीन स्वामी तीर्थंकरदेव का जयघोष करने वाला, दुन्दुभि– दुन्दुभि बाजा, ते– आपके, यशसः– यश का, प्रवादी सन् – कथन करता हुआ, खे– आकाश में, ध्वनति– शब्द करता है।

भावार्थ– हे नाथ ! तीन लोक के जीवों को सुख-सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ, सच्चे जैन-धर्म की ख्याति की घोषणा करने वाला, घोर एवं उच्च शब्द में दशों दिशाओं को गुंजित करने वाला, दुन्दुभि बाजा आप के ही यश की ख्याति आकाश में प्रतिध्वनित करता है। मानों कि, आकाश में जो दुन्दुभि नाद होता है, वह आप ही की कीर्ति को तीन लोक में एवं दशों दिशाओं में प्रसारित करता है।

मन्दार - सुन्दर - नमेरु - सुपारिजात-
सन्तानकादि - कुसुमोत्कर - वृष्टि - रुद्धा।
गन्धोद-बिन्दु - शुभ - मन्द - मरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा।।३३।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो आमोसहिपत्ताणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।**

मंत्र : **ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं ध्यानसिद्धिपरमयोगीश्वराय नमो नमः स्वाहा।**

टीका:– भो भगवन् ! ते तव। उद्धा प्रत्यग्रा। मन्दारसुन्दरनमेरु सुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः। दिवो

गगनात्पतति। मंदाराणि च सुन्दरनमेरुणि च सुपारिजातानि च सन्तानकानि च मन्दारसुन्दरनमेरु सुपारिजातसन्तानकानि तान्येवादिर्येषां तान्येवं विधानि च तानि कुसुमानि च तेषामुत्करः समूहस्तस्य वृष्टिर्वर्षणं मन्दार सुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादि कुसुमोत्करवृष्टिः। गन्धमिश्रिता य उदबिन्दवो जलकणाः शुभाः शीतला मन्दाः सुरभयो ये मरुतो वायवस्तेषां प्रपातो यस्यां सा। पुनः कथंभूता? दिवि भवा दिव्या वा इवार्थे। उत्प्रेक्षते तव वचसां ततिरिव वचनश्रेणिरिवि।

अन्वयार्थः— गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता— सुगन्धित जल की बूंदों और मन्द-मन्द वायु के साथ गिरने वाली, उद्धा— ऊर्ध्वमुखी, च— और, दिव्या — देवकृत, मन्दार सुन्दर नमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः— मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात और सन्तानक आदि कल्पवृक्षों के फूलों की वर्षा, ते— आपकी, वचसाम् — वचनों की ततिः वा — पंक्ति की तरह, दिव — आकाश से, पतति — गिरती है।

भावार्थः— आकाश से मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात, सन्तानक आदि पुष्पों की जो वर्षा होती है एवं जिसके संस्पर्श से जल-बिंदु एवं मन्द हवा अति सुगन्धित हो जाती है, तो ऐसा लगता है कि यह आप के मुख- निसृत सुमधुर वचन-पंक्ति ही है।

शुम्भत्प्रभा -वलय -भूरि -विभा विभोस्ते,
लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती।

प्रोद्यद्दिवाकर - निरन्तर - भूरि - संख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोम - सौम्याम् ।।३४।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो खेल्लोसहिपत्ताणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।**

मंत्र : **ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं ह्रौं पद्मावत्यै देव्यै नमो नमः। स्वाहा। ॐ प च य म ह्रां ह्रीं नमः।**

टीका:— भो स्वामिन्! ते तव। विभो परब्रह्मणः। शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा। भामण्डलप्रभा लोकत्त्रय द्युतिमतां सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्र प्रकीर्णकतारकादीनां द्युतिं दीप्तिमाक्षिपन्ती तिरस्कुर्वन्ती। तसीदीप्त्या कृत्वा। निशामपि रात्रिमपि जयत्यपि। शुम्भच्छोभमानं यत्प्रभावलयं भामण्डलं तस्य भूरिश्चासौ विभा च शुम्भत्प्रभावलयभूरि विभा। लोकत्रये द्युतिमन्तस्तेषाम्। कथंभूता भामण्डलप्रभा? प्रोद्यन्तः उदयन्तो दिवाकराः सूर्यास्तेषां निरान्तरा आन्तर्यरहिता भूरयः प्रचुराः संख्या गणना यस्याः सा। पुनः कथंभूता? सोमश्चंद्रस्तद्वत्सौम्या मनोज्ञा।

अन्वयार्थ:— विभो— हे प्रभो, ते— तुम्हारी, प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरि संख्या— उदित, सघन और अनेक सूर्यों के तुल्य, शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा— शोभायमान भामण्डल की विशेष प्रभा, लोकत्रयद्युतिमताम्— तीनों लोकों के कान्तिमान पदार्थों की, द्युतिम्— कान्ति को, आक्षिपन्ती— तिरस्कृत करती हुई, च— तथा, सोमसौम्या— चन्द्रसदृश सुन्दर होती हुई, अपि— भी, दीप्त्या— कान्ति के द्वारा, निशाम्— रात्रि को, अपि— भी, जयति— जीतती है।

भावार्थ:- हे प्रभों, तीनों लोकों में उपलब्ध वस्तुओं से भी अधिक कांति आप में है। आपका भामण्डल उगते हुए प्रखर सूर्य से भी अधिक प्रभावशाली किरणमालाओं को विकीर्ण कर रहा है ! फिर भी यह तीन लोक के प्राणियों के सन्ताप का कारण नहीं है। क्योंकि शीतलता में यह स्निग्ध सुन्दर चन्द्रमा से शोभित रात्रि को भी जीतता है।

स्वर्गापवर्ग - गम - मार्ग - विमार्गणेष्ट:,
सद्धर्म - तत्त्व - कथनैक - पटुस्त्रिलोक्या: ।
दिव्य - ध्वनिर्भवति ते विशदार्थ - सर्व-
भाषा - स्वभाव - परिणाम - गुणै : प्रयोज्य: ।।३५ ।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो जल्लोसहिपत्ताणं झ्रौं झ्रौं नम: स्वाहा।

मंत्र : ॐ नमो जय विजय अपराजिते महालक्ष्मी अमृतवर्षिणी अमृत स्राविणी अमृतं भव भव वषट् सुधायै स्वाहा। ॐ नमो गजगमने सर्व कल्याणमूर्ते रक्ष रक्ष नम: स्वाहा।

टीका:- भो विभो ! ते तव भगवतो दिव्यध्वनिर्भवति। कथंभूतो दिव्यध्वनि? स्वर्ग: सुरलोकोऽपवर्गो मोक्षस्तयोर्गममार्ग: गमनपन्थास्तस्य विमार्गणं प्रापणं तत्रेष्ट: समर्थ: पुन: कथंभूत:? त्रिलोक्या: सत्समीचीनं यद्धर्मतत्त्वं तस्य कथनं तत्रैकपटुरद्वितीयो वाचाल:। पुन: कथं? विशदाश्च ते अर्थाश्च विशदार्थास्तै:। सर्वेषां प्राणिनां भाषाणां स्वभावपरिणामगुणं प्रकर्षेण युक्तीति विशदार्थ सर्वभाषास्वभावपरिणामगुण प्रयोज्य:। सर्वे प्राणिन: स्वस्वभाषया निसृतं तव दिव्यध्वनिं कलयन्तीति तात्पर्यार्थ:।

अन्वयार्थ:– ते– आपकी, दिव्यध्वनि:– दिव्यध्वनि, स्वर्गापवर्गममार्गविमार्गणेष्ट:– स्वर्ग और मोक्ष जाने के मार्ग को खोजने के लिए इष्ट, त्रिलोक्या:– तीन लोक के प्राणियों के, सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटु:– समीचीन व धर्मतत्त्व के कहने में एकमात्र चतुर, च– तथा, विशदार्थ सर्व भाषास्वभावपरिणामगुणै:– स्पष्ट अर्थ वाले और सम्पूर्ण भाषाओं में परिवर्तन होने वाले- स्वाभाविक गुण से, प्रयोज्य:– प्रयुक्त– उच्चरित, भवति– होती है।

भावार्थ:– आपकी दिव्य वाणी द्वारा निर्गत सच्चे धर्म की तत्त्वकथा ही स्वर्ग एवं मोक्ष के रास्ता ढूंढ़ने वाले को एकमात्र काम्य है एवं यही उन्हें रास्ता बताने में समर्थ है। आपकी दिव्यध्वनि की भाषा स्वभाव-परिणमन गुण से युक्त है–अर्थात् किसी भी प्रान्त का प्राणी, किसी भी भाषा को जानने वाला हो भगवान की वाणी उसे उसी भाषा में सुनाई पड़ती है। ऐसा माहात्म्य भगवान की दिव्य ध्वनि में है।

उन्निद्र - हेम - नव - पंकज - पुंज - कान्ति,
पर्युल्लसन्नख - मयूख - शिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्त:,
पद्मानि तत्र विबुधा: परिकल्पयन्ति।।३६।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो विप्पोसहिपत्ताणं झ्रौं झ्रौं नम: स्वाहा।

मंत्र : ॐ ह्रीं श्रीं कलिकुंडदंडस्वामिन आगच्छ आगच्छ आत्ममंत्रान् आकर्षय आकर्षय आत्ममंत्रान् रक्ष रक्ष

परमंत्रान् छिंद छिंद मम समीहितं कुरु कुरु स्वाहा।

टीका:– भो जिनेन्द्र ! यत्र स्थाने । तव भगवतः । पादौ पदानि । धत्तः धरतः । तव स्थाने । विवुधाः देवाः । पद्मानि कमलानि । परिकल्पयन्ति रचयन्तीत्यर्थः । कथंभूतौ पादौ? उन्निद्राणि विकसितानि यानि हेम्नः सुवर्णस्य नवपंकजानि कमलानि तेषां पुंजः समूहतस्य कान्तिस्तया कृत्वा परिसमन्ततः उल्लसन्तो ये नखास्तेषां किरणास्तेषां शिखाग्रभागस्तनाभिरभिरामौ मनोज्ञावित्यर्थः ।

अन्वयार्थ:– जिनेन्द्र– हे जिनेश, तव– आपके, उन्निद्रहेमनवपङ्कज पुञ्जकान्ति– फूले हुए सुवर्णवर्ण नवीन कमलसमूह के समान कान्ति धारण करने वाले, च– तथा, पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ– सब ओर से शोभायमान नखों की किरणों के प्रकाश से सुन्दर, पादौ– चरण, यत्र– जहां पर, पदानि– कदम या डग, धत्तः– रखते हैं, तत्र– वहाँ, विबुधा– देव, पद्मानि– कमलों को, परिकल्पयन्ति– रचते हैं ।

भावार्थ:– हे नाथ ! आपके चरण स्फुटित नवीन स्वर्ण कमल के समान सुन्दर हैं एवं अग्रभाग सर्व प्रकार से शोभायमान चमकीले नख द्वारा विशेष रूप से शोभित हो रहे हैं। आप जहां भी अपना अनुपम पादक्षेप करते हैं वहां ही देवगण अति सुन्दर कमल की रचना करते जाते हैं।

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशन-विधौ न तथा परस्य।
यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक्कुतो ग्रह-गणस्य विकाशिनोऽपि।।३७।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो सव्वोसहिपत्ताणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।**

मंत्र : **ॐ नमो भगवते अप्रतिचक्रे ऐं क्लीं ब्लूं ॐ ह्रीं मनोवांछित सिद्धयै: नमोनमः। अप्रतिचक्रे ह्रीं ठः ठः स्वाहा।**

टीका:- भो जिनेन्द्र ! इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण। यथा धर्मोपदेशनविधौ। तव तीर्थंकरस्य। विभूतिरभूत् बभूव। तथा परस्य हरिहरादेः विभूतिर्नाभूत। धर्मस्योपदेशनं तस्य विधिस्तस्या एतद्युक्तमेव दिनकृतः सूर्यस्य प्रभा दीप्तिर्यादृगभूत्। विकाशिनोऽपि प्रकटीभूतस्यापि ग्रहगणस्य तादृक प्रभा कुत एव कथंभूता सूर्यप्रभा? प्रहतानि निराकृतानि अन्धकाराणि यया सा।

अन्वयार्थ:- जिनेन्द्र- हे जिनेश, धर्मोपदेशनविधौ- धर्मोपदेश देते समय, इत्थम्- पूर्वोक्त प्रकार से, तव- आपकी, विभूतिः- समृद्धि, यथा- जैसी, अभूत्- हुई थी, तथा- वैसी विभूति, परस्य- किसी दूसरे की, न अभूत्- नहीं हुई, यतः- क्योंकि, प्रहतान्धकारा- अन्धकार को नष्ट करने वाली, यादृक्- जैसी, प्रभा- कान्ति, दिनकृतः- सूर्य की, भवति- होती है, तादृक- वैसी कांति, विकाशिनः- प्रकाशमान, अपि- भी, ग्रहगणस्य- तारागण के, कुतः- कहां, भवेत्- हो सकती है।

भावार्थ:- हे प्रभो! इस प्रकार धर्मोपदेश के कार्य में जैसी शोभा आप की हुई थी वैसी शोभा अन्य किसी की भी नहीं हुई। जैसे एक सूर्य की किरण द्वारा अन्धकार एक दम दूर

हो जाता है, वैसे असंख्य ग्रहगणों के प्रकाश से भी नहीं होता।

श्च्योतन्मदाविल - विलोल -कपोल - मूल-
मत्त - भ्रमद् - भ्रमर - नाद - विवृद्ध - कोपम्।
ऐरावता भमिभ मुद्धत मापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्।।३८।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो मनोबलीणं झौं झौं नमः स्वाहा।**

मंत्र : **ॐ नमो भगवते अष्टमहा नागकुलोच्चाटिनी कालदष्ट मृतकोत्थापिनी परमन्त्रनाशिनी देवि शासनदेवते ह्रीं नमो नमः स्वाहा।**
ॐ ह्रीं शत्रुविजय रणाग्रे ग्रां ग्रीं ग्रूं ग्रः नमो नम : स्वाहा।

टीका:— भो नाथ ! भवदाश्रितानां पुंसां। ऐरावताभं पराक्रमेण ऐरावत तुल्यं। उत्कटं उद्धतमापतन्तं सन्मुख मागच्छन्तमिभं हस्तिनं। दृष्टवा् विलोक्य। भयं नो भवति। भवन्तमाश्रिता भवदाश्रितास्तेषां। कथंभूतमिभं? श्च्योतन्तः क्षरन्तो ये मदास्तैराविलौ कलुषी भूतौ विलोलौ यो कपोलौ तयोर्मूले मत्ता भ्रमन्तश्च ये भ्रमरास्तेषां नादः शब्दस्तेन विवृद्धः कोपो यस्य त तम्।

अन्वयार्थ:—श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल—मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्— झरते हुए मदजल से मलिन और चंचल गालों के मूलभाग में पागल हो घूमते हुए भौरों के शब्द से बढ़ रहा है क्रोध जिसका ऐसे, ऐरावताभम्— ऐरावत हाथी के समान आकार वाले, उद्धतम्— अवश, च— तथा,

आपतन्तम्– सामने आते हुए, इभम्– हाथी को, दृष्टवा– देखकर, अपि- भी, भवदाश्रितानाम्– आप के आश्रितों के, भयम्– भय, नो भवति– नहीं होता।

भावार्थ:– ऐरावत हाथी के, जल से मलीन चंचल गालों के अग्रभाग से मधु झरता रहता है। मधु के लोभ से गुंजार करते हुए भंवरे आ- आकर उसके कपोल प्रदेश में बैठते हैं, जिससे ऐरावत का प्रकोप भीषण बढ़ जाता है, एवं वह भयानक उद्दण्ड हो जाता है। इस प्रकार सब जीवों के लिए वह त्रास का संचार करता है। किन्तु आप जिसके सहाय हों, उसे ऐसे हाथी से भी कोई डर नहीं।

भिन्नेभ - कुम्भ - गलदुज्ज्वल - शोणिताक्त-
मुक्ताफल - प्रकर - भूषित - भूमि - भागः।
बद्ध - क्रमः क्रम - गतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रम - युगाचल - संश्रितं ते।।३९।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो वचोबलीणं झौं झौं नमः स्वाहा।

मंत्र : ॐ नमो एषु वृत्तेषु वर्धमान तव भयहरं वृत्तिवर्णा येषु मन्त्रा पुनः स्मर्तव्याः अतो नापरमन्त्र निवेदनाय नमः स्वाहा।

टीका:– भो भगवन्! हरिणाधिपोऽपि तव विभो क्रमयुगाचलसंश्रितं प्राणिनं नाक्रामति न पीडयति। क्रमयोर्युगं क्रमयुगमेवाचलः पर्वतस्तं संश्रितस्तं। हरिणानामधिपः। कथंभूतः हरिणाधिपः? भिन्ना विदारिता ये इभाः हस्तिनस्तेषां कुम्भाः कुम्भस्थलानि तेभ्यो गलन्ति उज्ज्वलानि शोणितेन रुधिरेण आक्तानि लिप्तानि यानि मुक्ताफलानि तेषां प्रकरः समूहस्तेन

भूषितोऽलंकारितो भूमेर्भाग: प्रदेशो येन स:। पुन: बद्ध: क्रम: फाल इति येन स:। कथंभूतं प्राणिनं? क्रमं फालं गत: प्राप्तस्तं। सिंहस्य फाल: क्रम इति कथ्यते।

अन्वयार्थ:–भिन्नेभकुंभगलदुज्ज्वलशोणिताक्तमुक्ताफलप्रकरभूषित भूमिभाग:– विदारे हुए हाथी के गण्डस्थल से गिरते हुए उज्ज्वल तथा रक्त से भीगे हुए मोतियों के समूह से भूतल को भूषित करने वाला, च– तथा, बद्धक्रम:– आक्रमण के हेतु संनद्ध, हरिणाधिप:– सिंह, अपि– भी, क्रमगतम्– पंजे में आये हुए, ते– आप के, क्रमयुगाचलसंश्रितम्– चरणकमल रूप पर्वत का आश्रय लेने वाले मनुष्य पर, न आक्रामति– आक्रमण नहीं करता।

भावार्थ:– जिसने हाथी का गण्डस्थल विदीर्ण कर उसमें से समुज्ज्वल एवं रक्तरंजित निर्गत मोतियों के द्वारा पृथ्वीतल को विभूषित किया है, ऐसा मृगराज भी अपनी छलांग के मध्य आने वाले पुरुष का किंचित भी अनिष्ट नहीं कर पाता यदि वह पुरुष आपके चरण युगल- रूप पर्वत में आश्रय ले लेता है तो।

कल्पान्त - काल - पवनोद्धत - वह्नि - कल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम्।
विश्वं जिघित्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नाम - कीर्तन - जलं शमयत्यशेषम्।।४०।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो कायबलीणं झौं झौं नम: स्वाहा।

मंत्र : **ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रां ह्रीं अग्निमुपशमनं शान्ति कुरु**

कुरु स्वाहा। ॐ सौं ह्रीं क्रौं ग्लौं सुन्दरपाय नमः।

टीका:– भो भगवन् ! त्वन्नामकीर्तनजलं भवन्नाम स्मरणपानीयं। अशेषं समग्रं दावानल विश्वं त्रैलोक्यं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तंमभि- मुखमागच्छन्तं शमयति। तव नाम त्वन्नाम त्वन्नाम्न: कीर्तनं तदेव जलं त्वन्नामकीर्तनजलं। अत्त मिच्छतीति जिघत्सतीति जिघत्सुस्तं। कथंभूतं दावानलं? कल्पान्तकाल पवनेन प्रलयकाल वायु नोद्धता ये वह्नयस्तेभ्य: ईषन्नून: कल्पान्तकाल पवनोद्धतवह्निकल्पस्तं। पुन: ज्वाला: संजाता उत्पन्ना यस्यासौ ज्वलितस्तं ज्वालादेर्ह्लस्व:। पुन: कथं? उज्ज्वलं उत् ऊर्ध्वं ज्वलतीति उज्ज्वलस्तं। अथवा उज्ज्वलन्तेजोभिराक्रान्तं। पुन: कथं? उत्स्फुलिंगम् उत् इत्युच्छलन्त: स्फुलिंगा वन्हिकणा: यस्मात्स तम्।

अन्वयार्थ:– त्वन्नामकीर्तनजलम्– आपके नाम का कीर्तन-रूपी जल, कल्पान्तकालपवनोद्धतवन्हिकल्पम्– प्रलयकाल की पवन से प्रचण्ड अग्नि के सदृश, उत्स्फुलिङ्गम्– निकल रहे हैं तिलंगे जिससे ऐसी, ज्वलितम्– धधकती हुई, उज्ज्वलम्– उज्ज्वल, च– तथा, अशेषम्– सम्पूर्ण, विश्वम्– संसार को, जिघत्सुम् इव– भक्षण करने के इच्छुक के समान, सम्मुखम्– सामने, आपतन्तम्– आती हुई, दावानलम्– दावाग्नि को, अशेषम्– सम्पूर्ण रूप से, शमयति– शान्त करता है।

भावार्थ:– प्रलय काल की प्रचण्ड वायु के संयोग से प्रज्वलित अग्नि के समान प्रकाशमान एवं विश्व को ग्रास करने की अभिलाषायुक्त अग्नि शिखा द्वारा युक्त वन-अग्नि जब सम्मुख आती है, तब आपके यशोगान-रूप शीतल

वारिधारा उसे शीघ्र ही पूर्ण रूप से शमित कर देती है।

रक्तेक्षणं समद - कोकिल - कण्ठ - नीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेण निरस्त - शंक-
स्तवन्नाम-नाग-दमनी हृदि यस्य पुंस:।।४१।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो खीरसवीणं झ्रौं झ्रौं नम: स्वाहा।

मंत्र : ॐ नमो श्रां श्रीं श्रूं श्रौं श्र: जलदेविकमले पद्महृदनिवासिनी पद्मोपरिसंस्थिते सिद्धि देहि मनोवांछितं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ ह्रीं आदि देवाय ह्रीं नम:।

टीका:– भो भगवन्! यस्य पुंस: हृदि अन्त: करणे त्वन्नामनागदमनी भवन्नामलक्षणसर्पवशीकरणौषधि रस्ति वरिवर्ति। स पुमान निरस्तशंक: आपतन्तमभि मुखमागच्छन्तं फणिनं सर्पं क्रमयुगेन पादाभ्यामाक्रामत्युल्लंघयति। कथंभूतं फणिनं? उत् ऊर्ध्वं फणा यस्य स तं। पुन: कथंभूतं? रक्ते आताम्रे ईक्षणे नेत्रे यस्य स तं। पुन: कथं? मदेन सह वर्तमानो यो हि कोकिलस्तस्य कण्ठस्तद्वन्नील: श्यामलस्तं। पुन: कथं? क्रोधेनोद्धतो दृप्तस्तं। तव नाम त्वन्नाम तदेव नागदमनी त्वन्नामनागदमनी।

अन्वयार्थ:– यस्य– जिस, पुंस:– मनुष्य के, हृदि– चित्त में, त्वन्नामनागदमनी– आपके नामरूपी नागदमनी नागदौन जड़ी, अस्ति– है, स– वह मनुष्य, रक्तेक्षणम्– लाल नेत्र वाले, समदकोकिलकण्ठनीलम्– मदोन्मत्त कोयल के

कण्ठ की तरह काले, क्रोधोद्धतम्– क्रोध से उद्धत, च– और, उत्फणम्– ऊपर को फण उठाये, आपतन्तम्– डसने के लिए झपटते हुए, फणिम्– सांप को, निरस्तशङ्कः– निर्भय होता हुआ, क्रमयुगेन– अपने पैरों से, आक्रामति– लांघता है।

भावार्थ:– हे पुरुषोत्तम ! लाल-लाल आँख वाले मदयुक्त नीलकण्ठ कोयल के समान श्याम, क्रोध से उद्दण्ड, फण को ऊपर उठाये हुए वेग से सम्मुख आते हुए भीषण विषधर सर्प को भी वह मनुष्य भय एवं शंका रहित हो लांघ जाता है जिसके हृदय में आपके नाम-गान रूपी नागदमनी मंत्र है।

वल्गत्तुरंग - गज - गर्जित - भीमनाद-
माजौ बलंबलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकर - मयूख - शिखापविद्धं
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति।।४२।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो सप्पिसवीणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।**

मंत्र : **ॐ णमो णमिऊण विसधर विसप्पणासण रोग-सोक-दोस-ग्गह कप्पद्दु मच्चजाई-सुहणामगहणसयलसुह दे ॐ नमः स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं बलपराक्रमाय नमः।**

टीका:– भो देव ! आजौ संग्रामे बलवतामपि भूपतीनां राज्ञां बलं सैन्यं त्वत्कीर्तनात् भवन्नामस्मरणात् उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं तम इव आशु शीघ्रं भिदामुपैति भेदं प्राप्तनोतीत्यर्थः। उद्यन्नुदयप्राप्तो दिवाकरः सूर्यस्तस्य

मयूखास्तेषां शिखास्ताभिरपविद्धं भिदां प्राप्तं। कथंभूतं बलं? वल्गन्तो ये तुरंगा: अश्वास्तथा गजानां गर्जितानि तैर्भीमा भयंकरा नादा: यस्मिन् तत्। तव कीर्तनं तस्मात्। बलं पराक्रमो विद्यते येषां ते बलवन्तस्तेषाम्।

अन्वयार्थ:— आजौ— संग्राम में, बलवताम्— पराक्रमी, भूपतीनाम्— राजाओं का, वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनादम्— उछलते हुए घोड़ों और हाथियों की गर्जना से भयानक शब्द युक्त, बलम्— सैन्य, अपि— भी, त्वत्कीर्तनात्— आपके नाम के कीर्तन से, उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धम्— उगते हुए सूर्य की किरणों के अग्रभाग से भेदित, तम: इव— अन्धकार के समान, आशु— शीघ्र ही, भिदाम्— विनाश को, उपैति— प्राप्त होता है।

भावार्थ:— हे भगवन्, युद्ध क्षेत्र में उछलते हुए घोड़े भीषण गर्जना करते हुए मत्त हाथी, बलशाली राजाओं की बलशाली सेना की अपरिमित शक्ति भी आपके यशोगान से क्षणभर में नष्ट हो जाती है— जैसे उगते हुए सूर्य की प्रखर किरण की अग्रभाग से विद्ध होकर घना अन्धकार क्षणभर में नष्ट हो जाता है।

कुन्ताग्र -भिन्न - गज -शोणित - वारिवाह-
वेगावतार - तरणातुर - योध - भीमे।
युद्धे जयं विजित - दुर्जय - जेय - पक्षा-
स्त्वत्पाद - पंकज - वनाश्रयिणो लभन्ते।।४३।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो महुरसवीणं झ्रौं झ्रौं नम: स्वाहा।

मंत्र : ॐ नमो चक्रेश्वरी देवी चक्रधारिणी जिनशासन

सेवाकारिणी क्षुद्रोपद्रवविनाशिनी धर्मशान्तिकारिणी नमः कुरु कुरु स्वाहा।

टीका:- भो भगवन! त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणः प्राणिनो युद्धेरणे जयं लभन्ते विजयं प्राप्नुवन्ति। तव पादौ त्वत्पादौ तावेव पङ्कजे कमले तयोर्वनमाश्रयन्ति ते त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणः। कथंभूतास्ते? विजिता दुर्जया जेयपक्षाः शत्रवः यैस्ते। कथंभूते युद्धे? कुन्तानां भल्लानामग्राणि तैर्भिन्ना विदारिता ये गजास्तेषां शोणितानि रुधिराणि तान्येव वारीणि जलानि तेषां वाहाः प्रवाहास्तेषु वेगानां रवाणां अवतारस्तत्र तरणातुरा व्याकुला ये योधाः सुभटास्तैर्भीमं भयंकरं तस्मिन्।

अन्वयार्थः- कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाहवेगावतारतरणातुरयोधभीमे- बरछी की नोक से विदारे गये हाथियों के रक्तरूपी जल-प्रवाह को वेग से उतरने और तैरने में व्यग्र योद्धाओं से भयानक, युद्धे- युद्ध में, त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणः- आपके चरणरूपी कमल वन का आश्रय लेने वाले मनुष्य, विजितदुर्जयजेयपक्षाः- शत्रु पक्ष के दुर्जय सैनिकों को जीतते हुए, जयम्- विजय को, लभन्ते- पाते हैं।

भावार्थ- हे नाथ! भालों के अग्रभाग द्वारा क्षत-विक्षत हाथी के शरीर से जिस तीव्र गति से शोणित की धारा बहती है- उसी प्रकार तीव्र जल की धारा पार करने की अदम्य लालसा से भीषण योद्धाओं के युद्ध में उस पक्ष की ही विजय होती है, जिसने आप के चरणरूपी वन में आश्रय लिया हो।

अम्भोनिधौ क्षुभित - भीषण -नक्र - चक्र-
पाठीन - पीठ - भय - दोल्वण - वाडवाग्नौ।
रंगत्तरंग - शिखर -स्थित - यान - पात्रा-
त्रासं विहाय भवत: स्मरणाद् व्रजन्ति।।४४।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो आमियसवीणं झौं झौं नम: स्वाहा।**

मंत्र :- **नमो रावणाय विभीषणाय कुम्भकर्णाय लंकाधिपतये महाबलपराक्रमाय मनश्चिंतितं कुरु कुरु स्वाहा।**

टीका:- भो भगवन्! रंगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्रा: प्राणिन: अम्भोनिधौ समुद्रे। भवतस्तव। स्मरणात् स्मरणमात्रात्। त्रासं भयं। विहाय मुक्त्वा। व्रजंति इष्टस्थानं यान्तीत्यर्थ:। रंगन्त: उच्छलन्त: ये तरंगा: कल्लोलास्तेषां शिखरेऽग्रभागे स्थितानि यानि पात्राणि प्रवहणानि येषां ते। कथंभूतेऽम्भोनिधौ क्षुभिता: क्षोभं प्राप्ताभीषणा भयंकरा ये नक्रा दुष्टजलचर जीवास्तेषां चक्राणि यस्मिन् स तस्मिन् पाठीनपीठो मत्स्यभेदस्तेन भयदो महाभयप्रदायी उल्वणो वाडवाग्निर्यस्मिन् स तस्मिन्।

अन्वयार्थ:—क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ- क्षोभ को प्राप्त भयंकर मकरसमूह, मत्स्य और पीठों से भयंकर और विकराल बड़वानल सहित, अम्भोनिधौ— समुद्र में, रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्रा:— चंचल तरङ्गों के शिखर पर जिनके जहाज स्थित हैं, ऐसे मनुष्य, भवत:— आपके, स्मरणात्— स्मरण से, त्रासम्— भय को, विहाय— छोड़ कर, वज्रन्ति— यात्रा करते हैं।

भावार्थ:— हे नाथ ! क्षुब्ध एवं भयंकर मगर समूह एवं मछलियों

से पूर्ण भीषण एवं भयंकर बड़वानल से ग्रस्त समुद्र में. चंचल लहरों के ऊपर इधर उधर चलता हुआ जहाज भी आपके स्मरण मात्र से ही भय को दूर हटा कर अर्थात् निर्भय होकर स्वच्छन्द गमन करता है।

उद्भूत - भीषण - जलोदर - भार - भुग्ना:
शोच्यां दशामुपगताश्च्युत - जीविताशा: ।
त्वात्पाद - पंकज - रजोमृत - दिग्ध -देहा
मर्त्या भवन्ति मकरध्वज - तुल्यरूपा: ।।४५।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो अक्खीणमहाणसाणं झ्रौं झ्रौं नम: स्वाहा।**

मंत्र :- **ॐ नमो क्षुद्रोपद्रवशांतिकारिणी रोगकष्ट ज्वरोपशमनं शांतिं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ ह्रीं भगवते भयभीषणहराय नम: ।**

टीका:- भो देव! उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना मर्त्या मनुष्यास्त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहा: सन्तो मकरध्वजतुल्यरूपा भवंति। उद्भूता उत्पन्ना भीषणा भयंकरा जलोदरा नानारोगादयस्तेषां भारस्तेन भुग्ना:। तव पादावेव पंकजे तयोरजस्तदेवामृतं तेन दिग्धो लिप्तो देहो येषां ते। मकरध्वजेन कामेन तुल्यं रूपं येषां ते। कथंभूतामर्त्या:। शोच्यां दशामवस्थामुपगत: प्राप्ता:। शोचयितुमर्हा शोच्याताम्। पुन: कथंभूता:? च्युता जीवितस्याशा येषां ते।

अन्वयार्थ:—उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना:— उत्पन्न हुए भयंकर जलोदर रोग के भार से झुके हुए,

शोच्याम्– शोचनीय, दशाम्– अवस्था को, उपगताः– प्राप्त, च– और, च्युतजीविताशाः– जीवन की आशा रहित, मर्त्याः– मनुष्य, त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा– आपके चरण कमलों की धूलिरूप अमृत से लिप्त शरीर, सन्तः– होते हुए, मकरध्वज तुल्यरूपाः– कामदेव के समान रूप वाले, भवन्ति– हो जाते हैं ।

भावार्थः– हे भगवन्! जो मनुष्य भयंकर जलोदर रोग से ग्रस्त हो शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो चुका है, जिसकी जीवन की कोई आशा ही नहीं रही ऐसा मनुष्य भी आपके चरण कमल की धूलि रूप अमृत को लगाकर कामदेव के समान सुन्दर कान्ति वाला हो जाता है ।

आपाद - कण्ठमुरु - शृंखल - वेष्टितांगा,
गाढं वृहन्निगड - कोटि - निघृष्ट - जंघाः ।
त्वन्नाम - मन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगत - बन्ध -भया भवन्ति ।।४६।।

ऋद्धि :- **ॐ ह्रीं अर्हम् णमो वड्ढमाणाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा ।**

मंत्र :- **ॐ नमो ह्रां ह्रीं श्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः ठः ठः जः जः क्षां क्षीं क्षूं क्षः क्षयः स्वाहा ।**

टीका:- भो नाथ ! मनुजा मनुष्या अनिशं निरन्तरं । त्वन्नाम मंत्रं भवदभिधानमंत्रं स्मरन्तः सन्तः । सद्यस्तकालं विगतबन्धभयाः प्रनष्टबन्धभया भवन्ति तव नाम त्वन्नाम एवं मन्त्रस्त्वन्नाम मन्त्रस्तं । विगतं बन्धभयं येषां ते । कथंभूता मनुजाः ? आपादकण्ठं इति पादकण्ठं आम र्यादीकृत्य

उरूणि महान्ति तानि लोहशृङ्खलानि तैर्वेष्टितमंगं येषां ते। पुनः कथंभूतं? गाढं यथा स्यात्तथा वृहन्ति महान्ति यानि निगड़ानि तेषां कोटिभिरग्रभागैर्निघृष्टा जंघा येषां ते।

अन्वयार्थः— अनिशम्— निरन्तर, आपादकण्ठम्— कण्ठ पर्यन्त, उरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा— बड़ी बड़ी सांकलों से जकड़े हैं शरीर जिनके ऐसे, च्— और, गाढंयथा स्यात्तथा— अत्यन्त रूप से, वृहन्निगड़कोटिनिघृष्टजंघाः— बडी-बड़ी बेड़ियों के किनारों से घिस गई हैं जांघे जिनकी ऐसे, मनुजाः— मनुष्य, त्वन्नाममन्त्रम्— आपके नामरूपी मन्त्र को, स्मरन्तः— स्मरण करते हुए, सद्यः— तत्काल, स्वयम्— अपने आप, विगतबन्धभयाः— बन्धन के भय से रहित, भवन्ति— हो जाते हैं।

भावार्थ— हे जगदीश! जिनका पांव से लेकर कण्ठ पर्यन्त शरीर लोहे की सांकल से दृढ रूप से जकड़ा हुआ है, एवं जिनकी जंघायें बेड़ी के सहयोग से विकराल रूप से घिस गई है, ऐसे मनुष्य भी आपके निरन्तर स्मरण मात्र से ही इस भयानक बन्ध-भय से स्वयं शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं।

मत्तद्विपेन्द्र - मृगराज दवानलाहि-
सङ्ग्राम - वारिधि - महोदर - बन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं, मतिमानधीते।।४७।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो लोए सव्वं सिद्धायदाणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र :- **ॐ नमो ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः यक्ष श्रीं ह्रीं फट् स्वाहा। ॐ नमो भगवते उन्मत्तभयहराय नमः।**

टीका:- भो नाथ ! यः कश्चिन्मतिमान् पुमान्। इमं प्रसिद्धं तावकं स्तवं। अधीते पठीति। तस्य पुंसः पुरुषस्य। मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहिसंग्रामवारिधिमहोदर बन्धनोत्थं भयं प्रणाशमुपयाति व्रजंति। मत्तद्विपेन्द्रश्च मृगराजश्च दावानलश्च अहिश्च संग्रामश्च वारिधिश्च महोदरं च जलोदरं च बन्धनानि च मत्तद्विपेन्द्रमृगराज दवानलाहि संग्रामवारिधिमहोदरबन्धनानि तेभ्य उत्थं समुत्थितं। कयेव? उत्प्रेक्षते भियेव भयेनेव।

अन्वयार्थ:- यः- जो, मतिमान्- बुद्धिमान, तावकम्- तुम्हारे, इमम्- इस, स्तवम्- स्तोत्र को, अधीते- पढ़ता है, तस्य- उसका, मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहिसंग्रामवारिधिमहोदर बन्धनोत्थम्- मत्त हाथी, सिंह, वनाग्नि, सर्प, युद्ध, समुद्र, महोदररोग, और बन्धन से उत्पन्न, भयम्- भय, भिया इव- डर से ही, आशु- शीघ्र, नाशम्- विनाश को, उपयाति- प्राप्त होता है।

भावार्थ:- हे भगवन्! उन्मत्त हाथी सिंह, वनाग्नि, सर्प, युद्ध, सागर जलोदर, बन्धन आदि के उपद्रवों से ग्रस्त मनुष्य का भय शीघ्र ही आपके भय से ही नष्ट हो जाता है, यदि वह आप का स्तवन करता है तो।

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया रुचिर - वर्ण - विचित्र - पुष्पाम्।

धत्ते जनो य इह कण्ठ - गतामजस्रं
तं 'मानतुङ्ग' मवशा समुपैति लक्ष्मीः ।।४८।।

ऋद्धि :- ॐ ह्रीं अर्हम् णमो भयवदो महदिमहावीर वड्ढमाणाणं बुद्धिरिसीणं लोए सव्व साहूणं झ्रौं झ्रौं नमः स्वाहा।

मंत्र :- ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा झ्रौं झ्रौं नम स्वाहा। ॐ णमो बंह्मचारिणे अष्ठरहसहस्ससीलांगरथ धारिणे नमः स्वाहा। ॐ ह्रीं लक्ष्मीप्राप्त्यै नमः।

टीका:– भो जिनेन्द्र ! इह लोके कश्चन पुमान् जनो। मया भक्त्या तव गुणैर्निबद्धां भवत्तीर्थकरगुणरचितां। स्तोत्रस्रजं स्तोत्रमालां कण्ठगतां धत्ते धरति। तं मानतुंगं जनं। लक्ष्मीः कमला अवशातद्गतचित्ता सती अजस्रं निरन्तरं समुपैति प्राप्नोति। मानेन तुङ्गो महान् मानतुंगस्तं मानतुंगं कवेरभिधानं। स्तोत्रमेव स्रक् स्तोत्रस्रक्ताम्। यथा कश्चिद्गुणैः सूत्रैर्निबद्धां ग्रंथिता सदृशां स्रजं कण्ठमालां विभर्ति तं पुरुषं लक्ष्मी शोभा समुपैति। कथंभूतां स्तोत्रस्रजं? विविधवर्णा एवं विचित्राणि नानाविधानि पुष्पाणि यस्यां सा विविधवर्णविचित्रपुष्पा ताम्।

अन्वयार्थ:– जिनेन्द्र– हे जिनेश, इह– इस संसार में, मया– मेरे द्वारा, भक्त्या– भक्तिपूर्वक, गुणैः– प्रसाद, माधुर्य, आदि गुणों से, माला के पक्ष में– डोरे से, निबद्धाम्– रची गई, माला के पक्ष में– गूंथी गई, रुचिरवर्ण विचित्रपुष्पाम्– मनोहर अक्षर-रूप विचित्र फूल वाली, माला मक्ष में–

सुन्दर रंग वाले फूलों सहित तव–आप की स्तोत्रस्रजम्– स्तुति– रूप माला को, यः– जो, जनः– मनुष्य, अजस्रम्– सदा, कण्ठगतां धत्ते– याद करता है, मालापक्ष में– गले में पहिनता है, तम्– उस, मानतुंगम्– सन्मान से उन्नत पुरुष अथवा इस स्तोत्र के रचियता मानतुंग आचार्य को, लक्ष्मी– स्वर्ग मोक्ष आदि लक्ष्मी या सत्काव्यरूपलक्ष्मी, अवशा सती– स्वाधीन होती हुई, समुपैति– प्राप्त होती है।

भावार्थः– हे जिनेन्द्र ! जो मनुष्य इस संसार में मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक सम्पूर्ण गुणों से सुन्दर अक्षर-रूप फूलों से रची हुई माला को हमेशा कण्ठ में धारण करता है, अर्थात् इस स्तोत्र को जो याद रखता है, उसको मानतुंगाचार्य की ही तरह सर्वप्रकार की लक्ष्मी मुक्तरूप से प्राप्त होती है।

●

कल्याण मंदिर स्तोत्रम्

श्रीकुमुद चन्द्राचार्यविरचितम्

स्वतं चिकीर्षुकामो विघ्नविनिवृत्तये मंगलमाचरन्नाह–

कल्याण मन्दिर मुदार मवद्यभेदि।
भीता भय प्रदम निंदित मंघ्रि पद्मम्।।
संसार सागर निमज्जद शेष जन्तु।

पोतायमान मभिनम्य जिनेश्वरस्य।।१।।

यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः।
स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुम्।।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतो-।
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये।।२।। युग्मं।।

टीका :– किलेति संभाव्यते। एषोऽहं कविस्तस्य जगत्प्रसिद्धस्य। जिनेश्वरस्य श्रीमत्पार्श्वनाथतीर्थंकर परम देवस्य। अंघ्रिपद्यं चरणकमलं। अभिनम्य प्रणिपत्य। संस्तवनं सम्यक्स्तोत्रं। करिष्ये करिष्यामीत्यर्थः। कथम्भूतमंघ्रिपद्यं? कल्याणानां मांगल्यराशीनां मंदिरं निकेतनमित्यर्थः। अथवा पंचकल्याणानां स्थानमित्यर्थः। पुनः कथंभूतं? उदारं नानासौख्य प्रदातृत्वात्। पुनः कथंभूतं? अवद्यं पापं भेदयतीति। पुनः कथंभूतं? भीतानां भयत्रस्तानां जन्तूनां अभयंजीवदानं प्रकर्षेण ददातीति। पुनः कथं? अनिंदितं प्रशस्यं सर्वामरपूजितत्वात्। पुनः कथं? संसारश्चतुर्गतिलक्षणः स एव संसारसमुद्रस्तत्र निमज्जंतश्च ते अशेषजन्तवः सर्वप्राणिनश्च तेषां पोतायते तत् पोतायमानं संसारसमुद्रतारणे प्रवहणतुल्यमित्यर्थः। तस्य कस्य? यस्य तीर्थेश्वरस्य समस्ततीर्थानां स्वामिनः। सुरगुरुर्बृहस्पतिः स्वयं स्तोत्रं विधातुं कर्तुं न विभुः न समर्थः कथंभूतस्य यस्य गुरोर्भावः गरिमा तस्य अम्बुराशिः समुद्रस्तस्य। कथंभूतः सुरगुरुः? सुखेन वा सुतरां विस्तृता मतिर्यस्य सः। पुनः कथंभूतस्य तस्य कमठचर शंबर नामज्योतिष्कदेवस्य स्मयः गर्वस्तद् दहनाय धूमकेतुर्वह्निस्तस्य। युग्मम्।।

अन्वयार्थः— कल्याणमंदिरं— सुखों के घर, उदारं— भक्तों की इच्छित वस्तु देने वाले, अवद्यभेदि— पापों का नाश करने वाले, भीताभयप्रदं— भयग्रस्त प्राणियों को अभयदान देने वाले,— मोक्ष देने वाले, अनिंदितं— प्रशंसनीय, संसारसागरनिजमज्जदशेषजन्तु पोतायमानं— यानी संसार सागर में डूबते हुए अशेष प्राणियों को बचाने में नौका सरूप, जिनेश्वरस्य— श्री १००८ पार्श्वनाथ तीर्थंकर परमदेव के, अंघ्रिपद्मं— चरण कमल को, अभिनम्य— वन्दना करके, यस्य— जिनकी, स्तोत्रं— स्तुति, विधातुं— करने के निमित्त, सुविस्तृतमतिः— अत्यन्त बुद्धिमान, सुरगुरुः— देवों के देव वृहस्पति, स्वयं— स्वतः न विभुः— समर्थ नहीं हो सकते, यः— जो, गरिमाम्बुराशेः— गरिमा के सागर, कमठस्मयधूमकेतोः— कमठ के जीव शम्वर नामक दैत्य के गर्व को भस्मीभूत करने में धूमकेतु के समान, तीर्थेश्वरस्य तीर्थंकरकी, स्तवनं- स्तुति, किल— यथासम्भव शक्ति अनुसार, एष— यह, अहं— मैं, करिष्ये— करुंगा।

भावार्थ— श्री पार्श्वनाथ स्वामी कल्याण के स्थान हैं, जो अनन्य भाव से उनकी भक्ति करता है उसे मनोवांछित फल देने वाले हैं, कर्म मलरहित होने से दूसरों के पापों का नाश करने वाले हैं, स्वयं निर्भय होने से दूसरों को भी निर्भय करने वाले हें, और संसाररूपी समुद्र में पड़े हुए इस संसारी जन को मोक्ष का साक्षात् मार्ग दिखाने वाले होने से नौका के समान हैं ऐसे श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्र की स्तुति करना साधारण बात नहीं है फिर भी भक्ति से प्रेरित

हुआ मैं उनकी स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ हूं।

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-।
मस्मादृशाः कथमधीश! भवन्त्यधीशाः।।
धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो।
रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः।।३।।

टीका :– भो अधीश ! अस्मादृशाः पुमांसः। सामान्यतोऽपि सामान्याकारेणाऽपि। तव भगवतः। स्वरूपंवर्णयितुं यथावदाख्यातुं। कथमधीशाः समर्था भवंति। विशेषतः स्वरूपं वक्तुं कुतः समर्थाः। यदि वा युक्तोऽयमर्थः। किलेति सत्यं धृष्टोपि कौशिकशिशुः घूकः। दिवांधसन्। घर्मरश्मेः सूर्यस्यस्वरूपम्। किं प्ररूपयति ? अस्मदृशा. कवयस्तव निरंजनस्वरूपं वक्तुं क्षमा न भवंति। क इव घूक इव। यथा घूको दिनपतेः सूर्यस्य किरणानि न प्ररूपयति। इति तात्पर्यार्थः।

अन्वयार्थः– अधीश- हे स्वामी !, अस्मादृषाः–मेरे समान मन्द बुद्धि, सामान्यतः– सामान्य रूप से, अपि– भी, तव– आपका, स्वरूपं– स्वरूप को, वर्णयितुं– वर्णन करने के लिए, अधीशाः– समर्थ, भवंति– होता है, यदि वा– अथवा नहीं, दिवांधः– जिसे दिन में दिखता नहीं, कौशिकशिशुः– कौशिक शायक-घूक शावक, धृष्टः– धृष्टता सहित, अपि– फिर भी, घर्मरश्मेः– सूर्य के, रूपं– रूप को, किल– वास्तविक-बराबर, किंप्ररूपयति– वर्णन कर सकता है क्या?

भावार्थः– जिस प्रकार घूक पक्षी दिन को अन्धा होने के कारण

सूर्य के स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकता उसी प्रकार हम सरीखे संसारी जन मोह से अन्धे होने के कारण आपके वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकते आप अध्यात्मगम्य होने से हम सरीखे बाह्य जन आपके स्वरूप का वर्णन कैसे कर सकते हैं।

मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ! मर्त्यो।
नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत।।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मा-।
न्मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः।।४।।

टीका :– भो नाथ! भो स्वामिन्! नूनं निश्चितं। मर्त्यो मनुष्यः। मोहक्षयात् मोहनीयकर्मविनाशात्। अनुभवन्नपि जानन्नपि। तव परमेश्वरस्य गुणान्। गणयितुं संख्याकर्तुं। न क्षमेत न समर्थो भवेत्। ननु युक्तोऽयमर्थो यस्मात्कारणत्केन पुंसा। जलधेः समुद्रस्य प्रकटोऽपि रत्न राशिः मीयेत मानं कुर्वीत। कथंभूतस्य जलधेः? कल्पान्तः प्रलयस्तेन वान्तानि बहिष्कृतानि पयांसि जलानि यस्य स तस्य।

अन्वयार्थः– नाथ– हे स्वामी, मोहक्षयात्– दर्शन- मोहनीय कर्म के नाश होने से, अनुभवन्– अनुभव करके, अपि– भी, मर्त्यो- मनुष्य, तव– आपके, गुणान्– गुणों को, गणयितुं– परिमाण लगाने में, न क्षमेत– समर्थ नहीं हो सकता, यस्मात्– इसलिए, कल्पान्तवान्तपयसः– प्रलय कालीन वायु के द्वारा चंचल, जलधेः– समुद्र का, प्रकटः – प्रगट होने पर, अपि– भी रत्नराशि– रत्नों का पुंज, ननु– निश्चय से, केन– किसके द्वारा, मीयते– अनुमान

किया जा सकता है-- अर्थात् किसी से भी नहीं।

भावार्थ :--जिसके दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम हो गया है उसे आपके स्वरूप का अनुभव तो होता है। परन्तु आप में अनन्तशक्ति होने के कारण आपके गुणों का परिमाण प्रत्यक्षज्ञानी को छोड़कर दूसरा कोई नहीं कर सकता है। इसलिए हे स्वामिन्! आपके आश्रय से जिसके स्वानुभव के विरोधी दर्शनामोहनीय कर्म का अभाव हो गया है वह परमात्म स्वरूप आपका अनुभव करते हुए भी प्रत्यक्ष ज्ञान के विरोधी ज्ञानावरण कर्म का अभाव होने से परमात्मस्वरूप इस आपकी अनन्त शक्तियों का साक्षात् ज्ञान नहीं कर सकता है। जिस प्रकार प्रलयकालीन वायु से यदि समुद्र का पानी बाहिर फेंक दिया जावे तो देखने वाले को समुद्र में रत्नराशि तो दिखेगी, परन्तु देखने वाले की ज्ञान शक्ति सीमित होने के कारण वह उन रत्नों की खोज माप नहीं कर सकता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को समुच्चयरूप से आपके अनुभव में आते हुए भी आपका सर्वांगीण ज्ञान केवली को ही होता है, मुझ जैसे अल्पज्ञानियों को नहीं होता है।

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ ! जडाशयोऽपि।
कर्तुं स्तवं लसदसंख्यगुणाकरस्य।।
बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य।
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः।।५।।

टीका :-- भो नाथ ! जडाशयोऽपि अहं। तव परमेश्वरस्य। स्तवं

कर्तुमभ्युद्यतोऽस्मि उद्यमितोस्मि। कथंभूतस्य तव? लसन्त: शोभमाना: असंख्या ये गुणास्तेषामाकरस्तस्य। बालोऽपि स्वधिया बालस्व बुद्धया। निजबाहुयुगं वितत्य विस्तार्य। अम्बुराशे: समुद्रस्य। विस्तीर्णतां किं न कथयति न प्ररूपयति? अपि तु प्ररूपयतीति तात्पर्यार्थ:।

अन्वयार्थ:— नाथ— हे नाथ !, जडाशय— मन्द बुद्धि, अपि— भी, अहम्— मैं, लसदसंख्यगुणाकरस्य— असंख्य गुणों की खान से शोभायमान, तव— आपका, स्तवं— स्तुति, कर्तुं— करने के लिए, अभ्युद्यत:— प्रवृत्त, अस्मि- हूँ, बाल:— बालक, अपि- भी, निजबाहुयुगं— अपने दोनों बाहु को, वितत्य- प्रसारित कर, स्वधिया— अपनी बुद्धि से, अम्बुराशे:— समुद्र का, विस्तीर्णतां- विस्तार को किम्— क्या न, कथयति- नहीं कहता है अर्थात् कहता ही है।

भावार्थ:— यद्यपि मेरा ज्ञान क्षायोपशमिक है और आप अनन्तगुणों के आकर हैं इसलिए आपके उन गुणों का कथन मेरी बुद्धि के बाहर हैं, फिर भी जिस प्रकार बालक समुद्र के परिमाण को नहीं जानते हुए भी अपनी बालबुद्धि से परिमाण का कथन करता है उसी प्रकार मैं उनके कथन करने में असमर्थ होते भी अनन्य भक्ति के कारण अनन्तगुण स्वरूप आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ हूं।

ये योगिनामपि न यांति गुणास्तवेश!।
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाश:।।
जाता तदेवमसमीक्षितकारितेयम्।
जल्पंति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि।।६।।

टीका :— हे ईश ! ते तव गुणा योगिनामपि वक्तुं न यांति न प्राप्नुवंति। तेषु गुणेषु ममावकाश: मम सामर्थ्य कथं भवति। भो देव तत्तास्मात्कारणात्। एवमियमसमीक्षितकारिता जाता। अविचारितं कार्यत्वं जातं। असमीक्षितस्य अविचारितस्य कारिता असमीक्षितकारिता। वा अथवा। ननु निश्चितं। पक्षिणोऽपि निजगिरा स्वकीयवाण्या जलपंति भणंति। तथैवाहमपीति भाव:।

अन्वयार्थ:— ईश— हे भगवन! ते तव गुणा:— आपके जो गुण, योगिनामपि— योगियों के द्वारा भी, वक्तुं न यांति— वर्णन में नहीं आते, तेषु— उनमें, मम— मेरी, कथं— कैसे, अवकाश:— सामर्थ्य, भवति— होती है अर्थात् मैं तुम्हारे गुणों को वर्णन करने में कैसे समर्थ होऊँगा, तत्— जैसे, एवं— इस विधि, इयं- आपकी स्तुति करने से, असमीक्षितकारिता— विचार न करने के समान, वा— अथवा, ननु— निश्चय, निजगिरा— अपनी भाषा में, पक्षिणोपि— पक्षियों के भी, जल्पंति— बोलते हुए अर्थात् अपनी शक्ति प्रमाण भगवद्गुणानुवाद करने में निर्दोष हैं।

भावार्थ— अखण्डरूप इस आत्मा का भेदरूप से वर्णन करना व्यवहार है। व्यवहार अपरमार्थभूत होता है इसलिए सत्यार्थ दृष्टि से अनन्त गुणात्मक यह आत्मा वचन अगोचर है फिर भी जिस प्रकार पक्षी किसी पदार्थ का संकेत न जानते हुए भी अपना भाव व्यक्त करने के लिए अव्यक्त

भाषा के द्वारा शब्दोचार करते हैं उसी प्रकार आत्मा विकल्पगम्यरूप न होने से उसका कथन करना यद्यपि प्रयासमात्र है फिर भी व्यवहार पद्धति में लाकर उसकी शक्ति के अनुसार अपने शब्दों के द्वारा मैं स्तुति करता हूं।

आस्तामचिंत्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते।
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।।
तीव्रातपोपहतपांथ जनान्निदाघे।
प्रीणाति पद्मसरस: सरसोऽनिलोऽपि।।७।।

टीका:– भो जिन ! ते तव। संस्तव: स्तवनं। आस्तां दूरे तिष्ठतु। कथंभूत: संस्तव:? अचिन्त्यमहिमा अनिर्वचनीयमहिमा यस्य स इति अचिन्त्यमहिमा। भवतस्तव नामाऽपि अभिधानमपि। भवत: संसारात् जगन्ति पाति रक्षति। निदाघे ग्रीष्मे। पद्मसरस: पद्ममण्डिततडागस्य। सरस: रसेन जलच्छटाभि: सह वर्तमान:। अनिलोऽपि वायुस्तीव्र: दुस्सह: स चासावातपस्तेन उपहता उपद्रुताश्च ते पांथा जनाश्च पथिकास्तान् प्रीणाति तर्पयति।।

अन्वयार्थ:– जिन! हे जिनेन्द्र!, अचिन्त्यमहिमा- अनिवर्चनीय महिमा है जिसकी, ते संस्तव:– आपके स्तोत्र तो, आस्तां– दूर रहे, भवत: नामापि– आपका नाम भी, भवत:– संसार से, जगन्ति– जगत् को, पाति– रक्षा करता है, निदाघे– ग्रीष्म ऋतु के मध्य, तीव्रातपोऽपहतपांथजनान्– तीक्ष्ण सूर्य किरण से व्याकुल राही को, पद्मसरस:– कमल सरोवर का, सरस: अनिल: अपि– जल बिन्दु से युक्त पवन भी, प्रीणाति– प्रीति उत्पन्न करता है।

भावार्थ :—जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में यदि किसी पथिक को ठंडा पानी मिल जावे तो कहना क्या है? परन्तु पानी का निमित्त न मिल सकने पर यदि जलकण मिश्रित सुगंधित और शीतल हवा का भी संयोग मिल जावे तो भी पथिक को बहुत कुछ संतोष होता है। उसी प्रकार यदि अनन्यभाव से आपकी स्तुति कर सका तो कहना ही क्या है? परन्तु आप वचन के अगोचर होने से और मैं अल्पशक्ति होने से यदि मैं आपकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हो सका, तो आपका नामोच्चारमात्र भी, जबकि तीन लोक के प्राणियों का संसार से उद्धार करता है तो मेरा उद्धार करेगा इसमें क्या आश्चर्य है? अर्थात् अनन्यभाव से की गई शब्द स्तुति भाव स्तुति की सहचारिणी होने से संसार समुद्र से अवश्य पार करने वाली होती हैं। अतएव मैं (स्तुति कर्ता) यह जो स्तोत्र के द्वारा आपकी स्तुति करता हूं उसमें मेरे भाव-परिणाम निबद्ध हैं। अतएव यह स्तुति मेरे संसार समुद्र से पार होने में सहायक होगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवंति।
जन्तो : क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः।।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-।
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य।।८।।

टीका:— हे विभो ! त्वयि भगवति! हृद्वर्तिनि सति चित्ते वर्तयति सति। जन्तोः प्राणिनः। निबिडा अपि कर्मबन्धाः क्षणेन क्षणमात्रेण। शिथिलीभवन्ति। हृदि वर्तत इत्येवंशीलः हृद्वर्ती तस्मिन्। कर्मणां बन्धाः कर्मबन्धाः अशिथिलाः

शिथिला भवंतीति शिथिलीभवंति। के इव? भुजंगममया बन्धा इव। यथा वनशिखण्डिनि वनमयूरे। चन्दनस्य मध्यभागमभ्यागते सति भुजंगममया बन्धा इव सद्य: तत्कालं शिथिलीभवंति। भुजंगमप्रकारा भुजगममया: प्रकारे मयट्।

अन्वयार्थ:— विभो— हे प्रभो ! त्वयि जन्तो: हृद्वर्तिनि— आपके प्राणियों के हृदय में निवास करने पर, जन्तो:— प्राणियों के, निबिडा अपि— सघन होने पर भी, कर्मबन्धा:— सारे कर्म बन्ध, क्षणेन— क्षण भर में, वनशिखण्डिनि— वन मयूर के, चन्दनस्य मध्यभागमभ्यागते— चन्दन वृक्ष के मध्य भाग में आने पर, भुजङ्गममया इव— सर्पों के बन्धन की तरह, सद्य: शिथिलीभवन्ति— तत्काल ही शिथिल हो जाते हैं।

भावार्थ:— परमात्म-स्वरूप को आत्मसात करना और आत्म-स्वरूप में स्थिर होना ये दोनों एक ही हैं। इस तरह जो भेद-दृष्टि से परमात्मा का और अभेद -दृष्टि से आत्म स्वरूप का ध्यान करता है अर्थात् अपनी आत्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूप अनुभव करता है। उसके सम्यग्दर्शनादिक के प्रतिपक्षी संसार के कारणभूत कर्म नियम से नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार सर्प का विरोधी मयूर यदि सर्प के पास आ जाता है तो सर्प बिना प्रयत्न के वहां से भाग जाता है। उसी प्रकार हे प्रभो ! यदि यह आत्मा अनन्त चतुष्टयादि स्वरूप आपके ध्यान के द्वारा रत्नत्रय- रूप इस आत्मा में स्थिर हो जावे तो उसके संसार का अन्त ही समझना चाहिए।

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र!
रोद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि।।
गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे।
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः।।९।।

टीका:– भो जिनेन्द्र ! त्वयि भगवति वीक्षिते सति। रौद्रैरपि उपद्रवशतैः उपसर्गकोटिभिः। मनुजाः सहसा मुच्यन्त एव विमुक्ता एव। कैरिव? चौरैरिव। यथा चौरैः गोस्वामिनि नृपे दृष्टमात्रे सति। आशु शीघ्रं। पशवः मुच्यन्ते। कथंभूते गोस्वामिनि? स्फुरितं प्रतापाक्रान्तं तेजो यस्य स तस्मिन्। कथभूतैश्चौरैः। प्रकर्षेण पलायमानाः प्रपलायमानास्तैः शीघ्रं नश्यद्भिः।।

अन्वयार्थ:– जिनेन्द्र– हे जिनेन्द्र ! स्फुरिततेजसि गोस्वामिनि– जिसका प्रकाश चारों दिशाओं में प्रतिभाषित हो रहा है, ऐसे गोस्वामी के अर्थात् किरणों के अधिपति सूर्य के– अथवा जिसका पराक्रम प्रसिद्ध है अर्थात् पृथ्वीपति राजा के- अथवा गौ के रक्षक गोस्वामी के, दृष्टमात्रे– देखने मात्र ही से, आशु प्रपलायमानैः चौरैः पशव इव– शीघ्र ही पलायमान चोर तथा पशु की तरह, त्वयि वीक्षितेऽपि– आपके दर्शन से ही, मनुजाः– मनुष्य, रोद्रैरुपद्रवशतै– शत महाभयंकर उपद्रवों से, सहसाः– शीघ्र, मुच्यन्ते– छूट जाते हैं।

भावार्थ– प्रजा की आपत्ति से रक्षा करना यह राजा का कर्त्तव्य है, इसलिए सामर्थ्यवान राजा को देख कर जिस प्रकार चोर भीति से चुराने के भाव को छोड़कर भाग जाने

में ही अपना कल्याण समझते हैं। उसी प्रकार आपके दर्शन करने वालों के परिणामों में उत्तरोत्तर विशुद्धि होने के कारण कर्म तथा तज्जन्य विकारभाव, दु:खानुभव और दु:ख निमित्त अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। कारण जिस प्रकार गुण स्मरण-रूप दर्शन से उत्पन्न हुई परिणाम विशुद्धि, कर्म और कर्म-जनित विकारीभाव, दु:खानुभाव तथा दु:ख निमित्त की प्रतिपक्षिणी है, इसलिए आपके दर्शन से संकट नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं हैं।

त्वं तारको जिन! कथं भविनां त एव।
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्त:।।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून।
मन्तर्गतस्य मरुत: स किलानुभाव:।।१०।।

टीका:– यत् यस्मात्कारणात्। त एव प्राणिन: भवाब्धे उत्तरन्त: सन्तो हृदयेन त्वां उद्वहन्ति तारयंति। अहमेवं संभावयामि। भव: संसार: विद्यते येषां ते भविनस्तेषां भविनां। यद्वा युक्तोऽयमर्थ:। यत् यस्मात्कारणात् दृतिश्चर्मभस्त्रिका जलं तरति। नून निश्चितं। किलेति सत्ये। एष अन्तर्गतस्य मरुत: पूरितस्य वायोरनुभाव प्रभाव:।।

अन्वयार्थ:– जिन– हे जिनेन्द्र ! त्वं भविनां तारक: कथं– आप संसारी जीवों को तारने वाले कैसे हो सकते हैं, यत्– कारण कि, उत्तरन्त: त एव– संसार समुद्र से पार होने वाले, हृदयेन त्वा उद्वहन्ति– हृदय में आप को धारण करते हैं, यद्वा– अथवा, यत्– जो, दृति:– चर्मपात्र, जलं

तरति– जल में तैरती है, किल– निश्चय ही, स एषः– वह है, नूनं– केवल, अन्तर्गतस्य मरुतः– अन्तर में भरे हुए वायु का, अनुभावः– प्रभाव है।

भावार्थः– आत्मपुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए रत्नत्रय स्वरूप यह आत्मा ही स्वयं उपादान कारण है। जब तक इस आत्मा में सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्रगटता नहीं होती है, तब तक इसको बाह्य हजार कारणों के मिलने पर भी यह आत्म-स्वरूप की प्राप्ति नहीं कर सकता है, इसलिए यह आत्मा ही अपने आत्म-स्वरूप का उद्धारक है। परन्तु मशक यदि निश्छिद्र हो और उसे हवा का संयोग मिल जावे तो वह जिस प्रकार हवा के निमित्त से पानी के ऊपर तैरने लगती है, इसलिए निमित्त की दृष्टि से वहां हवा की ही मुख्यता है। उसी प्रकार हे जिन! यदि यह संसारी प्राणी आत्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिए उत्सुक हो और इसे परमात्म स्वरूप आपका स्मरण, मनन और चिन्तवन का निमित्त मिल जावे तो यह शीघ्र ही संसार-समुद्र से स्वयं पार हो सकता है। इसलिए यद्यपि यह आत्मा संसार-समुद्र से पार होता है, परन्तु उसके लिए निमित्त-रूप आप ही हैं। प्राथमिक अवस्था में भेद-रूप आपका स्मरण करने से और निष्पन्नावस्था में आप स्वरूप स्वयं अपने को अनुभव करने से ही यह आत्मा कर्म-मुक्त होता है।

यस्मिन्हरप्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः।
सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन।।

विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन।
पीतं न किं तदपि दुर्द्धरवाडवेन।।११।।

टीका:– भो पार्श्वनाथ ! यस्मिन् कामे हरिप्रभृतयोऽपि ब्रह्माविष्णुमहेशादयो हतप्रभावा निरस्तशक्त्यो जाता: सोऽपि रतिपति कामस्त्वया क्षणेन क्षणमात्रेण क्षपितो ध्वस्त:। अथ युक्तोऽयमर्थ:। येन पयसा हुतभुजोऽग्नयो विध्यापिता निरस्तास्तदपि जलं दुर्द्धरवाडवेन दु:सहवाडवाग्निना किं न पीतं? अपि तु शोषितमित्यर्थ:।

अन्वयार्थ:– यस्मिन– कामदेव को परास्त करने में जो समर्थ, हरप्रभृतय: अपि– शिव, ब्रह्मा आदि, हतप्रभावा:– हतवीर्य-असमर्थ, स रतिपति: अपि– वह कामदेव भी, त्वया– आपके द्वारा, क्षणेन क्षपित:– एक क्षण में नाश हो जाता है, अथ– हाँ, यह ठीक है, येन पयसा– जिस जल से, हुतभुज:– अग्नि, विध्यापिता:– शमित होने पर, तत् अपि– वह भी जल, दुर्द्धरवाडवेन किं न पीतं– दुर्धर बड़वानल के द्वारा क्या पान नहीं किया जाता? अर्थात् पिया जाता है।

भावार्थ :– ब्रह्मा, विष्णु और महादेव भी देव कहलाते हैं और आप भी देव हैं, इसलिए जिस काम को ब्रह्मा आदिक वश नहीं कर सके, उसको आपने कैसे वश में कर लिया, ऐसी शंका का निरसन करते हुए स्तुतिकार दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पानी अग्नि को बुझाता है, परन्तु उसी पानी को जिस प्रकार बडवाग्नि शोष लेती है, उसी प्रकार कामभावों से वेष्टित ब्रह्मा आदिक यद्यपि कामभाव को

नहीं जीत सके, परन्तु आप स्वयं निर्विकार होने के कारण आपको उसके जीतने के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ा।

स्वामिन्ननल्पगरिमाणमपि प्रपन्ना।
त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः।।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन।
चिन्त्यो न हंत महतां यदि वा प्रभावः।।१२।।

टीका:— भो स्वामिन् ! अतुल्यगरिमाणमपि मानरहित गुरुत्व भाराक्रान्तमपि। त्वां प्रपन्नाः प्राप्ता जन्तवः अहो इत्याश्चर्ये। हृदये दधानाः सन्तः। लघु यथा स्यात्तथा। जन्मोदधिं भवार्णवं। अतिलाघवेन शीघ्रेण। कथं तरंति? अन्यत् गुरुत्वाक्रांतवस्तु हृदये दधानाः सन्तः प्राणिनोऽब्धौ निमज्जंति। त्वां गुरुत्वाक्रांतं हृदये दधानाः सन्तः भवार्णवे तरंति तन्मम मनसि महच्चित्रं- यदि वा पक्षांतरे हंत इत्यहो महतां महानुभावानां परमपुरुषाणां प्रभावो लोकोत्तरो महिमा न चिन्त्यः नो विचारणीय इत्यर्थः।।

अन्वयार्थ:— स्वामिन्— हे भगवान्! अहो— आश्चर्य है, अनल्पगरिमाणं अपि त्वां प्रपन्नाः— जिसके महान गरिमा है ऐसे आपको प्राप्त कर, हृदये दधानाः— हृदय में धारण कर, जन्तवः— संसारी प्राणियों के, जन्मोदधिं— संसार समुद्र, अतिलाघवेन— अतिशय शीघ्रता से सहज ही में, कथं— कैसे, लघु तरन्ति— सहज ही में पार कर लेते हैं, हन्त— आश्चर्य है कि, महतां प्रभावः चिन्त्यो न भवति— महानों के प्रभाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

भावार्थ-- बड़े भारी भार को लेकर नदी आदि को तैरना कठिन नहीं अति दु:साध्य है। उसी प्रकार महाभार वाले आपको हृदय में धारण करके यह संसारी जन संसार समुद्र से पार हो जाता है इसमें बड़ा भारी आश्चर्य मालूम पड़ता है। परन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, कारण "अनल्पगरिमा' शब्द का बड़ा भारी भार और महाप्रभाव वाले यह अर्थ होते हैं। इसलिए यहां पर श्री जिनेन्द्र के पक्ष में महा प्रभाव वाले यह अर्थ इष्ट है। अर्थात् अतिशय प्रभाव वाले ऐसे आपके आश्रय से ये संसारीजन संसार समुद्र से पार हो जाते हैं।

क्रोधस्त्वया यदि विभो! प्रथमं निरस्तो।
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्मचौरा:।।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके।
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी।।१३।।

टीका :-- भो विभो ! भो जगन्नाथ ! यदि चेत्त्वया भगवता। क्रोध: प्रथमं निरस्तो निराकृत:। तदा तर्हिं। बतेति विस्मयावहम्। किलेति सत्ये। कर्मचौरा अष्टकर्मदस्यव। कथं ध्वस्ता: निर्मूलिता:। कर्माण्येव चौरा: कर्मचौरा:। यदि वा युक्तोऽयमर्थ:। अमुत्र लोके। शिशिरापि शीतलापि। हिमानी हिमसंहति: नीलद्रुमणि विपिनानि किं न प्लोषति न दहति? अपि तु प्लोषत्येव। नीला हरितोद्रुमा वृक्षा येषु तानि। प्लुष दाहे इत्यस्य धातो: प्रयोग:।

अन्वयार्थ:-- विभो-- हे प्रभो ! यदि- अगर, त्वया क्रोध: प्रथमं निरस्त:-- आपके द्वारा क्रोध पहले ही पराजित हुआ है,

तदा वद– तब बाद में, कर्मचौरा: कथं ध्वस्ता:– कर्मरूपी चोर कैसे पराजित किये गये? यदि वा– हां ठीक हैं, अमुत्र लोके– इस मर्त्य लोक में, शिशिरापि हिमानी– शिशिर से भी अधिक ठण्डी, किं नीलद्रुमाणि विपिनानि– क्या नील वृक्ष शोभित वन में, न प्लोषति– नहीं जलाया जाता है?

भावार्थ:– क्रोधकषाय का नाश नववें गुणस्थान में हो जाता है और आठ कर्मों का नाश चौदहवें गुणस्थान में होता है इसलिए क्रोध के बिना आठ कर्म कैसे नष्ट किये जा सकते हैं? इस प्रकार की शंका होने पर स्तुतिकार हिम का दृष्टांत देकर समाधान करते हैं। यद्यपि समस्त पदार्थों को नष्ट करने के लिए अग्नि की आवश्यकता होती है परन्तु अति हिम पड़ने से भी सम्पूर्ण हरा जंगल जिस प्रकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार व्यवहार में चोरादि को शासन करने के लिए यद्यपि क्रोधादि के निमित्त की आवश्यकता होती है परन्तु आपको आठ कर्मों के नाश करने के लिए हिम की तरह क्रोधाभाव ही कारण हुआ इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूप-
मन्वेषयंति हृदयाम्बुजकोशदेशे।।
पूतस्य निर्मलरुचेर्यदि वा किमन्य-।
दक्षस्य संभवपदं ननु कर्णिकाया:।।१४।।

टीका :– भो जिन ! योगिन: सर्वदा सर्वकाले। हृदयाम्बुजकोशदेशे निजमनोऽम्बुजकोटरे। त्वां परमात्मरूपं चिदानन्दरूपं।

अन्वेषयन्ति गवेषयन्ति परं सर्वोत्कृष्टं ज्ञानं यस्य स चासावात्मा स एव रूपं स्वरूपं यस्य स तं। हृदयमेवाऽम्बुजं कमलं हृदयाम्बुजं तस्य कोशदेशस्तस्मिन्। यदि वा युक्तोऽयमर्थः। ननु निश्चितं कार्णिकायाः सकाशात् अन्यत् पूतस्य निर्मलस्य। अक्षस्य कमलबीजस्य। यत् स्थानं किं सम्भवि सम्भवति? अपि तु न सम्भवति। कथंभूतस्य अक्षस्य? निर्मला रुचिर्यस्य स तस्य।

अन्वयार्थः— जिन— हे जिन, योगिनः— योगीजन, सदा— निरन्तर, परमात्मरूपं— परमात्मरूपी, त्वां— आपको, हृदयाम्बुजकोश देशे— हृदय रूप कमल के मध्य प्रदेश में, अन्वेषयन्ति— अन्वेषण करते हैं, यदि वा— हां ठीक ही है, पूतस्य निर्मलरुचे— पवित्र निर्मल रुचिवाले, अक्षस्य संभवपदं— कमल के बीजों के उत्पत्ति का स्थल, ननु— निश्चय से, कर्णिकायाः अन्यत् किं— कमल के मध्य भाग के बिना और क्या?

भावार्थः— जिस प्रकार कमलबीज की उत्पत्ति कर्णिका में होती है उसी प्रकार परमात्मस्वरूप होने के लिए हृदयरूपी कमल का मध्यभाग बीज रूप है। अर्थात् जो अनन्यभाव से परमात्मा का चिंतवन करते हैं वे स्वयं अपनी आत्मा में ही परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं।

ध्यानाज्जिनेश! भवतो भविनः क्षणेन।
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके।
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः।।१५।।

टीका :– भो जिनेश ! भविनः प्राणिनः । भवतो ध्यानात् । क्षणेन क्षणमात्रेण । देहं शरीरं । विहाय समुत्सृज्य । परमात्मदशां परमात्मावस्थां । वज्रन्ति प्राप्नुवन्ति । परमात्मनो दशा ताम् । क इव? धातुभेदा इव । यथा धातुभेदाः सुवर्णोपलाः । लोके संसारे । तीव्रानलात् अत्यन्तदुःसहाग्नेः सकाशात् । उपलभावं उपलत्वं । अपास्य विहाय । अचिरात् अचिरकालेन । चामीकरत्वं सुवर्णभावं गच्छन्ति । तीव्रश्चासौ अनलश्च तीव्रानलस्तस्मात् । चामीकरस्य भावः चामीकरत्वम् ।

अन्वयार्थः– जिनेश- हे जिनेश! लोके धातुभेदाः– इस संसार में धातुयुक्त पाषाण, तीव्रानलात् उपलभावं अपास्य– अतितीव्र अग्नि के संयोग से, स्वकीय पूर्ण-रूप जो पाषाणपना है, उसको छोड़ कर, अचिरात्– शीघ्र, चामीकरत्वं– सुवर्ण रूप, प्राप्नुवन्ति– धारण करता है, इव– इस प्रकार से हे भगवन, भवतः ध्यानात्– आपके ध्यान से, भविनः– संसारी भव्य जीव, क्षणेन– भण भर में, देह विहाय– शरीर छोड़ कर, परमात्मदशां व्रजन्ति– परमात्म दशा को प्राप्त होते हैं ।

भावार्थः– जिस प्रकार स्वर्ण पत्थर में से स्वर्ण को अलग करने के लिए अग्नि की अत्यन्त आवश्यकता है, उसी प्रकार शरीर सम्बध से छूटने के लिए इस प्राणी को आपके ध्यान की अत्यन्त आवश्यकता है ।

अन्तः सदैव जिन! यस्य विभाव्यसे त्वम् ।
भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम् ।।

एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि।
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावा: ।।१६।।

टीका :– हे जिन ! यस्य शरीरस्यान्तर्मध्ये। सदैव सर्वदा काले। भव्यै: प्राणिभिस्त्वं। विभाव्यसे स्मर्यसे। तदपि शरीरं कथं नाशयसे। अथ पक्षे। हि युक्तोऽयमर्थ:। हि यस्मात्कारणात्। मध्यविवर्तिनां प्राणिनां एतत् स्वरूपं एतत् किं? यत् मध्यविवर्तिनो महानुभावा: विग्रहं कलहं पक्षे शरीरं। प्रशमयंति उपशमयन्ति। मध्ये विवर्तन्त इत्येवंशीला: मध्यविवर्तिन:। महान् अनुभाव: महिमा येषां ते महानुभावा: ।।

अन्वयार्थ:– जिन– हे जिनेन्द्र ! भव्यै:– भव्य जीवों के द्वारा, यस्य अन्त:– जिसके शरीर में, त्वं सदैव– आप सदा, विभाव्यसे– ध्यान किये जाते हैं, तत् शरीरं अपि– उस शरीर को भी, कथं– कैसे, नाशयसे– नाश करते हो, अथ– अथवा ठीक ही है, एतत् स्वरूपं हि- उस प्रकार का स्वरूप ही, यत्– कारण कि, मध्यवर्तिन: महानुभावा:– मध्यस्थ महापुरुष, विग्रहं प्रशमयन्ति– विग्रह को नाश करते हैं।

भावार्थ:– आप के ध्यान से ही यह आत्मा शरीर बन्धन से छूटकर मुक्त होता है।

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्धया।
ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभाव: ।।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानम्।
किन्नाम नो विषविकारमपाकरोति।।१७।।

टीका :– भो जिनेन्द्र ! मनीषिभिः पुंभि अयं प्रमाणसिद्धः । आत्मा त्वदभेदबुद्धया त्वत्तः सकाशादभिन्नधिया । ध्यातः सन् इह लोके भवत्प्रभावो भवति । यादृशो भवत्प्रभावस्तादृशेन प्रभावेन युक्तो भवति । त्वत्सदृशो भवतीत्यर्थः । मनीषा बुद्धिर्विद्यते येषां ते तैः । त्वत्तः अभेदः ऐक्यं तस्य बुद्धिस्तया भवद्वत् प्रभावो यस्य सः । पानीयमपि अमृतं पीयूषं इत्यनुमानं स्मर्यमाणं सत् नामेति निश्चितं । विषविकारं किन्नो अपाकरोति? किं नो दूरीकरोति ? अपि तु करोतीत्यर्थः । विषस्य विकारो विषविकारस्तम् ।

अन्वयार्थः– जिनेन्द्र– हे जिनेन्द्र !, इह– इस लोक में, मनीषिभिः– मनीषियों के द्वारा, त्वदभेदबुद्ध्या ध्यातः– आप में अभेद बुद्धि के द्वारा ध्यान करने वाला, अयं आत्मा– यह आत्मा, भवत्प्रभावः भवति– आपके समान प्रभावशाली होता है, अमृतं इति अनुचिन्त्यमानं पानीयमपि– यही अमृत है, ऐसा विचार करके पानीय जल भी, किं विषविकार नो अपाकरोति नाम– क्या विष-विकार को दूर नहीं करता ।

भावार्थः– यह अमृत है, इस प्रकार की भावना से यदि पानी भी ग्रहण कर लिया तो वह अमृत का काम करता है । कारण वस्तु के प्रभाव की अपेक्षा मनुष्य के ऊपर भावना का अधिक संस्कार होता है । उसी प्रकार जो पुरुष मेरी आत्मा और परमात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं है– इस प्रकार के दृढ़ निश्चय से यदि परमात्म स्वरूप होने के लिए प्रयत्न करता है, वह इस कर्मजनित उपाधि का त्याग करके एक दिन अवश्य ही परमात्मा हो जाता है । कारण यह संसारी प्राणी रागादि विकारों के कारण ही संसार

में परिभ्रमण करता है। अतएव वे रागादि विकार मेरे निजभाव नहीं हैं कर्मजनित हैं। इस प्रकार के दृढ़ निश्चय और अपने आत्मा को परमात्मस्वरूप अनुभव करने से ही स्वयं आत्मा परमात्मा हो सकता है।

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि।
नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शंखो।
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण।।१८।।

टीका:– भो विभो! नूनं निश्चितं। परवादिनोऽपि नैयायिकादयः। त्वामेव परमेश्वरं। हरिहरादिधिया ब्रह्माविष्णु महेशसुगतादि बुद्धया। प्रपन्ना प्राप्ताः। ध्यायन्तीत्यर्थः। हरिर्नारायणो हर ईश्वर इत्यादीनां धीस्तया। कथंभूतं त्वां? वीतं निराकृतं तमो येन स वीततमास्तं वीततमसं। परे च ते वादिनश्च परिवादिनः। भो ईश! एतद्युक्तं काचकामलिभिः पुंभिः। सितोऽपि उज्ज्वलोऽपि शंखः। विविधवर्णविपर्ययेण नानाविधरक्तपीतादिवर्णभ्रांत्या। अन्यथारूपेण किं नो गृह्यते ? अपि तु गृह्यत एव। चक्षुषो भ्रांतिकारी काचकामलरोगो विद्यते येषां ते तैः। विविधाश्च ते वर्णाश्च विविधवर्णास्तेषां विपर्ययस्तेन।

अन्वयार्थ:– विभो– हे स्वामिन्! वीततमसं त्वां एव– अज्ञानान्धकार दूर हो गये हैं, जिसके ऐसे आपको ही, नूनं– निश्चय ही, परवादिनोऽपि– अन्य मतवालों को भी, हरिहरादिधिया प्रपन्नाः– विष्णु महादेव आदि बुद्धि के द्वारा पूजित हैं, किं– क्या, ईश– हे स्वामी, काचकामलिभिः– जैसे कांच

कमला नामक रोग से, सित: शंख अपि– श्वेत शंख भी, विविधवर्णविपर्ययेण– विविध प्रकार के वर्णों के विपर्यय से, नो गृह्यते– नहीं ग्रहण किया जाता है क्या?

भावार्थ:– शंख सफेद ही होता है, परन्तु जिसको पीलिया रोग हो जाता है, वह उस रोग के कारण शंख को जिस प्रकार पीला आदि रंग का ग्रहण करता है। उसी प्रकार हे विभो! देवपन यद्यपि आप में ही हैं, परन्तु परवादी जन दर्शनमोहनीय-कर्म के निमित्त से आप को ही विष्णु, ब्रह्मा और महादेव इत्यादिक -रूप से ग्रहण करते हैं। अर्थात्– ब्रह्मा आदि कोई स्वतन्त्र देव नहीं हैं, देव एक आप ही हैं, परन्तु मिथ्यात्व के माहात्म्य से मिथ्यादृष्टि जन आपके स्वरूप की अन्यथा कल्पना करके अनेक प्रकार के देव मानते हैं।

धर्मोपदेश समये सविधानुभावा।
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोक:।।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि।
किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोक:।।१९।।

टीका :– भो परमेश्वर ! धर्मोपदेशसमये धर्मदेशनाकाले। तव परमेश्वरस्य। सविधानुभावात् सामीप्यप्रभावात्। जनो लोक:। आस्तां तिष्ठतु। तरुरपि अशोको भवति शोकरहितो भवति। तत्र लोकोऽपि भवतीति किमाश्चर्यं इति भाव। धर्मस्य उपदेशस्तस्य समय: दिव्यध्वनि कालस्तस्मिन्। सविधस्य अनुभाव: महिमा तस्मात्। वा युक्तोऽयमर्थ: दिनपतौ सूर्ये। अभ्युद्गते सति समन्तादुदिते सति। समहीरुहोऽपि

वृक्षसहितोऽपि जीवलोकः प्राणिवर्गः। विबोधं ज्ञानं किं न उपयाति? जाग्रदवस्थां किं न गच्छति? अपितु उपयातीत्यर्थः। महीरुहै सह वर्तमानः समहीरुहः।।

अन्वयार्थः– धर्मोपदेशसमये– धर्मोपदेश के समय में, ते सविधानुभावात्– आपके सान्निध्य की प्राप्ति के प्रभाव से, जनः आस्तां– मनुष्य तो दूर रहे पर, तरुरपि अशोकः भवति– वृक्ष भी अशोक हो जाता है। वा– अथवा, दिनपत्रौ अभ्युद्गते– सूर्य के उदित होने पर, समहीरुहोऽपि जीवलोकः– वृक्षवनस्पति सहित समस्त प्राणीवर्ग, किं विबोधं न उपयाति– क्या विकास को प्राप्त नहीं होते हैं? अर्थात् सूर्योदय होने पर वृक्षादिक वनस्पति विकाश को प्राप्त होकर प्रफुल्लित होते हैं। उसी प्रकार जगत में प्राणिवर्ग विकास को प्राप्त होते हैं। अर्थात् जागृत होते हैं। तात्पर्य– आपके सहवास से मनुष्य ही ज्ञानवान होते हैं, केवल यही नहीं परन्तु इतर प्राणिवर्ग भी ज्ञानी हो जाते हैं।

भावार्थः– भगवान् के समवसरण में अशोक वृक्ष होता है और समस्त प्राणी भी शोक रहित हो जाते हैं।

चित्रं विभो ! कथमवाङ्मुख वृन्तमेव।
विष्वक्पतत्यविरला सुर पुष्प वृष्टिः।।
त्वद् गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश!
गच्छंति नूनमध एव हि बन्धनानि।।२०।।

टीका :– हे विभो ! सुरपुष्पवृष्टिः अवाङ्मुखवृन्तमेव यथा स्यात्तथा विष्वक् समन्तात् कथं पतति ? एतन्महच्चित्रं। अवाङ्मुखानि अधोमुखानि वृंतानि प्रसवबन्धनानि यत्र

क्रियायां तत् । वृंतं प्रसवबन्धनमित्यमर: । सुराणां देवानां पुष्पवृष्टि: । न विरला अविरला अविरल निविडा चेत्यर्थ: । यदि वा युक्तोऽयमर्थ: । नूनं निश्चितं । भो मुनीश ! सुमनसां प्राणिनां । त्वद्गोचरे त्वत्सांनिध्ये । बन्धनानि अध एव गच्छन्ति । यथा सुमनसां पुष्पाणां अधोमुखेन वृंतपतनं तथा बन्धनानि कर्मबन्धनान्यपि सुमनसां प्राणिनां अधोगच्छन्तीति भाव: । सुष्ठु मनो येषां ते सुमनसस्तेषां । पुष्पं सुमनसं फुल्लमिति धनंजय: ।

अन्वयार्थ:– विभो– स्वामिन, चित्रं– आश्चर्य है कि, विष्वक् अविरलासुरपुष्पवृष्टि:– चारों दिशाओं में अविरत पुष्प वृष्टि जो देवगण करते हैं, अवाङ्मुखवृन्तमेव– पुष्प अधोमुख वृत्तों वाले हो जाते हैं । कथं पतति– कैसे पड़ता है, यदि वा– अथवा ठीक है कि मुनीश– हे मुनिराज, त्वद्गोचरे– आपके सम अर्थात् आपके केवल ज्ञान में प्रकट, सुमनसां बन्धनानि– फूलों के बन्धन, नूनं– निश्चय ही, अधएव गच्छंति– नीचे हो जाते हैं ।

भावार्थ:– जो प्राणी आप का आश्रय करता है उसके कर्मबन्धन अपने आप टूट जाते हैं ।

स्थाने गभीर हृदयो दधि संभवाया: ।
पीयूषतां तव गिर: समुदीरयंति ।।
पीत्वा यत: परम संमद संग भाजो ।
भव्या व्रजंति तरसाप्यजरामरत्वम् ।।२१ ।।

टीका :– भो प्रभो ! तव परमेश्वरस्य । गिर: दिव्यध्वनय: । पीयूषतांअमृत भावं । समुदीरयन्ति जना गिरोऽमृतमया:

कथयन्ति। पीयूषस्य भावः पीयूषता तां। एतत् स्थाने इति युक्तं। कुतः यतः कल्याणात्। भव्याः प्राणिनः। या अमृतमया गिरः पीत्वा। तरसापि वेगेन। अजरामरत्वं वज्रन्ति। अजरामरस्य भावः अजरामरत्वं। कीदृशा भव्याः? परमः सर्वोत्कृष्टः स चासौ संमदः आनन्दस्तत्संगं संयोगं भजन्ते इत्येवं शीलाः। कथंभूता गिरः? गम्भीरं च तत् हृदयं च तदेव उदधिः समुद्रः तस्मात्सम्भव उत्पत्तिर्यासां ताः।

अन्वयार्थः— हे स्वामिन ! गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः— गम्भीर हृदय रूपी समुद्र से उत्पन्न होने वाली, तव गिर— आपकी, भाषा— दिव्य, ध्वनि वाणी, पीयूषतां उदीरयंति— अमृत मान कर लोग जिसका पान करते हैं, स्थाने— योग्य हैं, यतः— कारण कि, भव्याः— संसारी भव्य प्राणी, तां पीत्वा— इसे पान कर, (कर्णेन्द्रिय द्वारा) परमसंमदसंगभाजः— अत्यन्त आनन्दयुक्त होकर, तरसापि— शीघ्र ही, अजरामरत्वं व्रजंति— जरा मरण रहित अक्षय सुखस्वरूप मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

भावार्थः— लोक में यह प्रसिद्ध है कि अमृत का पान करने से यह प्राणी अमर हो जाता है, परन्तु यह केवल लोकोक्ति ही है। सचमुच में यदि इस संसार में अमृत है तो वह केवल एक भगवान की दिव्यध्वनि ही अमृत है कारण कि जिस प्राणी ने एक भगवान की दिव्यध्वनिरूपी अमृत का प्रान किया है वह निश्चय से निराकुलतामय अनन्त सुख का भोक्ता होता हुआ अजर और अमर ऐसे अनन्तसुख को प्राप्त करता है।

स्वामिन् सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो।
मन्ये वदंति शुचयः सुरचामरौघाः।।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुंगवाय।
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावा।।२२।।

टीका:– भो स्वामिन् ! अहं एवं मन्ये इति सम्भावयामि। इतीति किं? शुचय उज्ज्वलाः। सुरचामरौघा देवानां चतुःषष्टिचामरयुग्मानि। सुदूरं अतिसमीपं। यथा स्यात्तथा अवनम्य अल्पं मस्तकोपरि निपत्य। समुत्पतन्तः सन्तः। इति वदन्ति इति भणंति। इतीति किं? ये पुरुषा अस्मै मुनिपुंगवाय समवसरण विराजमानतीर्थंकरश्रीपार्श्वनाथाय। नतिं नमस्कारं। विदधते कुर्वंति। ते भव्याः। नूनं खलु इति सत्ये। शुद्धभावाः सन्त उर्ध्वगतयो भवंति। यथा वयं चामरौघाः अवनम्राः सन्तः उर्ध्वगतयस्तथा भवंतः अपि भवंति। शुद्धभावं सम्यक्त्वं येषां ते।

अन्वयार्थ:– स्वामिन्– हे स्वामी ! मन्ये– मानकर, सुदूरं अवनम्य– अतिशय नम्रीभूत होकर, समुत्पतन्तः– सम्पूर्ण पतनोन्मुख हो रहा है। अर्थात् आपके मस्तक पर ढुरते हुए, शुचयः– पवित्र, सुरचामरौघाः– देवों के चामर, वदंति– कहते हैं। ये अस्मै मुनिपुंगवाय– जो भव्य पुरुष या मुनिश्रेष्ठ हैं उनको, अर्थात् समवसरण में विराजमान तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ को, नतिं विदधते– नम्रीभूत हो नमस्कार करते हैं, ते– वे भव्य पुरुष, नूनं– निश्चय ही, खलु– निश्चय ही, शुद्ध भावाः – विशुद्ध परिणामी, उर्ध्वगतयः– उर्द्धगतिमान, भवंति– होते हैं।

भावार्थ:— आत्मकल्याण के इच्छुक जो भव्य पुरुष परम वीतराग, चिच्चमत्काररूप निज भाव को प्राप्त और व्यवहार में 'पार्श्वनाथ' इस संज्ञा को प्राप्त ऐसे परमात्मस्वरूप इन मुनिश्रेष्ठ का आश्रय लेगा अर्थात् अनन्य भाव से इनकी भक्ति करेगा वह संसार बन्धन से अवश्य ही मुक्त होगा। भगवान् के मस्तक पर ढुरने वाले चमर अपनी प्रवृत्ति से भव्य जीवों को मानो यही उपदेश देते हैं।

श्यामं गंभीरगिरमुज्ज्वलहेमरत्न:-।
सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वां।।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै-।
श्चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम्।।२३।।

टीका:— भो विभो ! भव्यशिखण्डिन: भव्यलक्षणा: शिखण्डिनो मयूरा:। इह लोके त्वां। रभसेन वेगेन। आलोकयन्ति। भव्या एव शिखण्डिन: भव्यशिखण्डिन:। कीदृशं त्वां? गंभीरा तत्त्वार्थे अत्यन्तमगाधा धीर्यस्य स तं। पुन: कीदृशं त्वां? उज्ज्वलैर्निर्मलैर्हेमरत्नै: खचिते सिंहासने तिष्ठतीति तं। पुन: कीदृशं त्वां? चामीकराद्रिशिरसि मेरो: शृंगे। उच्चैर्नदन्तं नवाम्बुवाहमिव नवमेघमिवोत्प्रेक्षा। चामीकराद्रे: शिरस्तस्मिन्। नवश्चासौ अम्बुवाहश्च तम्।

अन्वयार्थ:—हे पार्श्वनाथ! इह– लोक में, श्यामं– श्यामवर्ण, गम्भीरगिरं– गम्भीर दिव्यध्वनि करने वाले, उज्ज्वलहेमरत्न सिंहासनस्थं– उज्ज्वल स्वर्ण निर्मित रत्न जड़ित सिंहासन में विराजमान, त्वां– आपको, भव्यशिखण्डिन: –

भव्यजीव-रूपी मयूर, चामीकराद्रिशिरसि– सुवर्णमय सुमेरु पर्वत की चोटी पर, उच्चैः नदन्तं– जोर से गर्जना करते हुए, नवाम्बुवाहं इव– नवीन वर्षाकालीन मेघ की तरह, रभसेन आलोकयन्ति– आनन्द विभोर होकर देखते हैं।

भावार्थ– हे पार्श्वनाथ जिन! वर्षाकाल आ जाने पर सुमेरु पर्वत की शिखर पर गर्जना करते हुए काले मेघ को मयूर जिस प्रकार अत्यन्त उत्सुकता और आनन्द से देखते हैं, उसी प्रकार जीवादि पदार्थों का अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा सूक्ष्म विवेचन करने वाले, श्यामवर्ण और समवशरण में सिंहासन के ऊपर बैठे हुए ऐसे आपका भव्यजीव उत्सुकता और आनन्दपूर्वक दर्शन करते हैं।

उद्गच्छता तव शित द्युति मण्डलेन।
लुप्तच्छदच्छविरशोकतरु र्बभूव।।
सांनिध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग!
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि।।२४।।

टीका:– भो वीतराग ! अशोकतरुः। तव भगवतः उद्गच्छता उदीयमानेन। शितद्युतिमण्डलेन उज्ज्वलभामण्डलेन। लुप्तच्छदानां पत्राणां। छविः शोभा। यस्य स एवंविधो बभूव। शितं च तद्द्युतिमण्डलं च शितद्युतिमण्डलं तेन। यदि वा युक्तोऽयमर्थः। तव सांनिध्यतोऽपि। कः सचेतनोऽपि सुज्ञोऽपि। नीरागतां रागेच्छारहिततां न व्रजति? अपि तु व्रजतीत्याशयः चेतनेन सह वर्तमानः सचेतनः।

अन्वयार्थ:– हे पार्श्वनाथ ! तव सान्निध्यतः अपि– आपके सान्निध्य से, उद्गच्छता– स्फुरायमान– अतिशय प्रभायुक्त,, तव

शितद्युतिमण्डलेन– आपके नील कान्तिमान भामण्डल के द्वारा, अशोकतरु:– अशोक वृक्ष, लुप्तच्छदच्छवि:– शोभा विहीन छवि, बभूव– हुआ अर्थात् आपके भामण्डल की नील कान्ति से अशोक वृक्ष के पत्तों का लालरंग भी शोभायमान नहीं हुआ, यदि वा– ठीक ही है, जैसे– अशोक वृक्ष का राग रंग आपके भामण्डल की कान्ति से फीका पड़ गया, वीतराग !– हे वीतराग ! क: सचेतन: – ऐसा कौन सचेतन पुरुष है, कि जो, नीरागतां– वीतराग अवस्था को, न व्रजति– प्राप्त होता नहीं, अपि– अवश्य होता है, आपके प्रभाव से भव्य पुरुष रागद्वेष रहित होता है।

भावार्थ :–भगवान् के भामण्डल के प्रभाव से अशोक वृक्ष के पत्तों की लालिमा लुप्त हो जाती है और उनका आश्रय करने वाले भव्य प्राणी वीतराग भाव को प्राप्त होते हैं। इसी अभिप्राय का स्तुतिकार ने इस कविता में सुन्दरता से वर्णन किया है।

भो भो: प्रमादमवधूय भजध्वमेन।
मागत्य निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम्।।
एतन्निवेदयति देव ! जगत्त्रयाय।
मन्ये नदन्नभिनभ: सुरदुन्दुभिस्ते।।२५।।

टीका:– भो देव ! अहं एवं मन्ये एवं सम्भावयामि। ते तव। सुरदुन्दुभि: देवपटह:। अभिनभ: नभ: समन्तात्। नदन्। जगत्त्रयाय त्रैलोक्याय एतन्निवेदयति। सुराणां दुन्दुभि: सुरदुन्दुभि:। एतत् किं? भो भो जना: प्रमादं अवधूय आलस्यं परित्यज्य। आगत्य समेत्य। एनं श्री

पार्श्वनाथं। भजध्वं सेवध्वं। कथंभूतं एनं? निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम्।

अन्वयार्थः— देव— हे देव ! मन्ये— मानते हैं। अभिनभः— आकाश में, नदन्— शब्दायमान, ते सुरदुन्दुभिः — आपका देव दुन्दुभि, जगत्त्रयाय— त्रिलोक के प्राणियों को, एतन्निवेदयति— यह जताता है कि, भो भो— अहो, अहो, पुरुषों, प्रमादं अवधूय- तुम प्रमाद को छोड़कर, निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहं— मोक्षपुरी की तरफ जाने वाले, एनं— इन पार्श्वनाथ जिनकी, आगत्य— शरण में जाकर, भजध्वं— भजो अर्थात् उनकी भक्ति करो।

भावार्थः— भगवान के समवसरण में साढ़े बारह कोटि के वादित्रों की ध्वनि निरन्तर होती रहती है। जो मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने वाले भव्य जीवों को मंगल सूचक है। उसी प्रकार दूरवर्ती जीवों के लिए यहां पर श्री जिनेन्द्र का धर्मोपदेश हो रहा है। इस विषय की सूचना करने वाली है उससे यह भी ध्वनित होता है कि जो परवादियों के फन्दे में फसेंगे उनका अकल्याण होगा, वीतराग स्वरूप सुधामय धर्म का उपदेश यहां पर हो रहा है। इसलिए जिन्हें आत्म कल्याण करना हो उन्हें ऐसे परम देवाधिदेव का ही आश्रय लेना चाहिए।

उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ !।
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः।।
मुक्ता कलापकलितोल्लसितात पत्र-।
व्याजात्त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः।।२६।।

टीका:– भो नाथ ! अयं तारान्वितो नक्षत्रग्रहतारकान्वितो। विधुश्चंद्र:। ध्रुवं निश्चितं। अभ्युपेत: समेत:। केषु सत्सु। भवता परमेश्वरेण। भुवनेषु त्रैलोक्येषु। उद्योतितेषु सत्सु। कथंभूतोऽयं? विहत: अधिकारो येन स:। पुन: कथंभूतोऽयं ? मुक्तानां कलाप: समूहस्तेन कलितं सहितं उल्लसितं शोभायमानं च तत् आतपत्रं च तस्य व्याजं मिषं। तत्तस्मात् त्रिधा धृततनु: शरीरं येन स:।

अन्वयार्थ:– नाथ! – हे स्वामी, भवता भुवनेषु उद्योतितेषु–आपके द्वारा प्रकाशित जगत में, मुक्ताकलापकलितोल्लसितातपत्र व्याजात– मोतियों के समूह से युक्त तेजस्वी ऐसे तीन छत्रों के व्यंजन से, तारान्वित:– अनेक ग्रहनक्षत्रादि तारकाओं से वेष्टित, विहताधिकार:– अपने अधिकार से च्युत अर्थात् प्रकाशित करने का अधिकार जिसका चला गया, अयं विधु:– ऐसा यह चन्द्रमा, त्रिधा धृततनु:– तीन शरीरों को धारण कर, ध्रुवं– निश्चय, अभ्युपेत:– आपकी सेवा करता है।

भावार्थ:– भगवान के मस्तक पर तीन छत्र शोभायमान होते हैं वे स्वच्छ और शुक्लकांति से युक्त होते हैं उनकी प्रभा के आगे चन्द्रमा की प्रभा कुछ भी नहीं है। इस पर आचार्य उत्प्रेक्षा करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो ! मुझे ऐसा लगता है कि अपने अधिकार से च्युत हो जाने के कारण ही वह चन्द्रमा अपने तारका आदि परिवार सहित आकर छत्रत्रय के बहाने से भगवान की सेवा करने लगा है।

स्वेन प्रपूरित जगत्त्रय पिण्डितेन।
कान्ति प्रताप यशसामिव संचयेन।।
माणिक्य हेम रजत प्रविनिर्मितेन।
शालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि।।२७।।

टीका:– भो भगवन् ! शालत्रयेण प्राकारत्रयेण। त्वं अभित: समन्तात्। विभासि शोभसे। कथंभूतेन शालत्रयेण? माणिक्यानि च हेमानि रजतानि च माणिक्यहेमरजतानि तै: निर्मितं तेन। केनेव कान्ति प्रतापयशसां संचयेन। यथा स्वेन कान्तिप्रतापयशसां संचयेन त्वं विभासि। कान्तिश्च प्रतापश्च यशश्च कान्तिप्रतापयशांसि तेषां। कथंभूतेन संचयेन ? प्रपूरितं च जगत्त्रयं च प्रपूरितजगत्त्रयं प्रपूरित जगत्त्रयेण पिण्डित: एकीभूतस्तेन। इति तात्पर्यार्थ: ।।

अन्वयार्थ:– भगवन्– हे भगवन ! अभित: स्वेन प्रपूरित जगत्त्रयपिण्डितेन– सर्वत्र सम्पति से भरा हुआ त्रिजगत् के पिंड के समान, कांतिप्रताप यशसांसंचयेन इव– तथा कांति, प्रताप और यश समुदाय की तरह, माणिक्य हेमरजतप्रविनिर्मितेन– मणि स्वर्ण चांदी आदिक द्वारा निर्मित हुए, शालत्रयेण– तीन कोटों के द्वारा, विभासि– आप शोभायमान होते हैं।

भावार्थ:– श्री जिनेन्द्र के समवशरण में माणिक्य, स्वर्ण और चांदी के तीन कोट होते हैं, जो तीन लोक की सम्पदा एकत्र करके बनाये गये हैं, ऐसे प्रतीत होते हैं तथा जिस प्रकार श्री जिनेन्द्र अपनी कांति, प्रताप और यश के द्वारा शोभायमान होते हैं, उसी प्रकार शोभायमान होते हैं।

अर्थात् भगवान् की कान्ति के समान स्फटिक मणि का कोट, प्रताप के समान सोने का कोट और यश के समान चांदी का कोट शोभायमान होता है।

दिव्यस्रजो जिन ! नमत्त्रिदशाधिपाना-।
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान्।।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वा परत्र।
त्वत्संगमे सुमनसो न रमन्त एव।।२८।।

टीका:– भो जिन ! दिव्यस्रज: मनोज्ञपुष्पमाला:। नमत्त्रिदशाधिपानां प्रणमत्त्रिदशेन्द्राणां। रत्नरचितानपि मौलिबन्धान् रत्नखचितान् किरीटान्। उत्सृज्य। भवत: परमेश्वरस्य। पादौ श्रयन्ति। नमन्तश्च ते त्रिदशाधिपाश्च तेषां। रत्नै: रचितास्तान्। मौलिनां बन्धा: मौलिबन्धास्तान्। यदि वा युक्तोऽयमर्थ:। सुमनस: प्राणिन:। त्वत्संगमे त्वत्समीपे। परत्र अन्यत्र। न रमन्त एव। इति स्थूलार्थ:।

अन्वयार्थ:– जिन– हे जिनेन्द्र ! दिव्यस्रज:– दिव्य पुष्पों की माला, नमत्त्रिदशाधिपानां– त्रिजगदाधीश आपके चरण में झुके हुए देवों के, रत्नरचितानपि मौलिबन्धान्– रत्न-जड़ित मुकुटों के बन्धन, उत्सृज्य– तोड़कर, भवत:– आपके, पादौ– चरणों में, श्रयंति– आश्रय ग्रहण करते हैं, यदि वा– अथवा, त्वत्संगमे– आपके समागम में, सुमनस:– सुमनस अर्थात् पुष्पमाला अथवा पवित्र मन वाले भव्य प्राणी अपरत्र– दूसरी जगह, न एव रमन्ते– नहीं रमन करता है।

भावार्थ:– जो देवेन्द्र स्वयं आप के चरणों में अपने मस्तक को नम्रित करते हैं, उनके मुकुटों की माला यदि आपके चरणों का

आश्रय करती है तो इसमें क्या आश्चर्य है? सच पूछा जावे तो *भगवान्* के चरणों का निरन्तर आश्रय करने से ही फूलों को सुमनस् यह संज्ञा प्राप्त हुई है। कारण कि– जो जिनेन्द्रदेव के चरणों का ही आश्रय करता है, दूसरी जगह जिसका चित्त नहीं लगता है, सचमुच में वे ही सुमनस् अर्थात् फूल अथवा उत्तम मनवाले समझने चाहिए।

त्वं नाथ! जन्म जलधे र्विपराङ्मुखोऽपि।
यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान्।।
युक्तं हि पार्थिवनृपस्य सतस्तवैव।
चित्रं विभो ! यदसि कर्मविपाकशून्यः।।२९।।

टीका:– भो नाथ ! त्वं जन्मजलधेः भवसमुद्रात् विपराङ्मुखोऽपि सन् निजपृष्ठलग्नान् असुमतः प्राणिनः यत्तारयसि हि निश्चितं तवैव सतो विद्यमानस्य पार्थिवनृपस्य राजाधिराजस्य त्रिजगत्स्वामिनः युक्तं। हे विभो ! यत्कर्मविपाकशून्योऽसि तच्चित्रं। यः कोऽपि तारयति स फलं वांछति तव क्वाऽपि वांछा न। अथवा यः कोऽपि कार्यं किमपि करोति तस्य शुभाशुभकर्मबन्धो भवति तव सोऽपि नास्तीति चित्रं महदाश्चर्यं। पार्थिवनृपस्य घटस्य जलधेः विपराङ्मुखतारकत्वं। युक्तं तस्य घटस्य कर्मविपाकशून्यता नास्ति। स तु घटः कर्मविपाकसहितः। जन्मैव जलधिस्तस्मात्। निजपृष्ठलग्नांस्तान्। पार्थिवानां नृपः स्वामी तस्य। घटपक्षे पृथिव्यां अयं पार्थिवः। नॄन् मनुष्यान जलदानेन पातीति नृपः। पार्थिवश्चासौ नृपश्च पार्थिवनृपस्तस्य। कर्मणां बंधः अष्टकर्मणां विपाक

उदयस्तेन शून्यः। घटपक्षे कर्मवद्विपाकः पचनं तेन शून्यो न। अत्र श्लेषालंकारः।

अन्वयार्थः— नाथ— हे स्वामी, त्वं— आप, जन्म-जलधेर्विपराङ्मुखोऽपि— भव-समुद्र से विमुख होने पर भी, यत्— जो, निजपृष्ठ लग्नान् असुमतः— अपने अनुयायी भव्य प्राणी, पार्थिवनृपस्य सतः तवैव— टूटे हुए मिट्टी के घड़े की तरह, त्रिलोकी नाथ अर्थात् पृथ्वीपति राजा के अनुयायी भव्यजनों की तरह, तारयसि— पार करते हो, तव तवैव युक्तं हि— आपको भी उचित है परन्तु हे, विभो— प्रभो, चित्रं— आश्चर्य है कि, यत— जो, कर्मविपाकशून्योऽसि— कर्मविपाक से रहित होते हैं।

भावार्थः— संसार में जितने इस पार से उस पार ले जाने वाले पदार्थ हैं, वे उसके फल से रहित नहीं होते हैं, परन्तु आप ही एक ऐसे असाधारण तारक हैं, जो स्वयं कर्म-बन्ध अथवा शुभाशुभ फल अथवा किसी भी प्रकार की इच्छा से रहित होते हुए संसारी प्राणियों का इस संसार-समुद्र से उद्धार करते हैं। यह निरिच्छ तारक-रूप धर्म दूसरे किसी भी पदार्थ में नहीं हो सकता है।

विश्वेश्वरोऽपि जनपालक ! दुर्गतस्त्वम्।
किंवाक्षर प्रकृति रप्यलिपिस्त्वमीश!।।
अज्ञान वत्यपि सदैव कथंचिदेव।
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्व विकास हेतुः।।३०।।

टीकाः— जनान्पालयतीति जनपालकः तस्यामन्त्रणे हे जनपालक! त्वं विश्वेश्वरोऽपि त्रैलोक्यनाथोऽपि सन् दुर्गतः किं दरिद्रः

कथमिति विरोधः शब्दतः । द्रष्टुं ज्ञातुमशक्यं गतं ज्ञानं यस्य सः । वा अथवा भो ईशभो विभो ! त्वं अक्षरप्रकृतिरपि वर्णस्वरूपोऽपि अलिपिः कथं । अक्षरा अविनश्वरा प्रकृतिः स्वभावो यस्य सः । न विद्यते लिपिर्मोहो यस्य सः । यः अक्षरः प्रकृतिः क्षरतीति क्षरः न क्षरतीति अक्षरः सो लिपिर्न भवति । इति शब्दतो विरोधः नार्थतः । भो जिन! त्वयि सदैव अज्ञानवत्यपि सति ज्ञानरहितेऽपि सति कथंचिदेव विश्वविकासहेतु ज्ञानं स्फुरति । योऽज्ञानवांस्तस्मिन् ज्ञानं क्वेति शब्दतो विरोधः नार्थतः । अज्ञानप्राणिनोऽवतीति तस्मिन् । विश्वेषां विकाशः प्रकटीकरणं तस्य हेतुर्निदानं ।

अन्वयार्थ:— जनपालक— त्वं विश्वेश्वरोऽपि दुर्गतः— आप विश्वेश्वर होने पर भी निर्धन, किंवा— अथवा, अक्षर प्रकृतिः अपि त्वं अलिपिः— अक्षर स्वभाव होने पर भी अलिपि अर्थात् आपको लिपिबद्ध नहीं कर सकते, ईश— हे स्वामिन, कथंचित अज्ञानवति अपि त्वयि— किंचित प्रमाण अज्ञानवान होने पर भी आप में, विश्वविकासहेतु, ज्ञानं सदैव स्फुरति— विश्व के विकास के लिए ज्ञान सदा ही स्फुरायमान होता है ।

भावार्थ:— आप तीन लोक के स्वामी हैं, अनन्तज्ञानी हैं, अविनश्वर हैं, निर्मोह हैं । संसार के प्राणियों का उद्धार करने वाले हैं और तीन लोक में त्रिकालवर्ती ज्ञान से शोभायमान हैं ।

प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषा- ।
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि ।।
छायापि तैस्तव न नाथ ! हता हताशो ।
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ।।३१।।

टीका:- भो नाथ ! शठेन मूर्खेण। कमठेनेति कमठचर संवरनामज्योतिष्कदेवेन । रोषात् पूर्वोपार्जितवैरात् । यानि रजांसि उत्थापितानि तैः । स्वरजोभिः तव भगवतश्च्छायापि प्रतिबिम्बमपि न हतं न स्पृष्टं । अपि तु परं केवल अमीभिः अयमेव पापीयान् कमठ एव ग्रस्तः । मलिनीकृतः । कथंभूतोऽयं ? हता आशा यस्य स हताशः । प्राग्भारेण सामस्त्येन सम्भृतं व्याप्तं नभो यैस्तानि ।

अन्वयार्थः- नाथ- हे नाथ, रोषात्- पूर्वोपार्जित राग द्वेष से, शठेन कमठेन- दुष्ट कमठ द्वारा, यानिप्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि उत्थापि तानि- जो आकाश में प्रकृष्ट भाव से धूलिकण उड़ाये गये थे, तैः- उसी धूलि के द्वारा, तु- तो, तवछाया अपि न हता- आपकी छाया भी न ढक सकी, परं हताशः अयमेव दुरात्मा- परन्तु निराश होकर यही दुष्ट कमठ, अमीभिः ग्रस्तः- कर्म रूपी धूलि से ग्रस्त है।

भावार्थः- पूर्वभव के वैर के कारण कमठ ने पार्श्वनाथ स्वामी के ऊपर भयंकर उपसर्ग किया था, परन्तु वे जिनेन्द्र अपने आत्मध्यान में इतने तल्लीन थे कि उन्हें इस उपसर्ग का भी स्मरण नहीं हुआ। परन्तु यह कमठ ही ऐसा भयंकर पाप करके दुर्गतियों के कारण ऐसे पापों से बंधा।

यद्गर्ज दूर्जित घनौघमदभ्रभीमम् ।
भ्रश्यत्तडिन्मुसल मांसलघोर धारम् ।।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे ।
तेनैव तस्य जिन ! दुस्तर वारि कृत्यम् ।।३२।।

टीका:- भो जिन ! यत् दैत्येन कमठदानवेन दुस्तरवारि दुर्द्धरपानीयं

मुक्तं भवान् दध्रे । अथ पुनस्तस्य कमठस्य तेनैव पानीयेन दुस्तरवारिकृत्यं जातं । दुस्तरं दुस्सहं यत् वारि दुस्तरवारि दुष्ठु यो हि तरवारिश्चंचत्खड्गस्तद्वत्कृत्यं यस्य तत् एवंविधं समजनि । कथंभूतं दुस्तरवारि? गर्जिता ऊर्जिता महत्तरा ये घना मेघास्तेषां ओघा यस्मिंस्तत् । मुसललवत्मांसलाः स्थूला भयदा धारा यस्मिंस्तत् ।

अन्वयार्थः— जिने— हे जिनेश्वर ! दैत्येन—कमठ नामक दैत्य के द्वारा, गर्जदूर्जितघनौघं— आपको विघ्न उत्पन्न करने के लिए घनघोर शब्द करता हुआ, अदभ्रभीमं— अतिशय भयंकर, भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारं— कड़कती हुई बिजली के साथ भयंकर शब्द करती हुई मूसलाधार वृष्टि, यत्— जो, दुस्तरवारि— असम्भव है, जिसे पार करना, मुक्तं— मुक्त किया, अथ— अथवा, तेनैव— उसके द्वारा, तस्य एव— उस दैत्य का, दुस्तरवारिकृत्यं— तीक्ष्ण तलवार का काम किया ।

भावार्थः— उस कमठ नाम के दैत्य ने सात दिन रात्रि श्री पार्श्वनाथ भगवान् के ऊपर इतनी भयंकर वर्षा की थी जिसको यदि तलवार का काम कहा जावे तो अत्युक्ति नहीं होगी। कारण तलवार से मनुष्य का संहार किया जाता है और वह वर्षा भी इतनी भयंकर थी कि वही वर्षा थोड़ी देर के लिए भी हीन संहननवाले मनुष्य के ऊपर की जाती तो वह कभी भी जीवित नहीं रह सकता था परन्तु भगवान् अनंतबली और व्रजवृषभ-नाराच संहननवाले होने के कारण उनको उस उपसर्ग की कल्पना भी नहीं हुई।

ध्वस्तोर्ध्वकेश विकृता कृति मर्त्य मुण्ड:।
प्रालम्ब भृद्भयद वक्त्र विनिर्यदग्नि:।।
प्रेतव्रज: प्रति भवन्तमपीरितो य:।
सोऽस्याऽभवत्प्रति भवं भवदु:ख हेतु:।।३३।।

टीका:— भो परमेश्वर ! य: प्रेतव्रजो भूतसमूह: । भवंतं श्रीमन्तंप्रत्यपि । ईरित: प्रेरित: । स प्रेतव्रज: अस्य कमठस्य । प्रतिभवं भवंप्रति । भवस्य संसारस्य । दु:खानां हेतु: । अभूत् बभूव । प्रेतानां व्रज:' प्रेतव्रज: । ध्वस्ता विस्तारिता ये ऊर्ध्वकेशास्तैर्विकृता विकारिण्य आकृतयो येषां ते ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतय एवंविधा ये मर्त्यास्तेषां मुण्डानि कपालानि: तेषां प्रालम्बमालां बिभर्तीति । पुन: कथं प्रेतव्रज:? भयदवक्त्रविनिर्यदग्नि: भयदायि यद्वक्त्रं तस्माद्विनिर्यन्त: नि: सरन्तोऽग्नयो यस्य स: ।

अन्वयार्थ:— हे परमेश्वर! उस कमठ असुर ने ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृति मर्त्यमुण्डप्रालम्बभृत्— विस्तारित व खड़े हुए केश राशि जिसके हैं तथा जिसका रूप भयानक हो गया है ऐसा तथा जिसने नरमुण्ड की माला धारण कर रखी है, भयदवक्त्रविनिर्यदग्नि:— भयंकर मुख से अग्नि निर्गत हो रही है, य: प्रेतव्रज: अपि— यह प्रेत समुदाय ही, भवन्तं प्रति ईरित— आपके पास भेजे गये थे, स:— वे पिशाचसमुदाय, अस्य— इस कमठ दैत्य का, प्रतिभवं भवदु:खहेतु, अभवत्— प्रति भव में दु:ख देने वाला हुआ था।

भावार्थ:— हे प्रभो यद्यपि उस कमठ दैत्य ने आपके ऊपर उपसर्ग करने के लिए भयंकर भूत और पिशाच आदि का समुदाय

भेजा था परन्तु वह भूत पिशाचों का समुदाय आपका तो कुछ भी नहीं कर सका किन्तु इससे उस दैत्य के ही अनंत संसार के कारण ऐसे कर्मों का बंध हुआ।

धन्यास्त एव भुवनाधिप ! ये त्रिसन्ध्य।
माराधयंति विधिवद्विधुतान्यकृत्याः।।
भक्त्योल्लसत्पुलक पक्ष्मलदेहदेशाः।
पादद्वयं तव विभो ! भुवि जन्मभाजः।।३४।।

टीकाः— भो भुवनाधिप ! भो विभो ! भुवि पृथिव्यां। त एव जन्मभाजो धन्याः पुण्यवंताः। ते के? ये जन्मभाजः प्राणिनः। त्रिसंध्यं त्रिकालं। भक्त्या श्रद्धया। तव विभो। पादद्वयं चरणकमलं। विधिवत् विध्युक्तप्रकारेण। आराधयन्ति निषेवन्ते। कीदृशास्ते? विधूतानि स्फोटितानि अन्यानि कृत्यानि यैस्ते। पुनरुल्लसन्तश्च ते पुलकाश्च तैः पक्ष्मलाः कलंकिता व्याप्ता वा देहस्य शरीरस्य प्रदेशा येषां ते।

अन्वयार्थः— भुवनाधिप विभो! — हे त्रिलोकीनाथ!, भुवि— इस संसार में, भक्त्या— भक्ति के द्वारा, उल्लसत्पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः— जिससे रोम व सर्वदेह पुलकित होता है, ये जन्मभाजः— यह संसारी जीव, विधुतान्यकृत्या— इतर संसार-सम्बंधी सम्पूर्ण कार्यों को छोड़कर, विधिवत्— विधिपूर्वक, तव पादद्वयं— आपके चरणयुगल, त्रिसन्ध्यं— प्रातः कालीन, मध्याह्नकालीन व सन्ध्याकालीन, आराधयन्ति— पूजा करते हैं, त एव धन्याः— वे ही धन्य हैं।

भावार्थः— कार्य दो प्रकार के हैं, एक निजकार्य और दूसरे परकार्य। आत्मसम्बन्धी कार्य को निजकार्य और शरीर सम्बन्धी

कार्य को परकार्य कहते हैं। मोह से अभिभूत हुआ यह प्राणी निजकार्य को भूला हुआ है और पर कार्य में लीन है। इसे थोड़ी भी खबर नहीं है कि शरीरादिक के पोषक कार्यों से मेरी आत्मा का ह्रास ही होता है। ऐसी स्थिति होते हुए हे प्रभो ! जिसने आपके चरणों की शरण ले ली है सचमुच में वे ही धन्य हैं, कारण– वे आत्मसम्बन्धी कार्य के सन्मुख हो गये हैं और शरीर सम्बन्धी कार्यों को भूल चले हैं।

अस्मिन्नपार भव वारि निधौ मुनीश!।
मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि।।
आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमन्त्रे।
किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति।।३५।।

टीका:– भो मुनीश ! अहमेवं मन्ये इति सम्भावयामि। इतीति किं? अस्मिन प्रत्यक्षगोचरीभूते। अपारवारिनिधौ अगाधसंसारसमुद्रे। मे मम। श्रवणगोचरतां कर्णयमलप्रत्यक्षभावं ! त्वं न गतोऽसि न प्राप्तोऽसि। अपारो अगाधो यो भव एव वारिनिधिस्तस्मिन्। श्रवणयो: कर्णयो: गोचरता प्रत्यक्षभावता तां। वा अथवा। तव भगवतो गोत्रपवित्रमन्त्रे तव भगवत: पावनमन्त्रे। आकर्णितेऽपि सति। विपद्विषधरी आपद्भुजंगी। किं सविधं समीपं। समेति आगच्छति? अपि तु न समेतीत्यर्थ:। गोत्रं नाम तल्लक्षणो य: पवित्रमन्त्रस्तस्मिन। विपदेव विषधरी सर्पिणी विपद्विषधरी।

अन्वयार्थ:– मुनीश! हे मुनीन्द्र! मन्ये– मानता हूँ, अस्मिन् अपारभववारिनिधौ– इस अपार भव-समुद्र में, तव मे–

आप मुझे, श्रवणगोचरतां न गतोऽसि– कर्णगोचर नहीं होते, तव गोत्र पवित्र मन्त्रे आकर्णिते तु– आपके नाम का पवित्र मन्त्र कर्णगोचर होने पर, विपद्विषधरी– विपद-रूप भयंकर सर्पिणी, सविधं समेति किं वा– समीप आती है क्या? कभी भी नहीं आती।

भावार्थ:– यह संसारी प्राणी संसार में जन्म-मरण के दु:ख उसी समय तक सहन करता है, जब तक उसको श्री जिनेन्द्र का नाम स्मरण नहीं हुआ। एक बार भी जिनेन्द्र देव का नाम स्मरण होने पर वह संसार के समस्त बंधनों से छूट जाता है।

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव!।
मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम्।।
तेनेह जन्मनि मुनीश ! पराभवानां।
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम्।।३६।।

टीका:– हे देव ! अहमेवं मन्ये मया जन्मान्तरेऽपि एकस्मिन् जन्मन्यपि। तवार्हतं। पादयुगं चरणद्वयं। न महितं न पूजितमित्यर्थ:। एकस्माज्जन्मनोऽन्यज्जन्म जन्मान्तरं तस्मिन्। किदृशं पादयुगं? ईहितं अभिलषितं तस्य दानं प्रदानं तत्र दक्षं। भो मुनीश! तेन कारणेन भवच्चरणाऽपूजनहेतुना इह जन्मनि इह भवांतरेऽपि। अहं पराभवानां आपदां। पात्रं स्थानं। जातोऽस्मि अभूवं। कथंभूतानां पराभवानां? मथित: विलोडित: आशयश्चित्तं यैस्ते तेषाम्।

अन्वयार्थ:– देव– हे देव, मन्ये– हमें ऐसा मान्य होता है, मया

जन्मान्तरेऽपि– मैंने पूर्व जन्म में भी, ईहितदानदक्षं– मनोवांछित फल देने में समर्थ, तव पादयुगं– आपके चरणद्वय को, न महितं– पूजता नहीं, तेन इह जन्मनि– इसलिए इस जन्म में, मुनीश ! – हे मुनीन्द्र! अहं– मैं, मथिताशयानां पराभवानां– हृदय भेदी तिरस्कारों को, निकेतनं जात:– निवास स्थान में गये अर्थात् तिरस्कार प्राप्त हुए।

भावार्थ:– श्री जिनेन्द्र के चरणों में वही पुरुष अनन्य भक्ति से लीन होता है, जिसको आत्मबोध हो जाता है तथा जिसको आत्मबोध हो जाता है, वह संसार के समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। जिस कारण मैं संसार-सम्बन्धी दु:खों से मुक्त नहीं हुआ हूं। इससे मालूम पड़ता है कि- हे प्रभो! मैनें पूर्वभव में आपके चरणों की सेवा नहीं की है।

नूनं न मोह तिमिरावृत लोचनेन।
पूर्वं विभो! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्था:।
प्रोद्यत्प्रबन्ध गतय: कथमन्यथैते।।३७।।

टीका:– भो विभो! नूनं निश्चितं। मोह एव तिमिराणि अन्धकाराणि तैरावृत्ते उज्झंपिते छादिते लोचने यस्य स तेनैवंविधेन मया। पूर्वं प्रागेव। सकृदपि एकवारमपि।! त्वं न प्रविलोकितोऽसि नयनगोचरीभावं न गतोऽसि। हि युक्तोऽयमर्थ:। अन्यथा चेत् त्वं मम नयनगोचरीभावं गतश्चेत्। एते अनर्था: जन्ममृत्यु जरादय: मां कथं

विधुरयंति पीडयन्ति? कथंभूता अनर्था:? प्रोद्यन्त्य उदीयमाना: प्रबंधानां कर्मबंधानां गतयो येषु ते। पुन: कथंभूता:? मर्माविधो मर्मभेदका:।

अन्वयार्थ:– विभो ! – हे प्रभो ! मोहतिमिरावृतलोचनेन– मोहरूपी अन्धकार के द्वारा ढके हुए आंखों के द्वारा, नूनं– निश्चित्, पूर्वं सकृदपि– पूर्व में एक बार भी, न प्रविलोकित: असि– आपको पहले नहीं देखा, अन्यथा– नहीं तो, प्रोद्यत्प्रबन्धगतय: एते मर्माविध: अनर्था:– अतिशय बलवान, वृद्धि प्राप्त व मर्म को भेदने वाले दु:ख अर्थात् पाप-कर्म, कथं विधुरयन्ति– कैसे पीड़ा देते?।

भावार्थ:– मोह के कारण मुझे अभी तक स्वस्वरूप की प्राप्ति नहीं हुई है तथा जब तक निजस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, तब तक मुझे आपके दर्शन होना अशक्य है। कारण स्व-स्वरूप और आप में अन्तर नहीं है तथा जिसे आपके दर्शन नहीं हुए उसे जन्म मरण के दु:ख भोगने ही पड़ेगे। इसलिए आपको छोड़कर जन्म मरण के दु:खों से छुड़ाने वाला दूसरा कोई भी नहीं है।

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि।
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।।
जातोऽस्मि तेन जनबांधव ! दु:खपात्रम्।
यस्मात्क्रिया: प्रतिफलन्ति न भावशून्या:।।३८।।

टीका:– भो विभो ! मया अज्ञानिना। त्वं आकर्णितोऽपि समवशरण लक्ष्मीविराजमान एवं श्रुतोऽपि। एवंविधस्त्वं ! महितोऽपि पूजितोऽपि। एवंविधस्त्वं। निरीक्षितोऽपि। नूनं निश्चितं।

चेतसि मनसि। भक्त्या सम्यक्त्वपूर्वकं न विधृतोऽसि। हे जनानां बान्धव! तेनैव हेतुना अहं। दु:खानां पात्रं जातोऽस्मि सर्वदु:खस्थानं अभूवं। यस्मात्कारणाद्भावशून्या: सम्यक्त्वरहिता क्रिया: न प्रतिफलन्ति। भावेन शून्या भावशून्या:।।

अन्वयार्थ:— जनबान्धव !— हे जनबांधव ! आकर्णितोऽपि— पहले सुनने पर भी, महितोऽपि— आपकी पूजा की, निरीक्षितोऽपि— आपके दर्शन करने पर भी, नूनं— निश्चय, मया— मेरे द्वारा, भक्त्या— भक्तिपूर्वक, चेतसि— मन में, न विधृत: अस्मि— धारण नहीं किया है, तेन— इस कारण, दु:खपात्रं जात: अस्मि— मैं दु:ख भोगने का पात्र हूं, यस्मात्— कारण कि, भावशून्या: क्रिया:— भक्ति रहित क्रिया, न प्रतिफलन्ति— सफल नहीं होती।

भावार्थ:— बाह्य-क्रिया मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों के होती हैं। उनसे यदि संसार-बन्धन छूटता होता तो मिथ्यादृष्टि संसार बंधन से मुक्त हो गये होते। इससे यह निश्चित है कि परिणामों के बिना बाह्य-क्रिया कार्यकारी नहीं है। यही भाव स्तुतिकार ने अत्यन्त सुन्दरता के साथ इस कविता में निबद्ध किया है।

त्वं नाथ ! दु:खिजनवत्सल ! हे शरण्य!।
कारुण्यपुण्यवसते ! वशिनां वरेण्य!।।
भक्त्या नते मयि महेश ! दयां विधाय।
दु:खांकुरो दलनतत्परतां विधेहि।।३९।।

टीका:— भो शरण्य शरणाय अर्ह ! भो नाथ ! भो दु:खिजनानां

वत्सल बांधव ! भो कारुण्यपुण्यवसते! हे वशिनां वरेण्य! हे यतीनां श्रेष्ठ! हे महेश! मयि विषये। दयां कृपां। विधाय। दु:खानां अंकुरास्तेषां उद्दलनं निराकरणं तत्र तत्परस्तस्य भावस्तां विधेहि कुरु। कथंभूते मयि? भक्त्या नते नम्रीभूते। भो नाथ ! हे पार्श्वनाथ! हे जनबांधव ! मम दु:खानि निवारय मोक्षं देहीति तात्पर्यार्थ:।

अन्वयार्थ:— हे नाथ— हे स्वामी ! दु:खिजनवत्सल— दु:खी जनों के प्रिय करुणा धारी, शरण्य— हे शरणदाता, कारुण्यपुण्यवसते— करुणा तथा पुण्य के वश, वशिनां वरेण्य— हे योगीन्द्र, महेश— हे महेश, भक्त्या— भक्ति पूर्वक, नते मयि— मेरी नम्रीभूत होने से, दयां विधाय— दया करके, दु:खांकुरोद्दलनतत्परतां विधेहि— दु:ख के उत्पत्ति रूप कारणों के नाश करने के लिए तत्पर हो।

भावार्थ:— हे स्वामिन्! आप जन्म-जरा और मरण के दुख से पीड़ित पुरुषों के लिए उनको दु:खों से छुड़ाने के लिए निकट बन्धु हैं, शारीरिक, मानसिक और वाचनिक अनेक आपत्तियों से घिरे हुए इस प्राणी के लिए, आप ही शरणभूत हैं, दया और पवित्रता आप को छोड़कर दूसरी जगह निवास नहीं करती है, सर्व प्रकार की अभिलाषायें नष्ट हो जाने के कारण जितेन्द्रिय पुरुषों में आप ही श्रेष्ठ हैं, इसलिए आप में नम्र हुए अर्थात् आपके गुणों की सच्ची भक्ति करने वाले मेरे ऊपर दया करके दु:ख के कारणों का नाश कीजिये अर्थात् आपके प्रसाद से मेरे अन्त: करण में दु:खों के सत्य कारणों के समझने की और उनके निवारण करने की बुद्धि उत्पन्न हो।

नि:संख्यसारशरणं शरणं शरण्य- ।
मासाद्य सादितरिपु प्रथितावदानम् ।।
त्वत्पादपंकजमपि प्रणिधानवन्ध्यो ।
वन्ध्योऽस्मि तद्भुवनपावन हा हतोऽस्मि् ।।४०।।

टीका:— हे भुवनपावन हे त्रैलोक्यपावन! चेत् यदि । त्वत्पादपंकजमपि तव चरणकमलमपि । आसाद्य प्राप्य । प्रणिधानेन बध्य: । पुन: पुनश्चिन्तन रहितस्तर्हि वंध्योऽस्म्यहं अहं निष्फल एव । तव पादा एव पंकजंत्वत्पादपंकजं । हा इति खेदे हतोऽस्मि पीड़ितोऽस्मि । कथंभूतं त्वत्पादपंकजं? नि: संख्या: संख्यारहिता ये सारा: पदार्थास्तेषां शरणं गृहं । पुन: कथंभूतं? सादिता रिपव: कर्मवैरिणो येन तत् । पुन: कथंभूतं? प्रथितो विख्यातोऽवदानो महिमा यस्य तत् ।

अन्वयार्थ:— भुवनपावन— हे त्रिलोक के पवित्र करने वाले, नि:संख्यसारशरणं— असंख्य— संख्यारहित अर्थात् जो अगणित सार के धारक हैं, शरण्यं— शरण आये हुए को, प्रतिपालन करने वाले, सादितरिपु प्राथितावदानं— अर्थात् कर्मरूपी शत्रु जीतकर अपनी कीर्ति को प्रख्यात किया ऐसे आपको, त्वत्पादपंकजमासाद्य अपि— आपके चरणकमल द्वय के शरण में आकर भी, प्रणिधानवन्ध्य:— चिन्तवन से रहित, तत्— तो, हे महाराज, बन्ध्य: अस्मि:- मैं अभागा हूं कि, हा हत: अस्मि— मैं मर गया ।

भावार्थ:— हे त्रैलोक्यपावन जिनेन्द्र देव! जो अनन्त पदार्थों के स्थान हैं, रक्षण करने वाले हैं, शरणभूत हैं, रागद्वेष आदि शत्रुओं के नाश करने वाले और जिनकी कीर्ति सब जगह

फैल गई है ऐसे आपके चरणकमलों को प्राप्त करके भी जो मैं उनके सतत चिंतवन से रहित हो गया तो मेरा जीवन निष्फल है, कष्ट है, कि मैं मारा गया। लोक में जो वस्तु हितकर होती है, दु:खों का नाश करने वाली होती है उसको न प्राप्त करके यदि किसी ने अपने जीवन को यों ही बिता दिया तो उससे अधिक दुर्भाग्य दूसरा क्या हो सकता है? उसी प्रकार श्री वीतराग जिनदेव के चरण कमल ही लोगों के कल्याणकारी और परम पवित्र हैं। यदि उनका आश्रय न करके मैंने अपने जीवन को यों ही निकाल दिया तो मुझ जैसा अभागा दूसरा कौन हो सकता है अर्थात् कोई नहीं हो सकता है।

देवेन्द्रवन्द्य ! विदिताखिलवस्तुसार !।
संसारतारक ! विभो ! भुवनाधिनाथ!।।
त्रायस्व देव ! करुणाहृद ! मां पुनीहि।
सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बुराशे:।।४१।।

टीका:– देवेन्द्राणां वंद्य: पूज्यस्तस्यामंत्रणे हे देवेन्द्रवंद्य ! विदितो ज्ञातोऽखिलवस्तूनां सर्वपदार्थानां सारस्तात्पर्यं येन स तस्यामंत्रणे हे विदिताखिलवस्तुसार ! संसारे भवाब्धौ तारयतीति् तस्यामंत्रणे हे संसारतारक !। हे भुवनाधिनाथ !। हे देव !। करुणायाहृद: समुद्र: तस्यामंत्रणे हे करुणाहृद!। मां भक्तजनं। त्रायस्व पाहि। भो देव ! अद्य भयदो भयदायी यो व्यसनानां आपदां अम्बुराशि: सागरस्तस्मात्। पुनीहि पवित्रय रक्ष। कथंभूतं मां? सीदन्तं दु:खितं दु:खेन पीडितम्।

अन्वयार्थः– देवेन्द्रवन्द्य– देवेन्द्रों के द्वारा पूजनीय, विदिताखिलवस्तुसार– सर्व पदार्थ के तात्पर्य को जानने वाले, संसार तारक– भवसमुद्र से पार लगाने वाले, विभो– हे प्रभो, भुवनाधिनाथ– हे त्रिलोकीनाथ, करुणाहृद– हे दयासरोवर, देव– हे देव, अद्य सीदन्तं मां त्रायस्व– आज दुःख भोगने वाला जो मैं हूं सो मेरी रक्षा करो, भयदव्यसनाम्बुराशेः पुनीहि– भयंकर दुःखरूपी समुद्र से मेरी रक्षा करो।

भावार्थः– हे भगवान् आप देवेन्द्रों के द्वारा वंदनीय हैं, आप समस्त पदार्थों के जानने वाले हैं, आप संसार रूपी समुद्र से पार करने वाले हैं, आप सबके स्वामी हैं और आप करुणा के समुद्र हैं, इसलिए दुःखों से आप ही मेरी रक्षा कर सकते हो अतएव दुःखी हुए मुझे इस संसार सम्बंधी दुःखों से छुड़ाओ।

यद्यस्ति नाथ ! भवदंघ्रिसरोरुहाणाम्।
भक्तेः फलं किमपि सन्ततसंचितायाः।।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य! भूयाः।
स्वामी ! त्वमेव भुवनेऽत्र भवांतरेऽपि।।४२।।

टीकाः– भो नाथ! भो शरण्य! यदि चेत् भवदंघ्रिसरोरुहाणां श्रीमच्चरणकमलानां भक्तेः किमपि फलं अस्ति चेत् तर्त्तर्हि मे मम अत्र भुवने इह जन्मनि भवांतरेऽपि वा त्वमेव स्वामी प्रभुर्भूया भवतात्। कथंभूताया भक्तेः? सन्तत्या निरंतरेण संचिता कृता तस्याः। कथंभूतस्य मे? त्वमेव एकं अद्वितीयं शरणं यस्य स तस्य।

अन्वयार्थ:— नाथ— हे नाथ ! त्वेदकशरणस्य मे— केवल आपके चरणों की शरण में आया मेरा, सन्ततसंचितायाः— निरन्तर चिन्तवन करके, भवदंघ्रिसरोरुहाराणां भक्तेः— आपके चरण कमलों की भक्ति के द्वारा, यदि किमपि फलं अस्ति— यदि कोई भी फल है तो, शरण्य— हे आश्रय दायक, तत्— तो, त्वमेव— आप ही, अत्र भुवने भवांतरे अपि— इस भव में एवं भवांतर में भी, स्वामी भूयाः— स्वामी हो।

भावार्थ :— आपके चरणों की चिरकाल पर्यंत भक्ति रहने के लिए मिथ्यात्वभाव का अभाव कारण है। जिसको मिथ्यात्व का उदय होता है, उसकी ही भक्ति मिथ्या देवों के स्थान में होती है। अतएव हे प्रभो इस पर्याय में मुझे जो आपकी अनन्य भक्ति प्राप्त हुई है वह मेरे परिणामों में इतना उत्तम सम्यक्त्व के संस्कार को उत्पन्न करने में सहाक हो जिससे पर्याय-पर्याय में आपको छोड़कर दूसरों की शरण में जाना न पड़े।

इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र।
सांद्रोल्लसत्पुलक कन्चुकितांगभागाः।।
त्वद्बिम्ब निर्मल मुखाम्बुज बद्ध लक्ष्या।
ये संस्तवं तव विभो ! रचयंति भव्याः।।४३।।

टीका:— भो जिनेन्द्र भो विभो ! ये भव्याः प्राणिनः शुद्धसम्यक्त्वधारिणो जनाः। तव भगवतो। जिनस्य संस्तवनं यथार्थस्तोत्रं। इत्थं पूर्वोक्त प्रकारेण। विधिवत् यथाविधि रचयंति। कथंभूताः भव्याः ? समाहिता सावधाना धी बुद्धिर्येषां ते। पुनः कथंभूताः ? सांद्रः निबिड़ः उल्लसन् यो हि पुलकः कंटकेस्तेन

कंचुकिता: कवचिता अंगभागा शरीरप्रदेशा येषां ते। पुन: कथंभूता:? तव बिम्बं त्वद्बिम्बं तस्य। निर्मलंयन्मुखाम्बुजं मुखकमलं तत्र बद्धं लक्ष्यं यैस्ते।

अन्वयार्थ:– जिनेन्द्र– हे जिनेन्द्र! ये भव्या:– ये संसारी भव्य जन, समाहितधिय:– एकाग्रचित होकर, त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुज बद्धलक्ष्या:– आपके प्रतिबिम्ब रूप निर्मल, मुख कमल पर बांधा है जिन्होंने ऐसे तथा, सान्द्रोल्लसत्पुलक कंचुकितांगभागा:– मुख कमल के प्रति दृष्टि करके पलक में रोमांच होने से, विभो– हे विभो, तव– आपका, इत्थं विधिवत्– इस तरह विधि अनुसार, संस्तवं रचयंति– स्तुति रचना करता है, ते– पुरुष।

भावार्थ:– जो सम्यग्दृष्टि निरन्तर आपकी भक्ति में तल्लीन रहता है वह सातिशय पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग सुखों का उपभोग करके अन्त में मोक्ष को प्राप्त होता है। अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए आपकी भक्ति दरवाजा है और स्वर्ग सुख विश्रान्ति का स्थान है और मोक्ष यह अन्तिम साध्यभूत लक्ष्य है।

आर्या

जननयनकुमुदचन्द्र! प्रभास्वरा: स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा।
ते विगलितमलनिचया अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते।।४४।।

टीका:– जनानां भव्यानां नयनान्येव कुमुदानि कैरवाणि तत्र चन्द्रस्तस्यामंत्रणे हे जननयनकुमुदचन्द्र! ते भव्या:। स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा स्वर्गसाम्राज्यं परिभुज्य। अचिरात् स्वल्पकालेन मोक्षं प्रपद्यंते लभंते। कीदृश: स्वर्गसम्पद:?

प्रभास्वरा: प्रकर्षेण भास्वरा: दीप्यमान: कथंभूता भव्या? विगलितो मलनिचयो येषां ते विगलितमलनिचया: ।।

अन्वयार्थ:— जननयनकुमुदचन्द्र— लोक के नयन रूपी कमल को आनन्द देने में चन्द्रमा की तरह, प्रभास्वरा: स्वर्ग सम्पदो भुक्त्वा— दैदीप्यमान नाना प्रकार स्वर्ग-सुख भोग कर, विगलितमलनिचय: — अष्ट कर्मरूपी मलसमूह को नष्ट करके, अचिरात्— शीघ्र, मोक्षं प्रपद्यन्ते— मोक्ष प्राप्त करते हैं।

भावार्थ:— जिसे मोक्ष की प्राप्ति करनी होगी उसे आपकी भक्तिरूप दरवाजे में से ही जाना होगा।

एकीभाव स्तोत्रम्

श्रीवादिराजसूरिविरचितम्

मन्दाक्रान्ता छन्द

एकीभावं गत इव मया य: स्वयं कर्मबन्धो।
घोरं दु:खं भवभवगतो दुर्निवार: करोति।।
तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे! भक्तिरुन्मुक्तये चेत्।
जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतु:।।१।।

टीका:— जिनेषु रवि: सूर्यस्तस्यामन्त्रणे हे जिनरवे ! य: कर्मबन्धोऽष्ट कर्मणां। प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन चतुर्विधो बन्ध:। स्वयं घोरं निबिडं। करोति विदधाति। कीदृश: कर्मबन्ध:? मया सहैकीभावं गत इवैकत्वमापन्न इव। पुन: भवभवगत: प्रतिभवगत: पुनर्दु:खेन् निवारयितुमशक्य: दुर्निवार:। तस्य कर्मबन्धस्य। अस्यापि दु:खस्यापि चेत् यदि। त्वयि भगवति

विषये भक्तिः। उन्मुक्तये विश्लेषाय भवति। तर्हि तया भक्त्या कृत्वा अपरहेतुः को वा जेतुमशक्यो भवति। जय्यो भवतीत्यर्थः। भो जिन! संसारसंताप त्वद्भक्तिं विना कोऽपि जेतुं शक्तो न भवति।

भावार्थः— सैकडों पर्याय में संचय किये हुए कर्म जब कि एक जिनेन्द्र भक्ति के द्वारा नष्ट हो सकते हैं तो दूसरे क्षुद्र उपद्रव उस भक्ति के निमित्त से शांत होते हैं इसमें क्या आश्चर्य है अर्थात् एक जिनेन्द्र देव की भक्ति ही सर्व प्रकार के उपद्रवों को शांत करने में समर्थ है।

ज्योतिरूपं दुरितनिवहध्वान्तविध्वंसहेतुं।
त्वामेवाहुर्जिनवर! चिरं तत्त्वविद्याभियुक्ताः।।
चेतोवासे भवसि च मम स्फारमुद्भासमान।
स्तस्मिन्नंहःकथमिव तमो वस्तुतो वस्तुमीष्टे।।२।।

टीका - जिनेषु गणधरदेवेषु वरः श्रेष्ठः तस्यामंत्रणे हे जिनवर! चिरं चिरकालं। तत्त्वविद्याभियुक्तास्तत्त्वज्ञानिनो गणधरदेवादयः। त्वामेव ज्योतिरूपं परतेजः स्वरूपमर्हत-माहुर्भणन्ति स्म। तत्त्वविद्याभिरभियुक्ताः संयुक्तास्तत्त्वविद्या-भियुक्ताः। ज्योतिस्तेज एव रूपं यस्य स तं। कीदृशं त्वां? दुरितानां पापानां निवहः समूहः स एवं ध्वान्तं तमस्तस्य विध्वंसस्य हेतु कारणं तं। भो देव। पुनर्मम चेतोवासे मनोगृहे स्फारं बहुलं यथा स्यासथा। उद्भासमानः दैदीप्यमानः सन्। त्वं। भवसि जातोऽसि तस्मिन् मनोगृहे। अहं पापं तदेव तमोऽन्धकारं। कथमेव? वस्तुतो निश्चयात्। वस्तु स्थातुं। दृष्टे स्थितिं करोति अपितु न इष्टे इत्यर्थ।

भावार्थः– जहां पर प्रकाश होता है वहां पर अंधकार कभी भी निवास नहीं कर सकता है उसी प्रकार हे स्वामिन्! आप स्वयं प्रकाशमान हो अतएव अनन्यभक्ति से चिंतवन किये हुए मेरे चित्तरूपी घर में निवास करते हुए आपके होने पर पापरूपी अंधकार दूर नहीं होगा, यह कभी भी नहीं हो सकता है।

आनन्दाश्रुस्नपितवदनं गद्गदं चाभिजल्पन्।
यश्चायेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमन्त्रैर्भवन्तम्।।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देहवल्मीकमध्या।
न्निष्कास्यन्ते विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः।।३।।

टीकाः– यः कश्चित्पुमान् भवंतं त्वां। स्तोत्रमन्त्रैः कृत्वा स्तवनरूपमन्त्रैरानंदाश्रुभिः हर्षाश्रुभिः स्नपितं वदनं यत्र तत् यथा स्यात्तथा चायेत स्तुतिं कुर्यात्। च पुन. हर्षाद्गदगदमव्यक्त शब्दमभिजल्पन्। कथंभूतो यः त्वयि परमेश्वरे दृढ़ निश्चयं मनो यस्य स एकाग्रचित्तः। तस्य पुरुषस्य देहवल्मीकमध्यात् शरीरवामलूरमध्यात्। विविध विषमव्याधयः काद्रवेया नानाविध विषयरोगलक्षणाः सर्पाः। निष्कास्यन्ते बहिर्निर्गच्छंति। देहः शरीरं स एव वल्मीकस्तस्य मध्ये तस्मात्। विविधा नानाप्रकारा विषमाश्च ते व्याधयश्च विविधविषमव्याधयः। काद्रोरपत्यानि काद्रवेयाः। कथंभूतान् देहवल्मीकमध्यात्? काद्रवेयैः सुचिरं चिरकालमभ्यस्तादपि आश्रितात्सेवितादपि। विविधविषमा व्याधयः इति। पाठान्तरे विविधः नानाविधः विषयो येषां ते। स्तोत्रमेवं मन्त्राः स्तोत्र मन्त्रास्तैः।

भावार्थः– इस शरीर को व्याधियों ने अनन्तकाल से अपना घर बना रखा है। इस जीव ने इन व्याधियों के नष्ट करने के लिए

दूसरे अनेक उपाय किये परन्तु उन उपायों से रोग नष्ट न होकर बढ़ते ही गये जिनसे यह शरीर अत्यन्त जर्जर हो गया है। हे प्रभो ! अन्त में इस प्राणी को एक आप की भक्ति-रूपी परम औषधि मिल गई। जिससे किसी प्रकार का रोग नहीं रह सकता है, उसी की सामर्थ्य से यह अजर अमर पद को प्राप्त होता है।

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात्।
पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव ! निन्ये त्वयेदम्।।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्टः।
तत्किं चित्रं जिन ! वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि।।४।।

टीका:– भो देव ! भव्यपुण्यात् त्रिदिवभवनात् स्वर्गलोकात् इहलोके एष्यता समागमिष्यता। त्वया परमेश्वरेण। प्रागेव पूर्वमेवेदं। पृथ्वीचक्रं भूवलयं। रत्नवृष्टयादिभिः कनकमयतां सुवर्णमयतां। निन्ये नीतं। त्रिदिवः स्वर्गस्तस्य भवनं गृहं विमानं वा तस्मात्। भव्यानांपुण्यं भव्यपुण्यं तस्मात्। एष्यतीति एष्यंस्तेनैष्यता। पृथ्वयाश्चक्रं पृथ्वीचक्रं। कनकविकारं कनकमयं कनकमयस्य भावस्तां। हे जिन! मम स्वान्तगेहं ममान्तः करणमन्दिरं। त्वं प्रविष्टः सन्। यदिदं मदीयं कुष्ठरोगाक्रान्तं वपुः शरीरं। सवुर्णीकरोषि तत्किं चित्रं? तत्किमाश्चर्यं ? न किमपि आश्चर्यमित्यर्थः। असुवर्णं सुवर्णं करोषि इति सुवर्णीकरोषि। स्वान्तमेव गेहं स्वान्तगेहं। कीदृशं स्वान्तगेहं ? ध्यानमेव द्वारं यस्मिन्सत्। पुनः रुचिं करोतीति तद्रुचिकरं मनोहरमित्यर्थः।

भावार्थ:– जिस पुण्यातिशय पुण्य के कारण पाप कर्मों का ह्रास और पुण्य कर्मों का उत्कर्षण होता है, उसी प्रकार उदयागत

पाप-कर्म का अभाव होकर तत्काल सातिशय पुर्ण्य-कर्म का फल देने लगता है। वह पुण्यातिशय परम वीतराग सर्वज्ञ देव की स्थिर भक्ति के कारण ही प्राप्त होता है। कहते हैं कि वादिराज मुनि को कुष्ठ रोग हो गया था, जिस देश में वे विहार करते थे, उस देश का राजा जैन धर्मी था और मंत्री मिथ्यात्वी थी, मन्त्री ने राजा का चित्त जैन धर्म के ऊपर से हटाने के लिए राजा से कहा कि तुम उस गुरु के चेले हो, जो कुष्ठादि अनेक रोगों का घर है, जिसके पास बैठने से घृणा उत्पन्न होती है। उस समय राजा ने कहा- यह कभी भी नहीं हो सकता। अनन्तर दोनों का मुनि-दर्शन के लिए जाने का निश्चय हो गया। यह खबर मुनिराज को मिल चुकी थी। यद्यपि वे शरीर से निस्पृह थे परन्तु धर्म की प्रभावना करने के लिए उन्होंने इस एकीभाव स्तोत्र के माहात्म्य से अपना शरीर सवुर्ण सरीखा बना लिया था। यही भाव इस श्लोक से ध्वनित होता है।

लौकस्यैकस्त्वमसि भगवन्निर्निमित्तेन बन्धुः।
त्वय्येवासौ सकलविषया शक्तिरप्रत्यनीका।।
भक्तिस्फीतां चिरमधिवसन्मामिकां चित्तशय्यां।
मय्युत्पन्नं कथमिव ततः क्लेशयूथं सहेथाः।।५।।

टीका:- हे भगवन् ! त्वमेकोऽद्वितीयो। लोकस्य निर्निमित्तेन निष्कारणेन। बन्धुरसि बांधवो वर्तसे। त्वय्येवासौ शक्तिः सकलविषया वर्तते। सकलो विषयो यस्याः सा। कथंभूता शक्तिः ? अप्रत्यनीका प्रतिषेधरहिता। कीदृशस्त्वं ? मामिकां

मदीयां चित्तशय्यां चिरकालमधिवसन् । ममेयं मामिका तां । चित्तमेव शय्या चित्तशय्या तां । कीदृशीं चित्तशय्यां? भक्त्या स्फीता महती भक्तिस्फीता तां । यत: कारणान्नि: कारणबन्धु: तत: कारणात् मय्युत्पन्नं क्लेशयूथं कथं सहेथा: । ।

भावार्थ:– हे भगवन्! निमित्त के बिना ही आप ही संसारी जीवों के एक अद्वितीय बन्धु हो । तथा आप में ही समस्त विषय-सम्बन्धी प्रतिबन्ध रहित सामर्थ्य है । फिर भक्ति से वृद्धि को प्राप्त हुई, ऐसी मेरी चित्त-रूपी शय्या के ऊपर चिरकाल पर्यन्त निवास करते हुए आप निष्कारण बन्धु होने से मेरे में उत्पन्न हुए क्लेश समूह को कैसे सहन करोगे? ।

जन्माटव्यां कथमपि मया देव ! दीर्घं भ्रमित्वा ।
प्राप्तैवेयं तव नयकथा स्फारपीयूषवापी । ।
तस्या मध्ये हिमकरहिमव्यूहशीते नितान्तं ।
निर्मग्नं मां न जहति कथं दु:खदावोपतापा: । ।६ । ।

टीका:– हे देव भो स्वामिन् ! मया जन्माटव्यां भवारण्ये । दीर्घं भ्रमित्वा दीर्घकालं भ्रमित्वा । कथमपि महता कष्टेन । इयमेव तव भगवतो । नयकथास्फारपीयूषवापी अनेकान्त मतोदारसुधारसदीर्घिका । प्राप्तालब्धा । जन्मैवाटबी जन्माटवी तस्यां । नयकथैव स्फारपीयूषवापी नयकथास्फार पीयूषवापी तस्या: वापिकाया मध्ये नितान्तमतिशयेन निर्मग्नं मां दुखदावोपतापा: कृच्छ्दावानलपरितापा: कथं न जहति किं न त्यजन्ति ? अपि तु त्यजन्तीत्यर्थ: । दु:खान्येव दावा दु:खदावास्तेषामु पतापा: । कथंभूते वापीमध्ये? हिमकरश्चन्द्र स्तस्य हिमं चन्द्रिका तस्य व्यूह: समूहस्तद्वच्छीते शीतले इत्यर्थ: ।

भावार्थ:— जिस जंगल में आग लगी हो उस वन में रक्षा के लिए यदि बावड़ी का आश्रय मिल जावे तो वनाग्नि कुछ भी नहीं कर सकती है। उसी प्रकार इस प्राणी को अनादि काल से संसार-रूपी वन में परिभ्रमण करते हुए शारीरिक, मानसिक और वाचनिक अनेक प्रकार का दु:ख-रूपी ताप हो रहा है, उसको निवारण करने के लिए स्याद्वाद-रूपी आपकी पवित्र कथा-रूपी अमृतवापिका ही समर्थ है, इसको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा साधन नहीं है, जिसके निमित्त से इस प्राणी का उद्धार हो सकता है।

पादन्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकीं।
हेमाभासो भवति सुरभि: श्रीनिवासश्च पद्म:।।
सर्वांगेण स्पृशति भगवंस्त्वय्यशेषं मनो मे।
श्रेय: किं तत्स्वयमहरहर्यन्न मामभ्युपैति।।७।।

टीका:— हे भगवन्! तव पादन्यासादपि भगवच्चरणारोपणादपि। पद्म कमलं। हेमाभासो भवति हेमवदाभासो यस्य स:। च पुन: पद्मस्तव पादन्यासात्सुरभि: सुगन्धो भवति। च पुन: पद्मस्तवपादन्यासात् श्रीर्लक्ष्मी: तस्या निवास: लक्ष्मीगृहं भवति। श्रिया निवास: श्रीनिवास:। कथंभूतस्य तव? यात्रया भव्यप्राणि प्रबोधार्थं विहारक्रमेण त्रिलोकी पुनत: पवित्रयत:। त्रयाणां समहारस्त्रिलोकी तां। हे देव! त्वयि परमेश्वरे। सर्वांगेण सर्वशरीरेण। मे मम अशेषं मनोऽन्त:करणं। स्पृशति सति तत्किं श्रेयो वर्तते यत् श्रेय: कल्याणं हेमाभासादि स्वयमेव अहरह: प्रतिदिनं मा नाभ्युपैति मां न प्राप्नोति अपि तु अभ्युपैतीयर्त्थ:।

भावार्थ:– आपके पुनीत ध्यान में यह सामर्थ्य है, जिससे इस प्राणी की समस्त आपदायें नष्ट हो जाती हैं और इसे सर्व प्रकार की सुख-सामग्री प्राप्त होती है।

पश्यन्तं त्वद्वचनममृतं भक्तिपात्र्या पिबन्तं।
कर्मारण्यात्पुरुषमसमानन्दधाम प्रविष्टम्।।
त्वां दुर्वारस्मरमदहरं त्वत्प्रसादैकभूमिं।
क्रूराकारा: कथमिव रुजाकण्टका निर्लुठन्ति।।८।।

टीका:– भो देव! रुजाकण्टका: गदलक्षणा: कण्टका: पुरुषं कथमिव निर्लुठन्ति पीडयन्ति? न निर्लुठन्ति इत्यर्थ। रुजा एव कण्टका रुजाकण्टका:। रुग् रुजाचोपतापरोगव्याधिगदामया इति 'हलायुध:। कथंभूतं पुरुषं? त्वां परमेश्वरं। पश्यन्तं विलोकयन्तं। पुन: कथंभूतं? त्वद्वचनममृतं भक्तिपात्र्या पिबन्तं तव वाक्यामृतं धारयन्तं। तव वचनं त्वद्वचनं। भक्तिरेव पात्री स्थाली भक्तिपात्री तया पुन: कथं? कर्मारण्यादसमानन्द धामप्रविष्टं। कर्मैवारण्यं वनं कर्मारण्यं तस्मात्। असममतुल्यं यत् आनन्दधाम हर्षमन्दिरं तत्र प्रविष्टिस्तं। कथंभूतं त्वां? दुर्वारो यो हि स्मर: कामस्तस्य मदान् हरीतीति तं। कीदृशं पुरुषं? तव प्रसादस्त्वत्प्रसाद: त्वत्प्रसाद एवैकाऽद्वितीया भूमिर्यस्य स तं। कीदृशा रुजाकण्टका:? क्रूराकारा: क्रूर: कठिन आकारो येषां ते।

भावार्थ:– आपने समस्त विकार भावों को जीत लिया है, आपके वचन अमृत के समान सुखदाई हैं और आप संसार के बन्धनों से रहित हैं, इसलिए पुरुष आप की शरण लेता है, अन्त: करण से आप की भक्ति करता है, और सम्पूर्ण काल आपके शुभ ध्यान में ही व्यतीत करता है, उसको आपत्ति कैसे रह

सकती है? वह भी आपके समान परम आनन्द का उपयोग करता हुआ मुक्ति स्थान को प्राप्त होता है।

पाषाणात्मा तदितरसम: केवलं रत्नमूर्ति।
र्मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्नवर्ग:।।
दृष्टिप्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणाम्।
प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतु:।।९।।

टीका:– मानस्तंभ: पाषाणात्मा सन्। तदितरसमो अन्यापाषाणसदृशो भवति। तस्मात्पाषाणादितरस्तेन सम:। च पुन: केवलं रत्नमूर्ति: रत्नमय:। पर: केवलं। रत्नवर्ग: रत्नराशि:। तादृशो वर्तते स मानस्तंभ:। दृष्टिं प्राप्त: सन् दर्शन मात्रादेव। नराणां लोकानां मानरोगं अहंकाररोगं। कथं हरति? केन प्रकारेण निराकरोति? यदि चेत्तस्य मानस्तंभस्य। भवत: परमेश्वरस्य। प्रत्यासत्ति: सामीप्यं। न भवेत्। दृष्टिं प्राप्त: दृष्टिप्राप्त:। मान एव रोगो मानरोगस्तं। कीदृशस्य भगवत:? तस्य मानस्तंभस्य शक्तिस्तस्या: हेतु: कारणं तस्य।

भावार्थ:– भगवान् के समवशरण में मानस्तंभ होता है जिसको देखते ही जीवों का मान नष्ट हो जाता है। यद्यपि मानस्तम्भ पत्थर का होता है इसलिए उसमें यह शक्ति कहां से उत्पन्न हुई? यह शंका हो सकती है परन्तु उसमें इस शक्ति को उत्पन्न करने वाली भगवान् की सन्निकटता ही समझनी चाहिए। भगवान् के सान्निध्य से ही मानस्तम्भ दूसरे प्राणियों के मान नष्ट करने में समर्थ होता है।

हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन्मूर्तिशैलोपवाही।
सद्यः पुंसां निरवधिरुजाधूलिबन्धं धुनोति।।
ध्यानाहूतो हृदयकमलं यस्य तु त्वं प्रविष्टः।
तस्याशक्यः क इह भुवने देव ! लोकोपकारः।।१०।।

टीका:– हे भगवन्! मूर्तिशैलोपवाही मरुदपि वायुरपि हृद्यः अनुकूलः प्राप्तः सन्। पुंसां जनानां। सद्यस्तकालं। निरवधिरु-जाधूलिबन्धं निर्मर्यादामयसमूहं। धुनोति स्फोटयति। भवतो मूर्तिः शरीरं सैव शैलः पर्वतस्तं उपवहतीति। निरवधयः मर्यादारहिता या रुजा रोगास्ता एव धूलयस्तासां बन्ध समूहस्तं। तु पुनस्त्वं ध्यानाहूतः सन् यस्य प्राणिनो हृदयकमलं प्रविष्टस्तस्य प्राणिन इह भुवने को लोकोपकारः अशक्यो भवति? अपि तु न कोऽपीत्यर्थः। ध्याने न आहूतः आकारितः ध्यानाहूतः। हृदयमेव कमलं हृदयकमलं। लोकानामुपकारः लोकोपकारः।

भावार्थ:– जो केवल आपका आश्रय लेता है जिसे आपके ऊपर से बहने वाली अनुकूल हवा मिल जाती है तो उससे उसके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं तो जो निरन्तर आपका ध्यान करता है उसको अचिंत्य लोकोपकारक विभूतियां प्राप्त होवें इसमें क्या आश्चर्य है?

जानासि त्वं मम भवभवे यच्च यादृक्च दुःखं।
जातं यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि।।
त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या।
यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव ! एव प्रमाणम्।।११।।

टीका:– हे देव ! मम भवभवे प्रतिजन्मनि । यच्च यादृक दु:खं नरकतिर्यक्नरदेवयोनिसम्भवं । जातं प्राप्तं । यस्य दु:खस्य स्मरणमपि । मे मम् । शस्त्रवत् खड्गवत् । निष्पिनष्टि चूर्णयति शतखण्डी करोति । अत्र हिंसार्थधातुयोगात् द्वितीयार्थे षष्ठी । तत् त्वं । जानासि वेत्सि । हे नाथ! त्वं सर्वेषां प्राणिनामीश: स्वामी । च पुनस्त्वं सकृप: इति कृपया सह वर्तमान: । इति अगाधं मनस्यालोच्य त्वाम् । त्रैलोक्यनाथं भक्त्या कृत्वाहमुपेतोऽस्सि प्राप्तोऽस्मीति भाव: । तत्तस्मात्कारणात् । इह मल्लक्षणे विषये यत्कर्तव्यं कर्तुंयोग्यं । हे देव ! त्वमेव प्रमाणं निश्चयोऽन्यथा न ।

भावार्थ:– संसार दुखों का घर है उसमें मैं अनादिकाल से फँसा हुआ हूं । उस संसार में मुझे ऐसे भयंकर दु:ख सहन करने पड़े जिनका स्मरण भी तलवार के घाव से भी भयंकर घाव करता है । ऐसे दुखों से छूटने के लिए यदि दूसरे किसी की शरण जाता हूं तो और अधिक दुखों के गर्त में पड़ता हूं । एक आप ही उन दुखों से छुड़ाने में समर्थ हैं कारण आपने स्वयं सुखरूप अवस्था प्राप्त कर ली है । इसलिए मैं आपकी ही शरण आया हूं इस विषय में आप ही मेरे लिए प्रमाण हैं । अर्थात् आपके उपदेश किये हुए मार्ग में श्रद्धा करने से उसका परिज्ञान करने से तद्रूप आचरण करने से ही मैं संसार-बन्धन से छूटूंगा यह निश्चय हो गया है ।

प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टै: ।
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम् ।।
क: संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वम् ।।
जलपपञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम् ।।१२ ।।

टीका:– भो विभो ! तव परमेश्वरस्य । नुतिपदैः स्तोत्रपदैः । कृत्वा सारमेयोऽपि कुक्कुरोऽपि । दैवं सौख्यं प्रापत् प्राप्तवान् । देवस्येदं दैवं । कथंभूतैस्तव नुतिपदैः? मरणसमये मरणावस्थायां जीवकेन क्षत्रिय वंशचूडामणिश्रीसत्यंधर महाराजपुत्रेण । उपदिष्टैः कर्णजपीकृतेः । कथभूतः सरामेयः? पापाचारी आजन्म पापमाचरतीत्येवंशीलः पापाचारी । भो देव ! यत् त्वन्नमस्कारचक्रं । अमलैः मणिभिः जाप्यैः जल्पन् सन् । शुद्धस्फटिकमणिमुक्ताफलरजतसुवर्ण प्रवालचन्दनागरुसम्भवमणिभिः । तव नमस्कारमंत्रं समभिजल्पन् । वासवश्रीप्रभुत्वं । सौधर्मादिलक्ष्मी साम्राज्य-मुपलभते प्राप्नोत्यत्र कः सन्देहः किमाश्चर्यमत्र । तव नमस्कारास्त्वन्नमस्कारास्तेषां चक्रं । वासवश्रीः लक्ष्मीस्तस्याः प्रभुत्वमैश्वर्यं ।

भावार्थ:– जब आपकी भक्ति कुत्ता जैसे पापी प्राणी का भी उद्धार करने में समर्थ है, उसे तिर्यंच गति के दुःखों से छुड़ाकर स्वर्ग सुख का अनुभव कराती है । उस भक्ति से यदि इन्द्र की सम्पत्ति की प्राप्ति हो तो इसमें क्या आश्चर्य है ।

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा ।
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावंचिका कुंचिकेयम् ।।
शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो ।
मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकपाटम् ।।१३।।

टीका:– भो देव ! शुद्धेज्ञाने । शुचिनि निरतिचारे पवित्रे चरिते आचरणे । सत्यपि । चेत् यदि । त्वयि परमेश्वरे । इयं

अनीचा प्रबला। भक्तिर्नो नैव चेत्। हि निश्चितं। तर्हि मुक्तिकामस्य पुंस: मुमुक्षो:। पुरुषस्य। मुक्तेर्द्वारं शक्योद्घाटं कथं भवति? शक्य उद्घाटो यस्य तत्। मुक्तिं कामयतीति मुक्तिकामस्तस्य। कथंभूतं मुक्तेर्द्वारं? परिदृढा निश्चला महामोहो मिथ्यात्वं तल्लक्षणा मुद्रा तया युक्तौ एवंविधौ कपाटौ यस्मिन्तत्। कथंभूता भक्ति:? कुंचिकामुद्रा द्विधाकर्त्री। पुन: कथंभूता? अनवधिर्निर्मर्यादं यत्सुखं तस्य अवंचिका अप्रतारिणी।

भावार्थ:– कोई उत्तम ज्ञानी है, निरतिचार चारित्र का पालन भी करता है– परन्तु वह श्री वीतराग देव की सच्ची भक्ति से रहित है अर्थात् उसकी जिनदेव, जिनगुरु और जिनोपदिष्ट जीवादि पदार्थों में दृढ श्रद्धा नहीं है, तो उसे मुक्ति दरवाजे का मोह-रूपी ताला खोलना अत्यन्त कठिन ही नहीं, अशक्य है। उस ताले को खोलने के लिए भगवान् वीतराग सर्वज्ञ देव के विषय में दृढ़ श्रद्धा ही कारण है।

प्रच्छन्न: खल्वयमघमयैरन्धकारै: समन्तात्।
मुक्ते: पन्था: स्थपुटितपद: क्लेशगर्तैरगाधै:।।
तत्कस्तेन व्रजति सुखतो देव ! तत्त्वावभासी।
यद्यग्रेऽग्रे न भवति भवद्भारतीरत्नदीप:।।१४।।

टीका:– भो देव! खलु निश्चितं। अयं मुक्ते: पन्था: सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र लक्षणो मोक्षमार्ग:। अघमयैरन्धकारै र्मिथ्यात्वलक्षणै स्तिमिरै:। समन्तात्सर्वत:। प्रच्छन्न: आच्छादित:। पुन: मुक्ते. पन्था:। अगाधै: अतलस्पर्शै:। क्लेशगर्तैर्नरकादि दु:खै कृत्वा स्थपुटितपदो विद्यते। स्थपुटितानि उच्चनीचानि

पादारोपणस्थानानि यस्मिन् सः । तत्तस्मात्कारणात् । तेन दुरुत्तरेण मोक्षमार्गेण । सुखतः सुखैनैव । कः पुमान् व्रजति यातीति भावः । कुतः यदि चेत् । भवद्भारति रत्नदीपः तव दिव्यभाषाऽप्रतिहतरत्नप्रभाप्रदीपोऽग्रेऽग्रे न भवति भवतो जिनेन्द्रस्य भारती भवद्भारती सैव रत्नदीपः भवद्भारतीरत्न दीपः तत्त्वैः सप्ततत्त्वैरवभासतेऽसौ तत्त्वावभासी ।

भावार्थः— किसी ने श्रद्धा को, किसी ने ज्ञान को, किसी ने चारित्र को, किसी ने श्रद्धा और ज्ञान को, किसी ने श्रद्धा और चारित्र को तथा किसी ने ज्ञान और चारित्र को मुक्ति का मार्ग निरुपण किया है। जिससे ये संसारी प्राणी सच्चे मोक्षमार्ग का पता नहीं लगा सकते हैं, इसलिए इनको अनन्त दुःखों का सामना करना पड़ता है । ऐसी अवस्था में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूप मोक्षमार्ग ही सच्चा है, यह आपके द्वारा प्रतिपादित आगम रूपी दीपक से ही समझा जाता है । यदि वह आगम रूपी दीपक नहीं होता तो सच्चा मुक्ति का मार्ग प्राप्त नहीं होने से इस प्राणी का उद्धार होना ही कठिन था ।

आत्म ज्योति र्निधिरनवधिर्द्रष्टु रा नन्द हेतुः ।
कर्मक्षोणीपटलपिहितो योऽनवाप्यः परेषाम् ।।
हस्ते कुर्वन्त्यनतिचिरतस्तं भवद्भक्तिभाजः ।
स्तोत्रैर्बन्धप्रकृतिपरुषोद्दामधात्रीखनित्रैः ।।१५ ।।

टीकाः— हे देव! य आत्मज्योतिर्निधिः । अनवधिर्वर्तते । आत्म ज्योतिरेव निधिरात्मज्योतिर्निधि । न विद्यतेऽवधिर्मर्यादा यस्य स लोकालोकाकाशव्यापक इत्यर्थः । कीदृश

आत्मज्योतिर्निधिः? द्रष्टुःपुरुषस्य आनन्दहेतुः । पश्यतीति द्रष्टा तस्य द्रष्टुः । आनन्दहेतुः कारणं । पुनः कर्माण्येव क्षोणीपटलानि कर्मक्षोणीपटलानि तैः पिहितः आच्छादितः । पुनः परेषां प्राणिनां अनवाप्यः । अवाप्यतेऽसौ अवाप्यः न अवाप्यः अनवाप्यः । भो देव ! भवद्भक्तिभाजः पुमांसः तमात्मज्योतिर्निधिं स्तोत्रैः कृत्वानतिचिरतः स्वल्पकालेनैव हस्ते कुर्वंति । भवतः परमेश्वरस्य भक्तिं भजन्ति ते भवद्भक्तिभाजः । कथंभूतैः स्तोत्रैः? बन्ध प्रकृतयः । प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धप्रकृतय एव परुषा कठिना उद्दामा उत्कटा या धरित्र्यस्तत्र खनित्राणि कुद्दालानि तैः ।

भावार्थः– आप की अनन्य भक्ति से जिसका मोह पटल नष्ट हो गया है, उसी को आत्मदर्शन होता है । जो आपकी भक्ति से विमुख है, वह बहिर्दृष्टि त्रिकाल में आत्मःसाक्षात्कार नहीं कर सकता है ।

प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धेः या ।
देव ! त्वत्पदकमलयोः संगता भक्तिगंगा ।।
चेतस्तस्यां मम रुचिवशादाप्लुतं क्षालितांहः ।
कल्माषं यद्भवति किमियं देव ! संदेहभूमिः ।।१६ ।।

टीकाः– भो देव !या प्रसिद्धा भक्तिगंगा भवद्भक्तिस्वर्धुनी । नयहिमगिरेः स्याद्वादनयपर्वतात् प्रत्युत्पन्नास्ति । नय एव हिमगिरिः हिमाचलस्तस्मात् । भक्तिरेव गंगा भक्तिगंगा । कथंभूता गंगा? अमृतालयोस्तूवंधेर्मोक्षसागरस्यायता मिलिता । च पुनः । या गङ्गा त्वत्पादकमलयोस्तूवं । तव चरणकमलयोः संगता आश्रिता । तव पदकमले त्वत्पदकमले तयोः । तस्यां गङ्गायां । मम चेतो ममान्तः करणं । रुचिवशात्

स्नेहयोगादाप्लुतं स्नातमित्यर्थः। यदन्तः करणं क्षालितांह कल्माषं भवति। इयं किं सन्देहभूमिः सन्देहस्थानं। क्षालितं अंहः कल्माषं पापरजो यस्य तत्। सन्देहस्य भूमिः सन्देहभूमिः।

भावार्थ :– हे देव! नय-रूपी हिमवान् पर्वत से उत्पन्न हुई, आपके चरण कमल का स्पर्श करती हुई और मोक्ष-रूपी समुद्र तक फैली हुई यह भक्ति-रूपी गंगा है। उस भक्ति-रूपी गंगा में मेरा चित्त अत्यन्त प्रीतिपूर्वक स्नान करके निष्पाप हो गया, फिर भी हे देव! किंचित् कलुषित है, यह सन्देह का स्थान क्यों?

प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख ! त्वामनुध्यायतो मे।
त्वय्येवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा।
मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृप्तिमभ्रेषरूपां।
दोषात्मानोऽप्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद्भवंति।।१७।।

टीका:– प्रादुर्भूतं प्रकटीभूतं स्थिरपदसुखं मोक्षपदस्य सुखं यस्य स तस्यामन्त्रणे हे प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख! मे मम त्वयि विषये स अहमेव इति मे मतिरुत्पद्यते। कथंभूतस्य मे? त्वामनुध्यायतः। अनुध्यायतीति अनुध्यायस्तत्र। कीदृशी मतिः? निर्विकल्पा निःसन्देहा इत्यर्थः। विकल्पान्निष्क्रान्ता निर्विकल्पा। तदपि चेत् इयं मतिः। अभ्रेषरूपां तृप्तिं मिथ्यैव तनुते विस्तारयति। दोषात्मनोऽपि पुमांसः। त्वत्प्रसादात् तव प्रसादतः। अभिमतफला भवन्ति। अभिमतं फलमेषां ते अभिमतफलाः।

भावार्थ:– हे प्रभो ! जिनेन्द्र भगवान् स्वरूप ही मैं हूं, यह बुद्धि यद्यपि एक दृष्टि से मिथ्या है, फिर भी वह आपके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने वाली होने के कारण मुझे परम सन्तोष उत्पन्न होता है। कारण कि– तत्त्वत: आपके स्वरूप और मेरे स्वरूप में कुछ भी अन्तर नहीं है। इसलिए आज यदि मैं कर्मों से बंधा हुआ हूं तो भी उस निर्विकल्प बुद्धि की सामर्थ्य से ही मैं परम पद को प्राप्त करूंगा, इस तरह अनेक दोषों से वेष्टित मेरा उद्धार आपकी भक्ति से ही होगा।

मिथ्यावादं मलमपनुदन्सप्तभंगीतरंगै:।
वागम्भोधिर्भुवनमखिलं देव ! पर्येति यस्ते।।
तस्यावृत्तिं सपदि विबुधाश्चेतसैवाचलेन।
व्यातन्वन्त: सुचिरममृतासेवया तृप्नुवंति।।१८।।

टीका:– हे देव ! यस्ते तव। वागम्भोधिर्भवद्दिव्यध्वनिसागर:। अखिलं भुवनं पर्येति व्याप्नोति। वागेवांभोधिर्वागम्भोधि:। कीदृशो वागम्भोधि:? सप्तभंगीतरंगै: कृत्वा मिथ्यावादं मलं कर्द्दम अपनुदन स्फेटयन्। सप्तभंग्य एव तरंगा: सप्तभंगीतरंगा स्तै:। विबुधा विद्वज्जना: सपदि शीघ्रं। चेतसा एव अचलेन मनसैव पर्वतेन कृत्वा। तस्य वागम्भोधे:। आवृत्तिं मथनं। व्यातन्वंत: सन्त:। सुचिरं चिरकालं। अमृतासेवया तृप्नुवंति। अमृतं पीयूषं। पक्षेऽमृतं मोक्षस्तस्य आसेवा तया।

भावार्थ :– जो आपके द्वादशांगरूपी समुद्र का मंथन करता है अर्थात् चिरकाल पर्यंत उसका अभ्यास करता है वह बहुत शीघ्र परम आनन्दरूप मुक्ति को प्राप्त होता है।

आहार्येभ्यः स्पृहयति परं य स्वभावादहृद्यः।
शस्त्रग्राही भवति सततं वैरिणां यश्च शक्यः।।
सर्वांगेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषां।
तत्किं भूषावसनकुसुमैः किं च शस्त्रैरुदस्त्रैः।।१९।।

टीकाः— हे देव ! यः कश्चित्परो देवः। निसर्गेण। अहृद्यो अमनोज्ञः कुरूपो भवति स आहार्येभ्यः शृङ्गारेभ्यः। स्पृहयति वांछति नान्यः। च पुनः। भो देव ! यः कश्चित् वैरिणां शक्यो भवति स पुमान् सततं निरन्तरं शस्त्रग्राही भवति। शस्त्राणि गृहणातीति शस्त्रगाही नान्यः। हे देव ! त्वं सर्वांगेण सुभगोऽसि सर्वशरीरेण सुन्दरोऽसि पुनस्त्वं वैरिणां शक्योऽपि नापरेषां बाह्यन्तर्वैरिणां कदापि जेतुं शक्योऽपि न। तत्तस्मात्कारणात्। स्वभावसौन्दर्यलंकृतस्य तव भूषावसनकुसुमैः किं प्रयोजनं? शृङ्गारपट्टदुकूलमाल्यादिभिः कि निमित्तं? भूषा च वसनानि च कुसुमानि च तैः। च पुनः निर्वैरिणस्तवोदस्त्रैः शस्त्रैः किं प्रयोजनं।

भावार्थः— जो राग, द्वेष आदि विकारों से युक्त हैं उन्हें ही अलंकार प्रिय लगते हैं, वे ही शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए हथियार धारण करते हैं। आप तो बाहर और भीतर सर्वत्र पवित्र हो आपने राग द्वेष आदि विकार भाव नष्ट कर दिये हैं, फिर आपको किस वस्तु की आवश्यकता है? किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं। जो स्वयं निर्विकार होता है वह बाह्य विकारी पदार्थों से अपने को विकारी क्यों बनावेगा?।

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते।
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्तामातनोति।।

त्वं निस्तारी जननजलधेः सिद्धिकान्तापतिस्त्वं।
त्वं लोकानां प्रभुरिति तव श्लाघ्यते स्तोत्रमित्थं।।२०।।

टीका:– भो देव ! इन्द्रस्तव भगवतः। सेवां कुरुतां। तया सेवया। ते तव। किं श्लाघनं प्रशंसनं? अपि तु न। तस्येन्द्रस्येयमेव सेवा श्लाघ्यतां प्रशंसनीयतामातनोति विस्तारयति। कथंभूतेयं? भवः संसारस्तस्य लयो नाशस्तं करोतीनि भो देव! इति कारणात् तव स्तोत्रमित्थं श्लाघ्यते। इतीति किं? यतः कारणात् त्वं जननजलधेः संसारसमुद्रात् निस्तारी वर्तसे। च पुनस्त्वं सिद्धिकान्तापतिः त्वं लोकानां प्रभुः। जननमेव जलधिस्तस्मात्। सिद्धिकान्तायाः पतिः सिद्धिकान्तापतिः।

भावार्थ:– इन्द्र आप की सेवा करता है, इससे आप की क्या प्रशंसा हो सकती है संसार का नाश करने वाली उसकी यह सेवा उसकी प्रशंसा का ही कारण समझना चाहिए। यदि आप की स्तुति हो सकती है, तो इस प्रकार हो सकती है कि– आप संसार-रूपी समुद्र से पार करने वाले हैं, आप मुक्ति-रूपी स्त्री के स्वामी हैं। और आप तीन लोक के स्वामी हैं। हे प्रभो ! बहुत लो· ाह्य विभूति के द्वारा आपकी स्तुति करते हैं, कोई कहता है सौ इन्द्र भगवान की सेवा करते हैं, कोई कहता है भगवान के ऊपर यक्ष चौंसठ चमर ढोरते हैं, परन्तु इन बातों से भगवान की स्तुति को आप जैसे प्रभु का आश्रय मिल गया, यह कुछ कम बात नहीं है। आपकी सच्ची स्तुति तो आपके समीचीन गुणों के चिंतवन करने से ही हो सकती है। जैसे– आप संसारी

प्राणियों को संसार समुद्र से उद्धार करने वाले हैं, आपने मोक्ष-रूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया है। आपके आत्मिक गुण जागृत हो गये हैं।

वृत्तिर्वाचामपरसदृशी न त्वमन्येन तुल्यः।
स्तुत्युद्गाराः कथमिव ततस्त्वय्यमी नः क्रमन्ते।।
मैवं भूवंस्तदपि भगवन्! भक्तिपीयूषपुष्टाः।
ते भव्यानामभिमतफलाः पारिजाता भवन्ति।।२१।।

टीका:— भो भगवन्! वाचां वृत्तिर्वाग्विलासः अपरसदृशी न। अनुपमाना। अपरैः सदृशी अपरसदृशी। त्वं देवः अन्येन तुल्यो नासि। अनुपमोऽसि। ततस्तस्मात्कारणात्। नोऽस्माकममी स्तुत्युद्गारास्त्वयि विषये कथमिव क्रमन्ते। अस्माकं स्तुतिविलासाः कथमिव तुभ्यं रोचन्ते। एवं यद्यपि वर्तते तदप्येवं मा भूवन्। ते भक्तिपीयूषपुष्टाः भव्यानां पारिजाताः कल्पवृक्षाः। अभिमतफलायमाना अभीष्टफला भवन्ति। भक्तिरेव पीयूषं तेन पुष्टाः। अभिमतं फलं येषां ते।

भावार्थ:— आप अतिशय गुणों से शोभायमान हैं, इसलिए मुझ में आपके गुणों की स्तुति करने की सामर्थ्य नहीं है। फिर भी जो कुछ भी मुझसे स्तुति हो सकी है, वह भी भव्य जीवों को कल्पवृक्ष के समान इच्छित फल देने वाली है।

कोपावेशो न तव न तव क्वापि देव! प्रसादो।
व्याप्तं चेतस्तव हि परमोपेक्षयैवानपेक्षम्।।
आज्ञावश्यं तदपि भुवनं संनिधिर्वैरहारी।
क्वैवंभूतं भुवनतिलक! प्राभवं त्वत्परेषु।।२२।।

टीका:- भो देव ! तव परमेश्वरस्य । क्वापि कोपावेशो न क्रोधोप्रवेशो न वर्तते । कोपस्य आवेश: कोपावेश: भो देव! तव क्वापि प्रसादो न प्रसन्नताऽपि न । हि निश्चितं । तव चेत: परमोपेक्षया एवं व्याप्तं । परमा चासावुपेक्षा बुद्धिश्च परमोपेक्षा तया । कथंभूतं चेत: ? न विद्यतेऽपेक्षा वांछा यस्य तत् । एवं यद्यप्यस्ति तदपि भुवनमाज्ञावश्य विद्यते । आज्ञयैव वश्यं आज्ञावश्यं । यद्यपि तव क्वापि प्रसादो न । तदपि तव सन्निधिर्वैरहारी वर्तते । भो भुवनतिलक ! एवंभूतं प्राभवं त्वत्परेषु देवेषु प्राभवं प्रभुत्वं क्वापि । न क्वाप्यस्तीत्यर्थ: । भुवनस्य तिलको भुवनतिलकस्तस्यामन्त्रणे । त्वत्त: परे त्वत्परे तेषु ।

भावार्थ:- दूसरे देव राग-द्वेष आदि विकार भावों से वेष्टित हैं । वे स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते हैं, तो दूसरों की रक्षा कैसे कर सकते हैं? एक जिनेन्द्र देव ही राग-द्वेष आदि विकारी भावों से रहित होकर परम उपेक्षा भाव से शोभायमान हैं । वे किसी पर दया भी नहीं करते हैं और क्रोध भी नहीं करते हैं । क्योंकि वे समस्त प्राणियों के ऊपर समवृत्ति रखते हैं ।

देव ! स्तोतुं त्रिदिवगणिकामण्डलीगीतकीर्तिं ।
तोतूर्तिं त्वां सकलविषयज्ञानमूर्तिं जनो य: ।।
तस्य क्षेमं न पदमटतो जातु जोहूर्तिं पन्था: ।
तत्त्वग्रन्थस्मरणविषये नैष मोमूर्तिं मर्त्य: ।।२३ ।।

टीका:- भो देव ! यो जनस्त्वां परमेश्वरं । स्तोतुं तोतूर्तिं त्वरितो

भवति। कथंभूतं त्वां? त्रिदिवस्य स्वर्गस्य गणिकाऽप्सरसोऽनाकिन्यो वा तासां मण्डली तया गीता कीर्तिर्यस्य स तं। पुन: कथंभूत त्वां? सकलविषयं लोकालोकाकाशविषयं यज्ज्ञानं तस्य मूर्तिस्तां। तस्य पुरुषस्य। जातु कदाचित्। पंथा: मोक्षमार्ग:। न जोहूर्ति न कुटिलो भवति। कथंभूतस्य तस्य? क्षेमं पदं मोक्षस्थानं। अटत: व्रजत:। एष मर्त्य:। तत्त्वग्रन्थस्मरण विषये। न मोमूर्ति न सन्देह प्राप्नोति। तव तत्त्वग्रन्थस्य स्मरणं तस्य विषयस्तस्मिन्।

भावार्थ:— देव, गुरु और शास्त्र की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं। निरन्तर देव की स्तुति करना और उनके गुणों का चिंतवन करना यह उस श्रद्धा के लिए कारण है। जिसका तीन लोकवर्ती जीवों के द्वारा पूज्य और चराचर को जानने वाले जिनेन्द्र भगवान् में अटल श्रद्धान निरन्तर विद्यमान रहता है, वही सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग में स्थित समझना चाहिए। उसको मिथ्या-कर्म का ग्रास कभी भी नहीं होना पड़ता है। उसकी बुद्धि सन्मार्ग से कभी भी च्युत नहीं हो सकती है।

चित्ते कुर्वन्निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं।
देव! त्वां य: समयनियमादादरेण स्तवीति॥
श्रेयोमार्गं स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा।
कल्याणानां भवति विषय: पंचधा पंचितानां॥२४॥

टीका:— भो देव! य: पुमान् त्वां भवन्तं चित्ते कुर्वन्सन् समयनियमात् कालनियमात् समयस्य नियम: समयनियमस्तस्मात्। आदरेण स्तवीति तोष्टवीति। कथंभूतं त्वां? सुखं च ज्ञानं च दृग्चवीर्यं

च सुखज्ञानदृग्वीर्याणि निरवधीनि मर्यादारहितानि च सुखज्ञानदृग्वीर्याणि च तैः । रूप्यते लक्ष्यत इति निरवधि सुखज्ञानदृग्वीर्यरूपस्तं । खलु निश्चितं । स सुकृती पुमान् तावता श्रेयोमार्गं पूरयित्वा पंचधा पंचितानां कल्याणानां विषयो भवति स्थानं भवति । पंचधा पंचिताः विस्तृतस्तेषां ।

भावार्थः— जन्म के पन्द्रह महीने पहले से रत्नवृष्टि होना, देवेन्द्रों के द्वारा जन्माभिषेक होना, लौकान्तिक देवों का आना, समवशरण की रचना होना और अग्नीन्द्रों के द्वारा सातिशय पूजा होना इत्यादि पंचकल्याण-रूप परम अतिशय युक्त विभूतिविशिष्ट तीर्थंकर पद की प्राप्ति भी एक श्री जिनेन्द्र देव के अनन्तगुणानुवाद-रूप स्तुति करने ही का फल समझना चाहिए ।

शार्दूल विक्रीडित छन्द

भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद ! त्वत्कीर्तने न क्षमाः ।
सूक्ष्मज्ञानदृशोऽपि संयमभृतः के हंत मंदा वयं ।।
अस्माभिः स्तवनच्छलेन तु परस्त्वय्यादरस्तन्यते ।
स्वात्माधीन सुखैषिणां स खलु नःकल्याणकल्पद्रुमः ।।२५।।

टीकाः— भक्त्या प्रह्वो नम्रीभूतो यो महेन्द्रस्तेन पूजितपद । त्वत्कीर्तने तव कीर्तने संयमभृतो गणधरा येऽपि क्षमाः समर्थाः न । कथंभूताः संयमभृतः? तत्त्वज्ञानमेव दृग् येषां ते । एवंविधा मनः पर्ययज्ञानिनोऽपीत्यर्थः । हन्त इति खेदे । वयं त्वत्कीर्तने के क्षमाः समर्थाः । कीदृशा वयं? मन्दा मन्दमेधसः । तु पुनरस्माभिः स्तवनछलेन स्तोत्रमिषेणैव । त्वयि विषये आदरस्तन्यते विस्तार्यते । स्तवनस्य छलं स्तवनछलं तेन । कीदृश आदरः पर उत्कृष्टः । खलु निश्चितं । स आदरः

अस्माकं कल्याणकल्पद्रुमोऽस्ति। कीदृशानामस्माकं? स्वस्यात्मा स्वात्मा। अथवा सुष्ठु आत्मा च स्वात्मा। तदाधीनं यत्सुखं तदिच्छति ते तेषां। कल्याणानां कल्पद्रुमः कल्याणकल्पद्रुमः।

भावार्थः— आत्मा में अनन्त गुण होते हैं, जिनका कथन करना वचनों के अगोचर है। वचन तो केवल शब्द के द्वारा ही अखण्ड परमात्मस्वरूप इस आत्मा को भेद-रूप से वर्णन करता है, परन्तु वह संकेत संख्यात होने के कारण उनके द्वारा भेद-रूप उस आत्मा का कथन हो ही कैसे सकता है? इसलिए परमात्मा के गुणों की स्तुति करना अर्थात् परमात्मा के विषय में आदर करना मात्र है, क्योंकि 'स्तुतिर्गुणानुवादः' — इस कथन के अनुसार अनन्त गुणों का कथन परिमित शब्दों के द्वारा हो ही नहीं सकता है। जहां शब्द-विद्या पारगामी श्रुतकेवली भी उस स्तुति के करने में असमर्थ हैं, वहां हमारी और आपकी क्या कथा? फिर भी स्तुति के छल से यदि आदर भी कर सकें तो वह आदर भी कल्पवृक्ष के समान हमारे लिए मनोवांछित फल देने वाला समझना चाहिए।

स्वागता छन्द

वादिराजमनुशाब्दिकलोको, वादिराजमनुतार्किकसिंहः।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते, वादिराजमनुभव्यसहायः।।२६।।

टीकाः— शाब्दिकलोकस्तं वादिराजमनु वादिराजान्न्यून इत्यर्थः। शब्देषु कुशलः शाब्दिकः स चासौ लोकश्च। तार्किकसिंहस्तं वादिराजमनु। वादिराजान्नयून इत्यर्थः। तर्केषु कुशला स्तार्किकास्ते सिंहाः। काव्यकृतः काव्यकारकास्त वादिराजमनु। ते काव्यकारकाः वादिराजान्न्यूना इत्यर्थः।

भव्यसहायस्तं वादिरराजमनु वर्तते । भव्यानां सहाय: संघात: वादिराजान्नयून इत्यर्थ: । वादिराज एव शाब्दिको नान्य: । वादिराज एव तार्किको नान्य: । वादिराज एव काव्यकृन्नान्य: । वादिराज एव भव्यसहायो नान्य: । इति तात्पर्यार्थ: । अनुयोगे द्वितीया ।

भावार्थ:– वादिराज मुनि व्याकरण शास्त्र, न्याय शास्त्र और काव्य शास्त्र में सर्वप्रथम थे । उनके बराबर दूसरा कोई विद्वान नहीं था । इतना ही नहीं वे परम धार्मिक आसन्नभव्य थे । उस समय उनके समान निकट भव्य दूसरा कोई जीव नहीं था ।

विषापहार स्तोत्रम्

श्री धनंजयसूरि विरचितम्

उपजाति छन्द

स्वात्मस्थित: सर्वगत: समस्त– व्यापारवेदी विनिवृत्तसंग: ।
प्रवृद्धकालोऽप्यजरो वरेण्य: पायादपायात्पुरुष: पुराण: । ।१ । ।

टीका:– पुराण: पुरुष: श्रीमदादिब्रह्मा । अपायात् कष्टात् । अव्यात् । पुरि शेतेऽसौ पुरुष: । कीदृश: पुरुष:? स्वात्मस्थितोऽपि सर्वगत: । य: स्वात्मस्थित: स सर्वगत: कथमिति शब्दतो विरोधं प्रदर्श्य अर्थतो विरोधमपहरति । स्वात्मनि अतन्तानन्त ज्ञानादिलक्षणे स्वरूपे स्थित: । सर्वप्रतिगत: ज्ञानेन लोकालोकव्यापकत्वात् अस्य सर्वगतत्वं न विरुध्यते । पुनर्विनिवृत्तसंगोऽपि समस्तव्यापारवेदी । यो विनिवृत्तसंग: स समस्तव्यापारवेदीति कथमिति शब्दतो

विरोधमुदपदर्श्यार्थतो विरोधमपाकरोति । विशेषेण निवृत्तः परित्यक्तः संगो बहिरन्तरुपलेपो येन सः । समस्ताः सर्वे ये व्यापारा जीवपुद्गलादिद्रव्य व्याप्रियमाणाऽनन्तगुण पर्यायलक्षणार्थ क्रियादयस्तेषां वेत्ता । अथवा सम्यक्प्रकारेणास्तां निराकृता ये व्यापारा असि मषिकृषिवाणिज्य लक्षणास्तान् वेत्तीति । पुनः प्रवृद्धकालोऽप्यजरः । इति शब्दतो विरोधमुपदर्श्यार्थतो विरोधं परिहरति । प्रकर्षेण वृद्धः । एधितः कालः समयो यस्य सः । अनाद्यनन्तत्वात् । न विद्यते जरा यस्य सोऽजरः । जरेत्युपलक्षणं । जराजन्ममृत्युध्वंसीत्यर्थः । पुनर्वरेण्यः । वरः श्रेष्ठ इत्यर्थः । वो युष्मान् पायादिति कर्मपद मध्याहार्यम् ।

अन्वयार्थ— (स्वात्मस्थितः अपि सर्वगतः) आत्मस्वरूपमें स्थित होकर भी सर्वव्यापक, (समस्तव्यापारवेदी अपि) सब व्यापारों के जानकार होकर भी (विनिवृत्तसङ्ग) परिग्रह से रहित, (प्रवृद्धकालः अपि अजरः) दीर्घ आयु वाले होकर भी बुढ़ापे से रहित तथा (वरेण्यः) श्रेष्ठ (पुराणः पुरुषः) प्राचीन पुरुष—भगवान वृषभनाथ (नः) हम सबको (अपायात्) विनाश से (पायात्) बचावें— रक्षित करें।

भावार्थः— श्री आदिनाथ भगवान को आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने से वे अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित हैं, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के अभाव हो जाने से समस्त पदार्थों की शुभाशुभ प्रवृत्ति को जानने वाले हैं और आठ कर्मों का अभाव हो जाने से अजर-अमर हैं इसलिए वे अनंत काल तक अपने आत्म स्वरूप में

ही स्थिर रहेंगे, कभी भी उन्हें संसार के जन्म, मरण आदिक दु:खों को नहीं सहन करना पड़ता है। इसलिए मोक्ष यानि कल्याण का मार्ग दिखलाने वाले होने से ये ही समस्त संसारी जीवों की रक्षा कर सकते हैं।

परैरचिन्त्यं युगभारमेक:, स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्य:।
स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न भानो:, किमप्रवेशे विशति प्रदीप:।।२।।

टीका:— अद्य मे ममासौ वृषभ: श्रीमदादिब्रह्मा स्तुत्यस्तवनीय:। कृत्यानि कर्त्तरि षष्ठी चेति मे इत्यत्र षष्ठी। असौ क:? य: श्रीमदादि ब्रह्मा योगिभिरपि ब्रह्मर्द्धिसम्पन्नैरपि स्तोतुमशक्य:। कीदृशोऽसौ? एकोऽसहाय: सन् परैरन्यपुरुषै रचिन्त्यं मनसाप्यस्मरणीयं। कृत युगारम्भे कल्पवृक्षाद्य भावेन जीवनोपायाभावे जिजीविषया संक्लिश्मान प्राणिप्राण-धारणोपायप्रदर्शनस्वरूपं युगभारं वहन् धरन्। भानो: सूर्यस्याप्रवेशेऽप्रचारे प्रदीप: किं न प्रविशति? अपि तु प्रविशतीत्यर्थ:।

अन्वयार्थ— (परै:) दूसरों के द्वारा (अचिंत्यम्) चिंतवन करने के अयोग्य (युगभारम्) कर्मयुग के भार को (एक:) अकेले ही (वहन्) धारण किये हुए तथा (योगिभि: अपि) मुनियों के द्वारा भी (स्तोतुम् अशक्य:) जिनकी स्तुति नहीं की जा सकती है ऐसे (असौ वृषभ:) वे भगवान् वृषभनाथ (अद्य) आज (मे स्तुत्य:) मेरे द्वारा स्तुति करने के योग्य हैं अर्थात् आज मैं उनकी स्तुति कर रहा हूँ। सो ठीक है (भानो:) सूर्य का (अप्रवेशे) प्रवेश नहीं होने पर (किम्) क्या (प्रदीप:) दीपक (न विशति) प्रवेश नहीं करता? अर्थात् करता है।

भावार्थ:— जहां सूर्य का प्रकाश नहीं होता है वहां दीपक अपना प्रकाश देता है। उसी प्रकार वे श्री आदिजिनेन्द्र अचिंत्य गुणवाले होने से सातिशय ज्ञानवाले योगियों के द्वारा भी अचिन्त्य हैं, अर्थात् योगी जन भी पूर्णरूप से उनके स्वरूप का विचार नहीं कर सकते फिर भी मैं उनकी स्तुति करने को उद्यत हुआ हूं।

तत्त्याज शक्रः शकनाभिमानम्।
नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम्।।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थम्।
वातायनेनेव निरूपयामि।।३।।

टीका:— शक्रो देवेन्द्रः। स्तवनानुबन्धं स्तवनसंबंधिनं। शकनाभिमानं त्वां स्तोतुमहं शक्त इत्यभिमानं। तत्त्याज अजहात्। अहं स्तवनानुबन्धं स्तवनसम्बन्धं। शकनाभिमानं। न त्यजामि न जहामि। स्तवनस्य अनुबन्धो यस्मिन् स तं। स्वल्पेन बोधेन। ततः इन्द्रात् स्वल्पज्ञानेनाधिकार्थं प्रभूतार्थं। अहं निरूपयामि बंभणीमि। केनेव? वातायनेनेव । यथा वातायनेन गवाक्षेण अधिकार्थं स्थूलतरं गजाद्यर्थं कश्चित् निरूपयति।

अन्वयार्थ— (शक्रः) इन्द्र ने (शकनाभिमानम्) स्तुति कर सकने की शक्ति का अभिमान (तत्त्याज) छोड़ दिया था। किन्तु (अहम्) मैं (स्तवनानुबन्धम्) स्तुति के उद्योग को (न त्यजामि) नहीं छोड़ रहा हूँ। मैं (वातायनेन इव) झरोखे की तरह (स्वल्पेन बोधेन) थोड़े से ज्ञान के द्वारा (ततः) झरोखे और ज्ञान से (अधिकार्थम्)

अधिक अर्थ को (निरूपयामि) निरूपित कर रहा हूँ।

भावार्थ :– श्री जिनेन्द्र की स्तुति करने में इन्द्र जैसे महापुरुष असमर्थ हो गये फिर हम सरीखे अल्प ज्ञानियों की कैसे सामर्थ्य हो सकती है। फिर भी जिस प्रकार खिड़की के द्वारा खिड़की से भी बड़ा पदार्थ देखा जा सकता है उसी प्रकार यद्यपि हम अल्पज्ञानी हैं फिर भी आपकी पुनीत स्तुति करने के अधिकारी अवश्य हैं।

त्वं विश्वदृश्वा सकलैरदृश्यो, विद्वानशेषं निखिलैरवेद्यः ।
वक्तुं कियान् कीदृश इत्यशक्यः, स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु ।।४।।

टीका:– भो जिन ! ततः कारणात् तव भगवतः स्तुतिस्त्वमेतावान् ईदृश इति प्रमातुं न पार्यसे। यतस्ततः स्तवनकरणे अशक्तिकथा तवास्तु भूयात्। अशक्तिः। अशक्या कथा यस्यां सा। हे भगवन्! त्वं विश्वदृश्वा विश्वं पश्यतीति विश्वदृश्वा, सकलजीवादिपदार्थस्य साक्षात् द्रष्टेत्यर्थः। त्वं सकलैरदृश्यः। निरूपत्वात्। त्वमशेषं लोकालोकाकाशं विद्वान् जानन्। केवलज्ञानविराजमानत्वात्। निखिलैरवेद्यः न वेत्तुं शक्यः। त्वं कियान् कियत्परिमाणाधिकरणः कीदृश इति वक्तुं अशक्यः, न शक्यः अशक्यः।

अन्वयार्थ– (त्वम्) आप (विश्वदृश्वा 'अपि') सबको देखने वाले हैं किंतु (सकलैः) सबके द्वारा (अदृश्यः) नहीं देखे जाते, आप (अशेषम् विद्वान) सबको जानते हैं पर (निखिलैः अवेद्यः) सबके द्वारा नहीं जाने जाते। आप (कियान् कीदृशः) कितने और कैसे हैं (इति) यह भी

(वक्तुम् अशक्यः) नहीं कहा जा सकता (तत) उससे (तव स्तुतिः) आपकी स्तुति (अशक्तिकथा) मेरी असामर्थ्य की कहानी ही (अस्तु) हो।

भावार्थः– परमेश्वर का स्वरूप का सकल ज्ञानी हो छोड़ कर अल्पज्ञानी के लिए साक्षात्कार नहीं हो सकता है। अतएव परमात्मा का आकार क्या है, कैसा है, इत्यादि कथन करना वचनों के द्वारा अशक्य है, इसलिए भगवान के स्वरूप के कथन करने में असमर्थता प्रगट करना यही सबसे बड़ी श्रीजिनेन्द्र की स्तुति है यही सातिशय पुण्यबंध का कारण है।

व्यापीडितं बालमिवात्मदोषै-।
रुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वम्।।
हिताहितान्वेषणमान्द्य भाजः।
सर्वस्य जन्तोरसि बालवैद्यः।।५।।

टीकाः– हे ब्रह्मन् ! त्वं सर्वस्य जन्तोः सकलभव्यप्राणिगणस्य। बालवैद्योऽसि बालचिकित्सकोऽसि। संसारवर्त्तिनां भव्यजीवानां त्वमेव परोपकारी नान्य इति तात्पर्यार्थः। कथंभूतस्य जन्तौः? मोक्षो मोक्षकारणं हितं। संसारः संसारकारणं अहितं। तयोरन्वेषणे विचारणे मांद्यं। मन्दत्वं जडत्वं भजतीति। तस्यकुतो वैद्योऽसि? यतः कारणात्। त्वदाश्रितं सर्वं लोकमुल्लाघतां नीरोगतामबाधतां प्रापयसीत्यर्थः। कथंभूतं लोकं? आत्मदौषैः। पूर्वजन्मोपार्जित कर्म भिर्व्यापीडितंबाधितं। कमिव? बालमिव। यथा कश्चन बालवैद्यो बालमुल्लाघतां नीरोगतां नयति। कीदृशं बालं? आत्मदोषैर्वातादिभिर्व्यापीडितं व्याहतम्।

अन्वयार्थ— (त्वम्) आपने (बालम् इव) बालक की तरह (आत्मदोषैः) अपने द्वारा किये गये अपराधों से (व्यापीड़ितम्) अत्यन्त पीड़ित (लोकम्) संसारी मनुष्यों को (उल्लाघताम्) नीरोगता (अवापिपः) प्राप्त कराई है। निश्चय से आप (हिताहितान्वेषण मान्द्यभाजः) भले बुरे के विचार करने में मूर्खता को प्राप्त हुए (सर्वस्य जन्तोः) सब प्राणियों के (बालवैद्यः) बालवैद्य हैं।

भावार्थ :— मोह और अज्ञान के कारण यह जीव दुःख उपार्जन करता है, तथा हित और अहित के अन्वेषण करने में मन्दबुद्धि हो रहा है। उसको इस दुःख से छुडाने के लिए जिनेन्द्रदेव को छोड़ कर सच्चा वैद्य दूसरा कोई नहीं है।

दाता न हर्ता दिवसं विवस्वा,-नद्य श्व इत्यच्युत! दर्शिताशः।
स व्याजमेवं गमयत्यशक्तः क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय।।६।।

टीका:— भो अच्युत! नताय नम्राय। क्षणेन क्षणमात्रेण। अभिमतं मनोऽभिलषितं। दत्से यच्छसि। भो त्रिलोकैकनाथ! अभिमुखा- याभिमतफलंत्वदन्यः कोऽपि दातुं न प्रभवतीति भावार्थः। न च्युतः सम्यग्दर्शनादिस्वभावो यस्य स तस्यामन्त्रणे भो अच्युत! विवस्वान् सूर्य इव त्वदन्यो अशक्तोऽसमर्थः पुमान् स दाता न हर्ता दातुमशक्यत्वात्। अद्य श्व इति दर्शिता आशा वांछा येन सः। पक्षै प्रदर्शित दिग्मण्डलो भूत्वा। एवं सव्याजं यथा स्यात्तथा। दिवसं गमयति कालयापनां करोतीयर्थः।

अन्वयार्थ— (अच्युत) हे उदारता आदि गुणों से सहित जिनेन्द्रदेव! (विवस्वान्) सूर्य (न दाता 'न' हर्ता) न

देता है अपहरण करता है सिर्फ (अद्यश्वः) आजकल (इति) इस तरह (दर्शिताशः) आशा (दूसरे पक्ष में दिशा को) दिखाता हुआ (अशक्तः सन्) असमर्थ हो (एवम्) ऐसे ही—बिना लिये दिये ही (सव्याजम्) कपट सहित (दिवसम्) दिन को (गमयति) बिता देता है, किन्तु आप (नताय) नम्र मनुष्य के लिए (क्षणेन) क्षणभर में (अभिमतम्) इच्छित वस्तु (दत्से) दे देते हैं।

भावार्थः— संसार में ऐसे बहुत से प्राणी हैं जो दूसरों को अनेक प्रकार से प्रलोभन दिया करते हैं। परन्तु जो स्वयं भूखा है वह दूसरे का पेट कैसे भर सकता है? उसी प्रकार जो स्वयं असमर्थ है, वह दूसरे का हित कैसे कर सकता है, अर्थात् नहीं कर सकता है। परन्तु श्रीजिनेश्वरदेव ही एक ऐसे हैं जो नम्रीभूत हुए, इस संसार प्राणी का सच्चा हित कर सकते हैं। कारण जो श्री जिनेन्द्र देव की शरण जाता है, वह स्वयं अपने आत्मस्वरूप की पहचान कर अपना कल्याण कर लेता है।

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि।
त्वयिस्वभावाद्विमुखश्च दुःखम्।।
सदावदातद्युति रेक रूप-
स्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि।।७।।

टीकाः— भो नाथ! त्वयि परमेश्वरे। सुमुखः सम्यग्दृष्टिः। भक्त्या कृत्वा। स्वभावात् सहजतया। सुखानि सौधर्मेन्द्र नागेन्द्रचक्रयादि जनित नानासातानि। उपैति प्राप्नोतीति भावः। च पुनस्त्वयि विषये विमुखः प्राणी मिथ्यादृष्टि दुःखं

नारकतिर्यङ् निगोदजनिताऽसातमुपैति। तयोर्भाक्तिका भाक्ति कयोस्त्वं भगवानेकरूपः। अवभासि शोभसे। क इव? आदर्श इव। यथा आदर्शो मुकुरः सुमुखविमुखयोरंगिनोरेक रूपः शोभते। कीदृशस्त्वं? सदाऽवदाता निर्मला द्युतिर्यस्य सः।।

अन्वयार्थ— (त्वयि सुमुखः) आपके अनुकूल चलने वाला पुरुष (भक्त्या) भक्ति से (सुखानि) सुखों को (उपैति) प्राप्त होता है (च) और (विमुखः) प्रतिकूल चलने वाला पुरुष (स्वभावात्) स्वभाव से ही (दुःखम् 'उपैति') दुःख पाता है। किन्तु (त्वम्) आप (तयोः) उन दोनों के आगे (आदर्श इव) दर्पण की तरह (सदा) हमेशा (अवदातद्युतिः) उज्ज्वल कान्तियुक्त तथा (एक—रूपः) एक सदृश (अवभासि) शोभायमान रहते हैं।

भावार्थ :—आपने स्वयं आत्म-कल्याण कर लिया है, इसलिए आप परमात्म स्वरूप हैं। अतः जो आपकी भक्ति करेगा, आपके विषय में दृढ़ श्रद्धा करेगा, वह संसार के कारणभूत दुःखों से मुक्त होकर अपने-आप सुख को प्राप्त होगा तथा जो आप की भक्ति नहीं करता है, वह आत्मकार्य से विमुख होने के कारण अपने-आप कर्म-बन्ध करता है और दुःखी होता है। आप स्वयं किसी को सुख और दुःख कुछ भी नहीं देते हैं। जिस प्रकार दर्पण में जिस प्रकार की वस्तु सामने आती है, उस प्रकार की उसमें प्रतिभासित हो जाती है, उस प्रकार आप केवल प्रमाणभूत हैं।

अगाधताब्धेः स यतः पयोधि-।
र्मेरोश्च तुंगा प्रकृतिः स यत्र।।

द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव।
व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि।।८।।

टीका:– भो देव ! अब्धेः समुद्रस्यागाधता गम्भीरता यतो यावत्क्षेत्रं स पयोधिः समुद्रोऽस्ति तावत्येवास्ति। च पुनः। मेरोर्मंदरस्य तुङ्गा प्रकृतिरुन्नतस्वभावो यत्रेति यावत्क्षेत्रं स मेरुरस्ति तावत्येवास्ति। द्यावापृथिव्योर्गगनावन्योः पृथुता विशालता तथैवेति यत्र तिष्ठतस्तत्रैवेत्यर्थः। त्वदीया सा गम्भीरा तुङ्गता विशालता च भुवनान्तराणि लोकालोकमशेष व्यापत् प्राप्नोति स्म। अनेन सर्वज्ञस्य महिमालोकोत्तरः प्रकटितः।

अन्वयार्थ– (अब्धेः) समुद्र की (अगाधता) गहराई (तत्र अस्ति) वहां है (यतः सः पयोधिः) जहां वह समुद्र है। (मेरोः) सुमेरु पर्वत की (तुङ्गा प्रकृति) उन्नत प्रकृति= ऊंचाई (तत्र) वहां है (यत्र सः) जहां वह सुमेरु पर्वत है (च) और (द्यावापृथिव्योः) आकाश पृथ्वी की (पृथुता) विशालता भी (तथैव) उसी प्रकार है अर्थात् जहां आकाश और पृथ्वी हैं वहीं उनकी विशालता है। परंतु (त्वदीया 'अगाधता, तुङ्गा प्रकृत्तिः पृथुता च') आपकी गहराई, उन्नत प्रकृति और हृदय की विशालताने (भुवनान्तराणि) तीनों लोकों के मध्यभाग को (व्याप) व्याप्त कर लिया है।

भावार्थ:– गम्भीरता से समुद्र बड़ा समझा जाता है, ऊँचाई में मेरु पर्वत बड़ा समझा जाता है और विशालता में आकाश बड़ा समझा जाता है, परन्तु वे सब पदार्थ मर्यादित हैं, परन्तु आप मर्यादा रहित अनन्त-रूप होने के कारण आपकी

गम्भीरता, विशालता और ऊँचाई को दूसरा कोई भी नहीं पा सकता है।

तवानवस्था परमार्थतत्त्वम् त्वया न गीतः पुनरागमश्च।
दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषीः, विरुद्धवृत्तोऽपि समंजसस्त्वम्।।९।।

टीकाः— भो नाथ ! त्वं विरुद्धवृत्तोपि विरुद्धाचरणोऽपि समंजसः समीचीनः। लोकाचरणाद्विरुद्धं वृत्तमाचरणं यस्य सः। तव मतेऽनवस्था परमार्थतत्त्वं वर्तते। अनवस्था विरुद्धपक्षे भ्रमणं। विरोधपरिहारपक्षे सर्वथा नित्यत्वमेकत्व मित्याद्येकरूपताऽवस्था तदभावोऽनवस्था निश्चितार्थतत्त्वं। त्वया भगवता पुनरागमः पुनरावृत्तिः न गीतः न कथितः। भो देव ! च पुनः। त्वं दृष्टं दृष्टफलं। विहाय परित्यज्य। अदृष्ट- मदृष्टफलमैषीर्वांछिसे स्म। विरुद्धपक्षे दृष्टं दृष्टफलं। विरोधपरिहार पक्षेऽतीन्द्रिय सुखं। अदृष्टं अदृष्टफलं विरूद्ध पक्षे परिहार पक्षे अतीन्द्रिय सुखं विरूद्ध पक्षे पुनरागमनं इति यावत्। पुनरावृत्तिः। विरोधपरिहारपक्षे मुक्तजीवानां पुनरागमनाभावः।

अन्वयार्थ— (अनवस्था) भ्रमणशीलता, परिवर्तनशीलता (तव) आपका (परमार्थतत्त्वम्) वास्तविक सिद्धान्त है (च) और (त्वया) आपके द्वारा (पुनरागमः न गीतः) मोक्ष से वापिस आने का उपदेश दिया नहीं गया है तथा (त्वम्) आप (दृष्टम्) प्रत्यक्ष इस लोक संबंधी सुख (विहाय) छोड़कर (अदृष्टम्) परलोक संबंधी सुख को (ऐषीः) चाहते हैं, इस तरह (त्वम्) आप (विरुद्धवृत्तः अपि) विपरीत प्रवृत्तियुक्त होने पर भी (समञ्जसः) उचितता से युक्त हैं।

भावार्थ :— इस लोक में विरोधाभास मालूम पड़ता है, परन्तु उसका परिहार हो जाने से वह विरोध नहीं रहता है, जिसका खुलासा कर ही दिया है।

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्।
उद्धूलितात्मा यदि नाम शंभुः।।
अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः।
किं गृह्यते येन भवानजागः।।१०।।

टीका:— भो देव! भवतैव त्वयैव। स्मरः कामः। सुदग्धः सुखेन दग्ध इत्यर्थः। यदि नाम निश्चयेन। तस्मिन्भस्मिन्भस्मितात्मनि भस्म रूपे शम्भुरीश्वरः उद्धूलितो लुंठितवाल्लिप्त आत्मां यस्य सः। ईश्वरेण कामो दग्ध इत्यसत्यमिति सूचितं। विष्णुर्नारायणो वृन्दोपहतोपि सन् अशेत्। सागरमध्ये सकल परिग्रहानूल्लसन्नपि वैचित्येन सुप्तवान। येन कारणेन भवान् त्वं अजागः। जाग्रदवस्थामिवान्वभूः। अत आह। ततः सकाशात्। तेन कारणेन कामेन किं वस्तु गृह्यते?।

अन्वयार्थ— (स्मरः) काम (भवता एव) आपके द्वारा ही (सुदग्धः) अच्छी तरह भस्म किया गया है (यदि नाम शम्भुः) यदि आप कहें कि महादेव ने तो भी भस्म किया था, तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि बाद में वह (तस्मिन्) उस काम के विषय में (उद्धलितात्मा) कलंकित हो गया था। और (विष्णु अपि) विष्णु ने भी (वृन्दोपहतः 'सन्') वृन्दा— लक्ष्मी नामक स्त्री से प्रेरित हो (अशेत) शयन किया था (येन) यत्तश्च (भवान् अजाग) आप जागृत रहे। अर्थात् काम निद्रा में अचेत नहीं हुए,

इसलिए (किं) गृह्यते) कामदेव के द्वारा आपकी कौन–सी वस्तु ग्रहण की जाती है, अर्थात् कोई भी नहीं।

भावार्थ:– महादेव ने काम को भस्म किया, यह प्रख्याति असत्य है। कारण कि यदि महादेव ने काम को भस्म किया होता हो वह पार्वती के पीछे कैसे लगा रहता? सचमुच में काम को भस्म करने वाले हे जिनेन्द्र ! आप ही हैं। कारण कि आप समस्त विकार भावों से रहित हैं। वह विष्णु भी सर्वदा वैचित्य होने से समुद्र में जाकर सो रहा है। अर्थात् वह भी निद्रा आदि विकार को नहीं जीत सका। एक आप ही सर्वदा अपने आत्म-रूप में जाग्रत हैं, अतएव काम आपका क्या कर सकता है?

स नीरजा: स्यादपरोऽघवान्वा।
तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम्।।
स्वतोम्बुराशेर्महिमा न देव !।
स्तोकापवादेन जलाशयस्य।।११।।

टीका:– भो देव ! स हरिहरादिप्रसिद्ध परो देव:- नीरजा पापरहित: स्याद्वा अथवा स देव अघवान् पापसहित: स्यात्। तद्दोषकीर्त्यैव ते तव भगवत: गुणित्वं न गुणवत्ता न। निर्गतं रजो यस्मात्स नीरजा:। अघं पापं विद्यते यस्य स:। तेषां हरिहरादि देवानां दोषास्तेषां कीर्ति: कथनं तया। गुणा विद्यन्ते यस्य स तस्य भावो गुणित्वं। अम्बुराशे: समुद्रस्य स्वत एव माहिमास्ति। जलाशयस्याख्यातसरोवरादिस्तोकापवादेन न स्यात्। तुच्छत्वख्यापन् लक्षणदूषणेन न भवेत। स्तोक: स्वल्प इति यो हि अपवादस्तेन।।

अन्वयार्थ— (वा) अथवा (स) वह ब्रह्मादि देवों का समूह (नीरजाः) पाप रहित (स्यात्) हो और (अपरः) दूसरा देव (अघवान् 'स्यात्') पाप सहित हो, इस तरह (तद्दोषकीर्त्या एव) उनके दोषों के वर्णन करने मात्र से ही (ते) आपकी (गुणित्वम् न) गुण सहितता नहीं है। (देव) हे देव! (अम्बुराशेः) समुद्र की (महिमा) महिमा (स्वतः 'स्यात') स्वभाव से ही होती है (जलाशयस्य स्तोकापवादेन न) 'यह छोटा है'— इस तरह तालाब वगैरह की निन्दा से नहीं होती।

भावार्थ :— महादेव पार्वती के पीछे लगा रहा, गले में मुंडमाला धारण करता हुआ शरीर को भस्म लगाता हुआ। विष्णु गोपिकाओं से रममाण रहा। ब्रह्मा, उर्वशी की प्राप्ति के लिए गधे का मुख बनाता रहा। इस प्रकार नामधारी दूसरे देवों के दोष कथन करने ही से श्री जिनेन्द्र में गुणीपना सिद्ध नहीं होता है किन्तु अनन्त ज्ञानादिलक्ष्मी से शोभायमान होने के कारण आप स्वयं गुणी हैं जैसे समुद्र स्वयं विशाल होता है कुछ तालाब के दोष कथन करने से उसमें विशालता नहीं आती है।

कर्म स्थितिं जन्तुरनेक भूमिम्।
नयत्यमुं सा च परस्परस्य।।
त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ।
जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः।।१२।।

टीका:— भो जिनेन्द्र! जन्तुः प्राणी। कर्मस्थितिमनेकभूमिं नानावस्थां नयति प्रापयति। कर्मणां स्थितिस्तां। च पुनः सा कर्मस्थितिः अमुं जन्तुमनेकभूमिं नयति। हि निश्चितं। भवाब्धौ

तयोर्जीवकर्मणो: परस्परस्यान्योन्यस्य नेतृभावं नेतृत्वं प्रापकत्वं आख्य: कथयसि स्म: । कयोरिव ? नौनाविकयोरिव । यथा नौर्नाविकनेकभूमिं नयति यथानाविको नावमनेकभूमिं नयति ।

अन्वयार्थ— (जन्तु:) जीव (कर्मस्थितिम्) कर्मों की स्थिति को (अनेकभूमिम्) अनेक जगह (नयति) ले जाता है (च) और (सा) वह कर्मों की स्थिति (अमुम्) उस जीव को (अनेक भूमिम्) अनेक जगह ले जाता है। इस तरह (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्रदेव! (त्वम्) आपने (भवाब्धौ) संसार रूप समुद्र में (नौनाविकयो: इव) नाव और खेवटिया की तरह (तयो:) उन दोनों में (हि) निश्चय से (परस्परस्य) एक दूसरे का (नेतृभावम्) नेतृत्व (आख्य:) कहा है।

भावार्थ :— जिस प्रकार नौका नाविक को और नाविक नौका को इष्ट स्थान पर ले जाता है। उसी प्रकार यह जीव अपने शुभाशुभ परिणामों से कर्म को बांधता है और कर्म इस जीव को नर, नारक, आदि अनेक दुर्गतियों में परिभ्रमण कराता है। यह परस्पर कार्य-कारणरूप तत्त्व-हे प्रभो ! आपको छोड़कर दूसरे किसी को भी प्रतिपादन करने को नहीं आया। इन संसारी प्राणियों को आपने ही यह खुलासा करके दिखलाया।

सुखाय दु:खानि गुणाय दोषान् ।
धर्माय पापानि समाचरंति ।।
तैलाय बाला: सिकतासमूहम् ।
निपीडयंति स्फुटमत्वदीया: ।।१३।।

टीका:– भो देव ! अत्वदीयास्त्वत्तः पराङ्मुखा पुमांसः । स्फुटं निश्चितं । सुखाय सुखार्थं । दुःखानि समाचरंति । गुणाय गुणार्थं दोषान् समाचरंति । धर्माय धर्मार्थं । पापानि समाचरंति । पुनः बालास्तैलाय तैलार्थं । सिकतासमूहं वालुकापुंजं । निपीडयंति पीडयन्तीत्यर्थः ।

अन्वयार्थ– जिस प्रकार (बालाः) बालक (तैलाय) तेल के लिये (सिकतासमूहम्) बालू के समूह को (निपीडयन्ति) पेलते हैं, (स्फुटम्) ठीक, उसी प्रकार (अत्वदीयाः) आप के प्रतिकूल चलने वाले पुरुष (सुखाय) सुख के लिए (दुःखानि) दुःखों को, (गुणाय) गुण के लिए (दोषान्) दोषों को और (धर्माय) धर्म के लिए (पापानि) पापों को (समाचरन्ति) समाचरित करते हैं।

भावार्थ:– बहिर्दृष्टिजन मोह और अज्ञान के कारण अन्यथारूप प्रवृत्ति करके भी सुख की ओर लाभादि गुणों की इच्छा करते हैं। परन्तु उनकी यह प्रवृत्ति दुःख देने वाली और दोषोत्पादक होती है।

विषापहारं मणिमौषधानि, मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यंत्यहो न त्वमिति स्मरंति, पर्यायनामानि तवैव तानि।।१४।।

टीका:– विषान्यपहरतीति विषापहारस्तं । मणिं तथौषधानि तथा मंत्रं च पुनः । रसायनं सिद्धरसं समुद्दिश्य भ्राम्यंति भ्रमणं कुर्वंति । अहो इति खेदे । त्वं इति न स्मरंति जना इति शेषः । इतीति किं? एतानि विषापहारमण्यादीनि तवैव भगवतः पर्यायनामानि अपरनामानि इत्यर्थः ।

अन्वयार्थ– (अहो) आश्चर्य है कि लोग (विषापहारम्) विष को दूर करने वाले (मणिम्) मणि को (औषधानि)

औषधियों को (मन्त्राम्) मन्त्र को (च) और रसायन को (समुद्दिश्य) उदेश्य कर (भ्राम्यन्ति) यहाँ वहां घूमते हैं, किन्तु (त्वम्) आप ही मणि हैं, औषधि हैं, मन्त्र हैं, और रसायन हैं (इति) ऐसा (स्मरन्ति) ख्याल नहीं करते। क्योंकि (तानि) वे मणि आदि (तव एव) आपके ही (पर्यायनामानि) पर्यायवाची शब्द हैं।

भवार्थ :– मणि, मंत्र और औषधि आदिक सुख देने वाले और रोगादिकों को हरण करने वाले लगते हैं, परन्तु वे सचमुच रोगादिक का नाश नहीं कर सकते हैं। जन्म, जरा और मरणरूप रोग के नाश करने के लिए आप ही परम समर्थ हैं इसलिए वे मंत्रादिक आपके ही पर्यायवाचीनाम समझने चाहिए।

चित्ते न किंचित्कृतवानसि त्वम् देव: कृतश्चेतसि येन सर्वम्।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रम्, सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्य:।।१५।।

टीका:– भो देव ! त्वं चित्तेऽन्त: करणे किंचित् कमपि पुमांसं न कृतवान् असि वर्तसे। येन पुंसा चेतसि देवस्त्वं कृत: अन्त: करणे त्वं देवो धृत:। तेन पुंसा सर्वं विचित्रं जगत् हस्ते कृतं। स पुमान् सर्वं जगत् हस्तामलकवत् जानातीति भाव:। चित्तबाह्योऽपि सुखेन जीवति।

अन्वयार्थ– (त्वम्) आप (चित्ते) अपने हृदय में (किंचित्) कुछ भी (न कृतवान् असि) नहीं करते हैं– रखते हैं, किन्तु (येन) जिस के द्वारा (देव:) आप चेतसि हृदय में (कृत:) धारण किये गये हैं। (तेन) उस के द्वारा (सर्वम्) समस्त (जगत्) संसार (हस्ते कृतम्) हाथ में कर लिया गया है– अर्थात् उस ने सब कुछ पा लिया है। यह (विचित्रम्) आश्चर्य की बात है। और आप (चित्तबाह्य:

अपि) चेतन से रहित होते हुए भी अर्थात् मन से चिंतवन करने के अयोग्य होते हुए भी (सुखेन जीवति) सुख से जीवित हैं, यह आश्चर्य है।

भावार्थ :— आप स्वयं राग द्वेष रहित होने के कारण समदृष्टि हैं। आप स्वयं किसी की इच्छा नहीं करते और किसी का तिरस्कार भी नहीं करते। परन्तु जो प्राणी आपकी मन: पूर्वक भक्ति करता है वह स्वयं आपके समान सर्वदृष्टा हो जाता है।

त्रिकालतत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकी।
स्वामीति संख्यानियतेरमीषाम्।।
बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यत्।
तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदम्।।१६।।

टीका:— भो देव ! त्वं त्रिकाल तत्त्वमवैर्जानासि स्म। त्रयश्च ते कालाश्च त्रिकालास्तेषां तत्त्वं। कुत इति अमीषां कालानां संख्यानियते: कालास्त्रय एव संति नान्ये इति संख्यानियमात्। भो देव ! त्वं त्रिलोकी स्वामी असि। त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी। तस्या: स्वामी कुत इति? अमीषां लोकानां संख्यानियते:। इतीति किं? यतो लोकास्त्रय एव संति नान्ये इति संख्याया निश्चयात्। तेऽन्ये इतरेपि काला लोकाश्च नाभविष्यन्। चेत् यदि ते काला लोकाश्चान्येऽ भविष्यन् तर्हि अमून कालान् लोकान् प्रत्यपीदं बोधाधिपत्यं व्याप्स्यच्छश्वत्। काला लोकाश्च अन्ये न सन्तीत्यर्थ:।

अन्वयार्थ— (त्वम्) आप (त्रिकालतत्त्वम्) भूत भविष्यत् वर्तमान इन तीनों कालों के पदार्थों को (अवै:) जानते हैं, तथा (त्रिलोकी स्वामी) ऊर्ध्व, मध्य, पाताल, तीनों लोकों

के स्वामी हैं, (इति संख्या) इस प्रकार की संख्या (अमीषां नियतेः) उन पदार्थों के निश्चित संख्यावाले होने से (युज्यते) ठीक हो सकती है, परन्तु (बोधाधिपत्यं प्रति न) ज्ञान के साम्राज्य के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की संख्या ठीक नहीं हो सकती। क्योंकि (इदम्) ज्ञान (चेत्) यदि (ते अन्ये अपि अभविष्यन्) वे तथा और भी पदार्थ होते (तर्हि) तो (अमून् अपि) उन्हें भी (व्याप्स्यत्) व्याप्त कर लेता, जान लेता।

भावार्थ :—आपका ज्ञान तीन लोक और त्रिकालवर्ती पदार्थों को ही जानता है तथा आप तीन लोक के ही स्वामी हैं। यह दोष आपके ज्ञान और स्वामित्व का न होकर लोक और काल के नियमिपने का ही समझना चाहिए। कारण- काल तीन ही हैं। अतएव जिनेन्द्र देव तीन कालवर्ती पदार्थों को जानते हैं और लोक भी तीन हैं। इसलिए स्वामित्व भी तीन लोक का है। यदि लोक और काल तीन संख्या को छोड़कर अनन्त भी होते तो भी भगवान् के ज्ञान के वे विषय हो गये होते और उनका स्वामित्व भी भगवान् को प्राप्त हो गया होता। तात्पर्य—भगवान् स्वयं अनन्तसामर्थरूप हैं इसलिए उनके ज्ञान और स्वामित्व की लोक और काल की तरह सीमा नहीं हो सकती है।

नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यम्।
नागम्यरूपस्य तवोपकारी।।
तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानोः।
उद्बिभ्रतश्चछत्र मिवादरेण।।१७।।

टीका :– भो देव! नाकस्य पत्युर्देवेन्द्रस्य रम्यं परिकर्म परिचर्यादिकम्। तवागम्यरूपस्योपकारी न। अगम्यमलक्ष्यं रूपं यस्य स तस्य। यदि भगवत उपकारी न तर्हिं किं निष्फलं जातं। तस्यैव सेवा तत्परस्य इन्द्रस्यैव। स्वस्यात्मनः सुखस्य हेतुः कारणं। कस्येव ? भानोरिव। यथा भानोः सूर्यस्य छत्रमादरेणोद्बिभ्रत ऊर्ध्वं धरतः पुरुषस्यैवोपकारी तापहारी भवति छत्रं सूर्यस्योपकारी न भवति।

अन्वयार्थ– (नाकस्य पत्युः) इन्द्र की (रम्यम्) मनोहर (परिकर्म) सेवा (अगम्यरूपस्य) अज्ञेय है स्वरूप जिनका ऐसे (तव) आप का (उपकारि न) उपकार करने वाली नहीं है, किन्तु जिसका स्वरूप अप्राप्य है, ऐसे (भानोः) सूर्य के लिए (आदरेण) आदर पूर्वक (छत्रम् उद्बिभ्रतः इव) छत्र धारण करने वाले की तरह (तस्य एव) उस इन्द्र के ही (स्वसुखस्य) आत्म–सुख का (हेतुः) कारण है।

भावार्थ :– जिस प्रकार कोई सूर्य के लिए छाता लगावे तो तो उससे सूर्य का कुछ भी उपकार नहीं होता, क्योंकि वह सूर्य छाता लगाने वाले से बहुत ऊपर है, परन्तु छाता लगाने वाले को अवश्य ही छाया का सुख होता है। उसी प्रकार इन्द्र जो आपकी सेवा करता था उससे आपका क्या भला होता? क्योंकि वह वास्तव में आपके स्वरूप को समझ ही न सका था। उल्टा शुभास्रव होने से उसी का भला होता था।

क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः,
स चेत्किमिच्छा- प्रतिकूल–वादः।
क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वं,
तन्नो यथातथ्यमवेविचं ते।।१८।।

टीका :– भो नाथ! त्वमुपेक्षकः क्व सुखोपदेशः क्व। दौ क्व शब्दौ महदन्तरं सूचयतः। उपेक्षा तृणादिकमिदं न त्याज्यं, इदं सुवर्णादिकं न ग्राह्यं इत्येवमाकारका बुद्धिर्यस्य स उपेक्षक एवंविधस्त्वं क्व? सुखस्योपदेशः सुखोपदेशः। स क्व। चेद् यदि सुखोपदेशः तर्हीच्छाप्रतिकूलं वादो न भवति। वा अथवाऽसावुपेक्षकः क्व। सर्वजगत्प्रियत्वं क्व। यः पुमानु पेक्षकस्तस्य पुंसः सर्वं यज्जगत्तस्य प्रियत्वं न संजाघटीति। त्वमुपेक्षकस्तव सर्वजगत्प्रियत्वं। तत्तस्मात् कारणात् ते तव परमेश्वरस्य यथातथ्यं अहं नावेविचं नाबूबुधम्।।१८।।

अन्वयार्थ– (उपेक्षकः त्वम् क्व) रागद्वेष रहित आप कहाँ? और (सुखोपदेशः क्व) सुख का उपदेश देना कहाँ? (चेत्) यदि (सः) सुख का उपदेश आप देते हैं (तर्हि) तो (इच्छाप्रतिकूलवादः क्व) इच्छा के विरुद्ध बोलना ही कहाँ है? अर्थात् आप के इच्छा नहीं है, ऐसा कथन क्यों किया जाता है? (असौ क्व) इच्छा के प्रतिकूल बोलना कहाँ? (वा) और (सर्वजगत्प्रियत्वम् क्व) सब जीवों को प्रिय होना कहाँ? इस तरह जिस कारण से आपका प्रत्येक बात में विरोध है, (तत्) उस कारण से मैं (ते यथातथ्यम् नो अवेविचम्) आप की वास्तविकता– असली रूप का विवेचन नहीं कर सकता।

भावार्थ :– हे भगवन्! जब आप राग द्वेष से रहित हैं, तब किसी को सुख का उपदेश कैसे देते हैं? यदि सुख का उपदेश देते हैं तो इच्छा के बिना कैसे उपदेश देते हैं? यदि इच्छा के बिना उपदेश देते हैं तो जगत के सब जीवों

को प्यारे कैसे हैं? इस तरह आपकी सब बातें परस्पर में विरूद्ध हैं। दर असल में आपकी असलियत को कोई नहीं जान सकता।

तुंगात्फलं यत्तदकिञ्चनाच्च।
प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।।
निरम्भ सोऽप्युच्चत मादिवाद्रेः
नैंकापि निर्याति धुनी पयोधेः।।१९।

टीका :– भो देव! अकिंचनाच्च तुंगात उच्चैस्तरात् यत्फलं प्राप्यं लभ्यं तत्फलं समृद्धा दैश्वर्यात् धनेश्वरादेर्न प्राप्यं न लभ्यं। कस्मादिवाद्रेरिव यथा निरम्भसोऽपि निरुदकात् उच्चतमात् अद्रेः पर्वतात् सकाशात् धुनी नदी निर्याति निर्गच्छतीत्यर्थः। साम्भसोऽपि पयोधेः समुद्रादेकापि धुनी न निर्याति। तथाऽसंगात् उच्चतमाद् भवतः सकाशात् यत्फलं लभ्यते तत्फलं समृद्धादप्यन्यस्मान्नेति तात्पर्यम्।।१९।।

अन्वयार्थ– (तुङ्गात् अकिंचनात् च) उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्य से भी (यत्फलम्) जो फल (प्राप्यम् 'अस्ति') प्राप्त हो सकता है, (तत्) वह (समृद्धात् धनेश्वरादेः न) सम्पत्तिशाली धनाढयों से नहीं प्राप्त हो सकता। ठीक ही तो है, (निरम्भसः अपि उच्चतमात् अद्रेः इव) पानी से शून्य होने पर भी अत्यन्त ऊँचे पहाड़ के समान (पयोधेः) समुद्र से (एका अपि धुनी) एक भी नदी (न निर्याति) नहीं निकलती है।

भावार्थ :– पहाड़ के पास पानी की एक बूंद भी नहीं है। परन्तु उसकी प्रकृति अत्यन्त उन्नत है, इसलिए उससे कई नदियाँ

निकलती हैं, परन्तु समुद्र से जो कि पानी से लबालब भरा रहता है, एक भी नदी नहीं निकलती। इसका कारण है– समुद्र में ऊँचाई का अभाव। भगवन्! मै जानता हूँ कि आपके पास कुछ भी नहीं है। परन्तु आपका हृदय पर्वत की तरह उन्नत है, दीन नहीं है, इसलिए आप से हमें जो चीज मिल सकती है, वह अन्य धनाढ्यों से नहीं मिल सकती, क्योंकि पर्वत के समान वे ऊँचे नहीं हैं अर्थात् समुद्र के समान कृपण हैं।

त्रैलोक्य सेवा नियमाय दण्डं।
दध्रे यदिन्द्रो विनयेन तस्य।।
तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं
तत्कर्म योगाद्यदि वा तवास्तु।।२०।।

टीका :– भो देव! इन्द्रो विनयेन कृत्वा त्रैलोक्यस्य सेवा तस्या नियमो निश्चय स्तस्मै। यत् यदि चेद् दण्डं दध्रेदंडधात् तर्त्तहिं तस्य इन्द्रस्य प्रातिहार्यं भवतस्तव कुतस्त्यं। प्रातिहारस्य भावः प्रातिहार्यं। यदि वा युक्तोऽयमर्थः। तस्य तीर्थकृन्नामकर्मणो योगात् तव भगवतो अस्तु।

अन्वयार्थ– (यत्) जिस कारण से (इन्द्रः) इन्द्र ने (विनयेन) विनयपूर्वक (त्रैलोक्यसेवानियमाय) तीन लोक के जीवों की सेवा के नियम के लिए अर्थात् मैं त्रिलोक के जीवों की सेवा करूँगा, और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाऊँगा, इस उद्देश्य से (दण्डम्) दण्ड (दध्रे) धारण किया था। (तत्) उस कारण से (प्रातिहार्यम्) प्रतीहारपना (तस्य स्यात्) इन्द्र के ही हो (भवतः

कुतस्त्यम्) आपके कहाँ से आया? (यदि वा) अथवा (तत्कर्मयोगात्) तीर्थंकरनामकर्म का संयोग होने से या इन्द्र के उस कार्य में प्रेरक होने से (तव अस्तु) आपके भी प्रातिहार्य– प्रतीहारपना हो

भावार्थ :—जब भगवान ऋषभदेव भोग भूमि के बाद कर्म भूमि की व्यवस्था करने के लिए तैयार हुए। तब इन्द्र ने आकर भगवान की इच्छानुसार सब व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया था। अर्थात् प्रतीहार पद स्वीकार किया था। जो कि किसी काम की व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया जाता है, उसे प्रतीहार कहते हैं। जैसे कि आजकल लाठी धारण किए हुए बालण्टियर स्वयंसेवक। प्रतीहार के कार्य अथवा भाव को संस्कृत में प्रतिहार्य कहते हैं। हे प्रभो! जब इन्द्र ने सब व्यवस्था की थी, तब सच्चा प्रातिहार्य, प्रतीहारपना इन्द्र के ही हो सकता है, आपके कैसे हो सकता है? क्योंकि आपने प्रतीहार का काम थोड़े ही किया था। फिर भी यदि आपके प्रातिहार्य होता ही है ऐसा कहना है तो उपचार से कहा जा सकता है, क्योंकि आप इन्द्र के उस काम में प्रेरक थे।

अथवा श्लोक का ऐसा भी भाव हो सकता है– 'तीन लोक के जीव भगवान की सेवा करो' इस नियम को प्रचलित करने के लिए इन्द्र ने हाथ में दंड लिया था- इसलिए प्रातिहार्यत्व इन्द्र के ही बन सकता है, आपके नहीं। अथवा आपके भी हो सकता है, क्योंकि आपसे ही इन्द्र की उस क्रिया के कर्मकारक का सम्बंध होता था। यहां एक और भी गुप्त अर्थ है, वह इस प्रकार है- लोक

में प्रातिहार्य पद का अर्थ आभूषण प्रसिद्ध है। भगवान के भी अशोक वृक्ष आदि आठ प्रातिहार्य आभूषण होते हैं। यहां कवि प्रातिहार्य पद के श्लेष से पहले यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के अन्य देवों की तरह आपके शरीर पर प्रातिहार्य नहीं है। इन्द्र के प्रातिहार्य-प्रतीहारपना हो, पर आपके प्रातिहार्य- आभूषण कहां से आए? फिर उपचार पक्ष का आश्रय लेकर कहते हैं कि आपके भी प्रातिहार्य हो सकते हैं। उसका कारण है 'तत्कर्मयोगात्' अर्थात् आभूषणों के कार्य सौंदर्य वृद्धि के साथ सम्बन्ध होना है।

श्रिया परं पश्यति साधु निःस्वः
श्रीमान्न कश्चित् कृपणं त्वदन्यः।।
यथा प्रकाशस्थितमन्धकारः।
स्थायीक्षतेऽसौ न तथा तमस्थम्।।२१।।

टीका :- भो देव! त्वत्तः सकाशात् अन्यः कः निस्वः दरिद्री श्रिया लक्ष्म्या परमुत्कृष्टं साधु यथा स्यात्तथा पश्यति विलोकयति। त्वदन्यः श्रीमान् कृपणं साधु न पश्यति। यथा अन्धकारस्थायी पुमान् प्रकाशस्थितं पुरुषमीक्षते पश्यति। तथाऽसौ प्रकाशस्थायी पुमान् तमस्थं पुरुषं नेक्षते नालोकयति। प्रकाशे स्थितस्तं। अन्धकारे तमसि तिष्ठतीति तम्।

अन्वयार्थ— (निः स्वः) निर्धन पुरुष (श्रिया परम्) लक्ष्मी से श्रेष्ठ अर्थात् सम्पन्न मनुष्य को (साधु) अच्छी तरह आदरभाव से (पश्यति) देखता है, किन्तु (त्वदन्यः) आपसे भिन्न (कश्चित्) कोई (श्रीमान्) सम्पत्तिशाली पुरुष (कृपणम्) निर्धन को (साधु न पश्यति) अच्छे

भावों से नहीं देखता। ठीक है (अंधकारस्थायी) अंधकार में ठहरा हुआ मनुष्य (प्रकाशस्थितम्) उजेले में ठहरे हुए पुरुष को (यथा) जिस प्रकार (ईक्षते) देख लेता है, (तथा) उस प्रकार (असौ) उजेले में स्थित पुरुष (तमः स्थम्) अँधेरे में स्थित पुरुष को (न ईक्षते) नहीं देख पाता।

भावार्थ :– तीन लोक में एक आप ही ऐसे अद्वितीय पुरुष हैं जो स्वयं परमात्मादशा को प्राप्त होकर भी संसारी प्राणियों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील हैं। दूसरे जीवों में जो देवभाव दीखता है, उससे आप सर्वथा रहित हैं।

स्ववृद्धिनिः श्वासनिमेषभाजि।
प्रत्यक्षमात्मानुभवेपि मूढः।।
किं चाखिलज्ञेयविवर्त्तिबोध:।
स्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः।।२२।।

टीका :– लोक आत्मानुभवेऽपि निजस्वरूपानुभवेऽपि। प्रत्यक्षं साक्षात्। मूढो मूर्खो वर्तते। आत्मनोऽनुभवः आत्मानुभवस्तस्मिन्। च पुनः लोकोऽखिलज्ञेयविवर्त्तिबोधस्वरूपं अध्यक्षं मम प्रत्यक्षं किमवैति जानाति? अपि तु न जानातीत्यर्थः। अखिलाश्च ते ज्ञेयाः पदार्थास्तेषां विवर्त्तिनः पर्यायास्तेषां बोधस्तस्य स्वरूपं तत्त्वं। कथंभूते आत्मानुभवे ? स्ववृद्धिनिश्वासनिमेष भाजि। स्ववृद्धिश्च निश्वासश्च निमेषाश्च तान् भजतीति तस्मिन्।

अन्वयार्थ– (प्रत्यक्षम्) यह प्रकट है कि (यः) जो मनुष्य (स्ववृद्धिनिः श्वासनिमेषभाजि) अपनी वृद्धि, श्वासोच्छ्वास, और आँखों को टिमकार को प्राप्त

(आत्मानुभवे अपि) अपने आपके अनुभव करने में (मूढ:) मूर्ख है, (स लोक:) वह मनुष्य (अखिलज्ञेयविवर्तिबोधस्वरूपम्) सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला ज्ञान ही है स्वरूप जिसका ऐसे (अध्यक्षम्) अध्यात्मस्वरूप आपको (किं च अवेति) कैसे जान सकता है?

भावार्थ :– मोह के कारण जब कि इस संसारी प्राणी को श्वासोछ्वास आदि बाह्य कारणों से आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान नहीं है, अथवा वृद्धि श्वासोछ्वास इत्यादि अवस्था को यह आत्मा ही प्राप्त होता है, यह जिसको नहीं समझता है, उसे प्रत्यक्षज्ञान स्वरूप इस आत्मा के निज स्वरूप का ज्ञान कैसे हो सकता है? अर्थात् जब तक मोह का सद्भाव है, तब तक अत्यन्त कठिन है।

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव।
त्वां येऽवगायंति कुलं प्रकाश्य।।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यम्।
पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजंति।।२३।।

टीका :– भो देव ! ये लोकास्त्वां भगवन्तं अवगायन्ति। किं कृत्वा तस्य श्रीनाभेरात्मज: पुनस्तस्य श्रीभरतचक्रवर्तिन: पितेत्यमुना प्रकारेण कुलं प्रकाश्य प्रकटीकृत्य। ते पुरुषा अद्यापि ननु निश्चितं। पाणौ करकमले। कृतं हेम सुवर्ण अवश्यं निश्चितमाश्मनं पाषाणोद्भव इति विलोक्य पुनस्त्यजन्ति जहतीत्यर्थ:।

अन्वयार्थ– (देव) हे नाथ! (ये) जो मनुष्य, आप (तस्य आत्मज:)

उसके पुत्र हो और (तस्य पिता) उसके पिता हो (इति) इस प्रकार (कुलम् प्रकाश्य) कुल का वर्णन कर (त्वाम् अवगायन्ति) आपका अपमान करते हैं, (ते) वे (अद्य अपि) अब भी (पाणौ कृतम्) हाथ में आये हुए (हेम) सुवर्ण को (आश्मनम्) पत्थर से पैदा हुआ है, (इति) इस हेतु से (पुनः) फिर (अवश्यं त्यजन्ति) अवश्य ही छोड़ देते हैं?

भावार्थ :– आप नाभिराज के पुत्र हैं और भरत चक्रवर्ती के पिता हैं। यह आपकी सच्ची स्तुति नहीं है। जिस प्रकार कोई सोने और पत्थर में भेद नहीं समझता है, उसी प्रकार पिता-पुत्र सम्बन्ध से आप ईश्वर नहीं हैं, किन्तु अनन्त ज्ञानादि गुणों से ही आप परमेश्वर अवस्था को प्राप्त हैं, इस प्रकार जिसको ज्ञान नहीं हुआ वे आपकी शरण आकर भी बहिर्दृष्टि ही समझने चाहिए।

दत्तस्त्रिलोक्यां पटहोऽभिभूतः।
सुरासुरास्तस्य महान्स लाभः।।
मोहस्य मोहस्त्वयि को विरोद्धुम्।
मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः।।२४।।

टीका :– भो! देव मोहस्य मोहनीयकर्मणः। त्वयि विषये विरोद्धुं स्पर्धयितुं को मोहः भ्रमः। समानबलाय स्पर्धा न तु न्यूनाधिकयोः। तस्य मोहस्य स महान् लाभो यः सुरासुरा देवदानवादयोऽभिभूताः पराभूताः इति त्रैलोक्ये पटहो दत्तः। कुत एवं भ्रमतः? बलवद्भिः सहविरोधो मूलस्य नाशो भवति।

अन्वयार्थ– मोह के द्वारा (त्रिलोक्याम्) तीनों लोकों में (पटहः)

विजय का नगाड़ा (दत्तः) दिया गया—बजाया गया उस से जो (सुरासुराः) सुर और असुर (अभिभूताः) तिरस्कृत हुए,(सः) वह (तस्य) उस मोह का (महान लाभः) बड़ा लाभ हुआ, किंतु (त्वयि) आप के विषय में (विरोद्धुम) विरोध करने के लिए (मोहस्य) मोह को (कः) कौन सा (मोहः) भ्रम हो सकता था अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि (बलवद्विरोधः) बलवान के साथ विरोध करना (मूलस्य नाशः) मानों मूल का नाश करना है।

भावार्थ :— इस मोह से देव, दानव आदि सब जीव पराजित हो गये, एक आप ही ऐसे समर्थ पुरुष हैं, जिसके सामने उसका कुछ भी उपाय नहीं है, आपके साथ विरोध करने से उसे स्वतः नष्ट होना पड़ा।

मार्गस्त्वयैको ददृशे विमुक्तेः।
चतुर्गतीनां गहनं परेण।।
सर्वं मया दृष्टमिति स्मयेन।
त्वं मा कदाचित्भुजमालुलोकः।।२५।।

टीका :— भो नाथ! त्वया भगवता। एकोऽद्वितीयो विमुक्तेर्मार्गो ददृशे दर्शित। परेण हरिहरादिदेवेन। चतुर्गतीनां नरकतिर्यग्देव मनुष्य पर्यायाणां। गहनं ददृशे दर्शितं। भो देव! मया सर्वं दृष्टमिति स्मयेनेत्यहंकारभरेण त्वं कदाचित् भुजं निजबाहुशिखरं मालुलोकः माद्राक्षीः। इति निन्दास्तुत्यलंकारमिष्टं भेन त्वमेव मुक्तोऽन्ये सर्वेऽपि संसारिणः इति तात्पर्यम्।

अन्वयार्थ— (त्वया) आप के द्वारा (एकः) एक (विमुक्तेः) मोक्ष का

ही (मार्गः) मार्ग (ददृशे) देखा गया है और (परेण) दूसरों के द्वारा (चतुर्गतीनाम्) चारों गतियों का (गहनम्) सघन वन (ददृशे) देखा गया है, मानों इसीलिए (त्वम्) आपने (मया सर्वं दृष्टम्) मैंने सब कुछ देखा है, (इति स्मयेन) इस अभिमान से (कदाचित्) कभी भी (भुजम्) अपनी भुजा को (मा आलुलोकः) नहीं देखा था।

भावार्थ :– आप मुक्ति का मार्ग दिखलाते हुए भी निगर्व होने के कारण इधर आपका लक्ष्य भी नहीं जाता है। तथा दूसरे मिथ्यादेव चतुर्गति के मार्ग का प्ररूपण करते हुए भी "मैं ईश्वर हूं तुम लोगों का उद्धारक हूं।'' इस प्रकार ढिण्ढोरा पीटते हैं।

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः।
कल्पान्तवातोऽम्बुनिधेर्विघातः।।
संसारभोगस्य वियोगभावो।
विपक्षपूर्वाभ्युदया स्त्वदन्ये।।२६।।

टीका :– भो देव ! त्वत्तः सकाशात् अन्ये यावन्तः पदार्थाः सन्ति तावन्तो विपक्षपूर्वाभ्युदया सन्ति। विपक्षपूर्वः शत्रुपूर्वअभ्युदयो भाग्यमेषां ते। अर्कस्य सूर्यस्य स्वर्भानु राहुर्विघातोस्ति हविर्भुजोऽग्नेरंभस्तोयं विघातं। अम्बुनिधेः समुद्रस्य कल्पान्तवातो विघातः। संसार भोगस्य स्रक्चन्दन वनितादेर्वियोगभावो विघातः। इति विपक्षपूर्वाः सर्वे। त्वमेव नेति भावः।

अन्वयार्थ– (स्वर्भानुः) राहु (अर्कस्य) सूर्य का, (अम्भः) पानी का, (हविर्भुजः) अग्नि का, (कल्पांतवातः) प्रलयकाल की वायु (अम्बुनिधेः) समुद्र का तथा (वियोगभावः)

विरहभाव (संसारभोगस्य) संसार के भोगों का (विघातः) नाश करने वाला है, इस तरह (त्वदन्ये) आपसे भिन्न सब पदार्थ (विपक्ष—पूर्वाभ्युदयाः 'सन्ति') विनाश के साथ ही उदय होते हैं।

भावार्थ :— संसार में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जिसका कोई विपक्षी न हो, जितने भी पदार्थ हैं वे समस्त विपक्ष सहित हैं। एक आप ही ऐसे हैं जिसका कोई भी विपक्षी नहीं है।

अजानतस्त्वां नमतः फलं यत्।
तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति।।
हरिन्मणिं काचधिया दधानः।
तं तस्य बुद्धया वहतो न रिक्तः।।२७।।

टीका :— भो नाथ ! त्वामष्टविधप्रातिहार्य विभवालंकृतं त्वामजानतो नमतः पुरुषस्य यत्फलं स्यात्। तु पुनरन्यं कंचनदेवतेति जानतो नमतः पुरुषस्य तत्फलं न स्यात्। काचधिया काचबुद्धया हरिन्मणिं नीलरत्नं दधानः पुमांस्तस्य हरिन्मणेर्बुद्धया तं काचं वहतः पुरुषात् सकाशात् रिक्तो न।

अन्वयार्थ— (त्वाम्) आप को (अजानतः) विना जाने ही (नमतः) नमस्कार करने वाले पुरुष को (यत् फलम्) जो फल होता है, (तत्) वह फल (अन्यं देवता इति जानतः) दूसरे को देवता है' इस तरह जानने वाले पुरुष को (न तु) नहीं होता। क्योंकि (हरिन्मणिम्) हरे मणि को (काचधिया) काच की बुद्धि से (दधानः) धारण करने वाला पुरुष (तं तस्य बुद्धया वहतः) हरे मणि को हरे मणि की बुद्धि से धारण करने वाले पुरुष की अपेक्षा (रिक्तः न) दरिद्र नहीं है।

भावार्थ :—सत्य को न जानकर भी ग्रहण करने वाला पुरुष सत्य के फल को प्राप्त होता है। वह फल असत्य को सत्यबुद्धि से ग्रहण करने वाले पुरुष को नहीं मिल सकता है। कारण हरितमणि की बुद्धि से कांच को धारण करने वाले पुरुष की अपेक्षा कांच की बुद्धि से हरितमणि को धारण करने वाला अभी भी श्रेष्ठ है। उसी प्रकार हे प्रभो ! जिसने आपको नहीं जाना है परन्तु आपकी शरण आया है वह असत्य देवता की सेवा की अपेक्षा कभी भी उत्तम फल को प्राप्त करेगा।

प्रशस्तवाचश्चतुराः कषायैः, दग्धस्य देवव्यवहारमाहुः।
गतस्य दीपस्य हि नंदितत्वम्, दृष्टं कपालस्य च मंगलत्वम्।।२८।।

टीका :— प्रशस्ता प्रशस्या वाग् वाणी येषां ते चतुराः पुमांसः। कषायैः क्रोधमानमायालोभादिभिः। दग्धस्य पुंसः। देवः परमेश्वरस्तस्य व्यवहार माहुर्भणन्ति स्म। हि निश्चितं। तैः पुरुषैः। गतस्य प्रनष्टस्य। दीपस्य नंदितत्वं वर्धमानत्वं दृष्टं। च पुनस्तैः कपालस्य खर्परस्य मंगलत्वं मांगल्यं दृष्टम्।

अन्वयार्थ— (प्रशस्तवाचः) सुन्दर वचन बोलने वाले (चतुराः) चतुर मनुष्य (कषायैः दग्धस्य) कषायों से जले हुए पुरुष के भी (देवव्यवहारम् आहुः) देव शब्द का व्यवहार करना कहते हैं। सो ठीक ही है (हि) क्योंकि (गतस्य दीपस्य) बुझे हुए दीपक का नंदितत्वं बढ़ना (च) और (कपालस्य) फूटे हुए घड़े का (मङ्गलत्वम्) मङ्गलपन (दृष्टम्) देखा गया है।

भावार्थ :— जो अपने को चतुर समझते हैं वे पुरुष भी, मोह और अज्ञान के कारण क्रोधादि कषायों से घिरे हुए पुरुष को भी देव

मानते हैं, परन्तु क्रोधादि दोषों से युक्त पुरुष यदि देव हो सकता है तो फूटा हुआ घड़ा भी मंगलरूप क्यों नहीं हो सकता है, अथवा बुझा हुआ दीपक भी यह बढ़ता है इस व्यवहार को क्यों नहीं प्राप्त हो सकता है? तात्पर्य– जिस प्रकार फूटा घड़ा मंगल रूप नहीं हो सकता है उसी प्रकार रागी और द्वेषी पुरुष देव भी नहीं हो सकता है।

नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तम्, हितं वचस्ते निशमय्य वक्तुः।
निर्दोषतां के न विभावयन्ति, ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण।।२९।।

टीका :– भो देव ! त्वदुक्तं त्वया प्रणीतमदः प्रसिद्धवचो। निशमय्य श्रुत्वा। ते तव। वक्तुर्निर्दोषतां दोषरहितत्वं। के पुरुषा न विभावयंति। ज्वरेण मुक्तःपुमान् स्वरेण कृत्वा सुगमः सुखेन ज्ञेयो भवति। कीदृशं वचो? नाना बहवोऽर्था यस्मिन् तत्। पुनः कथंभूतमेकोऽद्वितीयः पूर्वापरविरोधरहितः अर्थो यस्मिन् तत्। पुनः हितं हितकारी । दोषान्निष्क्रान्तो निर्दोषस्तस्य भावस्ताम्।

अन्वयार्थ—(नानार्थम्) अनेक अर्थों के प्रतिपादक तथा (एकार्थम्) एक ही प्रयोजन युक्त (त्वदुक्तम्) आपके कहे हुए (अदः हितं वचः) इन हितकारी वचनों को (निशमय्य) सुनकर (के) कौन मनुष्य (ते वक्तुः) आप के जैसे वक्ता की (निर्दोषताम्) निर्दोषता को (न विभावयन्ति) नहीं अनुभव करते हैं, अर्थात् सभी करते हैं। जैसे (यः) जो (ज्वरेण मुक्तः 'भवति') ज्वर से मुक्त हो जाता है। (सः) वह (स्वरेण सुगमः 'भवति') स्वर से सुगम हो जाता है। अर्थात् स्वर से उसकी अच्छी तरह पहचान हो जाती है।

भवार्थ :– स्याद्वादरूप, हित का मार्ग दिखाने वाले ऐसे आपके उपदेश को जिसने एक बार भी सुन लिया वह पुरुष, आप ही परम वीतराग और निर्दोष हैं, आप ही देव हैं इस प्रकार माने बिना रह नहीं सकता है।

न क्वापि वांछा ववृते च वाक्ते।
काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोगः।।
न पूरयाम्यम्बुधि मित्युदंशुः।
स्वयं हि शीत द्युतिरभ्युदेति।।३०।।

टीका :– भो देव! तव भगवतः क्वापि। कस्मिंश्चिदपि वस्तुनि वांछा न। च पुनः वाग्ववृत्ते प्रवर्तिता दिव्यध्वनिः प्रवर्तित इति भावः। क्वचित्काले कोऽपि अनिर्वचनीयस्तथा नियोगोऽस्ति। शीतद्युतिश्चन्द्रः अम्बुधिं पूरमायीत्युदंशुर्न हि स्वयमभ्युपैति। उदेति क्वचित्काले कोऽपि यथा तस्य नियोगोऽस्ति तथैवेति भावः।

अन्वयार्थ– (ते) आपकी (क्वापि) किसी भी वस्तु में (वांछा न) इच्छा नहीं है, (च) और (वाक् ववृते) वचन प्रवृत्त होते हैं। सचमुच में (क्वचित् काले) किसी काल में (तथा) वैसा (कः अपि नियोगः) कोई नियोग– नियम ही होता है। (हि) क्योंकि (शीतद्युतिः) चन्द्रमा (अम्बुधिम् पूरयामि) मैं समुद्र को पूर्ण कर दूँ, (इति) इसलिए (उदंशुः न भवति) उदति नहीं होता किन्तु (स्वयम् अभ्युदेति) स्वभाव से ही उदित होता है।

भावार्थ :– चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र में वृद्धि होती है। यह चन्द्रमा के उदय और समुद्र के कार्य कारण भाव का

सम्बन्ध है। ऐसा होते हुए भी चन्द्रमा इस इच्छा से उत्पन्न नहीं होता है। किन्तु उदय होना उसका स्वाभाविक गुण धर्म है। उसी प्रकार आप वीतराग होकर भी भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। वह उपदेश आप इच्छा से नहीं देते हैं क्योंकि आपने समस्त दोषों को नष्ट कर दिया है फिर इच्छा आपके कैसे रह सकती है? परन्तु आपका उपदेश तो होता है इसलिए यह बिना इच्छा के ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध समझना चाहिए। भव्य जीवों का निमित्त पाकर और तीर्थंकर रूप सातिशय पुण्य प्रकृति के उदय से आपका उपदेश होता है अर्थात् आप निरिच्छ होकर भी अपने सदुपदेश के द्वारा संसारी प्राणियों का उद्धार करते हैं।

गुणा गभीरा: परमा: प्रसन्ना:।
बहुप्रकारा बहवस्तवेति।।
दृष्टोऽयमन्त: स्तवनेन तेषाम्।
गुणो गुणानां किमत: परोऽस्ति।।३१।।

टीका :– भो नाथ ! तव भगवतो गुणा गभीरा अगाधा:। परमा उत्कृष्टा:। प्रसन्ना निर्मला:। बहुप्रकारा नानाविधा:। बहवोऽनन्ता। इति स्तवनेन कृत्वा। गुणानामयमन्त: पारो दृष्टस्तेषां गुणानामंत: पर: किमस्ति।

अन्वयार्थ– (तब) आपके (गुणा:) गुण (गभीरा:) गम्भीर (परमा:) उत्कृष्ट (प्रसन्ना:) उज्ज्वल (बहुप्रकारा:) अनेक प्रकार के और (बहव:) बहुत हैं (इति अयम्) इस प्रकार (स्तवनेन) स्तुति के द्वारा ही (तेषां गुणानां) उन गुणों

का (अन्तो दृष्टः) अन्त देखा गया है। (अतः परः गुणानां अन्तः किम् अस्ति) इसके सिवाय गुणों का अन्य क्या होता है? अर्थात् नहीं।

भावार्थ :– आप अनन्त गुणी हैं, आपके गुण अगाध हैं, आप अत्यन्त निर्मल दया को प्राप्त हैं, इन अमर्यादावाची शब्दों के द्वारा ही हम आपके गुणों की गणना कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त शब्दों में उन गुणों की मोजमाप करने की और इस क्षायोपशमिक ज्ञान में उनके जानने की शक्ति नहीं है, इसलिए आपके गुणों का कथन और आपके गुणों का जानना हमारी वाणी और ज्ञान के अगोचर है। अथवा अनन्त आदि शब्दों के द्वारा मैंने जो आपके गुणों का कीर्तन किया है वह स्तुति सत्यार्थवाद है स्तुतिवाद नहीं है।

स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या।
स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि।।
स्मरामि देव ! प्रणमामि नित्यम्।
केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम्।।३२।।

टीका :– भो देव! हि निश्चितं। परं केवलं। स्तुत्या कृत्वा मनोऽभिषितं न। तत्तस्मात्कारणात् भक्त्या देवमहं भजामि। च पुनः। स्मृत्या देवं नित्यं स्मरामि। च पुनः। प्रणत्या देव नित्यं प्रणमामि। हि निश्चितं प्राणिनां केनाप्युपायेन गुणानां फलं साध्यमुपार्जनीयं।

अन्वयार्थ– (स्तुत्या हि) स्तुति के द्वारा ही (अभिमतम् न) इच्छित वस्तु की सिद्धि नहीं होती, (परम्) किन्तु (भक्त्या स्मृत्या च प्रणत्या) भक्ति, स्मृति और नमस्कृति से भी होती है, (ततः) इसलिए मैं (नित्यम्) हमेशा (देवम् भजामि,

स्मरामि, प्रणमामि) आप की भक्ति करता हूँ, आप का स्मरण करता हूँ, और आप को प्रणाम करता हूँ (हि) क्योंकि (फलम्) इच्छित वस्तु की प्राप्तिरूप फल को (केन अपि उपायेन) किसी भी उपाय से (साध्यम्) सिद्ध कर लेना चाहिए।

भावार्थ :—हे देव ! यह निश्चित है कि केवल भक्ति के द्वारा अभिमत वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है इसलिए ही मैं निरन्तर आपको स्मरण करता हूँ, भक्ति करता हूँ और नमस्कार करता हूँ। कारण किसी भी उपाय से इष्ट वस्तु प्राप्त करना यह मनुष्य मात्र का कर्तव्य है।

ततस्त्रिलोकीनगराधिदेवम् नित्यं परंज्योतिरनन्तशक्तिम्।
अपुण्यपापं परपुण्यहेतुम् नमाम्यहं वन्द्यमवंदितारम्।।३३।।

टीका :— ततस्तमात्कारणात् अहं त्रिलोकीनगराधिदेवं नमामि। त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी सैव नगरं तस्याधिदेवः स्वामी तं। कीदृशं देवं? नित्यं शाश्वद्भावापन्नं। पुनः कथंभूतं? परंज्योतिषा परं ज्ञानेनानंतवीर्यं यस्य स तं। पुनः कथंभूतं? न विद्यते पुण्यपापे यस्य तं। पुनः परेषां प्राणिनां पुण्यहेतुः पुण्यकारणं तं। पुनः कथंभूतं? वन्द्यं सुरासुरादिशतेन्द्रै स्तुत्यं। पुनः कथंभूतं? अवन्दितारं अवन्दकं। वन्दतेऽसौ वन्दकः न वन्दकोऽवन्दकस्तं।

अन्वयार्थ— (ततः) इसलिए (अहम्) मैं (त्रिलोकी नगराधिदेवम्) तीन लोक रूप नगर के अधिपति, (नित्यम) विनाश रहित, (परम्) श्रेष्ठ (ज्योतिः) ज्ञान—ज्योतिस्वरूप (अनन्तशक्तिम्) अनन्तवीर्य से सहित, (अपुण्यपापम्)

स्वयं पुण्य और पाप से रहित होकर भी (परपुण्यहेतुम्) दूसरे के पुण्य के कारण तथा (वन्द्यम्) वंदना करने के योग्य होकर भी स्वयं (अवन्दितारम्) किसी को नहीं वन्दने वाले (भवन्तम्) आपको नमामि नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ :– आप तीन लोक के हितकर्त्ता होने से त्रिलोकीनाथ हैं, अथवा एकेन्द्रिय को आदि लेकर पचेन्द्रिय पर्यंत समस्त प्राणियों के रक्षण करने वाले होने से त्रिलोकीनाथ हैं। परम शुद्ध और शाश्वत ऐसी सिद्ध अवस्था को प्राप्त होने से नित्य हैं। केवल ज्ञान और अनन्तवीर्य से विभूषित हैं, द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से रहित होने के कारण पुण्य पाप रहित हैं, आपकी भक्ति स्मृति और नमस्कार करने से दूसरे जीवों को सातिशय पुण्यबन्ध होता है इसलिए दूसरों के लिए पुण्यबंध के कारण हैं। चक्रवर्ती आदि सौ इन्द्र आकर आपको नमस्कार करते हैं परन्तु स्वयं आप परमोत्कृष्ट पद को प्राप्त होने के कारण किसी को भी नमस्कार नहीं करते हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार होओ।

अशब्दमस्पर्शमरूपमगन्धम् त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम्।
सर्वस्य मातारममेयमन्यैः जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि।।३४।।

टीका :– त्वां जिनेन्द्रमहमनुस्मरामि नित्यं ध्यायामि। कथंभूतं त्वां? न विद्यते शब्दो यस्य स तं। न स्पर्शो यस्य स तं। न रूपगन्धौ यस्य स तं। रसान्निष्क्रान्तो यः स तं। पुनः त एव विषयाः स्पर्शरसगन्ध वर्णशब्दास्तेषां। अवबोधो ज्ञानं यस्य स तं। सर्वस्य त्रैलोक्यस्य दंडाकारेण घनाकारेण माता प्रमापकस्तं। पुनः माया ज्ञानस्य विषयो मेयः न

मेयोऽमेयस्तं। कैरन्यैर्लोकैः। पुनः स्मारयतीति स्मार्यः न स्मार्यः अस्मार्यस्तं। अस्मारकमित्यर्थः।

अन्वयार्थ– (अशब्दम्) शब्द रहित, (अस्पर्शम्) स्पर्श रहित (अरूपगन्धम्) रूप और गंध रहित तथा (नीरसम्) रसरहित होकर भी (तद्विषयावबोधम्) उनके ज्ञान से सहित (सर्वस्य मातारम्) सबके जानने वाले होकर भी (अन्यैः) दूसरों के द्वारा (अमेयम्) नहीं जानने के योग्य तथा (अस्मार्यम्) जिनका स्मरण नहीं किया जा सकता ऐसे (जिनेन्द्रम् अनुस्मरामि)। जिनेन्द्र भगवान का प्रतिक्षण स्मरण करता हूँ–ध्यान करता हूँ।

भावार्थः– आपका स्वरूप रूपादि से रहित होने पर भी आप उन रूपादि विषयों के ज्ञाता हैं, बहिर्दृष्टि परमात्मस्वरूप आपके स्वरूप को कभी भी नहीं जान सकता है फिर भी आप समस्त चराचर को विषय करते हैं। तथा आपका स्वरूप अचिंत्य है ऐसे आपकी मैं निरंतर स्तुति करता हूं।

अगाधमन्यैर्मनसाप्यलंघ्यम्, निष्किंचनं प्रार्थितमर्थवद्भिः।
विश्वस्य पारं तमदृष्टपारम्, पतिं जिनानां शरणं व्रजामि।।३५।।

टीका :– अहं तं जिनानां पतिं गणधरदेवानां स्वामिनं प्रति शरणं व्रजामि यामीत्यर्थः। कथंभूतं तं? अगाधं गम्भीरमित्यर्थः। पुनः अन्यैर्लोकैः मनसाप्यलंघ्यं लंघितुमशक्यं। पुनः निष्किंचनमसंगं चतुर्विंशतिधा परिग्रहरहितत्वात्। पुनः अर्थवद्भिर्लोकैः प्रार्थितं। पदार्थवद्भिर्धनेश्वरैर्वा याचितं मनोभिलषितदातृत्वात्। पुनः विश्वस्य त्रैलोक्यस्य पारं प्राप्तं लोकप्रकाशकज्ञानाधिष्ठातृत्वात्। अदृष्टपारं न दृष्टः पारो यस्य स तं।

अन्वयार्थ— (अगाधम्) गम्भीर (अन्यैः) दूसरों के द्वारा (मनसा अपि अलंघ्यम्) मन से भी उल्लंघन करने के अयोग्य अर्थात् अचिन्त्य (निष्किंचनम्) निर्धन होने पर भी (अर्थ–वद्भिः) धनाढ्यों के द्वारा (प्रार्थितम्) याचित (विश्वस्य पारम्) सब के पारस्वरूप होने पर भी (अदृष्टपारम्) जिनका पार अन्त कोई नहीं देख सका है, ऐसे (तम् जिनानाम् पतिम्) उन जिनेन्द्रदेव की (शरणम्) शरण को प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ :— आत्म-स्वरूप आपका ज्ञान छद्मस्थ जीवों को साक्षात तो होता ही नहीं, परन्तु मन के द्वारा भी आप चिन्तवन में पूर्णरूप से नहीं आते हैं। आपने राग-द्वेष अन्तरंग और शरीरादिक बहिरंग रूप समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया है, फिर जो भी आपकी शरण जाता है, उसे आपकी भक्ति से इच्छित पदार्थ की प्राप्ति हो जाती है। आप चराचर को जानने वाले होने से विश्व के पार को प्राप्त हैं, परन्तु आपके वास्तविक स्वरूप की कल्पना किसी को भी नहीं होती। इसलिए आपके पार को कोई भी प्राप्त नहीं हो सकता ऐसे परमात्मादशा को प्राप्त आप ही मेरे शरण हैं, दूसरा कोई भी शरण नहीं है।

त्रैलोक्य दीक्षा गुरवे नमस्ते।
यो वर्द्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत्।।
प्राग्गण्ड शैलः पुनरद्रि कल्पः।
पश्चान्न मेरुः कुल पर्वतोऽभूत्।।३६।।

टीका:— भो भगवन् ते तुभ्यं नमः। कथंभूताय ते? त्रैलोक्यस्याधोम

द्योर्ध्व लोकोद्भूतजनस्य दीक्षोपदेशसूत्रगुरुस्तस्मै । यस्त्वं वर्द्धमानोऽपि सन् निजोन्नतः स्वयमेवोन्नतोऽभूत् । मेरुः सुदर्शनः । प्राग् पूर्वं । गण्डशैलः सन् पुनरद्रिकल्पः पर्वततुल्योऽभूत् । पश्चाद्वर्द्धमानोऽपि कुलपर्वतः नाभूत् न बभूव ।

अन्वयार्थ— (त्रैलोक्यदीक्षागुरवे ते नमः) त्रिभुवन के जीवों के दीक्षागुरु स्वरूप आपके लिए नमस्कार हो, (यः) जो आप (वर्धमानः अपि) क्रम से उन्नति को प्राप्त होते हुए भी (निजोन्नतः) स्वयमेव उन्नत (अभूत) हुए थे। (मेरुः) मेरुपर्वत (प्राक्) पहले (गण्डशैलः) गोल पत्थरों का ढेर, (पुनः) फिर (अद्रिकल्पः) पहाड़ और (पश्चात्) फिर (कुलपर्वतः) कुलाचल (न अभूत) नहीं हुआ था, किन्तु स्वभाव से ही वैसा था।

भावार्थ :— जिस प्रकार मेरु पर्वत स्वभाव से ही उन्नत है, उसमें वृद्धि और ह्रास नहीं होता है । उसी प्रकार हे प्रभो! आप स्वभाव से ही महान् है । ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ।

स्वयंप्रकाशस्य दिवा निशा वा।
न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम् ।।
न लाघवं गौरव मेक रूपम्।
वन्दे विभुं कालकलामतीतम् ।।३७ ।।

टीका :— अहं विभुं व्यापकं प्रभुं । वन्दे नमस्करोमि । कथंभूतं तं? कालस्य कला क्षणादिसमयस्तामतीतं रहितं । यस्य स्वयंप्रकाशस्य भगवतः तव दिवा दिवसो वा अथवा रात्रिर्बाध्यता न बाधको न । तयोस्तव बाधकत्वमपि न । तव भगवतो

लाघवं गौरवमपि न। कीदृशमेक रूपं? एकमद्वितीयं ज्योतिर्लक्षणं रूपं यस्य स तम्।

अन्वयार्थ— (स्वयं प्रकाशस्य यस्य) स्वयं प्रकाशमान रहने वाले जिस के (दिवा निशा वा) दिन और रात की तरह (न बाध्यता, न बाधकत्वम्) न बाध्यता है और न बाधकपना भी। इसी प्रकार जिनके (न लाघवं गौरवम्) न लाघव है न गौरव भी, उन (एकरूपम्) एकरूप रहने वाले और (कालकलाम् अतीतम्) काल–कला से रहित अर्थात् अन्त रहित (विभुम वन्दे) परमेश्वर की वन्दना करता हूँ।

भावार्थ:— जो जिसका विरोधक होता है, उनमें परस्पर बाध्यबाधक भाव होता है। परन्तु हे प्रभो! आप प्रकाश अर्थात् ज्ञानस्वरूप होने के कारण दिन और रात्रि के बाधक नहीं हैं और बाध्य नहीं हैं। यद्यपि आपके समवशरण में दिवस और रात्रि का भेद नहीं मालूम पड़ता है, परन्तु समवशरण के बाहिर उसका क्रम बराबर चालू है, आप स्वयं लघु भी नहीं हैं, गुरु भी नहीं हैं, बालक भी नहीं हैं, युवा भी नहीं हैं और वृद्ध भी नहीं हैं। ऐसे आपके लिए नमस्कार हो।

इति स्तुतिं देव ! विधाय दैन्यात्।
वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।।
छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्।
कश्छायया याचितयात्मलाभः।।३८।।

टीका :— भो देव ! इत्यमुना प्रकारेण। स्तुतिं स्तवनं। विधाय दैन्यात् दीनभावात्। अहं वरं न याचे। त्वमुपेक्षकोऽसि। तरुं वृक्षं

संश्रयत: पुरुषस्य। स्वत: स्वभावेन छाया स्यात्। तत्र प्रार्थना न लगति। छायया याचितया क आत्मन: स्वस्य लाभो भवति न कोऽपीत्यर्थ:।

अन्वयार्थ— (देव) हे देव! (इति स्तुतिम् विधाय) इस प्रकार स्तुति करके मैं (दैन्यात्) दीन भाव से (वरम् न याचे) वरदान नहीं मांगता, क्योंकि (त्वम् उपेक्षक: असि) आप उपेक्षक हैं, राग द्वेष से रहित हैं, अथवा (तरुम् संश्रयत:) वृक्ष का आश्रय करने वाले पुरुष को (छाया स्वत: स्यात्) छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है। (याचितया छायया क: आत्मलाभ:) छाया की याचना से क्या लाभ है?

भावार्थ :— वीतराग देव की स्तुति से अयाचित फल की प्राप्ति होती है। वृक्ष का आश्रय करने वाले को छाया न मांगने पर भी मिलती है। कारण जहां पर राग और द्वेष-रूप प्रवृत्ति होती है, अनुकूल और प्रतिकूल प्रार्थना वहीं पर उपयोगी पड़ती है। फिर भी उस प्रार्थना से फल मिलना निश्चित नहीं है। परन्तु आप तो वीतराग हैं, परम उपेक्षा भाव से विभूषित हैं, इसलिए आप तो स्वयं किसी को कुछ देते भी नहीं और ग्रहण भी नहीं करते। परन्तु जो आपका आश्रय करता है, उसको स्वयमेव फल मिल जाता है।

अथास्ति दित्सा यदि वोपरोध:।
त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिं।।
करिष्यते देव ! तथा कृपां मे।
को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरि:।।३९।।

टीका :– भो देव ! अथानन्तरं । यदि चेत् । दित्सा दातुमिच्छास्ति । वाऽथवा । उपरोधोऽनुग्रहोऽस्ति । तर्हि त्वय्येव सक्तां भक्तिबुद्धिं दिश देहि । भक्तेर्बुद्धिस्तां । भक्तिर्विद्यते यस्याः सा तां । भो देव तथा सा भक्तिर्बुद्धिस्तां । भक्तिर्विद्यते यस्या सा तां । भो देव तथा सा भक्तिबुद्धिः मे मम कृपां करिष्यते विधास्यतीति भावः । वा अथवा । आत्मनः स्वस्य पोषकः । सूरिः पण्डितः । सुमुखो न स्यात् । आत्मपोषणे सर्वोऽपि सूरिः सुमुखो भवति ।

अन्वयार्थ– (अथ दित्सा अस्ति) यदि आप की कुछ देने की इच्छा है, (यदि वा) अथवा वरदान माँगो ऐसा (उपरोधः 'अस्ति') आग्रह है तो (त्वयि एवं सक्ताम्) आप में लीन (भक्तिबुद्धिम्) भक्तिमयी भगवान को (दिश) देओ। मेरा विश्वास है कि (देव) हे देव! आप (मे) मुझ पर (तथा) वैसी (कृपाम् करिष्यते) दया करेंगे (आत्मपोष्ये) अपने द्वारा पोषण करने के योग्य शिष्य पर (को वा सूरिः) कौन पण्डित पुरुष (सुमुखो न 'भवति') अनुकूल नहीं होता! अर्थात् सभी होते हैं।

भावार्थ :– यद्यपि मुझे आपकी भक्ति से किसी भी प्रकार के फल की अभिलाषा नहीं है । फिर भी आपके अनुग्रह से यदि उसका फल प्राप्त होता हो तो केवल आप में सर्वकालिक और अनन्य भक्ति ही मैं उसका फल चाहता हूं । इसके अतिरिक्त मुझे दूसरी किसी भी वस्तु की अभिलाषा नहीं है । अथवा इतना ही क्यों, मेरे द्वारा की गई वह भक्ति ही मुझे इतना फल अवश्य देगी ।

वितरति विहिता यथा कथंचित्।
जिन ! विनताय मनीषितानि भक्तिः ।।
त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषात्।
दिशति सुखानि यशो धनं जयं च।।४०।।

टीका :– भो जिन! यथा कथंचित्। विहिता निर्मिता। भक्तिर्विनताय नम्रीभूताय। मनीषितानि मनोऽभिलषितानि। वितरति ददाति। पुनस्त्वयि विषये नुतिविषया स्तुतिविषयिणी भक्तिस्त्वद्गोचरीभूता या भक्तिः। विशेषात् सुखानि च पुनर्यशश्च पुनर्धनं च पुनर्जयं च दिशति ददाति।

अन्वयार्थ– (जिन) हे जिनेन्द्र! (यथाकथञ्चित्) जिस किसी तरह (विहिता) की गई (भक्तिः) भक्ति (विनताय) नम्र मनुष्य के लिए (मनीषितानि) इच्छित वस्तुएँ (वितरति) देती है, (पुनः) फिर (त्वयि) आप के विषय में की गई (नुति विषया) स्तुतिविषयक भक्ति (विशेषात्) विशेषरूप से (सुखानि) सुख, (यशः) कीर्ति, (धनम्) धन–सम्पत्ति (च) और (जयम्) जीत को (दिशति) देती है।

भावार्थ :– आपकी भक्ति से ऐसा कौन सा पदार्थ है, जो प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् ऐसी एक भी वस्तु नहीं। उससे सुख, यश धन और जय ये सर्व प्रकार के बिना याचना किये ही मिलते हैं। इसलिए आपकी भक्ति ही मेरे लिए एक शरणभूत हो।

●

भूपाल चतुर्विंशति जिनस्तवनम्

श्रीभूपाल कवि विरचितम्

शार्दूल विक्रीडित छन्द

श्रीलीलायतनं महीकुलगृहं कीर्तिप्रमोदास्पदम्।
वाग्देवीरतिकेतनं जयरमाक्रीडानिधानं महत्।।
स स्यात्सर्वमहोत्सवैभवनं यः प्रार्थितार्थप्रदम्।
प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनांघ्रिद्वयम्।।१।।

टीका :– यः कश्चित् पुमान्। जिनांघ्रिद्वयं श्रीजिनेन्द्रपदकमलं। प्रातः प्रभाते। पश्यति विलोकयति। स श्रिया लक्ष्म्या लीला तस्या आयतनं मन्दिरं स्यात्। मह्याः पृथ्व्याः कुलगृहं सर्वपृथ्वया अधिपतिः स्यात् सः कीर्तेः यशसः प्रमोदस्य-आनन्दस्य-आस्पदं स्थानं स्यात् स वाग्देवी सरस्वती तस्या अत्यर्थं केतनं गृहं स्यात्। किंविधं जिनांघ्रिद्वयं? प्रार्थितानर्थान् प्रकर्षेण ददाति तत्। पुनः किंविधं जिनांघ्रिद्वयं? कल्पपादपः कल्पवृक्षस्तस्य दलं पल्लवस्तद्वच्छाया आरक्तता यस्य तत्।

अन्वयार्थ— (यः) जो मनुष्य (प्रातः) प्रभात के समय (प्रार्थितार्थप्रदम्) इच्छित वस्तुओं को देने वाले तथा (कल्पपादपदलच्छायम्) कल्पवृक्ष के पल्लव समान कान्ति के धारक (जिनाङ्घ्रिद्वयम्) जिनेन्द्र भगवान् के चरण–युगल को (पश्यति) देखता है अर्थात् उनके दर्शन करता है, (सः) वह (श्रीलीलायतनम्) लक्ष्मी का क्रीड़ागृह, (महीकुलगृहम्) पृथ्वी का कुल भवन, (कीर्तिप्रमोदास्पदम्!) यश और हर्ष

का स्थान (वाग्देवीरतिकेतनम्) विजय लक्ष्मी का विशाल क्रीडास्थान और (सर्वमहोत्सवैकभवनम्) सब बड़े–बड़े उत्सवों का मुख्य घर (स्यात्) होता है।

भावार्थ :–जो श्री जिनेन्द्र के चरणों की प्रतिदिन प्रातः काल स्तुति करता है, उसे लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। वह इस भूमण्डल का अधिपति होता है, उसे प्रत्येक कार्य में जय की प्राप्ति होती है, उसकी सब जगह कीर्ति फैल जाती है, वह सर्वदा आनन्द में निमग्न रहता है, उसे सर्व विद्यायें प्राप्त होती हैं और उसके भी अन्त में पंचकल्याणक आदि महोत्सव होते हैं।

बसन्त तिलका छन्द

शान्तं वपुः श्रवणहारि वचश्चरित्रम्।
सर्वोपकारि तव देव ! ततः श्रुतज्ञाः।।
संसार मारवमहास्थलरुन्द्र सान्द्र-।
च्छायामहीरुह ! भवंतमुपाश्रयंते।।२।।

टीका :– भो देव ! संसार लक्षणं यत्। मरोरिदं मारवं तदेव महास्थलं तत्र रुंद्रा विस्तीर्ण सांद्रा निविडा गम्भीरा छाया तस्या महीरुह तस्यामंत्रणे भो संसारमारवमहास्थल रुंद्रसांद्रच्छाया महीरुह। ततस्तस्मात् कारणात्। श्रुतज्ञा पंडिता। भवन्त त्वामुपाश्रयन्ते सेवन्ते। ततः कुतो यतः कारणात्तव भगवतो वपु शरीरं शान्तं शान्तमुद्रांकितं। यतस्तव वचः श्रवणहारि कर्णामृत प्रायं। श्रवणानि हरतीति श्रवणहारि यतस्तव भगवतश्चरित्रं सर्वोपकारी। सर्व उपकारो विद्यते यस्मिन् तत्।

अन्वयार्थ— (देव) हे देव! (तव) आपका (वपु:) शरीर (शान्तम्) शान्त है, (वच:) वचन (श्रवणहारि) कानों को प्रिय हैं और (चरित्रम्) चारित्र (सर्वोपकारि) सबका भला करने वाला है, (तत:) इसलिए (संसारमारवमहास्थल रुन्द्रसान्द्रच्छायामहीरुह) हे संसाररूप मरुस्थल में विस्तृत सघन छायावृक्ष! (श्रुतज्ञा:) शास्त्रों के जानने वाले विद्वान् (भवन्तम् उपाश्रयन्ते) आपका आश्रय करते हैं।

भावार्थ :— आपकी मुद्रा प्रशांत है, आपकी दिव्यध्वनि अमृत के समान हितकारी-प्रिय है, आपका चरित्र लोकोत्तर है और आप संसार रूपी मरुभूमि में पीड़ित इन संसारी जीवों के लिए कल्पवृक्ष के समान सुख देने वाले हैं। इसलिए ही पण्डित जन दूसरे किसी के भी शरण में न जाकर आपके ही शरण में आते हैं।

शार्दूल विक्रीडित छन्द

स्वामिन्नद्य विनिर्गतोऽस्मि जननीगर्भान्धकूपोदरात्।
अद्योद्घाटितदृष्टिरस्मि फलवज्जन्मास्मि चाद्य स्फुटम्।।
त्वामद्राक्षमहं यदक्षयपदानन्दाय लोकत्रयी-।
नेत्रेन्दीवर काननेन्दु ममृतस्यन्दिप्रभा चंद्रिकम्।।३।।

टीका :— भो देव! यद्यस्मात्कारणात् त्वामद्राक्षं व्यलोकयं किमर्थं? अक्षयपदस्यानन्द: सौख्यं तस्मै। भोस्वामिन्नद्य जननीगर्भान्ध कूपोदराद्विनिर्गतोऽस्मि अहं नि:सृतोऽस्मि। जनन्या गर्भ: सैवान्धकूपस्तस्योदरं मध्यं तस्मात्। भो देव च पुन:। अद्याहमुद्घाटितदृष्टिरस्मि। उद्घाटित्ता दृष्टिर्येन स:।

भो नाथ अद्याहं स्फुटं प्रकटं फलवज्जन्मास्मि। फलवज्जन्म यस्य सः। कीदृशं त्वां? लोकानां त्रयी त्रितयं तस्या नेत्राणि तान्येवेन्दीवरकाननानि तत्रेन्दुश्चन्द्रः तं। पुनः कीदृशं त्वां? अमृतं स्यंदते क्षरतीत्यमृतस्यंदिनी एवंविधा या प्रभा कांतिः सैवा चन्द्रिका चन्द्रज्योत्स्ना यस्मिन्स तम्।

अन्वयार्थ— (स्वामिन्) हे नाथ! (यत्) जिस कारण से (अहम्) मैंने (लोकत्रयीनेत्रेन्दीवरकाननेन्दुम्) त्रिभुवन के जीवों के नेत्ररूपी कुमुद— वन को विकसित करने के लिए चन्द्रमारूप तथा (अमृतस्यन्दिप्रभाचन्द्रिकम्) जिनकी कान्तिरूपी चाँदनी अमृत को प्रवाहित करती है ऐसे (त्वाम्) आपको (अक्षयपदानन्दाय) अविनाशी पद के आनन्द के लिए (अद्राक्षम्) देखा— अर्थात् आपके दर्शन किये, (तत्) उस कारण से (स्पष्ट) स्पष्ट है कि (अद्य) आज मैं (जननीगर्भान्धकूपोदरात्) माता के गर्भरूप अंधेरे कुएँ से (विनिर्गतः अस्मि) निकला हूँ, (अद्य उद्घाटितदृष्टिः अस्मि) आज प्रगट हुई दृष्टि जिसकी ऐसा हुआ हूँ (च) और (अद्य फलवज्जन्मा अस्मि) आज सफल जन्म हुआ है।

भावार्थ :— जन्म दो प्रकार है— आत्मजन्म और दूसरा शरीर जन्म। दृष्टि भी दो प्रकार की है। एक बाह्य दृष्टि और दूसरी आत्म दृष्टि। यद्यपि शरीर जन्म और बाह्यदृष्टि बहुत दिनों से प्राप्त है परन्तु वह किस काम ही? आज श्री जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से ही मुझे सच्चा जन्म और आभ्यन्तर दृष्टि प्राप्त हुई है। इसलिए आज ही दृष्टिमान और जन्मवान समझना चाहिए। उसी प्रकार बहुत से आदमी

भोगादि संपदा की प्राप्ति को भाग्य समझते हैं, परन्तु जो दु:खदायी होते हैं वे भाग्य के कारण कैसे हो सकते हैं? भाग्य के कारण तो जो सुख कर हों वे ही हो सकते हैं। भगवान जिनेन्द्र के दर्शन संसार दु:ख का नाश करने वाले होने से उनके दर्शन ही भाग्य और जन्म की सफलता के कारण समझने चाहिए।

नि:शेषत्रिदशेन्द्र शेखर शिखा रत्न प्रदीपावली।
सान्द्रीभूत मृगेन्द्र विष्टरतटी माणिक्य दीपावलि:।।
क्वेयं श्री: क्व च नि:स्पृहत्वमिदमित्यूहातिगस्त्वादृश:।
सर्वज्ञान दृशश्चरित्र महिमा लोकेश ! लोकोत्तर:।।४।।

टीका :— लोकानामधोमध्योर्ध्ववर्तिजनानामीश: तस्यामन्त्रणे हे लोकेश! त्वादृश: परमेश्वरस्य चरित्रस्य चारित्रमहिमा लोकोत्तर: कुतो वर्णित:। यत् एवंविधो वर्तेत। इयं समवशरणादि प्रसिद्धाष्टमहा प्रातिहार्यविभवलक्षणा श्रीर्लक्ष्मी: क्व ? च पुनरिदंनि:स्पृहत्वं सर्वसंगपरित्यागत्वं क्व? इत्येवमाकारको यो हि ऊहो वितर्कस्तस्मात्। अतिग: असह: विचारसहो न। किंविशिष्टा श्री:? नि: शेषा समग्रा ये त्रिदशेन्द्रा: शतेन्द्रास्तेषां शेखराणि मुकुटास्तेषां शिखाअग्रभागास्तासु यानि रत्नानि तल्लक्षणा दीपावलिस्तया सान्द्रीभूतं मृगेन्द्रविष्टरं सिंहासनं तस्य तटी तस्यांमाणिक्यानि रत्नानि तल्लक्षणा दीपावलिर्यस्यां सा। किंविशिष्टस्य त्वादृश:? सर्वज्ञानं केवलज्ञानं तदेव दृक्नेत्रं यस्य स तस्य।

अन्वयार्थ— (नि:शेषत्रिदशेन्द्रशेखरशिखारत्नप्रदीपावली सान्दीभूत मृगेन्द्रविष्टरतटी माणिक्य दीपावलि:) समस्त इन्द्रों

के मुकुटों के अग्र भाग पर लगे हुए रत्न रूप दीपकों की पंक्ति से सघन है सिंहासन के तट पर लगे हुए मणिमय दीपकों की पंक्ति जिसमें ऐसी (इयम् श्रीः) यह लक्ष्मी (क्व) कहाँ? (च) और (इदम्) यह (निःस्पृहत्वम्) निःस्पृहता–इच्छा का अभाव (क्व) कहाँ (इति) इस प्रकार (लोकेश) हे त्रिभुवन के स्वामिन् (त्वादृश,) आप जैसे सर्वज्ञानी सर्वदर्शी की (लोकोत्तरः) सर्वश्रेष्ठ (चरित्रमहिमा) चारित्र की महिमा (ऊहातिगः 'अस्ति') तर्क के अगोचर है।

भावार्थ :–आप वीतराग होकर भी आपके चरणों की तीन लोक की लक्ष्मी आकर सेवा करती है। यह संसारी मोही प्राणियों को भ्रम उत्पन्न करती है, परन्तु आपका चारित्र ही अचिंत्य है। जो आत्मदृष्टि हैं उन्हें इससे कुछ भी भ्रम नहीं होता। कारण आप किसी वस्तु को न तो ग्रहण ही करते हैं और न छोड़ते ही हैं। यह तो केवल भक्ति से प्रेरित हुए भक्तजनों का कार्य है, उससे आप जैसे निः स्पृही महात्मा का क्या सम्बन्ध है? अर्थात् कुछ भी नहीं।

राज्यं शासनकारिनाकपति यत्त्यक्तं तृणावज्ञया।
हेलानिर्दलितत्रिलोकमहिमा यन्मोहमल्लो जितः।।
लोकालोकमपि स्वबोधमुकुरस्यान्तः कृतं यत्त्वया।
सैषाश्चर्य परंपरा जिनवर ! क्वान्यत्र संभाव्यते।।५।।

टीका :– जिनेषु गणधरदेवादिषु वरः श्रेष्ठः। निर्धारणे षष्ठीति निर्देशात् सप्तमीसमासः। तस्यामन्त्रणे हे जिनवर! सा एषा वक्ष्यमाणाश्चर्यपरम्परा महाकौतुकराजी। अन्यत्र क्व सम्भाव्यते। कुत्र विचार्यति। यद्यतः कारणात् त्वया भगवता

राज्यं तृणावज्ञयात्यक्तं। तृणानामवज्ञाऽवगणाना तया। तर्हि राज्यं यत्किंचिद्भविष्यतीत्याशंक्याह कीदृशं राज्य? शासनकारी आज्ञाविधायी नाक पतिदेवेन्द्रो यस्मिंस्तत्। यद्यत: कारणात् मोहमल्लो जित:। मोह एव मल्लो मोहमल्ल:। तर्हिं मोहमल्ल: सामान्यो भविष्यतीत्याशंक्याह। हेलया लीलया निर्दलितत्रिलोकानां महिमा येन स:। यद्यत: कारणात्। लोकालोकमपि स्वबोधमुकुरस्यान्त: केवलज्ञानदर्पणस्य मध्ये कृतं। स्वस्य बोध एव मुकुरस्तस्यान्त:।

अन्वयार्थ— (जिनवर) हे जिनेन्द्र, (शासनकारिनाकपति) आज्ञाकारी है इन्द्र जिसमें ऐसा राज्य (यत्) जो (त्वया) आपके द्वारा (तृणावज्ञया) तृण जैसी अनादर बुद्धि से (त्यक्तम्) छोड़ दिया गया है, (हेलानिर्दलितत्रिलोक महिमा) अनायास ही खण्डित कर दी है तीन लोक के जीवों की महिमा जिसने ऐसा (मोहमल्ल:) मोहरूपी मल्ल (यत्) जो (जित:) जीता गया है तथा (यत्) जो (लोकालोकम् अपि) लोक अलोक का समाहार— समूह भी (स्वबोधमुकुरस्य अन्त: कृतम्) अपने ज्ञानरूप दर्पण के भीतर किया गया है, सो (एषा सा आश्चर्यपरम्परा) यह प्रसिद्ध आश्चर्य परिपाटी (अन्यत्र क्व) आपको छोड़कर दूसरी जगह कहाँ (संभाव्यते) संभव हो सकती है।

भावार्थ :—देवत्व की प्राप्ति के लिए संसारी जनों की अपेक्षा कुछ विशेषता विचार करने पर केवलज्ञानपना वीतरागत्व और हितोपदेशित्व समझनी चाहिए। कारण इन तीन गुणों के बिना स्वयं समर्थ नहीं हो सकता है और संसारी

जीवों को सन्मार्ग भी नहीं दिखा सकता है। श्री जिनेन्द्र देव में ये समस्त गुण विद्यमान होने से सच्चे देव वे ही हो सकते हैं। कारण उन्होंने जिस राज्य में आज्ञाधारी इन्द्र था ऐसे राज्य को भी छोड़ दिया, जिस मोह के स्वाधीन इन्द्र, चक्रवर्ती आदि समस्त संसार है उसे भी जीत लिया और जिस ज्ञानावरण आदि कर्म के सद्भाव होने से सामने की वस्तु का भी अर्थबोध नहीं होता है ऐसे कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। दूसरे कल्पना किये हुए देवों में इन गुणों का अणुमात्र भी सद्भाव नहीं है इसलिए वे आपकी बराबरी कैसे कर सकते हैं?।

दानं ज्ञानधनाय दत्तमसकृत्पात्राय् सद्वृत्तये।
चीर्णान्युग्रतपांसि तेन सुचिरं पूजाश्च बह्व्यः कृताः।।
शीलानां निचयः सहामलगुणैः सर्व समासादितः।
दृष्टस्त्वं जिन! येन दृष्टिसुभगः श्रद्धापरेण क्षणम्।।६।।

टीका :– भो जिन! येन दृष्टिसुभगः श्रद्धापरेण क्षणं मनागपि त्वं दृष्टः। तेन पुंसाऽसकृद्वारंवारं पात्राय दानं दत्तमेव। किं विशिष्टाय पात्राय? ज्ञानमेव धन यस्य तत्तस्मै। पुनः किंभूताय सत् समीचीनं वृत्ति राचरणं यस्यत्ततस्मै पुनस्तेन पुंसा सुचिरमुग्राणि यानि तपांसि तान्यपि चीर्णानि कृतानि। पुनस्तेन पुंसाऽमलगुणैः सह शीलानां निचयः सर्वः समासादितः प्राप्तः। ब्रह्मचर्यमेवं पालितं। पुनस्तेन पुंसा पूजा बह्व्यः कृता अर्चा बहुतरा विहिताः। दृष्ट्या सम्यक्त्वेन सुभगः सुन्दरो यो हि श्रद्धायां परश्च तेन।

अन्वयार्थ– (जिन) हे जिनेन्द्र! (दृष्टिसुभगः) आँखों को प्यारे

लगने वाले (त्वम्) आप (येन श्रद्धापरेण) जिस श्रद्धालु के द्वारा (क्षणम्) एक क्षणभर भी (दृष्टः) देखे गये हो मानो (तेन) उसने (ज्ञानधनाय) ज्ञान ही हैं धन जिसका ऐसे तथा (सद्वृत्तये) सदाचारी (पात्राय) पात्र के लिए (असकृत्) कईबार (दानम्) दान (दत्तम्) दिया है, (उग्रतपांसि चीर्णानि) कठिन तपस्याओं का संचय किया है, (सुचिरम्) चिरकालतक (बह्व्यः पूजा कृताः) अनेक पूजाएँ की हैं और (अमलगुणैः सह) निर्मल गुणों के साथ (शीलानां सर्वः निचयः समासादितः) शीलव्रतों का सब समूह प्राप्त कर लिया है।

भावार्थ :– धर्म का मूल श्रद्धा है। जब तक श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती तब तक धर्म सम्बन्धी आचरण होना अशक्य है। दान देना, पूजा करना निरतिचार शीलों का पालन करना इत्यादि चर्या श्रद्धामूलक है। उस श्रद्धा की प्राप्ति का प्रथम कारण श्री जिनेन्द्रदेव सम्बन्धी भक्ति है। भक्ति के द्वारा ही क्रम से श्रद्धा उत्पन्न होकर स्थिर होती है। अतएव जो पुरुष श्री जिनेन्द्रदेव की भक्ति में तल्लीन हैं उनने सर्व कुछ प्राप्त कर लिया ऐसा समझना चाहिए।

प्रज्ञापारमितः स एव भगवन् पारं स एव श्रुत-।
स्कन्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति श्लाघ्यः स एव ध्रुवम।।
नीयंते जिन! येन कर्णहृदयालंकारतां त्वद्गुणाः।
संसाराहि विषापहारमणयस्त्रैलोक्य चूडामणे!।।७।।

टीका :– भो जिन ! त्रैलोक्यस्य चूडामणिस्तस्यामन्त्रणे भो त्रैलोक्यचूडामणे ! येन पुंस त्वद् गुणाः श्री मदीयागांमीरयौं-दायवीर्य माधुर्यादयो गुणाः। कर्णहृदयालंकारतां नीयन्ते स

एव पुमान् प्रज्ञाया पारमित: प्राप्त:। स एव पुमान् श्रुतस्कन्धाब्धे: शास्त्राम्बुधे: पारंगत: प्राप्त: स एव पुमान ध्रुवं निश्चितमिति कारणात् श्लाघ्य: प्रशंसनीय:। इतीति किं? स एव पुमान् गुणरत्नभूषण:। गुणा एव रत्नानि तेषां भूषण यस्य स:। कर्णश्च हृदयं च कर्णहृदयं तत्रालंकारस्तस्य भावस्तत्ता तां। किंविधास्तद्गुणा:? संसार एव अहि: सर्पस्तन्निराकरणे विषापहारमणय: गारुडमणय:।

अन्वयार्थ— (त्रैलोक्यचूडामणे! जिन!) हे त्रिभुवनके चूडामणि स्वरूप! जिनेन्द्रदेव! (संसाराहिविषापहारमणय:) संसार रूपी साँप के विष को हरने के लिए मणि स्वरूप (तद्गुणा:) आपके गुण (येन) जिसके द्वारा (कर्णहृदयालंकारताम्) कान तथा मन के आभूषणपने को (नीयन्ते) प्राप्त कराये जाते हैं (ध्रुवम्) निश्चय से (स: एव) वही (प्रज्ञापारम् इत:) बुद्धि के पार को प्राप्त हुआ (भगवान्) भगवान्— ऐश्वर्यवान् हैं (स: एव श्रुतस्कन्धाब्धे: पारम्) वही शास्त्र— समुद्र का अन्तिम तट है और (स: एव) वही (गुणरत्न—भूषण:) गुणरूपी रत्न ही हैं आभूषण जिसके (इति) इस तरह (श्लाघ्य:) प्रशंसनीय है।

भावार्थ :— उत्कृष्ट प्रज्ञा, श्रुतज्ञान और दया दाक्षिण्यादि दूसरे गुण केवल आपकी भक्ति और मनन से ही प्राप्त होते हैं इसलिए जिसने आपकी भक्ति की, आपका चिन्तवन किया उसको ये सब प्राप्त हो गये ऐसा समझना चाहिए।

मालिनी छन्द

जयति दिविजवृन्दान्दोलितैरिन्दुरोचि- ।
र्निचय रुचिभिरुच्चैश्चामरैर्वीज्यमानः ।।
जिन पति रनुरज्यन् मुक्तिसाम्राज्य लक्ष्मी ।
र्युवति नवकटाक्ष क्षेप लीलां दधानैः ।।८।।

टीका :– जिनपतिः सर्वज्ञः । जयति सर्वोत्कर्षेण प्रवर्तते । कीदृशो जिनपतिः? उच्चैश्चामरैश्चतुः षष्टि चामरैः । वीज्यतेऽसौ वीज्यमानः । किंविशिष्टैश्चामरैः? दिविजा देवास्तेषां वृन्दानि समूहास्तैरान्दोलितानि वीजितानि तैः । पुनरिन्दोश्चन्द्रस्य रोचीषि किरणास्तेषां निचयः समूहः तद्वद्रुचिः शोभा येषां तानि तैः । पुनः अनुरज्यती अनुरागं दधती या मुक्तिरेव साम्राज्यं तस्य लक्ष्मीस्तल्लक्षणा युवति स्तरुणी तस्याः कटाक्षाणि तेषां क्षेपो मोचनं तस्य लीला तां दधानै ।

अन्वयार्थ– (दिविजवृन्दान्दौलितैः) देवसमूह के द्वारा संचालित, (इन्दुरोचिर्निचयरुचिभिः) चन्द्रमा की किरण–समूह के समान उज्ज्वल कान्ति के धारी तथा (अनुरज्यन्मुक्ति साम्राज्यलक्ष्मी युवतिकटाक्षक्षेपलीलाम् दधानैः) अनुराग करने वाली मोक्षनगर की राज्यलक्ष्मी रूप तरुण स्त्री के कटाक्ष–संचार की शोभा को धारण किये हुए (उच्चैः) उन्नत (चामरैः) चँवरों के द्वारा (वीज्यमानः) ढोले जाने वाले (जिनपतिः) जिनेन्द्र भगवान् (जयति) जयवन्त हैं– सबसे उत्कृष्ट हैं ।

भावार्थ :– भगवन् के दोनों ओर बत्तीस देव खड़े होकर चमर ढोरते हैं, जो चन्द्रमा की कान्ति समूह की तरह उज्ज्वल होते हैं ।

स्रग्धरा छन्द

देव: श्वेतातपत्रत्रयचमरिरुहाशोकभाश्चक्रभाषा-।
पुष्पौघासार सिंहासन सुरपटहैरष्टभि: प्रातिहार्यै:।।
साश्चर्यैर्भ्राजमान: सुरमनुजसभाम्भोजिनीभानुमाली।
पायान्न: पादपीठीकृत सकल जगत्पालमौलिर्जिनेन्द्र:।।९।।

टीका :– जिनेन्द्रो देवा नोऽस्मान्। पायात् रक्षतु। कीदृशो जिनेन्द्र:? साश्चर्यैराश्चर्यकारकैरमीभि: प्रसिद्धै:। श्वेतातपत्रत्रयं च चमरिरुहाश्च अशोकाश्च भाश्चक्रं च भाषा च पुष्पौघासाराश्च सिंहासनं च सुरपटहाश्च ते तै:। अष्टभि: प्रातिहार्यै: भ्राजमान:। भ्राजते शोभतेऽसौ भ्राजमान:। पुन: कीदृशो जिनेन्द्र:? सुरा देवा मनुजा मनुष्यादयस्तेषां सभास्तल्लक्षणा याऽम्भोजिनी तत्र भानुमाली सूर्य:। पुन: कीदृशो जिनेन्द्र:? अपादपीठा: पादपीठा: कृता: इति पादपीठी कृता: सकलानां जगत्पालानामिन्द्रनागेन्द्रचक्रवर्तिनां मौलियो येन स:।

अन्वयार्थ– (साश्चर्यै:) आश्चर्ययुक्त (श्वेतातपत्र त्रयचमरिरुहा शोकभाश्चक्रभाषापुष्पौघासार सिंहासनसुरपटहै:) सफेद छत्रत्रय, चँवर, अशोकवृक्ष, भामण्डल, दिव्यध्वनि, पुष्प–समूह की वृष्टि, सिंहासन और देवदुन्दुभिरूप (अष्टभि: प्रातिहार्यै:) आठ प्रतिहार्यों के द्वारा (भ्राजमान:) शोभायमान (सुरमनुजसभाम्भोजिनी भानुमाली) देव और मनुष्यों की सभा को विकसित करने के लिए सूर्य तथा (पादपीठीकृतसकल जगत्पालमौलि:) जिन्होंने सब राजाओं के मुकुटों को अपने पांवों का पीठ–आसन बनाया है ऐसे (जिनेन्द्र:) जिनेंद्रदेव (न: पायात्) हम सबकी रक्षा करें।

भावार्थ :– श्री जिनेन्द्र आठ प्रातिहार्यों से निरन्तर शोभायमान होते हैं, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च आदि बारह सभा के जीव जिनके पुनीत दर्शन से अत्यन्त आनन्दित होते हैं और इन्द्रादि के द्वारा जो जिनेन्द्र देव निरन्तर वन्दना किये जाते हैं। उस जिनेन्द्र देव के पुनीत दर्शन से संसार-बन्धन से हमारा छुटकारा हो, यही सबसे बड़ी हमारी रक्षा है।

नृत्यत्स्वर्दन्तिदन्ताम्बुरुहवननटन्नाकनारीनिकाय: ।
सद्यस्त्रैलोक्ययात्रोत्सवकरनिनदातोद्यमाद्यन्निलिम्प: ।।
हस्ताम्भोजातलीलाविनिहितसुमनोदामरम्यामरस्त्री- ।
काम्य: कल्याणपूजाविधिषु विजयते देव! देवागमस्ते ।।१०।।

टीका :– भो देव ! ते तव भगवत: । कल्याणपूजाविधिषु पंचकल्याणक महोत्सवेषु । देवानां चतुर्णिकायानां । आगमो विजयते राजते । कल्याणानां पूजा तासां विधयेस्तेषु । कीदृशो देवागम:? नृत्यं श्चासौ स्वर्दंती ऐरावतस्य दन्तास्तेष्वप्सरोपि कल्पनीयं । दन्तेषु अम्बुरुहाणि तेषां वनेषु नटन्नाक नारीणामप्सरसां निकायो यस्मिन् स: । पुन: कीदृश:? सद्यस्तत्कालं । त्रैलोक्यस्य यात्रा प्रयाणं तस्योत्सवकरो महोत्सवसमूहस्तस्य निनद: शब्दो येषां तानि एवं विधानि च तानि आतोद्यानि वादित्राणि च तैर्माद्य तो मुदं वहन्तो निलिम्पा: शतेन्द्रा यस्मिन् स: । पुन: हस्तान्येवाम्भोजानि तै: हस्तकमलैर्लीलया विनिहितान्यारोपितानि च सुमनसां पुष्पाणां दामानि च तै रम्या मनोज्ञायाअमरस्त्रियश्च ताभि: काम्यतेऽभिलष्यते स: ।

अन्वयार्थ– (देव) हे देव! (ते) आपके (कल्याणपूजा विधिषु) पंच

कल्याणकों के पूजा कार्य में, (नृत्यत्स्वर्दन्तिदन्ताम्बु रुहवननटन्नाकनारीनिकायः) नृत्य करते हुए ऐरावत हाथी के दाँतों पर स्थित कमल वन में नृत्य कर रहा है देवांगनाओं का समूह जिसमें ऐसा, (सद्यः) शीघ्र ही (त्रैलोक्ययात्रोत्सव करनिनदातोद्यमाद्यन्निलिम्पः) त्रिभुवन में यात्रा के उत्सव को करने वाली है ध्वनि जिसकी ऐसे बाजों से हर्षित हो रहे हैं देव जिसमें ऐसा, तथा (हस्ताम्भोजातलीलाविनिहित सुमनोदाम रम्यामरस्त्रीकाम्यः) हस्त कमलों के द्वारा क्रीड़ापूर्वक धारण की गई फूलों की मालाओं से रमणीय देवियों के द्वारा सुन्दर (देवागमः) देवागम (विजयते) जयवन्त है— सर्वोत्कृष्ट है।

भावार्थ :— प्रभो! आपके गर्भ कल्याणक के समय छप्पन देवकुमारिकायें आकर आपकी माता की सेवा करती हैं, पन्द्रह महीना पहले से रत्नवृष्टि होने लगती है। इन्द्र कुबेर को आज्ञा देकर नई नगरी की रचना करता है, जन्म के समय एक लाख योजन के देवकृत हाथी के दांतों के ऊपर रचना किये हुए तालाबों में शोभायमान कमलों पर देवांगनायें नृत्य करती हैं, मेरु पर्वत पर क्षीर-समुद्र के जल से आपका जन्माभिषेक किया जाता है, दीक्षा कल्याण के समय आप स्वयं प्रतिबुद्ध होने पर भी आप को प्रतिबोधित करने के लिए लौकान्तिक देव आते हैं, मनुष्य राजा विद्याधर और देव वैराग्य के समय आपकी पालकी को अपने-अपने कन्धों पर धारण करते हैं, केवलज्ञान के समय समवशरण की आश्चर्यकारी रचना की जाती है, बारह सभायें होती हैं। निर्वाण

कल्याणक के समय देव स्वयं आकर आपका निर्वाण महोत्सव मनाते हैं। इस तरह प्रत्येक कल्याणक में देवों का आगमन अत्यन्त शोभायमान होता है।

शार्दूल विक्रीडित छन्द

चक्षुष्मानहमेव देव ! भुवने नेत्रामृतस्यंदिनम्।
त्वद्वक्त्रेन्दुमतिप्रसादसुभगैस्तेजोभिरुद्भासितम्।।
येनालोकयता मयानतिचिराच्चक्षुः कृतार्थीकृतम्।
द्रष्टव्यावधिवीक्षणव्यतिकरव्याजृम्भमाणोत्सवम्।।११।।

टीका :— भो देव ! येन मया त्वद्वक्त्रेन्दुं तव मुखचन्द्रमालोकयता सताऽनतिचिरात् स्वल्पकालेनैव। चक्षुनेत्रं। कृतार्थीकृतं। अकृतमर्थंकृतमिति कृतार्थीकृतं। तव वक्त्रमेवेन्दुश्चन्द्रस्तं। भुवनेऽहमेव चक्षुष्मान् लोचनवान् जातः। कथंभूतं त्वद्वक्त्रेंदुं? नेत्रमेवामृतं स्यंदते क्षरतीति तं। पुनः किंविधं? अतिप्रसादेन अतिप्रसन्नतया सुभगानि तैः। तेजोभिरुद्भासितं शोभितं। कीदृशं चक्षुः? दृष्टुंयोग्यं द्रष्टव्यं तदेवावधिवीक्षणं चावधिज्ञाननेत्रं यस्य व्यतिकरः सम्पर्कस्तेन व्याजृम्भमाणा विस्तरणशीला उत्सवा यस्मिन् तत्।

अन्वयार्थ— (देव) हे देव ! (येन) जिस कारण से (नेतामृतस्यन्दिनम्) आँखों में अमृत झराने वाले तथा (अतिप्रसादसुभगैः) अत्यन्त प्रसन्नता से सुन्दर (तेजोभिः) तेज के द्वारा (उद्भासितम्) शोभायमान (त्वद्वक्त्रेन्दुम्) आपके मुख चन्द्र को (आलोकयता) देखते हुए (मया) मैंने (द्रष्टव्यावधिवीक्षणव्यतिकरव्याजम्भमाणोत्सवम्) दर्शनीय वस्तुओं की सीमा के देखने रूप व्यापार से

बढ़ रहा है उत्सव जिनका ऐसी (चक्षुः) आखों को (अनतिचिरात्) शीघ्र ही (कृतार्थीकृतम्) कृतार्थ किया है (तेन) उस कारण से (भुवने) संसार में (अहम् एव) मैं ही (चतुष्मान् 'अस्मि') नेत्रवान हूँ।

भावार्थ :—संसार में चक्षुओं के द्वारा संसारी जन बहुत पदार्थों को देखते हैं। परन्तु उनका देखना राग और द्वेष को उत्पन्न करने वाला होने से न तो देखने की ही सार्थकता रहती और न इन्द्रियों की ही सार्थकता रहती है। परन्तु आज आपके समान वीतराग देव के दर्शन करने से मेरे नेत्र खुल गये, मुझे दिव्यज्ञान की प्राप्ति हुई। अतएव आज ही मेरे नेत्र सार्थक हुए, ऐसा मुझे लगता है।

बसन्त तिलका छन्द

कन्तोः सकान्तमणि मल्लमवैति कश्चित्।
मुग्धो मुकुन्दमरविन्दजमिन्दुमौलिम्।।
मोघी कृत त्रिदश योषिद पांग पातः।
तस्य त्वमेव विजयी जिनराजमल्लः।।१२।।

टीका :— जिनराज एव मल्लस्तस्यामन्त्रणे हे जिनराजमल्ल! तस्य कन्तोः कामस्य। त्वमेव विजयी वर्तसे। विजयोऽस्यास्तीति विजयी। भो नाथ! कश्चिन्मुग्धः कोऽपि मूढः। सकान्तमपि कान्तया सह वर्तमानमपि। मुकुन्दं नारायणं। मल्लमवैति। जानाति। पुनः। सकान्तमपि अरविन्दजं ब्रह्माणं। मल्लमवैति। पुनः सकान्तमपीन्दुमौलिं। मल्लमवैति। कथंभूतस्त्वं? मोघीकृता निष्फलीकृतास्त्रिदशयोषितां शच्याद्यप्सरसामपांगानां कटाक्षणां पातो येनाऽसौ।

अन्वयार्थ— (जिनराज) हे जिनेन्द्र! (कश्चित् मुग्धः) कोई मूर्ख (कान्तोः) कामदेव के विषय में (मुकुन्दम्) श्रीकृष्ण (अरविन्दजम्) ब्रह्मा और (इन्दुमौलिम्) महादेवको (सकान्तम् अपि) स्त्रियों से सहित होने पर भी (मल्लम्) मल्ल (अवैति) मानता है। किन्तु (मोघीकृतत्रिदशयोषिदपाङ्गपातः) व्यर्थ कर दिया है देवांगनाओं का कटाक्षपात जिनने ऐसे (त्वम् एव) आप ही (तस्य) उस काम के (विजयी) जीतने वाले (मल्लः शूरवीर हैं।

भावार्थ :— कोई विष्णु की, कोई ब्रह्मा की और कोई महादेव की शरण जाता है, परन्तु वे सब कामी हैं, वे इन अज्ञानियों का क्या उद्धार कर सकते हैं? जिन्हें स्वयं स्त्री आदि वस्तुओं की अभिलाषा लगी हुई है, वे दूसरों को उससे कैसे छुड़ा सकते हैं? परन्तु हे देव ! आपने सर्वप्रकार के विकार भाव नष्ट कर दिये हैं। अतएव आप ही सचमुच में विकारों को जीतने वाले परमात्मा हैं। दूसरे तो परमात्मा न होकर परमात्मा का स्वांग लिये हुए हैं।

मालिनी छन्द

किसलयितमनल्पं त्वद्विलोकाभिलाषात्।
कुसुमितमतिसान्द्रं त्वत्समीपप्रयाणात्।।
मम फलितममन्दं त्वन्मुखेन्दोरिदानीम्।
नयन पथ मवाप्ताद् देव ! पुण्य द्रुमेण।।१३।।

टीका :— भो देव ! इदानीं सांप्रतमेव। मम पुण्यद्रुमेण मम सुकृत कल्पवृक्षेण। त्वद्विलोकाभिलाषात् तव दर्शनाकांक्षणात्।

अनल्पं बहुलं यथा स्यात्तथा। किसलयितं पल्लवितं। तव विलोकस्त्वद्विलोक स्तस्याभिलाषस्तस्मात्। भो देव ! इदानीमेव मम पुण्यद्रुमेण। त्वत्समीपप्रयाणात् तव सान्निध्यागमनात्। अतिसान्द्रमतिनिबिडं यथा स्यात्तया कुसुमितं पुष्पितं। तव समीपं त्वत्समीपं तस्य प्रयाणं तस्मात्। भो देव इदानीमेव मम पुण्यद्रुमेण। त्वन्मुखेन्दोस्तव मुखचन्द्रस्य नयनपथं लोचनमार्गमवाप्तात् प्राप्तात्। अमन्दं यथा स्यात्तथा फलितं। तव मुखमेवेन्दु: त्वन्मुखेन्दुस्तस्य नयनयो: पंथा इति नयनपथस्तं।

अन्वयार्थ— (देव) हे देव! (मम) मेरा (पुण्यद्रुमेण) पुण्यरूपी वृक्ष, (त्वद्विलोकाभिलाषात्) आपके दर्शन करने की इच्छा से (अनल्पम्) अत्यधिक (किसलयितम्) पल्लवों से व्याप्त हुआ था, (त्वत्समीपप्रयाणात्) आपके पास जाने से (अतिसान्द्रम्) अतिसघन (कुसुमितम्) फूलों से व्याप्त हुआ और (इदानीम्) इस समय (त्वन्मुखेन्दो:) आपके मुख–चन्द्रमा से (अमन्दम्) अत्यन्त (फलितम्) फलों से व्याप्त हुआ है।

भावार्थ :— जिस प्रकार ध्यान कर्म-निर्जरा का मुख्य कारण है। उसी प्रकार जिन-भक्ति पुण्य-बन्ध का सातिशय कारण समझना चाहिए। स्वर्ग प्राप्ति, नरेन्द्रत्व प्राप्ति आदि सातिशय फल एक जिनेन्द्रदेव की भक्ति से ही प्राप्त होते हैं। जिनेन्द्रदेव के दर्शनों की इच्छा ही पुण्यतिशय का कारण है, फिर उनके साक्षात् दर्शनों से महान् फल की प्राप्ति हो तो इसमें क्या आश्चर्य है।

त्रिभुवन वन पुष्प्यत्पुष्प कोदण्डदर्प-।
प्रसरदवनवाम्भो मुक्ति सूक्तिप्रसूतिः।।
स जयति जिन राज व्रात जीमूत संघः।
शतमख शिखि नृत्यारंभनिर्बन्धबन्धुः।।१४।।

टीका :– स जिन राज व्रातजीमूतसंघो जयति। जिनानां गणधरदेवानां राजान् इति जिन राजानस्तेषां व्राताः समूहास्त एव जीमूता मेघास्तेषां संघः। कथंभूतः सः? त्रिभुवनमेव वनं तत्र पुष्यतीति एवंविधः पुष्पकोदण्डो कन्दर्पस्तस्य दर्पोऽहंकारस्तस्य प्रसरस्तल्लक्षणो यो हि दवो दावानलस्तन्नि राकरणे नवाम्भः प्राया या मुक्तिस्तल्लक्षणा याः सूक्तयः सुबीजवचनानि तासां प्रसूतिरुत्पत्तिर्यस्मात्सः। पुनः किंविधः संघः? शतमखा देवेन्द्रास्तल्लक्षणा ये शिखिनो मयूरास्तेषां नृत्यारम्भः तस्य निर्बन्धः कारणं तव बन्धुः श्रेष्ठः साक्षात्कारणमित्यर्थः।

अन्वयार्थ– (त्रिभुवनवनपुष्प्यत्पुष्प्यकोदण्ड दर्पप्रसरदवनवाम्भो मुक्ति सूक्तिप्रसूतिः) तीन लोकरूपी वन में बढ़ते हुए कामदेव सम्बन्धी अहंकार के प्रसाररूपी दावानल को बुझाने के लिए नूतन जलवृष्टिरूप सुन्दर उपदेश की है उत्पत्ति जिससे ऐसे, तथा (शतमखशिखिनृत्यारम्भ निर्बन्धबधुः) इन्द्ररूपी मयूर के नृत्य प्रारम्भ करने में आग्रहकारी बन्धुस्वरूप (सः) वह (जिनराजव्रातजी मूतसङ्घः) जिनेन्द्र समूहरूप मेघों का समुदाय (जयति) जयवन्त है अर्थात् सबसे उत्कृष्ट है।

भावार्थ :– श्री जिनेन्द्र ही कामादि विकारों को जीतने वाले हैं और

उनके वचनरूपी अमृत का पान करके दूसरे संसारी जीव भी उसको नष्ट करने में समर्थ होते हैं। तथा सौधर्म आदिक इन्द्र भी जिसकी स्तुति जन्य आनन्दातिरेक से नृत्य करने लगते हैं, उन जिनेन्द्र देव का सर्वथा उत्कर्ष होओ। अर्थात् उनका शासन चिरकाल तक स्थिर रहो।

भूपालस्वर्गपालप्रमुखनरसुरश्रेणिनेत्रालिमाला-।
लीलाचैत्यस्य चैत्यालयमखिलजगत्कोमुदीन्दोर्जिनस्य।।
उत्तंसीभूतसेवांजलिपुटनलिनीकुड्मलस्त्रिः परीत्य।
श्रीपादच्छाययापच्छिद भवदवथुः संश्रितोऽस्मीव मुक्तिम्।।१५।।

टीका :– भो देव ! जिनस्य भगवतश्चैत्यालयं त्रिः परित्य त्रिवारं प्रदक्षिणीकृत्याहं मुक्तिमिव संश्रितोऽस्मि। किंविधस्य जिनस्य? भूपालश्चक्री स्वर्गपालो देवेन्द्रस्तथा नागेन्द्रश्च ते प्रमुखा आदिर्येषां त एवं विधाश्च ते नरसुराश्च तेषां श्रेणयस्तासां नेत्राणि तल्लक्षणायालिमाला भ्रमरघोरणी तस्या लीलायै लीलार्थंचैत्यो वृक्षविशेषस्तस्य। पुनः किंविशिष्टस्य? अखिलं च तज्जगच्च तल्लक्षणाया कौमुदी चन्द्रिका रात्रि स्तत्रेन्दुश्चन्द्रस्तस्य। कीदृशोऽहं ? उत्तंसीभूतं मौलीभूतं सेवार्थमंजलिपुटमेव नलिनीकुड्मलं यस्य सः। पुनः कीदृशोहं? श्रीपादस्य छायया प्रस्थापितः प्रस्थानीभूतः भवः संसारस्तल्लक्षणो दवथुर्दावानलो यस्य सः।

अन्वयार्थ– (भूपालस्वर्गपालप्रमुखनरसुर श्रेणिनेत्रालि मालालीला चैत्यस्य) चक्रवर्ती और इन्द्र हैं प्रधान जिनमें, ऐसे मनुष्य और देवसमूह के नेत्ररूपी भ्रमर–पंक्ति की क्रीड़ा के लिए चैत्यवृक्ष तथा (अखिलजगत्कौमुदीन्दोः)

सम्पूर्ण संसार रूप कुमुद समूह के लिए चन्द्रमा स्वरूप (जिनस्य) जिनेन्द्र देव के (चैत्यालयं त्रिःपरीत्य) मंदिर की तीन प्रदक्षिणा देकर (उत्तंसीभूतसेवाञ्जलिपुट नलिनीकुड्मलः) आभरण रूप किया है सेवा से वह अञ्जलिपुटरूपकमलिनी के मुकुल (बौंडी–कली) जिसने ऐसा तथा (श्रीपादच्छायया) आपके श्रीचरण की छाया के द्वारा (अपच्छिदभवदवथुः) दूर हो गया है संसार का सन्ताप जिसका ऐसा मैं (मुक्तिम् इव संश्रितः अस्मि) मानों मुक्ति को ही प्राप्त हो गया हूँ।

भावार्थ :– मोक्ष के कारणों में सर्व प्रथम कारण जिनेन्द्र देव के दर्शन ही समझना चाहिए। उनके दर्शनों से जिस प्रकार कल्पवृक्ष से भ्रमरों को आनन्द होता है। उसी प्रकार भव्य जीवों को आनन्द होता है और जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार को नष्ट करने के लिए चन्द्रमा कारण होता है उसी प्रकार संसारी प्राणियों के अज्ञानांधकार को नष्ट करने के लिए आप कारण है। अतएव जिसने द्रव्यनेत्रों से आपके मन्दिर श्रीजिनालय और भावनेत्रों से आपकी परम पवित्र, चिच्चमत्कार रूप दिव्यमूर्ति के दर्शन कर लिये, श्री जिनालय की तीन प्रदक्षिणा दे लीं अर्थात् सर्व ओर से अपने को परमात्मरूप अनुभव कर लिया मानो उसे मुक्ति ही प्राप्त हो गयी अर्थात् उसके लिए मुक्ति– अपनी शुद्ध अवस्था की प्राप्ति दूर नहीं है।

देव! त्वदंघ्रिनखमण्डलदर्पणेऽस्मिन्।
अर्घ्ये निसर्गरुचिरे चिरदृष्टवक्त्रः।।

श्री कीर्तिकांतिधृतिसंगमकारणानि ।
भव्यो न कानि लभते शुभमंगलानि ।।१६।।

टीका :– भो देव ! भव्यः प्राणी । अस्मिन्प्रसिद्धे त्वदंघ्रिनखमण्डल दर्पणे तव चरणनखमण्डल मुकुरे । चिरं चिरकालं । दृष्टवक्त्रः स तु कानि शुभमंगलानि न लभते न प्राप्नोति । अपि तु सर्वाणि लभतः इत्यर्थः । तव अंघ्री त्वदंघ्री त्वदन्घ्योर्नखास्तेषां मण्डलं तल्लक्षणो यो हि दर्पण आदर्शः तस्मिन् । चिरं चिरकालं यावत् दृष्टं वक्त्रं येनासौ सः । शुभानि च तानि मंगलानि च शुभमंगलानि । पंचकल्याणानीत्यर्थः । कीदृशे त्वदंघ्रिनखमण्डल दर्पणे? अर्घायार्हो योग्योऽर्घ्यस्तस्मिन् । पुनः किंविधे? निसर्गेण स्वभावेन रुचिरो मनोज्ञस्तस्मिन् । कीदृशानि शुभमंगलानि । श्रीश्च कीर्तिश्च कान्तिश्च धृतिश्च श्रीकीर्तिकांतिधृतयस्तासां संगमो मेलापकस्तस्य कारणानि ।

अन्वयार्थ– (देव) हे देव! (अर्घ्ये) प्रशंसनीय और (निसर्गरुचिरे) स्वभाव से सुन्दर (अस्मिन् त्वदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणे) आपके इस नखमण्डलीरूप दर्पण में (चिरदृष्टवक्त्रः) बहुत समय तक देखा है मुख जिसने ऐसा (भव्यः) भव्यजीव (श्री कीर्तिकांतिधृतसंगमकारणानि) लक्ष्मी, यश, कान्ति और धीरज की प्राप्ति के कारण स्वरूप (कानि शुभमङ्गलानि) किन शुभ मङ्गलों को (न लभते) नहीं प्राप्त होता? अर्थात् सभी को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– जो भव्य पुरुष आपके चरणों का आश्रय लेता है उसे ही आत्मदर्शन होते हैं और वही लक्ष्मी, यश, सन्तोष, क्षमा, कांति और उदारता आदि शुभ गुणों को प्राप्त होता है।

जयति सुरनरेन्द्र श्रीसुधानिर्झरिण्याः।
कुलधरणि धरोऽयं जैन चैत्याभिरामः।।
प्रविपुल फल धर्मा नोकहाग्रप्रवाल-।
प्रसर शिखर शुम्भत् केतनः श्रीनिकेतः।।१७।।

टीका :– सुरनरेन्द्रश्रीसुधा निर्झरिण्याः अयं कुलधरणिधरः कुलाचलो जयति। सुराश्च नराश्च सुरनरास्तेषामिन्द्रास्तेषां श्रियस्तल्लक्षण याः सुधास्तासां निर्झरिणी नदी तस्याः। किंविधः कुलधरणिधरः ? जैनानां चैत्यानि जैनचैत्यानि तरभिरामो मनोज्ञः। पुनः किंविधः? प्रविपुलानि विस्तीर्णानि फलानि यस्मिन् स प्रविपुलफलः। एवं विधिश्चासौ धर्मलक्षणोऽनोकहश्च तस्याग्रप्रवालाः कोमलाः पल्लवा यस्मिन् सः। पुनः। किंविधः? प्रसराणि च तेषु शुंभति केतनानि यस्मिन सः। पुनः श्रिया लक्ष्म्याः निकेतः स्थानम्।

अन्वयार्थ– (सुरनरेन्द्रश्रीसुधानिर्झरिण्याः) देवेन्द्र और राजाओं की लक्ष्मीरूप अमृत के झरनों की उत्पत्ति के लिए (कुलधरणिधरः) कुलाचल, तथा (प्रविपुलफल धर्मानोकहाग्रप्रवाल प्रसर शिखरशुम्भत्केतनः) अत्यधिक फलवाले धर्मरूप वृक्ष के अग्रभाग पर स्थित किसलयसमूह की शिखर ही है शोभायमान पताका जिस पर ऐसा तथा (श्रीनिकेतः) लक्ष्मी के गृहस्वरूप (अयम्) यह (जैनचैत्याभिरामः) जिनेन्द्रदेव का चैत्यालय (जयति) जयवन्त है– सबसे उत्कृष्ट है।

भावार्थ :– श्री जिनालय के आश्रय करने से ही देवेन्द्र और चक्रवर्ती आदि को सातिशय विभूति प्राप्त होती है, तथा वहीं पर ही श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमाओं के दर्शन हो सकते हैं

तथा धर्मरूपी वृक्ष वे नवीन कोपल के समान हैं और जिनके ऊपर शोभायमान ध्वजा ही मानो भव्य जीवों को धर्म प्राप्ति के लिए आह्वान करती है। अतएव वे जिनालय परोपकारी होने से चिरकाल तक इस भूमण्डल में स्थिर रहो।

विनमदमरकान्ता कुन्तलाक्रान्त कान्ति।
स्फुरित नख मयूख द्योतिता शान्तराल:।।
दिविज मनुजराज व्रात पूज्य क्रमाब्जो।
जयति विजित कर्मारातिजालो जिनेन्द्र:।।१८।।

टीका :– जिनेन्द्रोऽष्टप्रातिहार्य विभव विराजमानोऽर्हन जयति। कथंभूतो जिनेन्द्र:? विनमन्त्यो नमस्कारं कुर्वन्त्यश्च ता अमरकान्ता: शच्याद्यप्सरसस्तासां कुन्तला: केशास्तैराक्रान्ता कान्तयो यैस्तएवंविधाश्च ते स्फुरितनखाश्च तेषां मयूखा: किरणास्तैर्द्योतितानि– आशानां देशानां अन्तरालानि मध्यभागा येन स:। पुन: किंविध:? दिविजा देवा मनुजा मनुष्यास्तेषां राजान इन्द्राश्चक्रवर्त्यादयस्तेषां व्राता: समूहास्तै: पूज्योऽर्चितुं योग्ये क्रमाब्जे चरणकमले यस्य स:। पुन: किंलक्षण:? विजितं कर्मलक्षणा येऽरातयो वैरिणस्तेषां जालं येनासौ।

अन्वयार्थ–(विनमदमरकान्ताकुन्तलाक्रान्तकान्तिस्फुरित नखमयूख द्योतिताशान्तराल:) नमस्कार करती हुई देवांगनाओं के केशों से प्रतिबिम्बित कांति से शोभायमान नखचन्द्रकी किरणों से प्रकाशित कर दिया है दिशाओं का मध्यभाग जिनने ऐसे, तथा

(दिविजमनुजराजव्रातपूज्यक्रमाब्जः) देव और मनुष्यों के राजसमूह से पूजने योग्य हैं चरणकमल जिनके ऐसे, और (विजितकर्मारांति जालः) जीत लिया है कर्मरूपी शत्रुओं का समूह जिनने ऐसे (जिनेन्द्रः) जिनेन्द्रदेव (जयति) जयवन्त हैं— सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान हैं।

भावार्थ :—श्री जिनराज के चरणों में देवांगना आकर निरंतर नमस्कार करती हैं तथा इन्द्र और चक्रवर्ती भी निरंतर भगवान् की सेवा में तत्पर रहते हैं और आठ कर्मों का सर्वथा नाश कर दिया है ऐसे वे जिनेन्द्र सर्वदा जयवन्त हैं।

बसन्त तिलका छन्द

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय।
द्रष्टव्यमस्ति यदि मंगलमेव वस्तु।।
अन्येन किं तदहि नाथ ! तवैव वक्त्रम्।
त्रैलोक्य मंगल निकेतन मीक्षणीयम्।।१९।।

टीका :— भो नाथ ! इह जन्मनि भवान्तरे वा सुप्तोत्थितेन प्रातः शयनादुत्थितेन पुंसा। सुमुखेन कृत्वा सुमंगलाय मांगल्यनिमित्तम् यदि चेन्मंगलमेव वस्तु द्रव्यमेवदृष्टव्यमस्ति तर्हि तवैव भगवतो वक्त्रं मुख कमलमीक्षणीयं विलोकनीयं। पूर्वं सुप्तः पश्चादुत्थितः सुप्तोत्थितस्तेन। सुष्ठु च तन्मुखं च सुमुखं तेन। सुष्ठु च तन्मंगलं च सुमंगलं तस्मै सुमंगलाय। प्रातरेव सु पुरुषेण किंचि मंगलमेव दर्पणादि वस्तु द्रष्टव्यामित्याचारोऽस्ति तर्हि वक्त्र। त्रैलोक्ये यानि मंगलानि तेषां निकेतनं स्थानम्।

अन्वयार्थ— (नाथ) हे स्वामिन्! (सुप्तोत्थितेन) सोकर उठे हुए

(सुमुखेन) सुन्दर मुख वाले पुरुष के द्वारा (सुमङ्गलाय) कल्याण की प्राप्ति के लिए (यदि मङ्गलम् एवं वस्तु द्रष्टव्यम् अस्ति) यदि मङ्गलरूप ही वस्तु देखी जानी चाहिए। (तत्) तो (अन्येन किम्) और से क्या? (त्रैलोक्यमङ्गलनिकेतनम्) तीनों लोकों के मङ्गलों के घर स्वरूप (तव वक्त्रम् एव) आपका मुख ही (ईक्षणीयम्) देखना चाहिए।)

भावार्थ :– लोक में अनेक मंगलरूप वस्तु सुनी जाती है। तथा संसारी जन उन वस्तुओं के ऊपर से शुभाशुभ की कल्पना करते हैं, परन्तु एक आप ही मंगलरूप हैं। दूसरी वस्तुयें मंगलरूप है। यह केवल एक कल्पना ही समझनी चाहिए। अतएव प्रात: काल सोने के अनन्तर उठकर इस प्राणी को पहले आपके ही दर्शन करना चाहिए।

शार्दूल विक्रीडित छन्द

त्वं धर्मोदयतापसाश्रमशुकस्त्वं काव्यबंधक्रम-।
क्रीडानन्दनकोकिलस्त्वमुचित: श्रीमल्लिकाषट्पद:।।
त्वं पुन्नागकथारविन्दसरसीहंसस्त्वमुत्तंसकै:।
कैर्भूपाल! न धार्यसे गुणमणिस्रङ्मालिभिर्मौलिभि:।।२०।।

टीका :– भो भूपाल! भो जगत्पाल, कै: कैराजराजिभिरुत्तंसैर्नम्री भूतैर्मौलिभि: कृत्वा त्वं न धार्यसे। कीदृशैर्मौलिभि:? गुणलक्षणा ये मणयो रत्नानि तेषां स्रग्माला येषु ते तै:। भो देव! धर्मस्योदयो यस्मिन् स चासौ तापसानामाश्रमश्च तत्र शुकस्त्वमेव। भो देव! काव्यानां बंधक्रमो बन्धनानुक्रमरत्वमेव। भो देव! कीडार्थं यन्नंदनं वनं तत्र कोकिलस्त्वमेवोचितो योग्य:। भो देव! श्रीमल्लिकासु

जातिषु षट्पदो भ्रमरस्त्वमेव। भो देव ! पुंल्लक्षणा ये नामा: हस्तिनस्तेषां कथास्ता एवारविन्दानि कमलानि तैर्युक्ता या सरस्य: सरांसि तत्र हंसस्त्वमेव।

अन्वयार्थ—(भूपाल) हे जगत्पालक! (त्वम्) आप (धर्मोदयतापसाश्रम शुक:) धर्म के अभ्युदयरूपी तपोवन के तोता हैं (त्वम्) आप (काव्यबन्धक्रमक्रीडानन्दनकोकिल) काव्य रचना की क्रमक्रीडा रूप नन्दनवन के कोकिल हैं। (त्वम्) आप (पुन्नागकथारविन्दसरसीहंस:) श्रेष्ठ पुरुषों की कथारूपी कमलसरोवर के हंस हैं और (त्वम्) आप (उत्तंसकै:) अपने आपको भूषित करने-- सजाने वाले (कै:) किन पुरुषों के द्वारा (गुणमणिस्रङ्मालिभि:) गुणरूप मणियों की माला के समूह से उपलक्षित (मौलिभि:) मुकुटों के द्वारा (न धार्यसे) धारण नहीं किये जाते? अर्थात् सभी के द्वारा धारण किये जाते हैं?

भावार्थ :— संसार में जितनी सुंदर वस्तुएं प्राप्त होती हैं वे सब आपके चरणरज की सेवा का ही प्रताप समझना चाहिए। इसलिए तत्स्वरूप आप को ही समझना चाहिए। अतएव एक आप की भक्ति ही कार्यकारी है। लोकोत्तर पुरुष भी इसलिए आप की भक्ति और पूजा करते हैं।

मालिनी छन्द

शिव सुख मजर श्रीसंगमं चाभिलष्य।
स्वमभिनियमयन्ति क्लेशपाशेन केचित्।।
वयमिह तु वचस्ते भूपतेर्भावयन्त-।
स्तदुभयमपि शश्वल्लीलया निर्विशाम:।।२१।।

टीका :– भो देव ! इह जगति केचिज्जना: शिवसुखं मोक्षश्रीसुखं । च पुनरजरा देवास्तेषां श्रीर्लक्ष्मीस्तस्या: संगमस्तमभिलष्याभिलाषं विधाय । स्वमात्मानं । क्लेशपाशेन कष्टेन कृत्वाभिनियमयन्ति ते पश्यन्ति । तु पुनर्वयन्ते तव भूपतेर्जगन्नाथस्य वचोऽनुभावयन्तोऽनुभवन्त: सन्तस्तदुभयमपि शिवसुखमजरश्रीसंगममपि शश्वन्निरन्तरं लीलया कृत्वा निर्विशाम: प्रविशाम: ।

अन्वयार्थ– (केचित्) कितने ही मनुष्य (शिवसुखम्) मोक्षसुख (च) ओर (अजरश्रीसंगमम्) देवों की लक्ष्मी के संगम को (अभिलष्य) चाहकर (स्वम् अभि) अपने आपको (क्लेशपाशेन) दु:खों के समूह से (नियमयन्ति) नियमित करते हैं– अर्थात् तरह–तरह की तपस्याओं और व्रत आदि के कठिन नियमों से अपने आपको दु:खी करते हैं (तु) किन्तु (वयम्) हम लोग (शश्वत) हमेशा (इह) इस संसार में (ते भूपते:) आप जगत्पालक के (वच: भावयन्त:) वचनों की भावना करते हुए (लीलया) अनायास ही (तदुभयम् अपि) उन दोनों अर्थात् मोक्ष और स्वर्ग को (निर्विशाम:) प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ :– केवल उपवास आदि से न तो मोक्ष ही मिलता है और न स्वर्ग-सुख की प्राप्ति ही होती है, वह तो शरीर को सुखाना और अपने को क्लेश देना है। परन्तु जिसने आपकी दिव्य-ध्वनि का पान कर लिया, उसे स्वपर का विवेक प्राप्त हो जाने के कारण वह बहुत शीघ्र ही स्वर्ग-सुख को भोग कर मुक्ति-सुख का अनुभव करता है।

शार्दूल विक्रीडित छन्द

देवेन्द्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवांगना मंगला- ।
न्यापेठुः शरदिन्दुनिर्मलयशो गन्धर्वदेवा जगुः ।।
शेषाश्चापि यथानियोगमखिलाः सेवां सुराश्चक्रिरे ।
तत्किं देव वयं विदध्म इति नश्चित्तं तु दोलायते ।।२२।।

टीका :– भो देव ! सौधर्मेन्द्रादयस्तव परमेश्वरस्य मज्जनानि विदधुरभिषेकान्निष्पादयन्ति स्म । देवांगनाश्चाप्सरसश्च तव मंगलान्यापेठुः । गन्धर्वदेवा हाहाहूहूप्रमुखास्तव शरदिन्दुनिर्मलं यशो जगुर्जेगायन्तेस्म । शरद इन्दुश्चन्द्रस्तद्विनिर्मलं च तद्यशश्च । च पुनः शेषाश्चप्यखिलाः सुरा । यथा नियोगं यथायोग्यं । सेवां भक्तिं । चक्रिरे कुर्वन्ति स्म । भो देव ! तत्तस्मात्कारणात् वयं किं विदध्मो वयं किं कुर्म्मः । इति कारणात् नोऽस्माकं । चित्तं अन्तः करणं दोलायत आन्दोलायमानं भवति ।

अन्वयार्थ– (देव) हे देव! (देवेन्द्राः) इन्द्रों ने (तव) आपका (मज्जनानि विदधुः) अभिषेक किया, (देवाङ्गनाः) मङ्गलानि आपेतुः) देवाङ्गनाओं ने मंगलपाठ पढ़े, (गन्धर्वदेवाः) गन्धर्व देवों ने (शरदिन्दुनिर्मलयशः जगुः) शरद ऋतु के चन्द्रमा की तरह उज्ज्वल यश गाया, (च) और (शेषाः अखिलाः सुराः) बाकी बचे हुए समस्त देवों ने (यथानियोगम्) अपने कर्तव्य के अनुसार (सेवाम् चक्रिरे) सेवा की (तत् वयं तु किं विदध्मः) अब हम लोग क्या करें? (इति) इस प्रकार (नः) हमारा (चित्तम्) मन (दोलायते) चंचल हो रहा है ।

भावार्थ :– पंचकल्याणक के समय इन्द्रादि प्रमुख देव आपका अभिषेक आदि महोत्सव करते हुए फिर हमारे लिए मुख्य ऐसी कोई भी सेवा नहीं रही अथवा हमारे समान प्राणी क्षीणबल आपकी सेवा करने में असमर्थ होने के कारण देवेन्द्र आदि के साथ उस अनुपम सेवा को नहीं कर सकते। अतएव उस अनुपम सेवा से वंचित हमारा मन निरन्तर दोलायमान रहता है। ऐसी स्थिति में आपकी भक्ति ही मुझे शरणभूत है। भक्ति को छोड़कर दूसरा कोई भी शरण नहीं है।

देव! त्वज्जननाभिषेकसमये रोमांचसत्कंचुकै- ।
र्देवेन्द्रैर्यदनर्ति नर्त्तनविधौ लब्धप्रभावै स्फुटम् ।।
किंचान्यत्सुरसुन्दरीकुचतटप्रान्तावनद्धोत्तम ।
प्रेंखद्वल्लकिनादझंकृतमहो तत्केन संवर्ण्यते ।।२३।।

टीका :– भो देव ! त्वज्जननाभिषेकसमये देवेन्द्रैः सौधर्मप्रमुखैः शतेन्द्रैर्यदनर्ति नटितम्। अहो– इत्याश्चर्ये तन्नृत्यं स्फुटं प्रकटम् केन पुंसा संवर्ण्यते वर्णयितुं शक्यते न केनापि संवर्ण्यते। तव जननं त्वज्जननं तस्याभिषेकसमयस्तस्मिन्। कीदृशेर्देवेन्द्रैरोमांचलक्षणाः सत्समीचीनाः कंचुकानि चोला येषान्तैः। पुनः कीदृशैर्देवेन्द्रैः? नर्तनविधौ लब्धः प्राप्तः प्रभावो महिमा यैस्ते तैः। किं चान्यत् सुराणां देवानां सुन्दर्य्यस्तासां कुचतटानि तेषां प्रान्ता अग्रभागा-स्तेष्ववनद्धास्थापितां उत्तमा मनोज्ञाः प्रेंखत्यश्चंचला या वल्लक्यो वीणास्तासां नादस्तेन झंकृत रणितं तदपि अहो आश्चर्ये केनापि संवर्ण्यते।

अन्वयार्थ–(देव) हे देव! (त्वज्जननाभिषेकसमये) आपके

जन्माभिषेक के समय (नर्तनविधौ) नृत्य कार्य में (लब्धप्रभावैः) प्राप्त किया है प्रभाव जिन्होंने ऐसे (देवेन्द्रैः) इन्द्रों ने (रोमाञ्च सत्कञ्चुकैः) रोमाञ्चरूप कंचुक वस्त्र को धारण करते हुए (यत् स्फुटम अनर्ति) जो स्पष्ट नृत्य किया गया था। (किं च अन्यत्) और जो (सुरसुन्दरीकुचतटप्रान्तावनद्धोत्तम प्रेङ्खद्वल्लकिनादझंकृतम्) देवांगनाओं के स्तन तट के समीप बँधी हुई उत्तम शब्द करती हुई बीणा के शब्द की झंकार हुई थी। (अहो तत् केन वर्ण्यते) आश्चर्य है कि उस सबका वर्णन किससे हो सकता है? अर्थात् किसी से नहीं।

भावार्थ :—आपके जन्माभषिक के समय देवेन्द्रों ने जो नृत्य किया तथा देवांगनाओं ने जो वीणा बजाई उसका हमारे समान लोग कैसे वर्णन कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते हैं।

देव ! त्वत्प्रतिबिम्बमंबुजदलस्मेरेक्षणं पश्यताम् ।
यत्रास्माकमहो महोत्सवरसो दृष्टेरियान्वर्तते ।।
साक्षात्तत्र भवन्तमीक्षितवतां कल्याणकाले तदा ।
देवानामनिमेष लोचनतया वृत्तः स किं वर्ण्यते ।।२४ ।।

टीका :— भो देव ! अहो इति आश्चर्ये ! यत्राम्बुजदलस्मेरेक्षणं त्वत्प्रतिविम्बं पश्यतामस्माकं दृष्टेर्नेत्रस्येयान् महोत्सवरसो वर्तते। तत्र मेरौ। तदा कल्याणकाले जन्माभिषेके। साक्षाद्भवन्तं साक्षाद्वर्तमानं भगवन्तमनिमेषलोचनतया मेषोन्मेषरहिततयेक्षितवतां विलोकयतां देवानां दृष्टेर्महोत्सवो यस्तस्य रसो वृत्तो महोत्सवरसः। किं वर्ण्यते वर्णयितुं

शक्यते । अम्बुजदलवत्स्मेरे विकसित ईक्षणे यस्मिन् तत् । तव प्रतिविम्बं त्वत्प्रतिविम्बम् । महोत्सवस्य रसो महोत्सवरसः । अनिमेषाणि निमेषरहितानि यानि लोचनानि तेषां भावस्तत्ता तया ।

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! (अम्बुजदलस्मेरेक्षणम्) कमल की पाँखुड़ी की तरह विकसित हैं नेत्र जिसमें ऐसे (त्वत्प्रतिबिम्बम्) आपके प्रतिबिम्ब— प्रतिमा को (पश्यताम्) देखने वाले (अस्माकम्) हम लोगों की (दृष्टेः) आँखों को (यत्र) जहाँ (अहो) आश्चर्य कारक (इयान्) इतना (महोत्सवरसः) महान आनन्द (वर्तते) हो रहा है (तत्र) वहाँ (तदा) उस समय (कल्याणकाले) पंचकल्याणकों के काल में (अनिमेषलोचनतया) टिमकार रहित नेत्रों से (भवन्तम्) आपको (साक्षात्) साक्षात् रूप से (ईक्षितवताम्) देखने वाले (देवानाम्) देवों के (वृत्तः) प्रकट हुआ (सः) वह आनन्द (किम्) क्या (वर्ण्यते) वर्णित किया जा सकता है अर्थात् नहीं किया जा सकता।

भावार्थ :—हे भगवन् ! आपके प्रतिबिम्ब को देखकर आपकी पवित्र स्मृति करने मात्र से हमें इतना अधिक आनन्द होता है जो वाणी के अगोचर है, फिर साक्षात् देव लोग महाविभूति के स्थान मेरु पर्वत पर आपका जन्माभिषेक कल्याणक करते हैं। उससे उन्हें जो आनन्दोत्सव- रूप हर्ष उत्पन्न होता होगा उसका वर्णन हम कैसे कर सकते हैं।

दृष्टं धाम रसायनस्य महतां दृष्टं निधीनां पदम् ।
दृष्टं सिद्धरसस्य सद्म सदनं दृष्टं च चिन्तामणेः ।।

किं दृष्टैरथवानुषंगिकफलैरेभिर्मयाद्य ध्रुवम्।
दृष्टं मुक्तिविवाहमंगलगृहं दृष्टे जिनश्रीगृहे।।२५।।

टीका :– भो देव! जिनश्रीगृहे भगवच्चैत्यालये दृष्टे सति मयाद्य ध्रुवं निश्चित। रसायनस्य सिद्धौषधस्य धाम गृहं दृष्टम्। पुनर्जिनश्रीगृहे दृष्टे सति महतां निधीनां पद्मादिनवनिधीनां पदं स्थानं सदनं मया दृष्टम्। पुनर्जिनश्रीगृहे दृष्टे सति मया सिद्धिरसस्य सद्म सदनं दृष्टम्। पुनर्जिनश्रीगृहे दृष्टे सति मया चिन्तामणे रत्नविशेषस्य सदनं दृष्टम्। अथवा पक्षान्तर एभिरानुषंगिक फलैः स्वल्पफलैः किं प्रयोजनम्। भो देव! जिनश्रीगृहे दृष्टे सति मयाद्य ध्रुवं निश्चितं। मुक्तिविवाहमंगलगृहं दृष्टम्। आनुषंगिकं परिमितं फलं येषान्ते तैः। मुक्तेर्विवाहस्तदर्थं मंगलवद्गृहं। जिनस्य गृहं चैत्यन्तस्मिन्।।

अन्वयार्थ— (जिनश्रीगृहे) जिनमन्दिर अथवा जिनेन्द्ररूप लक्ष्मीगृह के (दृष्टे सति) देखे जाने पर (मया) मैंने (रसायनस्य धाम दृष्टम्) रसायन का घर देख लिया, (महतं निधीनाम् पदंदृष्टम्) बड़ी–बड़ी निधियों का स्थान देख लिया, (सिद्धरसस्य) सिद्ध हुए रस– औषधिविशेष का (सद्म दृष्टम्) घर देख लिया, (च) और (चिन्तामणेः) चिन्तामणि रत्न का (सदनम् दृष्टम्) घर देख लिया। (अथवा दृष्टैः एभिः आनुषङ्गिकफलैः किम्) अथवा देखे हुए इन गौण फलों से क्या लाभ है? (ध्रुवम्) निश्चय से (अद्य) आज (मया) मैंने (मुक्तिविवाहमङ्गलगृहम् दृष्टम्) मुक्तिरूपी कन्या के विवाह मंगल का घर देख लिया है।

भावार्थ :– श्री जिनालय के दर्शन साक्षात् मुक्ति को देने वाले हैं। उससे संसार-सम्बंधी नवनिधि आदि आनुषंगिक फल अपने-आप प्राप्त हो जाते हैं। इन सब फलों को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अलग परिश्रम नहीं करना पड़ता है। अर्थात् एक श्री जिनेन्द्रदेव के दर्शन ही सकलार्थ की सिद्धि करने में समर्थ हैं।

दृष्टस्त्वं जिन राजचन्द्र ! विकसद्भूपेन्द्रनेत्रोत्पलैः ।
स्नातं त्वन्नुतिचन्द्रिकांभसि भवद्विद्वच्चकोरोत्सवे ।।
नीतश्चाद्य निदाघजः क्लमभरः शान्तिं मया गम्यते ।
देव ! त्वद्गतचेतसैव भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ।।२६।।

टीका :– भो जिनराजचन्द्र ! त्वमष्टविधप्रातिहार्यविभवापन्नः दृष्ट. सन्मया त्वन्नुतिचन्द्रिकांभसि स्नातम्। तव नुतिस्त्वन्नुतिः सैव चन्द्रिका चन्द्रज्योत्स्ना सैवांभः पानीयं तस्मिन्। कीदृशे त्वन्नुतिचन्द्रिकांभसि? विकसन्ति भूपेन्द्रनेत्राण्येवोत्पलानि यस्मिन्तत्त- स्मिन्। पुनः किं विधे? भवतस्तव। विद्वांसस्तल्लक्षणा ये चकोराश्चकोरपक्षिणस्ते षामुत्सवो यस्मिन्तत्तस्मिन्। च पुनः भो नाथ ! मया निदाघजः क्लमभरो ग्रीष्मभवः प्रस्वेदभरः। शान्तिं नीतः समाप्तिं प्रापितः। भो देव ! मया त्वद्गतचेतसा एव गम्यते। भवतस्तव। पुनर्दर्शनं भूयात अस्तु। इति एवं स्तवनकर्त्रा याचितम्। त्वय्येव गतम् चेतो यस्य स तेन।

अन्वयार्थ– (जिनराजचन्द्र) हे जिनेन्द्रचन्द्र! (मया त्वम् दृष्टः) मैंने आपके दर्शन किये तथा (विकसद्भूपेन्द्रनेत्रोत्पले) जिसमें राजाओं के नेत्ररूपी कुमुद फूल रहे हैं ऐसे तथा (भवद्विद्वच्चकोरोत्सवे) जिसमें विद्वानरूप–चकोर पक्षियों को आनन्द हो रहा है ऐसे (त्वन्नुतिचन्द्रिकाम्भसि)

आपकी स्तुतिरूप जल में (स्नातम्) स्नान किया (च) और (अद्य) आज (निदाघजः) सन्ताप से उत्पन्न हुआ (क्लमभरः) खेद का समूह (शान्तिम्नीतः) शान्ति को प्राप्त कराया (देव) हे देव! (त्वद्गतचेतसा एव मया गम्यते) अब मैं आप में ही चित्त लगाता हुआ जाता हूँ (भवतः दर्शनम् पुनः भूयात्) आपके दर्शन फिर भी हों।

भावार्थ :— जिस प्रकार मल को दूर करने के लिए पानी की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार संसार सम्बंधी दुःख को दूर करने के लिए भगवान् जिनेन्द्र देव का दर्शन-रूपी जल ही समझना चाहिए। जल में कमल होते हैं, यहां राजा महाराजाओं के नेत्र-रूपी कमल हैं। वहां चकोर पक्षी होते हैं, यहां पर विद्वान् पुरुष ही चकोरपक्षी हैं। अतएव प्रति दिवस भगवान् जिनेन्द्र के दर्शन हो यही भावना है।

●

अकलंक-स्तोत्रम्

(श्रीमद्भट्टाकलंकदेव विरचितं)

शार्दूलविक्रीडित छन्द

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितं
साक्षाद् येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलि।।
रागद्वेष-भयामयान्तक-जरा-लोलत्व-लोभादयो
नालं यत्पद-लंघनाय स महादेवो मया वन्द्यते।।१।।

अन्वयार्थ :— येन- जिसने, सांगुलि- अङ्गुलियों के साथ, स्वयं

करतले– अपने हाथ की हथेली में रहने वाली, रेखात्रयं– तीनों रेखाओं के, यथा– समान, सालोकम्– अलोकाकाश के साथ, सकलं– समस्त, त्रिकाल विषयं– त्रिकालवर्ती, त्रैलोक्यं– तीनों लोकों को, साक्षात्– प्रत्यक्ष रूप से, आलोकितम्– देख लिया और जान लिया है, और, यत्पदलंघनाय– जिसके पद को उल्लंघन करने के लिए, रागद्वेषभया मयान्तकजरालोलत्वलोभादयः– राग, द्वेष, भय, रोग, यम, जरा, बुढ़ापा, चंचलता, लोभ, मोह आदि कोई भी, अलं– समर्थ, न- नहीं, अस्ति– है, स– वहीं, महादेवः– महादेव, मया– मेरे द्वारा, वन्द्यते– वन्दना किया जाता है।

भावार्थः– जो पूर्ण वीतराग हो, सर्वज्ञी हो, सर्वदर्शी हो, सर्वोत्कृष्ट पद पर आरुढ़ हो, वही महादेव, देवाधिदेव, शतइन्द्रों और असंख्यात देवों द्वारा वन्दित है, नमस्कृत है, और स्तुत है। उसकी मैं वन्दना करता हूं, वही मेरे द्वारा वन्दनीय है, नमस्करणीय है, और स्तवनीय है। अतएव मैं उसको वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूं, और उसकी स्तुति करता हूं। अब रागद्वेष आदि कोई भी विकारी भाव उसके उस उच्चतम लोकोत्तम-पद को तिरस्कृत करने में सर्वथा शक्तिहीन हैं।

दग्धं येन पुरत्रयं शरभुवा तीव्रार्चिषा वह्निना
यो वा नृत्यति मत्तवत्पितृवने यस्यात्मजो वा गुहः।।
सोऽयं किं मम शंकरो भय-तृषा-रोषार्ति-मोह-क्षयं,
कृत्वा यः स तु सर्ववित्तनुभृतां क्षेमंकरः शंकरः।।२।।

अन्वयार्थ :– येन– जिसने, शरभुवा– बाण से उत्पन्न हुई, तीव्रार्चिषा– भयंकर ज्वालाओं वाली, वह्नि– अग्नि के द्वारा, पुरत्रयं– तीन नगरों को, दग्धं– जलाया। वा– और, यः– जो, पितृवने– श्मशान में, मत्तवत्– उन्मत्त पुरुष के समान, नृत्यति– नृत्य करता है। वा– और, यस्य– जिसका, आत्मजः–पुत्र, गुहः– गुह, शङ्कर– शंकर, स्यात– हो सकता है, अर्थात् नहीं। तु– किन्तु, यः–जो, भयतृषारोषार्ति मोहक्षयं– भय, डर, तृषा, तृष्णा, लालसा, रोष, क्रोध सम्बन्धी पीड़ा और मोह के विनाश को करके सर्वज्ञता को प्राप्त कर चुका है, वही समस्त प्राणीमात्र का कल्याणकर्त्ता शान्ति विधाता शंकर ही मेरा शंकर हो सकता है, अन्य नहीं।

भावार्थ:– तात्पर्य यह है कि जो क्रोधी हो, मोही हो, नाना प्रकार की राग-द्वेष- जनित क्रियाओं में रत हो, वह स्वयं ही आत्मकल्याण का पात्र नहीं है, सच्ची आत्मिक सुख शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता है, वह इतर संसारी जीवों को जो निरन्तर आकुलता की ज्वालाओं से जल रहे हैं, पीड़ित हो रहे हैं, उन्हें कैसे सुख-साता पहुंचा सकता है? अर्थात् नहीं, कदापि नहीं, किन्तु जिसने आत्मा को विकृत करने वाले काम, क्रोध, मोह आदि विकारी भावों पर पूर्ण विजय प्राप्तकर आप्तता, सर्वज्ञता प्राप्त कर ली है, जिसकी आत्मा परिपूर्ण निर्मलता को प्राप्त हो चुकी है, जिसमें अनन्त आत्मिक सुख की प्रबल धारा बह रही है, जिसकी ध्वनि से परम अचिन्त्य सुख सन्तोष के स्तोत्र बह उठते हैं, वही हमारा परमाराध्य शंकर है।

यत्नाद्येन विदारितं कररुहै-र्दैत्येन्द्र-वक्षः स्थलं।
सारथ्येन धनंजयस्य समरे योऽमारयत् कौरवान्।।
नासौ विष्णुरनेककालविषयं यज्ज्ञानमव्याहतं।
विश्वं व्याप्य विजृम्भते स तु महाविष्णुः सदेष्टो मम।।३।।

अन्वयार्थ :– येन– जिसने, यत्नात्– बड़े प्रयत्न से, कररुहैः– नाखूनों के द्वारा, दैत्येन्द्रवक्षः स्थलम्– दैत्यराजहिरण्यकश्यप के वक्षः स्थल-सीने को, विदारितम्– छिन्न-भिन्न किया। और यः– जिसने, समरे– युद्ध में, कौरवों और पाण्डवों की लड़ाई में, धनंजयस्य– अर्जुन का, सारथ्येन– सारथी होकर, कौरवान्– कौरवों का, अमारयत्– मरवाया, असौ– वह, विष्णुः– विष्णु, न– नहीं, भवेत्– हो सकता है, किन्तु, यज्ज्ञानं– जिसका ज्ञान, अव्याहतं– बेरुकावट निरावरण, त्रिकाल विषयं– तीनों कालों के समस्त पदार्थों को जानने वाला और, विश्वं– समस्त जगत्त्रय को, व्याप्य– व्याप्त करके, विजृम्भते– वृद्धि को प्राप्त होता है, सः– वही, महाविष्णुः– महाविष्णु, सदा– सर्वदा हमेशा, मम– मेरे द्वारा, इष्टः– इष्ट है, मान्य है।

भावार्थ :–जिसकी आत्मा में द्वेष वैर भाव बना हुआ है, और जिसकी आत्मा राग से रंगी हुई है, जो हिंसा जैसे महान पाप से अपनी रक्षा नहीं कर सका है, और जिसका ज्ञान भी विकारी भावों के उत्पन्न करने में सहायक है, वह वस्तुतः विष्णु नहीं हो सकता, किन्तु जिसने उपर्युक्त समस्त विकारों को जलाञ्जलि देकर पूर्ण निर्विकार दशा को प्राप्त कर आत्मिक अनन्तज्ञान को पा लिया है, विश्व के चराचर

पदार्थों को जानने के कारण जो व्यापक है, वही सर्वदर्शी सर्वज्ञ हमारे द्वारा विष्णु ही नहीं, किन्तु महाविष्णु रूप से हमेशा के लिए पूज्य रूप से इष्ट है। वह ज्ञानशक्ति द्वारा सर्वलोक व्यापक होने से ही विष्णु है।

उर्वश्यामुदपादि रागबहुलं चेतो यदीयं पुनः
पात्री-दण्ड-कमण्डलु-प्रभृतयो यस्याकृतार्थ-स्थितिम्।।
आविर्भावयितुं भवन्ति स कथं ब्रह्मा भवेन्मादृशां
क्षुत्तृष्णा-श्रम-राग-रोग-रहितो ब्रह्मा कृतार्थोऽस्तु नः।।४।।

अन्वयार्थ :–यदीयं– जिसके, चित्तं– चित ने, उर्वश्याम– उर्वशी नाम की देवाङ्गना में, रागबहुलम– राग की अधिकता को, काम-वासना को, उदपादि– उत्पन्न किया। पुनः– और, पात्रीदण्डकमण्डलुप्रभृतयः– पात्र दण्ड कमण्डलु आदि बाह्य परिग्रह पदार्थ, यस्य– जिसकी, अकृतार्थस्थितिम्– अन्तरंग परिग्रह की दशा को, आविर्भावयितुम्– प्रकट करने में, भवन्ति– समर्थ हैं, सः– वह, मादृशाम्– मुझ जैसों का, ब्रह्मा– ब्रह्मा, कथं– कैसे, भवेत्– हो सकता है अर्थात् नहीं। किन्तु, क्षुत्तृष्णाश्रमरागरोगरहितः– क्षुधा, तृषा, थकावट, राग, व्याधि आदि समस्त दोषों से रहित अतएव, कृतार्थः– कृतकृत्य सब कुछ करचुका अब जिसे कुछ भी करना शेष नहीं रहा, सः– वही, नः– हमारा, ब्रह्मा– ब्रह्मा, भवेत्– हो सकता है।

भावार्थ :– जो साधारण संसारियों के समान इन्द्रिय विषयासक्त है, जो पर-स्त्री रमणेच्छा जैसे घोर महापाप को भी नहीं छोड़ पाया है और जिसकी आत्मा परिग्रह पिशाच से पीड़ित हैं,

वह तीन काल में भी ब्रह्मा कहलाने का अधिकारी नहीं है, किन्तु जो महात्मा क्षुधा, तृषा, थकावट, राग, व्याधि आदि तमाम आत्मिक दोषों से और शारीरिक कष्टों से सर्वथा और सर्वदा के लिए उन्मुक्त हो चुका है। जिसकी आत्मा स्फटिक रत्न के समान निर्मल हो चुकी है। जिसकी ज्ञान ज्योति अखण्ड प्रचण्ड सूर्य की किरणों के समान जाज्वल्यमान है, वही यथार्थ ब्रह्मा है, अन्य नहीं।

यो जग्ध्वा पिशितं समत्स्य-कवलं जीवं च शून्यम्वदन्।
कर्त्ता कर्मफलं न भुङ्क्त इति यो वक्ता स बुद्धः कथम्।।
यज्ज्ञानं क्षणवर्ति वस्तु सकलं ज्ञातुं न शक्तं सदा
यो जानन्युगपज्जगत्त्रयमिदं साक्षात् स बुद्धो मम।।५।।

अन्वयार्थ :— यः— जो, समत्स्यकवलम्— मगर-मच्छों के ग्रास वाले, पिशितं— मांस को, जग्धवा— खाता है, च— और, यः— जो जीवं— जीव को, शून्यम्— शून्य, वदन्— कहता है, च— और, यः— जो, कर्त्ता— कर्म को करने वाला, कर्मफलम्— कर्मों के फल को, न— नहीं, भुड़क्ते— भोगता है, इति— ऐसा, यः— जो, वक्ता— कहता है और, यज्ज्ञानम्— जिसका ज्ञान, क्षणवर्ति— क्षण नश्वर है अतएव, सकलं वस्तु- समस्त पदार्थ समूह को, ज्ञातुम्- जानने के लिए, शक्तम्— समर्थ, न— नहीं है, सः— वह, बुद्धः— बुद्ध, कथम्— कैसे, भवेत— हो सकता है, अर्थात् नहीं। किन्तु, यः— जो, सदा— निरन्तर, युगपत्— एक साथ, इदम्— इस, जगत्त्रयम्— जगत्त्रय तीन जगत को, साक्षात्— प्रत्यक्ष, जानन्— जानता है, सः— वह, मम— मेरा, बुद्धः— बुद्ध है, मेरे द्वारा मान्य है, पूज्य है, उपास्य है।

भावार्थ :– जो मांस भक्षी हैं, अतएव हिंसक वृत्ति से जिसको हार्दिक ग्लानि उत्पन्न नहीं हुई है या जिसने मांस-भक्षण जैसे महान् पाप को पाप ही नहीं माना है, यदि माना होता तो त्याग किये बिना नहीं रहता। जो जीव तत्त्व को स्वीकार करने से इन्कार करता है, और जो हम सरीखा अल्पज्ञानी है, अर्थात् जैसे हम लोग संसार के समस्त पदार्थों को नहीं जान पा रहे हैं, वैसे ही जो सभी पदार्थों के जानने में सर्वथा असमर्थ है, वह वस्तुतः बुद्ध नहीं हो सकता है, किन्तु त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को उनकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों के साथ युगपत् एक साथ हस्तामलकवत् जानता है, वही वस्तुतः बुद्ध है और वही हमारे द्वारा आराधनीय, वन्दनीय और पूजनीय है, अन्य नहीं।

स्रग्धरा छन्द

ईशः किं छिन्न लिङ्गो यदि विगतभयः शूलपाणिः कथं स्यात्।
नाथः किं भैक्ष्यचारी यतिरिति स कथं साङ्गनः सात्मजश्च।
आर्द्राजः किन्त्वजन्मा सकलविदिति किं वेत्ति नात्मान्तरायं
संक्षेपात्सम्यगुक्तं पशुपतिमपशुः कोऽत्र धीमानुपास्ते।।६।।

अन्वयार्थ :– यदि महादेव, ईशः– ईश है, स्वामी या परमेश्वर है तो, छिन्नलिङ्गः– छिन्न लिंगवाला, किम्– क्यों है, यदि– यदि, सः– वह, विगतभयः– भय-रहित, अस्ति– है, तर्हि– तो, शूलपाणिः– त्रिशूल है, हाथ में जिसके अर्थात् त्रिशूलधारी, कथं– कैसे, स्यात्– हो सकता है। यदि वह, नाथः– नाथ है, स्वामी है, तर्हि– तो, भैक्ष्यचारी– भिक्षा भोजी, किम्– क्यों, अस्ति– है, यदि सः– वह, यति– साधु या मुनि,

अस्ति– है, तर्हि:– तो, स: – वह सांगन:– अंगना–सहित अर्धांग में स्त्री को धारण करने वाला, कथं– कैसे, स्यात्– हो सकता है। च– और, सात्मज:– आत्मज, पुत्र–सहित, पुत्रवान्, कथं– कैसे, स्यात्–हो सकता है। यदि, स:– वह, आर्द्राज:– आद्रा से उत्पन्न हुआ है, अर्थात् आर्द्रा का पुत्र है, तर्हि– तो, अजन्मा– जन्म–रहित जन्म नहीं लेने वाला, किम्– क्यों, अस्ति– है। यदि स:– वह, सकलवित्– सभी पदार्थों को जानने वाला, अर्थात् सर्वज्ञ है, तर्हि– तो आत्मान्तरायम्– अपनी आत्मा की भीतरी दशा को, किम्– क्यों, न– नहीं, वेत्ति– जानता है। संक्षेपात्– संक्षेप रूप से, सम्यक्– भले प्रकार, उक्तम्– कहे गये, पशुपतिम्– पशुपति को अर्थात् अज्ञानी को, क: – कौन, अपशु:– ज्ञानी, बुद्धिमान्– सत् और असत् सच्चे और झूठे को समझने की बुद्धि रखने वाला, अत्र– इस संसार में, उपास्ते– उपासना, आराधना या पूजा करेगा, अर्थात् कोई भी नहीं।

भावार्थ :– तात्पर्य यह है कि जो ऐश्वर्यशाली है, वह विकृतधारी अर्थात् दरिद्र जैसा या उन्मत्त सरीखा विभिन्न प्रकार के लिंग क्यों धारण करता है? उसे तो ऐसा सर्वोपरि श्रेष्ठतम् वेष धारण करना चाहिए, जो उसके आभ्यन्तर ऐश्वर्य को सूचित कर सके। यदि कोई भी व्यक्ति स्वयं अपने विषय में निर्भय होता है, तो फिर उसे किसी भी प्रकार के शस्त्रास्त्र नहीं रखना चाहिए, लेकिन हम देखते हैं कि जो अपने आपको एक तरफ तो सर्वतो निर्भय बताता है, वही दूसरी तरफ शस्त्र धारण करता है। यह क्या निर्भयता का यथार्थ

परिचायक हो सकता है? अर्थात् नहीं। जो अपने को लोक का नाथ कहता हो, क्या वह भिक्षापात्र लेकर भीख मागेगा नहीं, कभी नहीं। इसी प्रकार से जो अपने को यति, मुनि या साधु कहता हो, क्या वह स्त्री रखेगा और क्या उसके उस साधु अवस्था में पुत्र आदि सन्तान हो सकेगी ? नहीं, कभी नहीं, । जो अपने को इधर तो अजन्मा कहता है और उधर आर्द्रा का पुत्र भी हो, यह क्या है? कुछ समझ में नहीं आता। ठीक इसी प्रकार से जो यह भी कहता हो कि मैं सर्वज्ञ हूं, सभी चराचर पदार्थों को जाननेवाला हूं, वही अपने अन्तरंग की विविध विकृत दशाओं को न जान सकता हो, क्या वह दर असल में सर्वज्ञ कहे जाने के योग्य हो सकता है? अर्थात् नहीं, कभी नहीं, किसी प्रकार से नहीं। अस्तु अन्ततोगत्वा जो अपने को पशुपति कहता है। आचार्य कहते हैं— ऐसे पशुपति अर्थात् जड़ अज्ञानी यथार्थ वस्तु स्वरूप में अनभिज्ञ को ऐसा कौन ज्ञानी होगा, जो पूजेगा? अर्थात् नहीं, कोई नहीं और कभी भी नहीं। क्योंकि उसमें पूज्यता के चिन्ह या गुण नहीं है। वह तो हम संसारियों के समान ही है।

ब्रह्मा चर्माक्षसूत्री सुरयुवतिरसावेश-विभ्रान्तचेता: ।
शम्भु: खट्वांगधारी गिरिपति-तनयापांग-लीलानुविद्ध: ।।
विष्णुश्चक्राधिप: सन्दुहितरमगमद् गोपनाथस्य मोहा- ।
दर्हन्विध्वस्तरागो जितसकलभय: कोऽयमेष्वाप्तनाथ: ।।७।।

अन्वयार्थ :—ब्रह्मा— ब्रह्मा जी, चर्माक्षसूत्री— चमड़ा और अक्षमाला को रखते हैं, और साथ ही, सुरयुवतिरसावेशविभ्रान्तचेता:— उनका चित्त देवांगना के प्रेम से विपरीत होता है, अर्थात्

वे स्त्री रोग से उन्मत्त हो रहे हैं, स्त्री लम्पटी हैं। शम्भु:- महादेव जी या शंकर जी, खट्वाङ्गधारी- चारपाई पर सोने वाले और, गिरिपतित नयापाङ्गलीलानुविद्धः- पर्वतराज हिमालय की पुत्री पार्वती की प्रेम में डूबे हुए हैं,। विष्णुः- विष्णुजी, चक्राधिपः- सुदर्शन चक्र के स्वामी, सन्- होते हुए भी, अर्थात् नारायण जैसे महान त्रिखण्डी राजा होते हुए भी, गोपनाथस्य:- ग्वालों के राजा की, दुहितरम्- पुत्री को, अगमत्- सेवन करने वाले हुए, अर्थात् श्रीकृष्ण जी भी पर-स्त्री लम्पटी हैं। एषु- इस सबमें, विध्वस्तरागः- राग का विनाश करने वाला अर्थात् पूर्ण वीतरागी, जितसकलभय:- और समस्त प्रकार के भय को जीतने वाला, अयम्- यह, आप्तनाथ:- सर्वज्ञ हितोपदेशी तीन लोक का स्वामी, अर्हन्- अरिहन्त परमेष्ठी अर्थात् आत्मा के अनुजीवी गुणों को घातने वाले चारों घातिया कर्मों को जीतने वाला, क:- कौन है? अस्ति- है अर्थात् उक्त तीनों में ऐसा कोई भी नहीं है, जो अरहन्त कहलाने का अधिकारी हो। ऐसा अरहन्त तो उन तीनों से भिन्न भगवान श्रीजिनेन्द्र ही हो सकता है, अन्य नहीं।

भावार्थ:- तात्पर्य यह है कि संसार में सबसे निकृष्ट राग स्त्री सम्बन्धी राग ही होता है। इसी स्त्री राग के कारण संसार बन रहा है। इस स्त्रीराग को जीतने वाले एकमात्र श्री जिनेन्द्र ही होते हैं। उन्हीं की यह अनन्त शक्ति है, जिसके समक्ष तीन लोक विजेता कामदेव भी थर-थर कांपता है, लेकिन इसके विपरीत आत्मिक बल से जो दुर्बल हैं, कमजोर हैं, वे ही कामदेव के बल से जीते जा सकते, ऐसे एक श्रीजिनेन्द्र देव

को छोड़ कर शेष संसार के सभी देव हैं। फिर अन्य साधारण प्राणधारियों की तो बात ही क्या है? कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि जो ब्रह्मा, विष्णु, और महेश लोक प्रसिद्ध देव हैं, वे भी जब कामदेव के वश होकर विविध प्रकार की काम-क्रीडाओं में रत हैं, तब अन्य छोटे-मोटे देवों की तो बात ही क्या? अतएव त्रिलोक विजयी कामदेव पर भी जिन्होंने पूर्ण विजय प्राप्त कर आत्मिक सच्चे स्वरूप में ही पूर्ण निश्चलता को प्राप्त कर लिया है वे श्री अर्हन्त परमेष्ठी ही वास्तव में देवाधिदेव हैं। वे ही हम सबके आराध्य संसेवनीय और पूजनीय हैं, अन्य कोई नहीं।

एको नृत्यति विप्रसार्य ककुभां चक्रे सहस्रं भुजा-
नेकः शेषभुजंगभोगशयने व्यादाय निद्रायते।।
द्रष्टुं चारुतिलोत्तमामुखमगादेकश्चतुर्वक्त्रता-
मेते मुक्तिपथं वदन्ति विदुषामित्येतदत्यद्भुतम्।।८।।

अन्वयार्थ :— एकः— शिवजी, सहस्रम्— हजार, भुजान्— भुजाओं को, विप्रसरार्य— फैला कर, ककुभाम्— दिशाओं के, चक्रे— मण्डल में, नृत्यति— नृत्य करते हैं। एकः— श्री विष्णु जी, शेषभुजङ्गभोगशयने— शेषनाग के शरीर-रूप शय्या पर, व्यादाय— मुख को खोल कर, निद्रायते— सोते हैं। एकः— श्री ब्रह्मा जी, चारुतिलोत्तमामुखम्— सुन्दर तिलोत्तमा नामक देवाप्सरा के मनोहर मुख को, द्रष्टुम्— देखने के लिए, चतुर्वक्त्रताम्— चार मुखपना को, अगात्— प्राप्त हुए, अर्थात् चार मुख-वाले बने। एते— ये तीनों, शंकर, विष्णु और ब्रह्मा, विदुषाम्— विद्वानों को, मुक्तिपथम्—

मोक्ष-मार्ग को, वदन्ति– कहते हैं, अर्थात् उन्हें मोक्षमार्ग का उपदेश करते हैं, इति एतत्– यह, अत्यद्भुतम्– बड़े आश्चर्य की बात है।

भावार्थः– तात्पर्य यह है कि– लोगों ने जिन्हें देव माना है, उन्हें नाचने, सोने और स्त्री सम्बन्धी राग आने से ही फुरसत नहीं है, भला वे कैसे और क्या मोक्ष का मार्ग बताते होंगे? लेकिन फिर भी विद्वान कहे जाने वाले लोग उन्हें मोक्ष-मार्ग का उपदेष्टा मानते हैं, यह बड़ी विचित्र बात है, अगर मूर्ख, अज्ञानी, नासमझ लोग उन्हें वैसा मानते तो कोई विशेष आश्चर्य की बात न होती।

यो विश्वं वेद-वेद्यं जननजलनिधेर्भंगिनः पारदृश्वा।
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम्।।
तं वन्दे साधुवंद्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं।
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा।।९।।

अन्वयार्थ :– यः– जो, वेद्यम्– जानने योग्य, विश्वम्– जगत् को, वेद– जानता है। और जो, भङ्गिनः– नाना प्रकार के शोक, भय, पीड़ा चिन्ता, अरति, खेद आदि रूप तरंगों वाले, जननजलनिधेः– संसार-रूप समुद्र के, पारदृश्वा– पार को देख चुका है, और, यदीयम्– जिसका, पौर्वापर्याविरुद्धम– पूर्वा पर विरोध रहित है, निष्कलंकम्– निर्दोष, अनुपमम्– उपमा-रहित, वचनम्– वचन, अस्ति– है। ध्वस्तदोषद्विषन्तम्– रागादि दोष-रूपी शत्रु के नाशक, सकलगुणनिधिम्– समस्त गुणों के प्रकाशक अतः, साधुवन्द्यम्– बड़े-बड़े मुनीश्वरों द्वारा वन्द्य-वन्दनीय, तम्– उस महान् परमात्मा को, अहम्– मैं, वन्दे– वन्दना

करता हूं, नमस्कार और स्तुति करता हूं, चाहे वह, बुद्धम्– बुद्ध, वा– अथवा, वर्धमानम्– वर्द्धमान, शतदलनिलयम्– ब्रह्मा, केशवम्– विष्णु, वा– अथवा, शिवम्– महादेव कोई भी हो।

भावार्थः– तात्पर्य यह है कि– जिसमें सर्वज्ञता हो, सर्वदर्शिता हो, हितोपदेशिता हो, वीतरागता हो, वही हमारा इष्टदेव है, और उसे ही हम नमस्कार करते हैं, वह नाम से बुद्ध, वर्धमान, ब्रह्मा, विष्णु और महेश कोई भी हो, हमें नाम से कोई विवाद नहीं है।

माया नास्ति जटा–कपाल–मुकुटं चन्द्रो न मूर्धावली।
खट्वांगं न च वासुकिर्न च धनुः शूलं न चोग्रं मुखम्।।
कामो यस्य न कामिनी न च वृषो गीतं न नृत्यं पुनः।
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः सर्वत्र सूक्ष्मः शिवः।।१०।।

अन्वयार्थ :– यस्य– जिसके, माया– नाना प्रकार के रूप स्वांग बनाना, न– नहीं, अस्ति – है, जटा– जटा, कपालमुकुटम्– कपाल मुकुट, न– नहीं, अस्ति– है। चन्द्रः– चन्द्रमा, मूर्द्धावली– मूर्द्धावली, न- नहीं, अस्ति– है। खट्वांगम्– खट्वांगम्– खट्वांग अस्त्र विशेष- हथियार, न- नहीं, अस्ति– है। वासुकिः– वासुकि-सर्प, न– नहीं, अस्ति– है, च– और, धनुः– धनुष, न– नहीं, अस्ति– है, शूलम्– त्रिशूल, न– नहीं, अस्ति– है, न– और, उग्रम्– भयंकर क्रोध के कारण भयावना, मुखम्– मुख, न- नहीं, अस्ति– है, कामः– काम, न– नहीं, अस्ति– है, च– और, यस्य– जिसके, कामिनी– स्त्री, न– नहीं, अस्ति- है, च–

और, वृषः– बैल, न– नहीं, अस्ति– है, गीतम्– गीत-गान, न– नहीं, अस्ति– है, नृत्यम्– नृत्य नाचना, न– नहीं, अस्ति– है, सः– वह, निरंजनः– कर्ममल-रहित, जिनपतिः– जिनेन्द्र , सूक्ष्मः– सूक्ष्म, शिवः– शिव, सर्वत्र– सर्व जगह तीन लोकों में, अस्मान्– हम सबकी, पातु– रक्षा करें।

भावार्थः– तात्पर्य यह है कि– जिसके नाना स्वांगों को बनाना, जटाओं को धारण करना, कपाल-रूप मुकुट का धारण करना, मस्तक पर चन्द्रमा की कला को धारण करना, मस्तक पर केशावलि को रखना, हाथ में हथियार रखना, सर्प को लिपटाना, बैल पर सवारी करना, धनुष का धारण करना, शूलका रखना, भयावना मुखका बनाना, काम-वासना का होना, काम-पीड़ा के परिहार के हेतु स्त्री का रखना, रागवर्धक गाने गाना, और तदनुकूल नाचना आदि सामान्य संसारियों के समान कोई भी आचार-विचार नहीं है, किन्तु जो पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति से सम्पन्न हैं और अपने ज्ञान के परिणमन से सर्वत्र व्यापक है, ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ही वास्तविक शिव है। वह सच्चा शिव हम सबकी सदा रक्षा करे, अर्थात् उसके निर्मल गुणों की भक्ति से हम सब पाप से बचें और पुण्य में रहकर कुछ समय के पश्चात् उसे भी त्याग कर शुद्धोपयोग में स्थिर हो उन्हीं जैसे बने यही आन्तरिक रक्षा है।

नो ब्रह्माङ्कितभूतलं न च हरेः शम्भोर्न मुदाङ्कितं
नो चन्द्रार्ककराङ्कितं सुरपतेर्वज्राङ्कितं नैव च।।
षड्वक्त्राङ्कित बौद्धदेव-हुतभुग्यक्षोरगै-र्नाङ्कितं
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम्।।११।।

अन्वयार्थ :– हे वादिन:– हे ईश्वर के स्वरूप में विवाद करने वाले महानुभाव ! आप लोग, इदं– इस, जगत– संसार को, नग्नं– दिगम्बर, जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम्– वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी भगवान श्री जिनेन्द्र देव की मुद्रा से युक्त, पश्यत– देखो। ब्रह्मांकित भूतलं- ब्रह्मा से व्याप्त भूमि वाला, नो– नहीं, पश्यत्– देखो। च– और, हरे:– श्रीकृष्ण की, मुद्राङ्कितम्– मुद्रा से व्याप्त, नो– नहीं, पश्यत – देखो। शम्भो:– महादेव की, मुद्राङ्कितम्– मुद्रा से व्याप्त, नो– नहीं, पश्यत – देखो, चद्रार्ककराङ्कितम्– चन्द्रमा और सूर्य कि किरणों से व्याप्त, नो– नहीं पश्यत– देखो। सुरपते:– इन्द्र के, वज्राङ्कितम्– वज्र से व्याप्त। नो– नहीं, पश्यत– देखो। च– और षड्वक्त्राङ्कितबोद्धदेवे हुतभुग्यक्षोरगै:– गणेश, बौद्धदेव, अग्नि और यक्ष और शेषनाग से व्याप्त, नो– नहीं, पश्यत–देखो।

भावार्थ:– तात्पर्य यह है कि– जिन लोक प्रसिद्ध ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध, गणेश, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र आदि देवताओं को स्वरूप हम ऊपर लिख आये हैं, वे वस्तुत: देवत्व के योग्य नहीं हैं, यह भलीभांति स्पष्ट हो चुका है और यह भी स्पष्ट हो चुका है कि यथार्थ देव श्रीजिनेन्द्र ही हो सकता हैं, क्योंकि देवत्व के लिए जो-जो गुण अपेक्षित हैं, वे सबके सब श्री भगवान श्री जिनेन्द्र में ओत-प्रोत हैं कूट कूट के भरे हुए हैं, अत: यह संसार इन्हीं के देवत्व से ही देववाला हो सकता है, अन्य के देवत्व से नहीं। यह बात दर्पण की तरह स्वच्छ एवं निर्मल है, जो पक्षपात-रहित हृदय से विचार करेंगे, उन्हें इसकी

वास्तविकता, यथार्थता एवं परमार्थता का दृढ़ निश्चय हुए बिना नहीं रहेगा।

मौञ्जी-दण्ड-कमण्डलु-प्रभृतयो ना लांछनं ब्रह्मणो
रुद्रस्यापि जटा-कपाल-मुकुटं-कौपीन-खट्वांगना: ।।
विष्णोश्चक्र-गदादि-शंख-मतुलं बुद्धस्य रक्ताम्बरं
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्र-मुद्राङ्कितम् ।।१२।।

अन्वयार्थ :—मोञ्जीदण्डकमण्डलुप्रभृतय:— मंजू की बनी हुई रज्जु-रस्सी कमर बन्धा, दण्ड कमण्डलु- जलपात्र आदि पदार्थ, ब्रह्मण:— सत्यार्थ ब्रह्मा, लाञ्छनम्— चिन्ह, नो— नहीं, अस्ति— है, जटा कपाल मुकुटम्— जटाजूट कपाल-नर खोपड़ी का मुकुट— शिरोभूषण, कौपीनखट्वां— लंगोटी खट्वा, अस्त्र विशेष-हथियार, अंगना-स्त्री-पर्वती, रुद्रस्य— महादेव के सत्यार्थ, सच्चे महादेव के, लाञ्छनम्— चिन्ह, परिचायक, निशान, नो— नहीं, अस्ति— हैं। अतुलम्— तुलना, उपमा-रहित, चक्रगदादिशङ्खम्— सुदर्शनचक्र, गदा और शंख आदि, विष्णो:— विष्णु के सत्यार्थ विष्णुदेव के, लाञ्छनम्— चिन्ह-परिचय कराने वाले निशान, नो— नहीं, अस्ति— है, रक्ताम्बरम्— लाल वस्त्र धारण करना, बुद्धस्य— बुद्ध, यथार्थ बुद्ध देव का, लाञ्छनम्— चिन्ह पहचान करने वाला निशान, नो— नहीं, अस्ति— है। किन्तु, जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम्— श्री जिनेन्द्र देव की परम शान्त मुद्रा से चिह्नित, नग्नम्— दिगम्बर अवस्था ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश और बुद्ध का यथार्थ चिह्न है, अतएव, हे वादिन:— हे वादियों आप लोग, इदम्— इस, जगत्—

जगत्-जगत को उसी जैनेन्द्र मुद्रा से व्याप्त या चिह्न, पश्यत– देखो अन्य मुद्रा से चिन्हित नहीं।

भावार्थ:– तात्पर्य यह है कि- विभिन्न देवों के जो विभिन्न स्वरूप निश्चित किये गये हैं, वे सच्चे देव के स्वरूप से सर्वथा विपरीत हैं, जो सच्चे देव का स्वरूप है, वही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध, गणेश आदि सब देवों का है, वस्तुत: देव तो स्वरूप की अपेक्षा से एक ही है और व्यक्ति की अपेक्षा से वह अनेक भी है, अथवा उसी सच्चे देव के तो नाम ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, बुद्ध आदि हैं, जो संख्यात, असंख्यात और अनन्त तथा अनन्तानन्त हैं।

नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं।
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।।
राज्ञ: श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान्सकलान् विजित्य स घट: पादेन विस्फालित:।।१३।।

अन्वयार्थ :– मया– मुझ अकलंक ने, अहंकारवशीकृतेन– मान के वश में किये गये, मनसा– मन से, न- नहीं, द्वेषिणा– द्वेषवाले द्वेष से भरे हुए, मनसा– मन से भी, न– नहीं,। किन्तु, नैरात्म्यम्– निरात्मता को आत्मा के शून्यत्व को आत्मा कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा, प्रतिपद्य– जान कर स्वीकार करके, जने– मनुष्यों के, नश्यति– मोक्ष-मार्ग से सर्वथा भ्रष्ट होने पर, कारुण्यबुद्धया– करुणामय बुद्धि से उनके प्रति संसार सम्बंधी दु:खों की सन्तति से समुत्पन्न सन्तान को दूर करने की दयापूर्ण बुद्धि से ही, राज्ञ:– राजा, हिमशीतलस्य– हिमशीतल की, सदसि– सभा में, विदग्धात्मन:– मूढ़ अज्ञानी, मोहान्धकार से अन्धे,

सकलान्– सभी, बौद्धौघान्– बुद्ध भक्तों के समुदाय को अर्थात् जिन्हें विद्वत्ता का अभिमान था, जो अपने को अजेय मानते थे, उन सबको, विजित्य– जीत करके, सः– उस, घटः– घड़े को, पादेन– पैर से, विस्फालितः– फोड़ दिया।

खट्वांगं नैव हस्ते न च हृदि रचिता लम्बते मुण्डमाला।
भस्मांगं नैव शूलं न च गिरिदुहिता नैव हस्ते कपालं।।
चन्द्रार्द्धं नैव मूर्धन्यपि वृषगमनं नैव कण्ठे फणीन्द्रः।
तं वन्दे त्यक्तदोषं भवभयमथनं चेश्वरं देवदेवं।।१४।।

अन्वयार्थ :– यस्य– जिसके, हस्ते– हाथ पर खट्वाङ्गम्– खट्वांग अस्त्र विशेष -हथियार, न– नहीं, अस्ति– है। च– और, यस्य– जिसके, हृदि– वक्षस्थल पर, रचिता– गूंथी हुई, मुण्डमाला– मुण्डमाला, न– नहीं, अस्ति– है, लम्बते– लटक रही है। यस्य– जिसके, भस्माङ्गम्– शरीर पर राख, न– नहीं है, च– और, शूलम्– शूल, न– नहीं, अस्ति– है, गिरिदुहिता– हिमालय की पुत्री- पार्वती, न– नहीं, अस्ति– है, हस्ते– हाथ में, कपालम्– कपाल, नर खोपड़ी, न– नहीं, अस्ति– है, यस्य– जिसके, मूर्धनि– मस्तक पर, चन्द्रार्द्धम्– अर्धचन्द्र, न– नहीं, अस्ति– है, अपि– और, वृषगमनम्– बैल पर सवारी, न– नहीं, अस्ति– है, कण्ठे– कण्ठ पर, फणीन्द्रः– सर्प, नैव– नहीं, अस्ति– है, ऐसे, तम्– उस, देवदेवम्– देवाधिदेव श्री अर्हन्तदेव को, अहम्– मै, वन्दे– वन्दना या नमस्कार करता हूं, यः– जो, त्यक्तदोषम्– राग, द्वेष, मोह आदि समस्त दोषों से रहित है, भवभयमथनम्– संसार के भय का विनाशक है, ईश्वरम्– तीन लोक का एकमात्र अधीश्वर है।

भावार्थः— तात्पर्य यह है कि— जगत्प्रसिद्ध महादेव जी के विषय में जो जो परिग्रह प्रदर्शित किये गये हैं, उनमे से एक भी परिग्रह जिसके समीप में नहीं है, किन्तु जो समस्त सांसारिक दोषों से रहित हैं, और अपने तथा अपने भक्तों के संसार भय को विनष्ट कर चुका एवं करने में कारण है, अतएव जो सचमुच ही देवों का भी देव है, अर्थात् देवाधिदेव है, वह वास्तविक है, ईश्वर है, परमात्मा है, परमेश्वर है।

किं वाद्यो भगवानमेयमहिमा देवोऽकलंकः कलौ।
काले यो जनतासु धर्मनिहितो देवोऽकलंको जिनः।।
यस्य स्फार विवेक मुद्र लहरी जाले प्रमेयाकुला।
निर्मग्ना तनुतेतरां भगवती ताराशिरःकम्पनम्।।१५।।

अन्वयार्थ :— सः— वह, अकलंकः— श्री भट्ट अकलंक, देवः— देव, यः— जो, भगवान् यथार्थ तत्त्ववेत्ता है। अमेय महिमा, चारित्रादि महान गुणों की गरिमा से अपार माहात्म्यवान है, किम्— क्या, वाद्यः— वाद शास्त्रार्थ करने योग्य है, नहीं कभी नहीं। अर्थात् ऐसे लोकोत्तर ज्ञानी के साथ कौन ऐसा है? जो शास्त्रार्थ करने की हिम्मत या हिमाकत करेगा। अर्थात् कोई भी नहीं। यस्य— जिस भगवान् भट्टाकलंक देव के, स्फार विवेक मुद्रलहरीजाले— विशाल ज्ञान-रूप समुद्र की तरंगों के समूह में, निमग्न— डूबी हुई अतएव, प्रमेयाकुला— अपार प्रमेय- पदार्थों से आकुल व्याप्त भरी हुई, भगवती— भगवती श्रुत देवी ने, ताराशिरः कम्पनम्— तारादेवी के मस्तक के हिलाने की क्रिया को, तनुतेतराम्— विस्तारा और, यः— जिस भगवान श्रीभट्टाकलंकदेव ने, कलौकाले— इस कलिकाल पञ्चमकाल में, जनतासुधर्मनिहितः— जनता

को उत्तम श्रेष्ठजैन धर्म में लगाया, सः— वह, अकलङ्कः— अकलंक, मिथ्यात्वादि कलंक से रहित अतएव, जिनः— मिथ्यात्वविजेता, देवः— यहां आचार्य श्रीभट्टाकलंक देव ने उस शास्त्रार्थ का संकेत किया है, जो राजा हिमशीतल की सभा में बौद्ध विद्वानों ने छल से परदे की ओट में तारादेवी की स्थापना किसी घड़े के नीचे कर रखी थी, वही देवी ही शास्त्रार्थ कर रही थी, बौद्ध-विद्वान् नहीं। कहते हैं कि— यह शास्त्रार्थ बराबर छः मास तक चलता रहा। आचार्य श्री को भी यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसा कौन विद्वान है? जो बराबर लगातार छः मास तक मेरे साथ शास्त्रार्थ कर रहा है, जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि यह शास्त्रार्थ किसी विद्वान के साथ न होकर किसी घटस्थापित देवी से हो रहा है, तब उन्होंने उससे कहा कि— "यदुक्तम् तत्पुनरपिप्रोच्यताम्" जो आपने कहा है, वह फिर से कहिये— बस इतना कहते ही वह निश्शब्द हो गई, निरुत्तर हो गई, तब आचार्य श्री ने भीतर जाकर उस घड़े को पैर की ठोकर से फोड़ दिया, जिसके नीचे उस तारादेवी की स्थापना की गई थी। इस तरह से वह शास्त्रार्थ आचार्य श्री की पूर्ण विजय के साथ समाप्त हुआ था, जिसके प्रभाव से राजा हिमशीतल भी उनके शास्त्रार्थ से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने भी बौद्ध-मत का परित्याग कर जैन-मत की शरण ग्रहण की। कहते हैं, अन्य अनेक विद्वान् भी बौद्ध सिद्धान्त का परित्याग कर जैन सिद्धान्त के परमाराधक बने।

भावार्थः— तात्पर्य केवल इतना ही है कि आचार्य श्री ने अपने

जैन-सिद्धान्त के अपार ज्ञानसागर को छः महीने तक प्रकट कर जैनत्त्व की अमिट छाप केवल बौद्धों पर ही नहीं लगाई, बल्कि अन्य जैनेतरों पर भी। इसका एक कारण और भी हो सकता है, वह यह कि आचार्य श्री की आत्मा धर्म से ओत-प्रोत थी, उनकी आत्मा में सर्वश्रेष्ठ परम हितकारक जगदुद्धारक वीतराग धर्म ही संसार बन्धन से मुक्त करने में पूर्ण समर्थ है, अन्य नहीं। ऐसी अकाट्य श्रद्धा थी, उसी का ही उक्त प्रबल प्रभाव था, ऐसे प्रसंग में हमें एक कवि की वह मार्मिक उक्ति स्मरण हो आती है कि– "भावना भवनाशिनी" सच्ची आत्मिक भावना ही संसार के संहार करने में समर्थ है, वही भावना यदि मिथ्या-धर्म का समूल विनाश कर सत्यार्थ-धर्म को उसके स्थान पर स्थिर कर दे तो यह कोई बड़े आश्चर्य या विस्मय की बात नहीं है। यही आचार्य श्री द्वारा हुआ जो उनके पवित्रतम् भावों का ही प्रतीक है, ऐसा समझ कर हमें भी किसी के प्रति अनुचित एवं विद्वेषपूर्ण भावना नहीं रखनी चाहिए, जहां तक बन सके वहां तक पवित्र से पवित्र भाव रखना चाहिए, इसी में हमारी सच्ची भलाई है, जो हमें इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सुखी रखेगी।

सा तारा खलुदेवता भगवतीं मन्याऽपि मन्यामहे।
षण्मासावधिजाड्यसांख्यभगवद्भट्टाकलंक प्रभोः।।
वाक्कल्लोलपरंपराभिरमते नूनं मनोमज्जन-।
व्यापारं सहतेस्म विस्मितमतिः संताडितेऽतस्ततः।।१६।।

अन्वयार्थ :– भगवतीम्मन्या– अपने को भगवती-सर्वोपरिज्ञान वाली

मानने वाली, सा– वह, तारा– तारा नाम की, देवता–देवी, खलु– ऐतिहासिक घटना के अनुसार भगवान् श्री भट्टअकलंक देव के साथ, षण्मासावधि– छ: मास तक बराबर लगातार शास्त्रार्थ करती रही, तथापि, भट्टाकलंकप्रभो:– भगवान् श्री भट्टाकलंक स्वामी के, वाक्कल्लोलपरम्पराभि:– अकाट्य युक्ति युक्त तार्किक वचन रचना-रूप महान तरंगों की परम्पराओं से, सन्ताडिता– पराजय को प्राप्त हुई। अतएव जाड्यसांख्यम्– वस्तु स्वरूप से सर्वथा अपरिचित अज्ञानियों की गणना को, अगमत्– प्राप्त हुई। अज्ञानता से पराजित होने के कारण, विस्मितमति:– आश्चर्यान्वित हो, नूनम्– निश्चय से खिसियानी बिल्ली के समान, अमते– मिथ्या वस्तु-स्वरूप को सर्वथा विपरीत प्रतिपादन करने वाले, बोद्धों के एकान्त मत में ही, इतस्तत:– इधर-उधर किसी भी प्रकार से, मनोमज्जन व्यापारम्– मन को स्थिर करने की कठिनाइयों को, सहतेस्म– सहने लगी, एवम्– ऐसा, वयम्– हम मन्यामहे– मानते हैं।

भावार्थ:– तात्पर्य यह है कि– उन बौद्ध गुरुओं ने जिनके साथ भगवान श्रीअकलंकदेव का शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ था। शास्त्रार्थ में विजयी होने के हेतु जिस तारादेवी की घट में स्थापना की थी, वह तारादेवी भगवान् श्री अकलंक स्वामी के साथ लगातार छ: माह तक शास्त्रार्थ करती रही और यह भी अनुभव करती रही कि मेरा पक्ष हर दृष्टि से दुर्बल है, मैं किसी भी समय भगवान् श्री अकलंक प्रभु की दार्शनिक अखण्डनीय युक्तियों द्वारा पराजित हुए बिना न

रहूँगी, उनकी अनुपम तर्क शक्ति से समुद्भूत अश्रुत पूर्व तर्कणाओं को सुनकर वह अपने हृदय में पराजय-हार-जन्य पीड़ाओं को अनुभव करती हुई भी विस्मय के साथ परवशता को लिए हुए उसी मिथ्यामत में अर्थात् बौद्धों के क्षणिकैकान्त सिद्धान्त में ही इसलिए मन को लगाती रही कि बौद्ध गुरुओं ने मंत्र साधना द्वारा उसे स्वाधीन अपने वश में कर लिया था, इससे यह बात साफ तौर से स्पष्ट होती है कि पराधीनता प्राणी मात्र के लिए अपने पवित्रम विचारों क्री अनिच्छा पूर्वक जलांजलि दे आत्म-विनाशक पर विचारों को सहसा मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है और जघन्य असहनीय एवं अकथनीय कष्टों को सहना पड़ता है, ऐसी पराधीनता को धिक्कार है।

●

महावीराष्टक-स्तोत्रम्

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावश्चिदचित:,
समं भान्ति ध्रौव्य-व्यय-जनि-लसंतोऽन्तरहिता:।
जगत् साक्षी मार्ग-प्रकटनपरो भानुरिव यो,
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे (न:)।।१।।

उत्पति स्थित विलय आदि, पर्याय सहित बस जड़ चेतन।
जिनकी ज्ञान चेतना में, उद्भासित होते हैं क्षण-क्षण।।
पथ प्रशस्त करते जन-जग का, बनकर जो दिनकर उद्दाम।
ज्ञान दृष्टिगोचर हों ऐसे, महावीर जिन मंगल धाम।।१।।

अताम्रं यच्चक्षुः कमलयुगलं स्पन्दरहितं,
जनान्कोपापायं प्रकटयति वाऽभ्यन्तरमपि।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वाति विमला,
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे।।२।।

अचल अमल अविकार रक्तिमा वर्जित, जिनके नयन कमल।
अन्तर के अकषाय भाव को, प्रकटित करते हो अविरल।।
अन्तः शान्ति प्रतीक देह थी, जिनकी शान्त कान्त अभिराम।
ज्ञान दृष्टिगोचर हों ऐसे, महावीर जिन मंगल धाम।।२।।

नमन्नाकेन्द्राली - मुकुटमणि-भा-जाल-जटिलं,
लसत्पादाम्भोज-द्वयमिह यदीयं तनुभृतां।
भवज्ज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि,
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे।।३।।

अवनत इन्द्रों के मुकुटों की, मणियों की आभा मण्डल।
चर्चित करके चरण चिन्हों के, होता और अधिक उज्ज्वल।।
जिनके चरणों की संस्मृति से, हो प्रशान्त भव ताप तमाम।
ज्ञान दृष्टिगोचर हों ऐसे, महावीर जिन मंगल धाम।।३।।

यदर्चा-भावेन प्रमुदित-मना दर्दुर इह
क्षणादासीत्स्वर्गी गुण-गण-समृद्धः सुख-निधिः।।
लभन्ते सद्भक्ताः शिव-सुख-समाजं किमु तदा।
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे।।४।।

श्रद्धासिक्त हृदय से जिनकी, पर्युपासना को अपना।
क्षुद्रजन्तु नन्दन दर्दुर भी, दिव्य ऋद्धि का पात्र बना।।
जिनकी चरण शरण में मिलता, भक्तों को अविचल विश्राम।
ज्ञान दृष्टिगोचर हों ऐसे, महावीर जिन मंगल धाम।।४।।

कनत्स्वर्णाभासोऽप्यपगत-तनुर्ज्ञान-निवहो,
विचित्रात्माप्येको नृपति-वर-सिद्धार्थ-तनयः।।
अजन्मापि श्रीमान् विगत-भव-रागोऽद्भुतगतिः,
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे।।५।।

कंचनवर्ण शरीर कहाते, हो करके भी देह रहित।
एक तथापि अनन्त रूप, सिद्धार्थ पिता के पुत्र विदित।।
फिर भी अजन्मा ऐसा जिनका, अद्भुत जीवन चरित ललाम।
ज्ञान दृष्टिगोचर हों ऐसे, महावीर जिन मंगल धाम।।५।।

यदीया वाग्गंगा विविध-नय-कल्लोलविमला,
वृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति।।
इदानीमप्येषा बुध-जन-मरालैः परिचिता,
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे।।६।।

नयकल्लोलों में इठलाती, गंगा जैसी परम पवित्र।
ज्ञान वारि से स्नान करो जो, करती जग का शुद्ध चरित्र।।
उस वाणी के लिए विबुध जन, करते अब भी जिन्हें प्रणाम।
ज्ञान दृष्टिगोचर हों ऐसे, महावीर जिन मंगल धाम।।६।।

अनिर्वारोद्रेक स्त्रिभुवन-जयी काम-सुभटः,
कुमारावस्थायामपि निज-बलाद्येन विजितः।।
स्फुरन्नित्यानन्द-प्रशम-पद-राज्याय स जिनः,
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे।।७।।

त्रिभुवन विजयी उग्रकाम भट, जब कि सामने था आया।
उगते यौवन में भी उसका, अभिभव करके दिखलाया।।
चिदानन्दमय राज्य जिन्होंने, पाया हो करके निष्काम।
ज्ञान दृष्टिगोचर हों ऐसे, महावीर जिन मंगल धाम।।७।।

महामोहातंक-प्रशमन-परा-कस्मिक-भिषक्-
निरापेक्षो बन्धुर्विदित-महिमा मङ्गलकरः।।
शरण्यः साधूनां भव-भयभृतामुत्तमगुणो,
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे।।८।।

महा मोह का रोग मिटानेवाले, जग में वैद्य प्रवर।
विश्वबन्धुता के नाते से, बन्धु सभी के मंगल कर।।
जो संसार भीत सन्तों के, शरणस्थल रहते अविराम।
ज्ञान दृष्टिगोचर हों ऐसे, महावीर जिन मंगल धाम।।८।।

महावीराष्टकं स्तोत्रं, भक्त्या भागेन्दुना कृतम्।
यः पठेच्छृणुयाच्चापि, स याति परमां गतिम्।।९।।

भागचन्द्र कवीन्द्र ने जो देववाणी में रचा।
वीर अष्टक स्तोत्र मुझको परम सुखकारी जचा।।
तुच्छ-सा जन भारती में उसका यह अनुवाद है।
इसमें मेरा कुछ नहीं, उनका ही पुण्य प्रसाद है।।

●

दृष्टाष्टक स्तोत्रम्

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि।
भव्यात्मनां विभव- संभव-भूरिहेतु।।
दुग्धाब्धि-फेन-धवलोज्ज्वल-कूटकोटी।
नद्ध-ध्वज- प्रकर-राजि- विराजमानम्।।१।।

आज मैंने जो भव्य जीवों के ताप को हरने वाला है, जो अपरिमित विभव की उत्पत्ति का हेतु है और जो दूध तथा समुद्र-फेन के समान

धवलोज्ज्वल शिखर के कगूंरों में लगे हुए ध्वज-पंक्ति से शोभायमान है, ऐसे जिनालय के दर्शन किये।

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भुवनैकलक्ष्मी-।
धामर्द्धिवर्द्धित महामुनि सेव्यमानम्।।
विद्याधरामर- वधूजन- मुक्तदिव्य।
पुष्पाञ्जलि-प्रकर-शोभित-भूमिभागम्।।२।।

आज मैंने जो तीन लोक की लक्ष्मी का एक आश्रय है, जो ऋद्धि सम्पन्न महा मुनियों से सेव्यमान है और जहां की भूमि विद्याधरों और देवों की वधूजनों के द्वारा बिखेरी गई दिव्य पुष्पांजलि के कारण शोभायमान हो रही है, ऐसे जिनेन्द्र भवन के दर्शन किये।

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवनादिवास-।
विख्यात-नाक-गणिका-गण-गीयमानम्।।
नानामणि-प्रचय-भासुर-रश्मिजाल-।
व्यालीढ-निर्मल-विशाल-गवाक्षजालम्।।३।।

आज मैंने जहां पर भवनवासी आदि देवों की गणिकाएँ गान कर रही हैं और जिसके विशाल गवाक्षजाल नाना प्रकार के मणियों की देदीप्यमान कान्ति से कर्वुरित हो रहे हैं, ऐसे जिनेन्द्र भवन के दर्शन किये।

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं सुर-सिद्ध-यक्ष-।
गन्धर्व-किन्नर-करार्पित-वेणु-वीणा:।।
संगीत-मिश्रित-नमस्कृत-धीरनादै-।
रापूरिताम्बर-तलोरु-दिगन्तरालम्।।४।।

आज मैंने जहां का दिगन्तराल देव, सिद्ध, यक्ष, गन्धर्व और किन्नरों के द्वारा हाथ में वेणुनिर्मित वीणा लेकर नमस्कार करते समय किये गये संगीतनाद से आपूरित हो रहा है, ऐसे जिनेन्द्र भवन के दर्शन किये।

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं विलसद्विलोल-।
मालाकुलालि-ललितालक- विभ्रमाणम्।।
माधुर्यवाद्य-लय-नृत्य-विलासिनीनां।
लीला-चलद्वलय-नूपुर-नाद-रम्यम्।।५।।

आज मैंने जो हिलती हुई सुन्दर मालाओं में आकुल हुए भ्रमरों के कारण ललित अलकों की शोभा को धारण कर रहा है और जो मधुर शब्द युक्त, वाद्य और लय के साथ नृत्य करती हुई वीराङ्गनाओं की लीला से हिलते हुए वलय और नूपुर के नाद से रमणीय प्रतीत होता है, ऐसे जिनेन्द्र भवन के दर्शन किये।

दृष्टं जिनेन्द्र भवनं मणि-रत्न-हेम-।
सारोज्ज्वलै: कलश-चामर-दर्पणाद्यै:।।
सन्मंगलै: सततमष्टशत- प्रभेदै-।
र्विभ्राजितं विमल- मौक्तिक-दामशोभम्।।६।।

आज मैंने जो मणि, रत्न और स्वर्ण से निर्मित एक सौ आठ प्रकार के कलश, चामर और दर्पण आदि समीचीन मङ्गल द्रव्यों से शोभित हो रहा है और जो निर्मल मौक्तिक मालाओं से सुशोभित है ऐसे जिनेन्द्रदेव के दर्शन किये।

दृष्टं जिनेन्द्र भवनं वरदेवदारु-।
कर्पूर- चन्दन-तरुष्क- सुगन्धि धूपै:।।

मेघाय मान गगने पवनाभिघात-।
चञ्चलद्विमल-केतन-तुङ्ग-शालम्।।७।।

आज मैनें जहां तक उत्तुङ्ग शाल उत्तम प्रकार के देवदारु, कपूर, चन्दन और तरुष्क आदि सुगन्धित द्रव्यों से बने हुए सुगन्धित धूप से निकले हुए धूम्र के कारण मानो आकाश में मेघ ही छाये हों, इस प्रकार की विचित्र शोभा को लिये हुए पवन के अभिघात से हिलती हुई पताकाओं से युक्त हो रहा है, ऐसे जिनेन्द्र भवन के दर्शन किये।

दृष्टं जिनेन्द्र भवनं धवलातपत्र-।
च्छाया - निमग्न- तनु- यक्षकुमार- वृन्दैः।।
द्वोधूयमान- सित- चामर- पंक्तिभासं।
भामण्डल-द्युतियुत- प्रतिमाभिरामम्।।८।।

आज मैंने धवल आतपत्र की छाया में लीन हुए यक्ष-कुमारों के कारण जो ढुरते हुए शुक्ल चामरों की पंक्ति की शोभा को धारण करता है और जो भामण्डल की द्युति से युक्त प्रतिमाओं के कारण अत्यन्त अभिराम लग रहा है, ऐसे जिनेन्द्र भवन के दर्शन किये।

दृष्टं जिनेन्द्र भवनं विविधप्रकार-।
पुष्पोपहार- रमणीय- सुररत्नभूमि।।
नित्यं बसन्त तिलक श्रियमादधानं,।
सन्मंगलं सकल-चन्द्रमुनीन्द्र- वन्द्यम्।।९।।

आज मैंने नाना प्रकार के पुष्पों के उपहार के कारण जहां की सुन्दर रत्नभूमि रमणीय लग रही है, जो निरन्तर बसंत ऋतु में तिलक वृक्ष की शोभा को धारण करता है, जो सर्वोत्तम मंगल रूप है और जो समस्त श्रेष्ठ मुनिगणों के द्वारा वन्दनीय है, ऐसे जिनेन्द्र भवन के दर्शन किये।

दृष्टं मयाद्य मणि-काञ्चन-चित्र-तुङ्ग-।
सिंहासनादि-जिनबिम्ब-विभूतियुक्तम्।।
चैत्यालयं यदतुलं परिकीर्तितं मे,
सन्मंगलं सकल-चन्द्रमुनीन्द्र-वन्द्यम्।।१०।।

आज मैंने जो मणि और काञ्चन के कारण विचित्र शोभा को लिए हुए उत्तुङ्ग सिंहासन आदि विभूति से युक्त जिनबिम्ब से शोभायमान हो रहा है, जिसकी निरुपम कीर्ति गाई जाती है, जो मेरे लिए मंगल स्वरूप है और जो समस्त श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा वन्दनीय है, ऐसे जिनचैत्यालय के दर्शन किये।

●

स्वयम्भू स्तोत्र

श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्य-विरचित

चतुर्विंशति-जिन-स्तवनात्मक

1. श्रीवृषभ-जिन-स्तवन

स्वयम्भुवा भूत- हितेन भूतले।
समञ्जस-ज्ञान-विभूति-चक्षुषा।।
विराजितं येन विधुन्वता तमः।
क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः।।१।।

'जो स्वयम्भू थे- स्वयं ही, बिना किसी दूसरे के उपदेश के मोक्षमार्ग को जानकर तथा उसका अनुष्ठान करके आत्म-विकास

को प्राप्त हुए थे, प्राणियों के हित की– संसारी जीवों के आत्मकल्याण की, भावना एवं परिणति से युक्त साक्षात् भूतहित की मूर्ति थे, सम्यग्ज्ञान की विभूतिरूप– सर्वज्ञतामय (अद्वितीय) नेत्र के धारक थे, और अपनी गुणसमूहरूप- किरणों से- आबाधितत्व और यथावस्थित अर्थ प्रकाशकत्व आदि गुणों के समूहवाले वचनों से, अन्धकार को– जगत् के भ्रान्ति एवं दुःख-मूलक अज्ञान को, दूर करते हुए, पृथ्वीतल पर ऐसे शोभायमान होते थे जैसे कि अपनी अर्थ-प्रकाशकत्वादि गुण विशिष्ट किरणों से रात्रि के अन्धकार को दूर करता हुआ पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है।'

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः।
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।।
प्रबुद्ध तत्त्वः पुनरद्भुतोदयो।
ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः।।२।।

'जिन्होंने – (वर्तमान अवसर्पिणी काल के), प्रथम प्रजापति के रूप में (देश, काल और प्रजा-परिस्थिति के तत्त्वों को अच्छी तरह से जानकर,) जीने की– जीवनोपाय की जानने की, इच्छा रखने वाले प्रजाजनों को सबसे पहले कृषि आदि कर्मों में शिक्षित किया– उन्हें खेती करना, शस्त्र चलाना, लेखन-कार्य करना, विद्या-शास्त्रों को पढ़ना, दस्तकारी करना तथा खनिज-व्यापार करना सिखलाया, और फिर हेयोपादेय तत्त्व का विशेष ज्ञान प्राप्त करके आश्चर्य कारी उदय– (उत्थान अथवा प्रकाश), को प्राप्त होते हुए जो ममत्व से ही विरक्त हो गये– प्रजाजनों, कुटुम्बीजनों, स्वशरीर तथा भोगों से ही जिन्होंने ममत्व बुद्धि (आसक्ति) को हटा लिया और इस तरह जो तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ हुए।

विहाय यः सागर-वारि-वाससं।
वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम्।।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु- कुलादिरात्मवान्।
प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।।३।।

जो मुमुक्षु थे– मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले अथवा संसार समुद्र से पार उतरने के अभिलाषी थे, आत्मवान् थे– इन्द्रियों को स्वाधीन रखने वाले आत्मवशी थे और – (इसलिए), प्रभु थे- स्वतन्त्र थे। ज़िन– विरक्त हुए, इक्ष्वाकु-कुल के आदि पुरुष ने, सति वधू को– अपने ऊपर एक निष्ठा से प्रेम रखने वाली सुशीला महिला को, और उसी तरह इस सागर-वारि-वासना वसुधावधू को- सागर का जल ही है वस्त्र जिसका ऐसी स्वभोग्या समुद्रान्त पृथ्वी को भी, जो कि – युग की आदि में, सती-सुशीला थी– अच्छे सुशील पुरुषों से आबाद थी. त्याग करके दीक्षा धारण की। (दीक्षा धारण करने के अनन्तर,) जो सहिष्णु हुए– भूख-प्यास आदि की परीषहों के सहने में समर्थ हुए, और– इसलिए अच्युत रहे– अपने प्रतिज्ञान (प्रतिज्ञारूप परिणत) व्रत नियमों से चलायमान नहीं हुए। (जबकि दूसरे कितनी ही मातहत राजा, जिन्होंने स्वामिभक्ति से प्रेरित होकर आपके देखा देखी दीक्षा ली थी, मुमुक्षु, आत्मवान् प्रभु तथा सहिष्णु न होने के कारण, अपने प्रतिज्ञात व्रतों से च्युत और भ्रष्ट हो गये थे।)'

स्व-दोष-मूलं स्व- समाधि-तेजसा।
निनाय यो निर्दय- भस्मसात्क्रियाम्।।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा।
बभूव च ब्रह्म पदाऽमृतेश्वरः।।४।।

'(तपश्चरण करते हुए) जिन्होंने अपने आत्मदोषों के- आत्म सम्बन्धी राग-द्वेष काम-क्रोधादि विकारों के, मूल कारण को- घातिकर्म चतुष्टय को, अपने समाधि-तेजसे- शुक्लध्यानरूपी प्रचण्ड अग्नि से, निर्दयतापूर्वक पूर्णतया भस्मीभूत कर दिया। तथा- (ऐसा करने के अनन्तर)' जिन्होंने तत्त्वाभिलाषी जगत को तत्त्व का सम्यक् उपदेश दिया- जीवादि तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप बतलाया। और - (अन्त को), जो ब्रह्मपदरूपी अमृतके- स्वामिस्थितिरूप मोक्ष दशा में प्राप्त होने वाले अविनाशी अनन्त सुख के, ईश्वर हुए- स्वामी बने।'

स विश्व-चक्षुर्वृषभोर्चितः सतां।
समग्र-विद्याऽऽत्म वपुर्निरञ्जनः।।
पुनातु चेतो मम नाभि- नन्दनो।
जिनोऽजित क्षुल्लक-वादि-शासनः।।५।।

'(इस तरह) जो सम्पूर्ण कर्म-शत्रुओं को जीतकर, 'जिन' हुए, जिनका शासन क्षुल्लकवादियों के- अनित्यादि सर्वथा एकान्त पक्ष का प्रतिपादन करने वाले प्रवादियों के, द्वारा अजेय था, और सर्वदर्शी हैं, सर्वविद्यात्मशरीरी हैं- पुद्गलपिण्डमय शरीर के अभाव में जीवादि सम्पूर्ण पदार्थों को अपना साक्षात् विषय करने वाली केवलज्ञान रूप पूर्णविद्या (सर्वज्ञता) ही जिनका आत्मशरीर है, जो सत्पुरुषों से पूजित हैं, और निरंजन पद को प्राप्त हैं- ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म तथा राग-द्वेषादि भावकर्म रूपी त्रिविध कर्म-कालिमा से सर्वथा रहित होकर आवागमन से विमुक्त हो चुके हैं, वे (उक्त गुण विशिष्ट), नाभिनन्दन- चौदहवें कुलकर मनु) श्री नाभिराय के पुत्र श्री वृषभदेव- धर्मतीर्थ के आद्य-प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ भगवान्, मेरे अन्तः करण को पवित्र करें- उनके स्तवन एवं स्वरूप

चिन्तन के प्रसाद से मेरे हृदय की कलुषित तथा मलिन करने वाली कषाय भावनाएं शान्त हो जायं।

2. श्री अजित जिन-स्तवन

यस्य प्रभावात् त्रिदिव- च्युतस्य।
क्रीड़ास्वपि क्षीवमुखाऽरविन्दः।।
अजेय शक्तिर्भुवि बन्धु-वर्ग।
श्चकार नामाऽजित इत्यबन्ध्यम्।।१।।

'जो देवलोक से अवतरित हुए थे और इतने प्रभावशाली थे कि उनकी क्रीड़ाओं में -बाल-लीलाओं में भी उनका बन्धुवर्ग-कुटुम्ब समूह, हर्षोन्मत्त मुख कमल हो जाता था, तथा जिनके माहात्म्य से वह बन्धुवर्ग पृथ्वी पर अजेय शक्ति का धारक हुआ– उसे कोई भी जीत नहीं सका, और– (इसलिए), उस बन्धुवर्ग से जिनका 'अजित' ऐसा सार्थक अथवा अन्वर्थक नाम रखा।

अद्याऽपि यस्याऽजितशासनस्य।
सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम्।।
प्रगृह्यते नाम परम- पवित्रं।
स्वसिद्धि-कामेन जनेन लोके।।२।।

जिनका शासन– अनेकान्तमत, अजेय था– सर्वथा एकान्तमतावलम्बी परवादीजन जिसे जीतने में असमर्थ थे, और जो सत्पुरुषों के- भव्यजनों के प्रधान नेता थे– उन्हें आत्मकल्याण के समीचीन मार्ग में प्रवृत्त करने वाले थे, उन अजित तीर्थङ्कर का परम पवित्र– पाप-क्षयकारक औरा पुण्यवर्धक, नाम आज भी– असंख्यात काल बीत जाने पर भी, लोक में अपनी इष्टसिद्धि-रूप विजय के

इच्छुक जनसमूह के द्वारा प्रत्येक मंगल के लिए– अपनी किसी भी इष्टसिद्धि के निमित्त, सादर ग्रहण किया जाता है– भव्यजनों की दृष्टि में वह बराबर महत्त्व पूर्ण बना हुआ है।

यः प्रादुरासीत्प्रभु- शक्ति भूम्ना।
भव्याऽऽशयालीन- कलङ्क- शान्त्यै।।
महा मुनि र्मुक्त- घनोपदेहो।
यथाऽरविन्दाऽभ्युदयाय भास्वान्।।३।।

घातिया कर्मों के आवरणादि-रूप उपलेप से मुक्त जो महामुनि (गणधरादि -मुनियों के अधिपति), भव्यजनों के हृदयों में संलग्न हुए कलंकों की– अज्ञानादि -दोषों तथा उनके कारणीभूत ज्ञानावरणादि -कर्मों की, शान्ति के लिए– उन्हें समूल नष्टकर भव्यजनों का आत्म-विकास सिद्धि करने के लिए, जगत् का उपकार करने में समर्थ अपनी वचनादि भक्ति की सम्पत्ति के साथ उसी प्रकार प्रादुर्भूत हुए जिस प्रकार कि मेघों के आवरण से मुक्त हुआ सूर्य कमलों के अभ्युदय के लिए– उनके अन्तः अन्धकार को दूर कर उन्हें विकसित करने के लिए, अपनी प्रकाशमय समर्थ शक्ति-सम्पत्ति के साथ प्रकट होता है।

येन प्रणीतं पृथु धर्म-तीर्थं
ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम्।।
गाङ्गं ह्रदं चन्दन पङ्क- शीतं।
गज- प्रवेका इव घर्म- तप्ताः।।४।।

(उक्त प्रकार से प्रादुर्भूत होकर), जिन्होंने उस धर्म-तीर्थ का– सम्यग्दर्शनादि- रत्नत्रय- उत्तमक्षमादि-दशलक्षण और सामायिकादि पञ्च प्रकार चारित्र धर्म के प्रतिपादक आगम-तीर्थ का, प्रणयन किया–

प्रकाशन किया, जो महान हैं– सम्पूर्ण पदार्थों के स्वरूप-प्रतिपादन की दृष्टि से विशाल हैं, ज्येष्ट हैं– समस्त धर्म-तीर्थों में प्रधान हैं, और जिसका आश्रय पाकर भव्यजन (संसार-परिभ्रमण-जन्य) दुःख सन्ताप पर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं– उससे छूट जाते हैं, जिस प्रकार की ग्रीष्मकालीन सूर्य के आताप से सन्तप्त हुए बड़े-बड़े हाथी चन्दन लेप के समान शीतल गङ्गाद्रह को प्राप्त होकर अथवा गंगा के अगाध जल में प्रवेश करके सूर्य के आतापजन्य दुःख को मिटा डालते हैं।

स ब्रह्मनिष्ठः सम-मित्र-शत्रु-।
विंद्या-विनिर्वान्र्त-कषाय-दोषः।।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा।
जिन-श्रियं मे भगवान् विधत्ताम्।।५।।

जो ब्रह्मनिष्ठ थे– अनन्य-श्रद्धा के साथ आत्मा में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा किये हुए थे, (इसी से) सम-मित्र-शत्रु थे– मित्र और शत्रु में कोई भेद-भाव न करके उन्हें आत्मदृष्टि से समान अवलोकन करते थे, आत्मीय कषाय-दोषों को जिन्होंने सम्यग्ज्ञानाऽनुष्ठान रूप विद्या के द्वारा पूर्णतया नष्ट कर दिया था– आत्मा से उनके आधिपत्य को बिल्कुल हटा दिया था, (और इसी से) जो लब्धात्म लक्ष्मी हुए थे– अनन्तज्ञानादि आत्मलक्ष्मी-रूप जिनश्री को जिन्होंने पूर्णतया स्वाधीन किया था, (इस प्रकार के गुणों से विभूषित) वे अजितात्मा– इन्द्रियों के अधीन न होकर आत्मस्वरूप में स्थित, भगवान् अजितजिन मेरे लिए जिन-श्री का– शुद्धात्म-लक्ष्मी की प्राप्ति का, विधान करें। अर्थात् मैं, उनके आराधन-भजन द्वारा उन्हीं का आदर्श सामने रख कर, अपनी आत्मा को कर्म-बन्धन से छुड़ाता हुआ पूर्णतया स्वाधीन करने में समर्थ होऊं, और इस तरह जिन- श्री को प्राप्त करने में मेरे सहायक बनें।'

३. श्रीशम्भव-जिन-स्तवन

त्वं शम्भवः सम्भव-तर्ष-रोगैः।
सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके।।
आसीरिहाऽऽकस्मिक एव वैद्यो।
वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै।।१।।

हे, शम्भव-जिन ! सांसारिक तृष्णा रोगों से प्रपीड़ित जन समूह के लिए आप इस लोक में उसी प्रकार आकस्मिक वैद्य हुए हैं जिस प्रकार कि अनाथों के– द्रव्यादि-सहाय-विहीनों के– रोगों की शान्ति के लिए कोई चतुर वैद्य अचानक आ जाता है– और अपने लिए चिकित्सा के फलस्वरूप धनादि की कोई अपेक्षा न रखकर उन गरीबों की चिकित्सा करके उन्हें निरोग बनाने का पूर्ण प्रयत्न करता है।

अनित्यमत्राणमहं क्रियाभिः।
प्रसक्त-मिथ्याऽध्यवसाय- दोषम्।।
इदं जगज्जन्म-जराऽन्तकार्त्तं।
निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम्।।२।।

यह (दृश्यमान) जगत्, जो कि अनित्य है, अशरण है, अहंकार-ममकारी क्रियाओं के द्वारा संलग्न मिथ्या अभिनिवेश के दोष से दूषित है और जन्म-जरा-मरण से पीड़ित है, उसको (हे सम्भवजिन !) आपने निरञ्जनां– कर्म- मल के उपद्रव से रहित मुक्ति स्वरूप– शान्ति की प्राप्ति कराई है– उसे उस शान्ति के मार्ग पर लगाया है जिसके फलस्वरूप कितनों ने ही चिर-शान्ति की प्राप्ति की है।

शतह्रदोन्मेष- चलं हि सौख्यं।
तृष्णाऽऽमयाऽप्यायन- मात्र- हेतुः।।

तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं ।
तापस्तदायास यतीत्यवादी: ।।३ ।।

आपने पीड़ित जगत को उसके दु:ख का यह निदान बतलाया है कि – इन्द्रिय-विषय-सुख बिजली की चमक के समान चंचल है– क्षणभर भी स्थिर रहने वाला नहीं है– और तृष्णारूपी रोग की वृद्धि का एकमात्र हेतु है– इन्द्रिय-विषयों के सेवन से तृप्ति न होकर उलटी तृष्णा बढ़ जाती है– तृष्णा की अभिवृद्धि निरन्तर ताप उत्पन्न करती है और वह ताप जगत को (कृषि-वाणिज्यादि कर्मों में प्रवृत्त कराकर) अनेक दु:ख-परम्परा से पीड़ित करता रहता है।

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू ।
बुद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्ते: ।।
स्याद्वादिनो नाथ ! तवैव युक्तं ।
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ।।४ ।।

बन्ध, मोक्ष, बन्ध और मोक्ष के कारण, बद्ध और मुक्त तथा मुक्तिका फल, इन सब बातों की व्यवस्था हे नाथ ! आप स्याद्वादी अनेकान्तदृष्टियों के मत में ही ठीक बैठती है– सर्वथा एकान्तवादियों के – मतों में नहीं। अतएव आप ही 'शास्ता'– तत्त्वोपदेष्टा– हैं। दूसरे कुछ मतों में ये बाते जरूर पाई जाती हैं, परन्तु कथनमात्र हैं, एकान्त-सिद्धान्त को स्वीकृत करने से उनके यहां बन नहीं सकती, और इसलिए उनके एकान्तदृष्टि में ठीक अर्थ में शास्ता नहीं कहे जा सकते।'

शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्ते: ।
स्तुत्यां प्रवृत्त: किमु मादृशोऽज्ञ: ।।
तथाऽपि भक्त्या स्तुत-पाद-पद्मो ।
ममार्य ! देया: शिवतातिमुच्चै: ।।५ ।।

हे आर्य ! —गुणों तथा गुणवानों के द्वारा सेव्य सम्भव जिन ! —आप पुण्यकीर्ति हैं— आपकी कीर्ति-ख्याति तथा जीवादि पदार्थों का कीर्तन- प्रतिपादन करने वाली वाणी पुण्या- प्रशस्ता है- निर्मल है— आपकी स्तुति में प्रवृत्त हुआ शक्र— अवधिज्ञानादि की शक्ति से सम्पन्न इन्द्र— भी अशक्त रहा है— पूर्णरूप से स्तुति करने में समर्थ नहीं हो सका है— फिर मेरे जैसा अज्ञानी— अवधि आदि विशिष्टज्ञान रहित प्राणी— तो कैसे समर्थ हो सकता है? परन्तु असमर्थ होते हुए भी मेरे द्वारा आपके पदकमल भक्तिपूर्वक- पूर्ण अनुराग के साथ— स्तुति किये गये हैं। अत: आप मुझे ऊंचे दर्जे की शिवसन्तति प्रदान करें अर्थात्त मेरे लिए ऊंचे दर्जे की शिवसन्तति- कल्याण परम्परा - देय है। मैं उसको प्राप्त करने का पात्र हूं, अधिकारी हूं।

4. श्रीअभिनन्दन-जिन-स्तवन

गुणाऽभिनन्दादभिनन्दनो भवान्।
दया-वधूं क्षान्ति-सखीमशिश्रियत्।।
समाधि- तन्त्रस्तदुपोपपत्तये।
द्वयेन नैर्ग्रन्थ्य- गुणेन चाऽयुजत्।।१।।

हे अभिनन्दन जिन ! गुणों की अभिवृद्धि से— आपके जन्म लेते ही लोक में सुख-सम्पत्यादिक गुणों के बढ़ जाने से— आप 'अभिनन्दन, इस सार्थक संज्ञा को प्राप्त हुए हैं। आपने क्षमा-सीख वाली दयावधु को अपने आश्रय में लिया है— दया और क्षमा दोनों को अपनाया है— और समाधि के— शुक्लध्यान के लक्ष्य को लेकर उसकी सिद्धि के लिए आप उभय प्रकार के निर्ग्रन्थत्व के गुण से युक्त हुए हैं। आपने बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग किया है।

अचेतने तत्कृत - बन्धजेऽपि च।
ममेदमित्याभिनिवेशिक - ग्रहात्।।
प्रभंगुरे स्थावर - निश्चयेन च।
क्षत्तं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान्।।२।।

अचेतन-शरीर में और शरीर सम्बन्ध से अथवा शरीर के साथ किया गया आत्मा का जो कर्मवश बन्ध है उससे उत्पन्न होने वाले सुख दुःखादिक तथा स्त्री- पुत्रादिक में 'यह मेरा है-मैं इसका हूं इस प्रकार के अभिनिवेश (मिथ्या अभिप्राय) को लिये हुए होने से तथा क्षणभंगुर पदार्थों में स्थायित्व का निश्चय कर लेने के कारण जो जगत् नष्ट हो रहा है– आत्मसहित-साधन से विमुख होकर अपना अकल्याण कर रहा है, उसे (हे अभिनन्दन जिन !), आपने तत्त्व का ग्रहण कराया है– जीवादि-तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को बतला कर सन्मार्ग पर लगाया है।

क्षुदादि दुःख प्रतिकारतः स्थिति।
र्न चेन्द्रियार्थ प्रभवाऽल्प सौख्यतः।।
ततो गुणो नास्ति च देह देहिनो।
रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत्।।३।।

क्षुधादि दुःखों के प्रतिकार से- भूख-प्यास आदि की वेदना को मिटाने के लिए भोजन-पानादि का सेवन करने से, और इन्द्रिय-विषय-जनित स्वल्प सुख के अनुभव से देह और देहधारी का सुखपूर्वक सदा अवस्थान नहीं बनता– थोड़ी ही देर की तृप्ति के बाद भूख-प्यासादिक की वेदना फिर उत्पन्न हो जाती है और इन्द्रिय-विषयों के सेवन की लालसा अग्नि में ईंधन के समान तीव्रतर होकर पीड़ा उत्पन्न करने लगती है। ऐसी हालत में क्षुधादि दुःखों

के इस क्षणस्थायी प्रतिकार और इन्द्रिय विषय- जन्य स्वल्प सुख के सेवन से न तो वास्तव में इस शरीर का कोई उपकार बनता है और न शरीरधारी आत्मा का ही कुछ भला होता है, इस प्रकार की विज्ञापना हे भगवन्! आपने इस (भ्रम के चक्कर में पड़े हुए) जगत् को की है– उसे तत्त्व का ग्रहण कराते हुए रहस्य की यह सब बात समझाई है, जिससे आसक्ति छूट कर परम कल्याणकारी अनासक्त योग की ओर प्रवृत्ति हो सके।

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो।
भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते।।
इहाऽप्यमुत्राऽप्यनुबन्धदोषवित्।
कथं सुखे संसजतीति चाऽब्रवीत्।।४।।

आपने जगत् को यह भी बतलाया है कि अनुबन्ध (आसक्ति) दोष से परमासक्ति के वश, विषय-सेवन में अति लोलुपी हुआ भी मनुष्य इस लोक में राजदण्डादि का भय उपस्थित होने पर अकार्यों में- पर स्त्री सेवनादि जैसे कुकर्मों में, प्रवृत्त नहीं होता, फिर जो मनुष्य इस लोक तथा परलोक में होने वाले विषयासक्ति के दोषों को- भयंकर परिणामों को, भले प्रकार जानता है, वह कैसे विषय-सुख में आसक्त हो सकता है? नहीं हो सकता। अत्यासक्ति के इस लोक और परलोक सम्बन्धी भयंकर परिणामों का स्पष्ट अनुभव न होना ही विषय-सुख में आसक्ति का कारण है। अत: अनुबन्ध के दोष को जानना चाहिए।'

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्।
तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः।।
इति प्रभो ! लोक-हितं यतो मतं।
ततो भवानेव गतिः सतां मतः।।५।।

हे प्रभो! वह अनुबन्ध– आसक्तपन, और (विषय-सेवन से उत्पन्न होने वाली) तृष्णा की अभिवृद्धि- उत्तरोत्तर विषय-सेवन की आकांक्षा, इस लोलुपी प्राणी के लिए तापकारी (कष्टप्रद) है– इच्छित वस्तु के न मिलने पर उसकी प्राप्ति के लिए और मिल जाने पर उसके संरक्षणादि के अर्थ सन्ताप की परम्परा बराबर चालू रहती है– दु:ख की जननी चिन्ताएँ आकुलताएं सदा घेरे रहती हैं। संताप परम्परा के बराबर चालू रहने से प्राप्त हुए थोड़े से इन्द्रिय-विषय सुख से इस प्राणी की स्थिति सुख पूर्वक नहीं बनती। इस प्रकार लोकहित के प्रतिपादन को लिए हुए चूंकि आपका मत है– शासन है, इसलिए हे अभिनन्दन प्रभु ! आप ही जगत् के शरणभूत हैं, ऐसा सत्पुरुषों ने- मुक्ति के अर्थी विवेकी जनों ने माना है।

5. श्री सुमति-जिन स्तवन

अन्वर्थ संज्ञः सुमति र्मुनि स्त्वं।
स्वयं मतं येन सुयुक्ति- नीतम्।।
यतश्चशेषेषु मतेषु नास्ति।
सर्व- क्रिया- कारक- तत्त्व-सिद्धि।।१।।

हे सुमति मुनि ! आपकी सुमति (श्रेष्ठ-सुशोधन मति) यह संज्ञा अन्वर्थक है– आप यथा नाम तथा गुण हैं– क्योंकि एक तो आपने स्वयं ही बिना किसी के उपदेश के– सुयुक्तिनीत तत्त्व को माना है– उस अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व को अंगीकार किया है जो अकाट्य युक्तियों के द्वारा प्रणीत और प्रतिष्ठित है– दूसरे आपके (अनेकान्त) मत से भिन्न जो शेष एकान्त मत है उनमें सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्त्ता, कर्म, करण आदि कारकों के तत्त्व की सिद्धि– उनके स्वरूप की उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति– नहीं बनती। (कैसे नहीं बनती, यह बात,

सुयुक्तिनीत तत्त्व' को स्पष्ट करते हुए अगली कारिकाओं में बतलाई गई है।

अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं।
भेदाऽन्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्।।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे।
तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम्।।२।।

वह सुयुक्तिनीत वस्तुतत्त्व भेदाऽभेद-ज्ञान का विषय है और अनेक तथा एकरूप है– भेदज्ञान की पर्याय की- दृष्टि से अनेकरूप हैं तो वही अभेदज्ञान की द्रव्य की दृष्टि से एकरूप हैं– और यह वस्तु को भेद-अभेद रूप से ग्रहण करने वाला ज्ञान ही सत्य है– प्रमाण है। जो लोग इनमें से एक को ही सत्य मानकर दूसरे में उपचार का व्यवहार करते है। वह मिथ्या हैं क्योंकि (दोनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होने से) दोनों में से एक का अभाव मानने पर दूसरे का भी अभाव हो जाता है। दोनों का अभाव हो जाने से वस्तुतत्त्व अनुपाख्य- नि:स्वभाव हो जाता है– और तब वह न तो एकरूप रहता है और न अनेकरूप। स्वभाव का अभाव होने से उसे किसी रूप में कह नहीं सकते, और इससे सम्पूर्ण व्यवहार का ही लोप ठहरता है।

सत: कथंचित्तदसत्त्व-शक्ति:।
खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्।।
सर्व-स्वभाव च्युतमप्रमाणं।
स्व वाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत्।।३।।

जो सत् है– स्वद्रव्य - क्षेत्र-काल भाव से सत् है– उसके कथंचित असत्त्वशक्ति भी होती है– परद्रव्य-क्षेत्रकाल- भावकी अपेक्षा वह असत् है– जैसे, पुष्प वृक्षों पर तो अस्तित्व को लिए हुए प्रसिद्ध है परन्तु

आकाश पर उसका अस्तित्व नहीं है, आकाश की अपेक्षा वह असत्-रूप है- यदि पुष्प-वस्तु सर्वथा सत्रूप हो तो आकाश के भी पुष्प मानना होगा ओर यदि सर्वथा असत् रूप हो तो वृक्षों पर भी उसका अभाव कहना होगा। परन्तु यह मानना और कहना दोनों ही प्रतीति के विरुद्ध होने से ठीक नहीं है। इस पर से यह फतिल होता है कि वस्तु-तत्त्व कथंचित् सत्रूप और कथंचित् असत्रूप है– स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा जहां सत् स्वरूप है वहां पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा असत् रूप भी है। किसी भी वस्तु के स्वरूप की प्रतिष्ठा उस वक्त तक नहीं बन सकती जब तक कि उसमें से पररूप का निषेध न किया जाये। आम्रफल को अनार, सन्तरा या अंगूर क्यों नहीं कहते? इसलिए न कि उसमें अनारपन, सन्तरापन, तथा अंगूरपन नहीं है– वह अपने में उनके स्वरूप का प्रतिषेधक है जो अपने में पररूप का प्रतिषेधक नहीं, वह स्व-स्वरूप का प्रस्थापक भी नहीं हो सकता। इसी से प्रत्येक वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्म होते हैं और वे परस्पर अविनाभावी होते हैं– एक के बिना दूसरे का सद्भाव बन नहीं सकता।

यदि वस्तुत्व को सर्वथा स्वभावच्युत माना जाय– उसमें अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मों का सर्वथा अभाव स्वीकार किया जाय, तो वह अप्रमाण ठहरता है। उस तत्त्व का तब कोई व्यवस्थापक नहीं रहता, इसी से– (हे सुमति जिन!) आपकी दृष्टि से सर्व-जीवादि तत्त्व कथंचित् सत्असत्रूप अनेकान्तात्मक है। इस मत से भिन्न- दूसरा सत्त्वाद्वैतलक्षण अथवा शून्यतैकान्तस्वभावरूप जो एकान्त तत्त्व है, मत है, वह स्ववचनविरुद्ध है– उसकी प्रमाणता बतलाने में प्रमाण की सत्ता स्वीकार करने से उस मत के प्रतिपादकों के 'मेरी मां बाझ' की तरह स्ववचन- विरोध आता है, अर्थात् सत्त्वाद्वैतवादियों के द्वैतापति होकर उनकी अद्वैतता भंग हो जाती है

और शून्यतैकान्तवादियों के प्रमाण का अस्तित्व होकर सर्वशून्यता बनी नहीं रहती– विघट जाती है और प्रमाण का अस्तित्व स्वीकार न करने से स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का दूषण बन नहीं सकता, यह निराधार ठहरता है।

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति।
न च क्रिया कारकमत्र युक्तम्।।
नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो।
दीपस्तमः पुद्गल भावतोऽस्ति।।४।।

यदि वस्तु सर्वथा– द्रव्य और पर्याय दोनों रूप से, नित्य हो तो वह उदय-अस्त को प्राप्त नहीं हो सकती– उसमें उत्तराकार के स्वीकार रूप उत्पाद और पूर्वाकार के परिहाररूप व्यय नहीं बन सकता, और न उसमें क्रिया- कारक की ही योजना बन सकती है– वह न तो चलने, ठहरने, जीर्ण होने आदि किसी भी क्रियारूप परिणमन कर सकती है और न कर्त्ता-कर्मादिरूप से किसी का कोई कारक ही बन सकती है- उसे सदा सर्वथा अटल अपरिवर्तनीय एक रूप रहना होगा, जो असम्भव है। इसी तरह जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता– (यदि यह कहा जाय कि विद्यमान दीपक का दीप प्रकाश का तो बुझने पर अभाव हो जाता है, फिर यह कैसे कहा जाय कि सत् का नाश नहीं होता?' इसका उत्तर यह है कि), दीपक भी बुझने पर सर्वथा नाश को प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गल- पर्याय को धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है- प्रकाश और अन्धकार दोनों पुद्गल की पर्याय हैं, एक पर्याय के अभाव में दूसरी पर्याय की स्थिति बनी रहती है, वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं होता।

विधि निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ।
विवक्षया मुख्य-गुण-व्यवस्था।।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं।
मति- प्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ।।५।।

वास्तव में विधि और निषेध– अस्तित्व और नास्तित्व, दोनों कथंचित् इंष्ट हैं– सर्वथा -रूप से मान्य नहीं। विवक्षा से उनमें मुख्य-गौण की व्यवस्था होती है– उदाहरण के तौर पर द्रव्यदृष्टि से जब नित्यत्व प्रधान होता है तो पर्याय दृष्टि का विषय अनित्यत्व गौण हो जाता है और पर्यायदृष्टि-मूलक अनित्यत्व जब मुख्य होता है, तब द्रव्यदृष्टि का विषय नित्यत्व गौण हो जाता है।

इस प्रकार से हे सुमति जिन ! आपका यह तत्त्व प्रणयन है। इस तत्त्व प्रणयन के द्वारा आपकी स्तुति करने वाले मुझ स्तोता (उपासक) की मति का उत्कर्ष होवे– उसका पूर्ण विकास होवे।

6. श्रीपद्मप्रभ- जिन-स्तवन

पद्मप्रभः पद्म - पलाश लेश्यः।
पद्मालयाऽऽलिङ्गित चारु मूर्तिः।।
बभौ भवान् भव्य पयोरुहाणां।
पद्मा कराणामिव पद्म बन्धुः।।१।।

पद्म पत्र के समान द्रव्यलेश्या के – रक्तवर्णाभ-शरीर के धारक (और इसलिए अन्वर्थसंज्ञक) हे पद्मप्रभ जिन ! आपकी (आत्मस्वरूप तथा शरीर -रूप) सुन्दरमूर्ति पद्मालया- लक्ष्मी से आलिङ्गित रही है– आत्मस्वरूप मूर्ति का अनन्तज्ञानादि- लक्ष्मी ने तथा शरीर रूप मूर्ति का निःस्वेदतादि लक्ष्मी ने दृढ़ आलिंगन किया है, और इस तरह आपकी उभय प्रकार की मूर्ति, उभय प्रकार की लक्ष्मी के (शोभा के)

साथ तन्मयता को प्राप्त हुई है और आप भव्य रूप कमलों को विकसित करने के लिए– उनका आत्मविकास करने के लिए, उसी तरह भासमान हुए हैं जिस तरह पद्मबन्धु- सूर्य पद्मकारों का– कमल-समूहों का, विकास करता हुआ सुशोभित होता है।'

बभार पद्मां च सरस्वतीं च।
भवान् पुरस्तात्प्रति मुक्ति लक्ष्म्याः।।
सरस्वतीमेव समग्र- शोभां।
सर्वज्ञ- लक्ष्मी-ज्वलितां विमुक्तः।।२।।

आपने प्रतिमुक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति के पूर्व- अरहन्त- अवस्था से पहले, लक्ष्मी और सरस्वती दोनों को धारण किया है– उस समय गृहस्थावस्था में आप यथेच्छ धन-सम्पति के स्वामी थे, आपके यहां लक्ष्मी के अटूट भण्डार भरे थे, साथ ही अवधि-ज्ञानादि-लक्ष्मी से विभूषित थे और सरस्वती आपके कण्ठ में स्थित थी। बाद में विमुक्त होने पर– जीवन्मुक्त (अर्हन्त) अवस्था को प्राप्त करने पर, आपने उस पूर्ण शोभावाली सरस्वती को– दिव्य वाणी को, ही धारण किया है जो सर्वज्ञ लक्ष्मी से प्रदीप्त थी– उस समय आपके पास दिव्यवाणी -रूप सरस्वती की ही प्रधानता थी, जिसके द्वारा जगत् के जीवों को उनके कल्याण का मार्ग सुझाया गया है।

शरीर रश्मि प्रसरः प्रभोस्ते।
बालार्क रश्मिच्छवि राऽऽलिलेप।।
नराऽमराऽऽकीर्ण- सभां प्रभा वा।
शैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम्।।३।।

हे प्रभो ! प्रातः कालीन सूर्य-किरणों की छवि के समान्– रक्तवर्ण

आभा को लिए हुए, आपके शरीर की किरणों के प्रसार (फैलाव) ने मनुष्यों तथा देवताओं से भरी हुई समवशरण-सभा को इस तरह आलिप्त (व्याप्त) किया है जिस तरह कि पद्मरागमणि- पर्वत की प्रभा अपने पार्श्वभाग को आलिप्त करती है।

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं।
सहस्र पत्राऽम्बुज गर्भचारैः।।
पादाऽम्बुजैः पातितमारदर्पो।
भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै?।।४।।

हे पद्मप्रभ जिन ! आपने कामदेव के दर्प (मद) को चूर-चूर किया है और सहस्रदल कमलों के मध्य भाग पर चलने वाले अपने चरण-कमलों के द्वारा नभस्थल को पल्लवों से व्याप्त जैसा करते हुए, प्रजा की विभूति के लिए- उसमें हेयोपादेय के विवेक को जागृत करने के लिए, भूतल पर विहार किया है।

गुणाम्बुधे विंप्रुषमप्यजस्रं।
नाऽऽखंडलः स्तोतुतलं तवर्षेः।।
प्रागेव मादृक्किमुताऽति भक्ति-।
र्मां बालमालापयतीदमित्थम्।।५।।

हे ऋषिवर ! आप अज हैं- पुनर्जन्म से रहित हैं– आपके गुण समुद्र के लवमात्र की भी स्तुति करने के लिए जब इन्द्र पहले ही समर्थ नहीं हुआ है, तो फिर अब मेरे जैसा असमर्थ प्राणी कैसे समर्थ हो सकता है? नहीं हो सकता। यह आपके प्रति मेरी अति भक्ति ही है जो मुझ बालक से- स्तुति-विषय में अनभिज्ञ से– इस प्रकार का यह स्तवन कराती है।'

7. श्री सुपार्श्व-जिन-स्तवन

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां।
स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।।
तृषोऽनुषंगान्न च तापशन्ति-।
रितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्वः।।१।।

यह जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य है– विभाग परिणति से रहित अपने अनन्त- ज्ञानादिमय-स्वात्म-स्वरूप में अविनश्वर स्थिति है–वही पुरुषों का- जीवात्माओं का– स्वार्थ है– निजी प्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग– इन्द्रिय-विषय- सुख का अनुभव– स्वार्थ नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय-विषय-सुख के सेवन से उत्तरोत्तर तृष्णा की– भोगाकांक्षा की– वृद्धि होती है और उससे ताप की– शारीरिक तथा मानसिक दुःख की शान्ति नहीं होने पाती। यह स्वार्थ और अस्वार्थ का स्वरूप शोभना पाश्वो– सुन्दर शरीरांगो– के धारक (और इसलिए अन्वर्थ -संज्ञक) भगवान् सुपार्श्व ने बतलाया है।'

अजङ्गमं जङ्गमनेय यन्त्रं।
यथा तथा जीव धृतं शरीरम्।।
वीभत्सु पूति क्षयि तापकं च।
स्नेहो वृथाऽत्रेति हितं त्वमाख्यः।।२।।

जिस प्रकार अजंगम (जड़) यंत्र स्वयं अपने कार्य में प्रवृत्त न होकर जंगम पुरुष के द्वारा चलाया जाता है उसी प्रकार जीव के द्वारा धारण किया हुआ यह शरीर अजंगम है। बुद्धि पूर्वक परिस्पंद व्यापार से रहित है और चेतन पुरुष के द्वारा स्व व्यापार में प्रयुक्त किया जाता है। साथ ही, वीभत्सु है– घृणात्मक है– पूति, है– दुर्गन्धियुक्त है– क्षयी है– नाशवान् है– और तापक है– आत्मा के दुःखों का

कारण है। इस प्रकार के शरीर में स्नेह रखना– अति अनुराग बढ़ाना- वृथा है– उससे कुछ भी आत्मकल्याण नहीं सध सकता। यह हितकी बात हे सुपार्श्वजिन ! आपने बतलाई है।'

अलंघ्य शक्ति र्भवितव्यतेयं।
हेतु- द्वयाऽऽविष्कृत- कार्य लिङ्गा।।
अनीश्वरो जन्तु रहं क्रियार्त्तः।
संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः।।३।।

आपने यह भी ठीक कहा है कि हेतुद्वय के – अन्तरंग और बाह्य अर्थात् उपादान और निमित्त दोनों कारणों के, अनिवार्य संयोग द्वारा उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है, ऐसी यह भवितव्यता (जो हित का समुचित एवं समर्थ उपदेश मिलने पर भी किसी की हित में प्रवृत्ति नहीं होने देती) अलंघ्यशक्ति है– किसी तरह भी टाली नहीं टलती और इस भवितव्यता की अपेक्षा न रखने वाला, अहंकार से पीड़ित हुआ संसारी प्राणी (यन्त्र-मंत्र-तन्त्रादि) अनेक सहकारी कारणों को मिला कर भी सुखादि कार्यों के सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता।

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो।
नित्यं शिवं वांछति नाऽस्य लाभ।।
तथाऽपि बालो भय-काम-वश्यो।
वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः।।४।।

आपने यह भी बतलाया है कि– यह संसारी प्राणी मृत्यु से डरता है, परन्तु (अलंघ्यशक्ति -भवितव्यता वश) उस मृत्यु से छुटकारा नहीं, नित्य ही कल्याण अथवा निर्वाण चाहता है परन्तु (भावी की उसी अलंघ्यशक्ति-वश) उसका लाभ नहीं होता। फिर भी यह मूढ़

प्राणी भय और इच्छा के वशीभूत हुआ स्वयं ही वृथा तप्तायमान होता है। लेकिन डरने तथा इच्छा करने मात्र से कुछ भी नहीं बनता, उल्टा दु:ख सन्ताप उठाना पड़ता है।

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता।
मातेव बालस्य हिताऽनुशास्ता।।
गुणाऽवलोकस्य जनस्य नेता।
मयाऽपि भक्त्या परिणूयतेऽद्य।।५।।

हे सुपार्श्व जिन ! आप सम्पूर्ण तत्त्व समूह के जीवादि विश्व तत्त्वों के प्रमाता हैं– संशयादि-रहित ज्ञाता है, माता जिस प्रकार बालक को हित की उसके भले की- शिक्षा देती है, उसी प्रकार आप हेयोपादेय के ज्ञान से रहित बालक- तुल्य जनसमूह को हित का- नि:श्रेयस (मोक्ष) तथा उसके कारण सम्यग्दर्शनादि का उपदेश देने वाले हैं, और जो गुणावलोकी जन हैं गुणों की तलाश में रहने वाला जो भव्यजीव है, उसके आप नेता हैं– बाधक कारणों को हटा कर आत्मीय अनन्तदर्शनादि गुणों को प्राप्त कर लेने के कारण उसे उन गुणों की प्राप्ति का मार्ग दिखाने वाले हैं। इसी से मैं भी इस समय भक्तिपूर्वक आपकी स्तुति में प्रवृत्त हुआ हूं– मेरे भी आप नेता हैं, मुझे भी आपके सत् शासन के प्रताप से आत्मीय गुणों की प्राप्ति का मार्ग सूझ पड़ा है।

८. श्रीचन्द्रप्रभ-जिन-स्तवन

चन्द्रप्रभं चन्द्र मरीचि - गौरं।
चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्।।
वन्देऽभिवन्द्यं महतां मृषीन्द्रं।
जिनं जित स्वान्त-कषाय बन्धम्।।१।।

मैं उन श्रीचन्द्रप्रभ- जिनकी वन्दना करता हूं, जो चन्द्र-किरण-सम गौरवर्ण से युक्त जगत् में द्वितीय चन्द्रमा के समान दीप्तिमान (और इसलिए, चन्द्रप्रभ' इस सार्थक संज्ञा के धारक) हुए हैं, जिन्होंने अपने अन्त: करण के कषाय बन्धन को जीता है– सम्पूर्ण क्रोधादिक कषायों का नाश कर अकषाय-पद एवं जिनपद प्राप्त किया है, और (इसलिए) जो ऋद्धिधारी मुनियों के – गणधरादिकों के स्वामी तथा महात्माओं के द्वारा वन्दनीय हुए हैं।

यस्याङ्ग -लक्ष्मी- परिवेश- भिन्नं।
तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम्।।
ननाश बाह्यं बहु मानसं च।
ध्यान-प्रदीपाऽतिशयेन भिन्नम्।।२।।

जिनके शरीर के दिव्य प्रभामण्डल से बाह्य अन्धकार और ध्यान प्रदीप के अतिशय से- परम शुक्लध्यान के तेज द्वारा, प्रचुर मानस अन्धकार- ज्ञानावरणादि-कर्मजन्य आत्मा का समस्त अज्ञानान्धकार, उसी प्रकार नाश को प्राप्त हुआ जिस प्रकार सूर्य की किरणों से (लोक में फैला हुआ) अन्धकार भिन्न विदीर्ण होकर नष्ट हो जाता है।

स्व पक्ष- सौस्थित्य-मदाऽवलिप्ता।
वाक्सिंह नादैर्विमदा बभूवुः।।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा।
गजा यथा केसरिणो निनादैः।।३।।

जिनके प्रवचन-रूप सिंहनादों को सुन कर अपने मत-पक्ष की सुस्थिति को घमण्ड रखने वाले- उसे ही निर्बाध एवं अकाट्य समझ कर मदोन्मत्त हुए, प्रवादिजन (परवादी) उसी प्रकार से निर्मद हुए हैं। जिस प्रकार कि– मद झरते हुए मस्त हाथी केसरी-सिंह की

गर्जनाओं को सुन कर निर्मद हो जाते हैं।

यः सर्व- लोके परमेष्ठितायाः।
पदं बभूवाऽद्भुत- कर्म तेजाः।।
अनन्त- धामाऽक्षर- विश्वचक्षुः।
समन्तदुःख क्षय शासनश्च।।४।।

जो अद्‌भुत कर्म-तेज थे– अपने योगबल से जिन्होंने पर्वत समान कठोर कर्म- पटलों का छेदन कर सदा के लिए अपने आत्मा से उनका सम्बन्ध विच्छेद किया था अथवा शुक्लध्यानाग्नि के द्वारा उन्हें भस्मीभूत किया था– (ऐसा करके) जिन्होंने अनन्ततेज-रूप अविनश्वर विश्व चक्षु को प्राप्त किया था– केवलज्ञान केवल दर्शन के द्वारा जो विश्व-तत्त्वों के ज्ञाता दृष्टा थे, और जो सब ओर से दुःखों के पूर्ण क्षय-रूप मोक्ष के शास्ता (उपदेष्टा) थे– जगत् को जिन्होंने मोक्षमार्ग का यथार्थ उपदेश दिया था, और इस तरह (इन्हीं गुणों के कारण) जो सम्पूर्ण लोक में- त्रिभुवन में, परमेष्ठिता के– परम आप्तता के, पद को प्राप्त हुए थे।

स चन्द्रमा भव्य कुमुद्वतीनां।
विपन्न दोषाऽभ्र कलङ्क लेपः।।
व्याकोश-वाङ्-न्याय-मयूख-मालः।
पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे।।५।।४०।।

वे दोषा– रात्रि, अभ्र- मेघ और कलंक- मृगछालादि के लेप से रहित अथवा रागादिक दोष-रूप अभ्र-कलंक के आवरण से वर्जित और सुस्पष्ट वचनों के प्रणयन-रूप – स्याद्वादन्याय-रूप, किरणमाला से युक्त, भव्य कुमुदनियों के लिए (अपूर्व) चन्द्रमा, ऐसे पवित्र भगवान श्री चन्द्रप्रभ- जिन मेरे मन को पवित्र करें– उनके

वन्दन, कीर्तन, पूजन, भजन, स्मरण और अनुसरण-रूप सम्यक् आराधन.से मेरा मन पवित्र होंवे।

९. श्री सुविधि-जिन स्तवन

एकान्तदृष्टि-प्रतिषेधि तत्त्वं।
प्रमाण-सिद्धं तदतत्स्वभावम्।।
त्वया प्रणीतं सुविधे ! स्वधाम्ना।
नैतत्समालीढ- पदं त्वदन्यैः।।१।।

(शोभन-विधि-विधान के प्रतिपादन द्वारा अन्वर्थ संज्ञा के धारक) हे सुविधि (पुष्पदन्त) जिन! आपने अपने ज्ञान-तेज से उस प्रमाण सिद्धि तत्त्व का प्रणयन किया है, जो सत्- असत् आदि रूप विवक्षिताऽविवक्षित स्वभाव को लिए हुए हैं और एकान्त दृष्टि का प्रतिषेधक है– अनेकान्तात्मक होने से किसी को भी इस एकान्त-मान्यता को स्वीकार नहीं करता कि वस्तु तत्त्व सर्वथा (स्वरूप और पर-रूप दोनों से ही) सत् (विधि) आदि रूप है'। यह समालीढ पद - सम्यक् अनुभूत तत्त्व का प्रतिपादक 'तदतत्स्वभाव' जैसा पद, आपसे भिन्न मत रखने वाले दूसरे मत प्रवर्तकों के द्वारा प्रणीत नहीं हुआ है।'

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्।
तथाप्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित्।।
नाऽत्यन्तमन्यत्वमनन्यता च।
विधेर्निषेधस्य च शून्य- दोषात्।।२।।

(हे सुविधि जिन!) आप का वह तत्त्व कथंचित् तद्रूप (सद्रूप) है और कथंचित् तद्रूप नहीं (असद्रूप) है, क्योंकि (स्वरूप पर रूप की

अपेक्षा– उसके द्वारा) वैसी ही सत्-असत्-रूप की प्रतीति होती है। स्वरूपादि- चतुष्टय- रूप विधि और पर रूपादि- चतुष्टय-रूप निषेध के परस्पर में अत्यन्त (सर्वथा) भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं है, क्योंकि सर्वथा भिन्नता या अभिन्नता मानने पर शून्य दोष आता है– अविनाभाव- सम्बन्ध के कारण विधि और निषेध दोनों में से किसी का भी तब अस्तित्व बन नहीं सकता, शंकर दोष के भी आ उपस्थित होने से पदार्थों की कोई व्यवस्था नहीं रहती, और इसलिए वस्तु तत्त्व के लोप का प्रसंग आ जाता है।

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीते।
नैनित्यमन्यत्- प्रतिपत्ति सिद्धेः।।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरंग-।
निमित्त नैमित्तिक योगतस्ते।।३।।

यह वही है, इस प्रकार की प्रतीति होने से वस्तु तत्त्व नित्य है और यह वह नहीं, अन्य है। इस प्रकार की प्रतीति की सिद्धि से वस्तु तत्त्व नित्य और अनित्य दोनों-रूप होना तुम्हारे मत में विरुद्ध नहीं है, क्योंकि वह बहिरंग निमित्त- सहकारी कारण, अन्तरंग निमित्त– उपादान कारण, और नैमित्तिक– निमित्तों के उत्पन्न होने वाले कार्य के, सम्बन्ध को लिये हुए हैं– द्रव्यस्वरूप अन्तरंग कारण के सम्बन्ध की अपेक्षा नित्य है और क्षेत्रादि- रूप बाह्य कारण तथा परिणाम- पर्याय-रूप कार्य की अपेक्षा अनित्य है।'

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं।
वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या।।
आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो।
गुणाऽनपेक्षे नियमेऽपवादः।।४।।

पद का वाच्य-शब्द का अभिधेय, प्रकृति से– स्वभाव से, एक और अनेक दोनों रूप हैं– सामान्य और विशेष में अथवा द्रव्य और पर्याय में अभेद-विवक्षा के होने पर एक रूप है और भेद- विवक्षा के होने पर अनेकरूप हैं, 'वृक्षा' इस पदज्ञान की तरह– अर्थात् जिस प्रकार 'वृक्षा' यह एक व्याकरण-सिद्ध बहुवचनान्त पद है, इसमें जहां वृक्षत्व सामान्य का बोध होता है वहां वृक्ष-विशेषों का भी बोध होता है। वृक्षत्व-वृक्षपना अर्थात् वृक्षजाति (वृक्षसामान्य) की अपेक्षा इसका वाच्य एक है और वृक्ष विशेष की, आम, अनार, शीशम, जामुन आदि की- अपेक्षा इसका वाच्य अनेक हैं, क्योंकि कोई भी वृक्ष हो उसमें सामान्य और विशेष दोनों धर्म रहते हैं, उनमें से जिस समय जिस धर्म की विवक्षा होती है उस समय वह धर्म मुख्य होता है और दूसरा (अविवक्षित) गौण, परन्तु जो धर्म गौण होता है वह उस विवक्षा के समय कहीं चला नहीं जाता– उसी वृक्ष वस्तु में रहता है, कालान्तर में वह भी मुख्य हो सकता है। जैसे 'आम्राः' कहने पर जब 'आम्रत्व' धर्म मुख्य होकर विवक्षित होता है तब 'वृक्षत्व' नाम का सामान्य धर्म उससे अलग नहीं हो जाता– वह भी उसी में रहता है और जब 'आम्रा' पद में आम्रत्व– सामान्यरूप से विवक्षित होता है तब आम्र के विशेष देशी, कलमी, लंगड़ा, माल्दा, फजली आदि धर्म गौण (अविवक्षित) हो जाते हैं और उसी आम्रपद में रहते हैं। यही बात द्रव्य और पर्याय की विवक्षा-अविवक्षा की होती है। एक ही वृक्ष द्रव्य-सामान्य की अपेक्षा एक रूप है तो वही अंकुरादि पर्यायों की अपेक्षा अनेक रूप है दोनों में जिस समय जो विवक्षित होता है वह मुख्य और दूसरा गौण कहलाता है। इस तरह प्रत्येक पद का वाच्य एक और अनेक दोनों ही होते हैं।

(यदि पद- शब्द का वाच्य एक और अनेक दोनों हो तो 'अस्ति' कहने पर 'नास्तित्व' के भी बोध का प्रसंग आने से दूसरे पद 'नास्ति' का प्रयोग निरर्थक ठहरेगा, अथवा स्वरूप की तरह पर रूप से भी

अस्तित्व कहना होगा। इसी तरह 'नास्ति' कहने पर 'अस्तित्व' के भी बोध का प्रसंग आयेगा, दूसरे 'अस्ति' पद का प्रयोग निरर्थक ठहरेगा अथवा पररूप की तरह स्वरूप से भी नास्तित्व कहना होगा। इस प्रकार की शंका का समाधान यह है–) अनेकान्तात्मक वस्तु के अस्तित्वादि किसी एक धर्म का प्रतिपादन करने पर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि किसी एक धर्म का प्रतिपादन करने पर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि दूसरे धर्म के प्रतिपादन में जिसकी आकांक्षा रहती है, ऐसे आकांक्षी- सापेक्षवादी अथवा स्याद्वादी का 'स्यात्' शब्द का साथ में प्रयोग, गौण की अपेक्षा न रखने वाले नियम में- सर्वथा एकान्त मत में, निश्चित रूप से बाधक होता है- उस सर्वथा के नियम को चरितार्थ नहीं होने देता जो स्वरूप की तरह पररूप के भी अस्तित्व का और पररूप की तरह स्वरूप के भी नास्तित्व का विधान करता है। और इसलिए यहाँ उक्त प्रकार की शंका को कोई स्थान नहीं रहता।)

गुण-प्रधानार्थ मिदं हि वाक्यं।
जिनस्य ते तवद्विषतामपथ्यम्।।
ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां।
ममाऽपि साधोस्तव पादपद्मम्।।५।।४५।।

हे सुविधि- जिन! आपका यह 'स्यात्' पद रूप से प्रतीयमान वाक्य मुख्य और गौण के आशय को लिए हुए है- विवक्षित ओर अविवक्षित दोनों ही धर्म इसके वाच्य हैं- अभिध्येय हैं, आपसे- आपके अनेकान्त-मत से, द्वेष रखने वाले सर्वथा एकान्त-वादियों के लिए यह वाक्य अपथ्यरूप से अनिष्ठ है– उनकी सैद्धान्तिक प्रकृति के विरुद्ध है, क्योंकि दोनों धर्मों का एकान्त स्वीकार करने से उनके यहां विरोध आता है। चूंकि आपने ऐसे सातिशय तत्त्व का प्रणयन किया है इसलिए

हे साधो ! आपके चरण कमल जगदीश्वरों- इन्द्र चक्रवर्त्यादिकों, के द्वारा वन्दनीय हैं, और मेरे भी द्वारा वन्दनीय है।

10. श्रीशीतल जिन-स्तवन

न शीतलाश्चन्दन चन्द्ररश्मयो।
न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टय:।।
यथा मुनेस्तेऽनघ ! वाक्य रश्मय:।
शमाम्बुगर्भा: शिशिरा विपश्चिताम्।।१।।

हे अनघ ! – निरवद्य-निर्दोष श्रीशीतल-जिन !– आप प्रत्यक्ष ज्ञानी-मुनि- की प्रशम- जल से भरी हुई वाक्य-रश्मियां– यथावत् अर्थस्वरूप की प्रकाशक वचन-किरणावलियां, जिस प्रकार से– संसार ताप को मिटाने रूप से, विद्वानों के लिए– हेयोपादेय तत्त्व का विवेक रखने वालों के वास्ते, शीतल हैं– शान्तिप्रद हैं– उस प्रकार न तो चन्दन तथा चन्द्रमा की किरणें शीतल हैं, न गंगा का जल शीतल है और न मोतियों के हार की लड़िया ही शीतल हैं– कोई भी इनमें से भव आताप-जन्य दु:ख को मिटाने में समर्थ नहीं है।

सुखाऽभिलाषाऽनल- दाह- मूर्च्छितं।
मनो निजं ज्ञानमयाऽमृताऽम्बुभि:।।
व्यदिध्यपस्त्वं विष-दाह-मोहितं।
यथा भिषग्मन्त्र-गुणै: स्व- विग्रहम्।।२।।

जिस प्रकार वैद्य विष दाह से मूर्च्छित हुए अपने शरीर को विषापहार मन्त्र के गुणों से – उसकी अमोघशक्तियों से, निर्विष एवं मूर्छा-रहित कर देता है उसी प्रकार- हे शीतल जिन ! आपने सांसारिक सुखों की अभिलाषा-रूप अग्नि के दाह से- चतुर्गति-सम्बन्धी

दु:ख सन्ताप से, मूर्च्छित हुए– हेयोपादेय के विवेक से विमुख हुए, अपने मन को– आत्मा को, ज्ञानमय अमृत– जलों के सिंचन से मूर्च्छा रहित शान्त किया है– पूर्ण विवेक को जाग्रत करके उसे उत्तरोत्तर सन्तापप्रद सांसारिक सुखों की अभिलाषा से मुक्त किया है।'

स्व – जीविते काम–सुखे च तृष्णया।
दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजाः।।
त्वमार्य ! नक्तं – दिवमप्रमत्तवा–।
नजागरेवाऽऽत्म– विशुद्ध– वर्त्मनि।।३।।

अपने जीने की तथा काम–सुख की तृष्णा के वशीभूत हुए लौकिक जन जो दिन में श्रम से पीड़ित रहते हैं– सेवा–कृष्यादिजन्य क्लेश–खेद से अभिभूत बने रहते हैं– और रात में सो जाते हैं– अपने आत्मा के उद्धार और उनका प्राय: कोई लक्ष्य ही नहीं होता। परन्तु हे आर्य–शीतल–जिन ! आप रात–दिन प्रमादरहित हुए आत्मा की विशुद्धि के मार्ग में जागते ही रहे हैं आत्मा जिससे विशुद्ध होता है– मोहादि कर्मों से रहित हुआ स्वरूप में स्थित एवं पूर्ण विकसित होता है– उस सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग के अनुष्ठान में सदा सावधान रहे हैं।'

अपत्य– वित्तोत्तर –लोक–तृष्णया।
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।।
भवान्पुनर्जन्म–जरा–जिहासया।
त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत्।।४।।

कितने ही तपस्वीजन संतान, धन तथा उत्तरलोक (परलोक या उत्कृष्ट लोक) की तृष्णा के वशीभूत हुए– पुत्रादि की प्राप्ति के लिए, धन की प्राप्ति के लिए अथवा स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए–

(अग्निहोत्रादिक यज्ञ) कर्म करते हैं, (परन्तु हे शीतल जिन!) आप समभावी हैं– सन्तान, धन तथा उत्तरलोक की तृष्णा से रहित हैं– आपने पुनर्जन्म और जरा को दूर करने की इच्छा से मन-वचन-काय तीनों की प्रवृत्ति को रोका है– तीनों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को हटाकर उन्हें स्वात्माधीन किया है और इस तरह आत्मविकास की उच्च स्थिति पर पहुंचकर योग-निरोध- द्वारा न मन से कोई कर्म होने दिया, न वचन से और न शरीर से।

त्वमुत्तम- ज्योतिरजः क्व निर्वतः।
क्व ते परे बुद्धि-लवोद्धव- क्षताः।।
ततः स्वनिःश्रेयस- भावनापरै-।
र्बुध प्रवेकैर्जिन ! शीतलेड्यसे।।५।।

हे शीतल जिन ! कहां तो आप उत्तमज्योति– परमातिशय को प्राप्त केवलज्ञान के धनी, अजन्मा– पुनर्जन्म से रहित, और निर्वृत– सांसारिक इच्छाओं से रहित सुखीभूत ! और कहां वे दूसरे – प्रसिद्ध अन्य देवता अथवा तपस्वी, जो लेशमात्र ज्ञान के मद से नाश को प्राप्त हुए हैं– सांसारिक विषयों में अत्यासक्त होकर दुःखों में पड़े हैं और आत्मस्वरूप विमुख एवं पतित हुए हैं। इसीलिए अपने कल्याण की भावना में तत्पर- उसे साधने के लिए सम्यग्दर्शनादि के अभ्यास में पूर्ण सावधान बुधश्रेष्ठों में – गणधरादिक देवों के द्वारा आप पूजे जाते हैं।

11. श्री श्रेयांस जिन -स्तवन

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः।
श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः।।
भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मि-।
न्नेको यथा वीत-घनो विवस्वान्।।१।।

हे अजेय वाक्य– अबाधित वचन, श्रेयो जिन ! सम्पूर्ण कषायों, इन्द्रिय अथवा कर्म शत्रुओं को जीतने वाले श्री श्रेयांस तीर्थंकर ! आप इन श्रेयप्रजाजनों को– भव्य जीवों को, श्रेयोमार्ग में अनुशासित करते हुए– मोक्षमार्ग पर लगाते हुए, विगत-घन-सूर्य के समान अकेले ही उस त्रिभुवन में प्रकाशमान हुए हैं– अर्थात् जिस प्रकार मेघ के पटलों से रहित सूर्य अपनी अप्रतिहत किरणों- द्वारा अकेला ही अन्धकार समूह का विघातक बनकर, दृष्टि - शक्ति से सम्पन्न नेत्रों वाली प्रजा को इष्ट स्थान की प्राप्ति का निमित्तभूत सन्मार्ग दिखलाता हुआ, जगत में शोभा को प्राप्त होता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि घातिकर्म- चतुष्टय से रहित आप अकेले ही, अज्ञानान्धकार के प्रसार को विनष्ट करने में समर्थ बनकर अपने अवाधित वचनों द्वारा भव्य-जनों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हुए, इस त्रिलोक में शोभा को प्राप्त हुए हैं।

विधि विषक्त- प्रतिषेध रूपः।
प्रमाण मत्राऽन्यतरत् प्रधानम्।।
गुणोऽपरो मुख्य- नियामहेतु-।
र्नयः स दृष्टान्त समर्थनस्ते।।२।।

(हे श्रेयांस जिन !) आपके मत में वह विधि– स्वरूपादि चतुष्टय से अस्तित्व, प्रमाण है– (प्रमाण का विषय होने से) जो कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध को लिए हुए प्रतिषेध रूप है– पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्वरूप भी है, तथा इन विधि-प्रतिषेध दोनों में से कोई एक प्रधान– (मुख्य) और दूसरा गौण होता है– (वक्ता के अभिप्रायानुसार न कि स्वरूप से)। और मुख्य के– प्रधान रूप विधि अथवा निषेध के, नियम का– स्वरूपादि चतुष्टय से ही विधि और पररूपादि चतुष्टय से ही निषेध इस नियम का, जो हेतु है वह नय है– (नयका विषय होने से) और वह नय दृष्टान्त-समर्थन होता

है– दृष्टान्त से समर्थित अथवा दृष्टान्त का समर्थक (उसके असाधारण स्वरूप का निरूपक) होता है।

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो।
गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।।
तथाऽरिमित्राऽनु भयादि शक्ति।
द्वयाऽवधेः कार्यकरं हि वस्तु।।३।।

(हे श्रेयांस जिन !) आपके मत में जो विवक्षित होता है– कहने के लिए इष्ट होता है, वह 'मुख्य (प्रधान)' कहलाता है, दूसरा जो अविवक्षित होता है– जिसका कहना इष्ट नहीं होता, वह 'गौण' कहलाता है, और जो अविवक्षित होता है वह निरात्मक– (अभावरूप) नहीं होता– उसकी सत्ता अवश्य होती है। इस प्रकार मुख्य-गौण की व्यवस्था से एक ही वस्तु शत्रु, मित्र और अनुभयादि शक्तियों के लिए रहती है– एक ही व्यक्ति एक का मित्र है (उपकार करने से), दूसरे का शत्रु है (अपकार करने से) तीसरे का शत्रु-मित्र दोनों है (उपकार-अपकार करने से) और चौथे का न शत्रु है न मित्र (उसकी ओर उपेक्षा धारण करने से), और इस तरह उसमें शत्रु-मित्रादि के गुण युगपत् रहते हैं। वास्तव में वस्तु दो अवधियों– (मर्यादाओं) से कार्यकारी होती है– विधि- निषेधरूप, सामान्य विशेष अथवा द्रव्य पर्यायरूप दो -दो सापेक्ष धर्मों का आश्रय लेकर ही अर्थक्रिया करने में प्रवृत्त होती है और अपने यथार्थ स्वरूप की प्रतिष्ठापक बनती है।'

दृष्टान्त- सिद्धावुभयोर्विवादे।
साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु तादृगस्ति।।
यत्सर्वथैकान्त- नियामि दृष्टं।
त्वदीय- दृष्टिर्विभवत्यशेषे।।४।।

वादी प्रतिवादी दोनों के विवाद में दृष्टान्त (उदाहरण) की सिद्धि होने पर साध्य प्रसिद्ध होता है– जिसे सिद्ध करना चाहते हैं उसकी भले प्रकार सिद्धि हो जाती है– परन्तु वैसी कोई दृष्टान्तभूत वस्तु है ही नहीं जो (उदाहरण- बनकर) सर्वथा एकान्त की नियामक दिखाई देती हो। क्योंकि आपकी अनेकान्त-दृष्टि सबसे– साध्य, साधन और दृष्टान्तादि में- अपना प्रभाव डाले हुए है– वस्तुमात्र अनेकान्तात्मकत्व से व्याप्त है, इसी से सर्वथा एकान्तवादियों के मत में ऐसा कोई दृष्टान्त ही नहीं बन सकता जो उनके सर्वथा एकान्त का नियामक हो और इसलिए उसके सर्वथा नित्यवादि रूप साध्य की सिद्धि नहीं बन सकती।

एकान्त दृष्टि प्रतिषेध- सिद्धि- ।
न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य।।
असि स्म कैवल्य विभूति- सम्राट्।
ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः।।५।।(५५)

हे अर्हन्– श्रेयो जिन! आप एकान्त दृष्टि के प्रतिषेध की सिद्धि रूप न्यायवाणों से –तत्त्वज्ञान के सम्यक् प्रहारों से, मोह-शत्रु का अथवा मोह की प्रधानता को लिए हुए, ज्ञानावरणादिरूप शत्रु- समूह का– घातिकर्म-चतुष्टय का- नाश करके कैवल्य-विभूति के– केवलज्ञान के साथ साथ समवसरणादि विभूति के– सम्राट् हुए हैं। इसी से आप मेरी स्तुति के योग्य हैं। मैं भी एकान्तदृष्टि के प्रतिषेध की सिद्धि का उपासक हूं और उसे पूर्णतया सिद्ध करके मोह शत्रु का नाश कर देना चाहता हूं तथा कैवल्यविभूति का सम्राट् बनना चाहता हूं, अतः आप मेरे लिए आदर्शरूप में पूज्य हैं– स्तुत्य हैं।

12. श्रीवासुपूज्य-जिन-स्तवन

शिवासु पूज्योऽभ्युदय- क्रियासु।
त्वं वासु पूज्यस्त्रिदशेन्द्र-पूज्यः।।
मयाऽपिपूज्योऽल्प- धिया मुनीन्द्र!।
दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः।।१।।

हे (वासुपूज्य!) श्रीवासुपूज्य मुनीन्द्र ! आप शिवस्वरूप अभ्युदय क्रियाओं में पूज्य हैं– मंङ्गलमय स्वर्गावतरणादि कल्याणक क्रियाओं के अवसर पर पूजा को प्राप्त हुए हैं, त्रिदशेन्द्रपूज्य हैं– देवेन्द्रों के द्वारा पूजे गये हैं, पूजे जाते हैं, और मुझ अल्पबुद्धि के द्वारा भी पूज्य हैं– मैं भी स्तुत्यादि के रूप में आपकी पूजा किया करता हूँ। (अल्प बुद्धि के द्वारा पूजा जाना कोई असंगत बात भी नहीं है, क्योंकि) दीप-शिखा के द्वारा क्या सूर्य पूजा नहीं जाता? – पूजा ही जाता है। लोक-दीपक जलाकर सूर्य की आरती उतारते हैं, दीप-शिखा से उसकी पूजा करते हैं।

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे।
न निन्दया नाथ ! विवान्त वैरे।।
तथाऽपि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः।
पुनाति चित्तं दुरितांजनेभ्यः।।२।।

हे भगवन् ! पूजा- वन्दना से आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी हैं– राग का अंश भी आपके आत्मा में विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसी की पूजा- वन्दना से आप प्रसन्न होते। (इसी तरह) निन्दा से भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है– कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी

क्षोभ नहीं आ सकता, क्योंकि आपके आत्मा से वैरभाव-द्वेषांश- बिल्कुल निकल गया है- वह उसमें विद्यमान ही नहीं हैं, जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नादि कार्यों का उद्भव हो सकता। ऐसी हालत में निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिए समान हैं- उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। फिर भी आपके पुण्य- गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप-मलों से पवित्र करता है। और इस लिए हम जो आपकी पूजा वन्दनादि करते हैं यह आपके लिए नहीं- आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको लाभ पहुंचाना, यह सब उसका ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्यगुणों का स्मरण- भावपूर्वक अनुचिन्तन- जो हमारे चित्त को- चिद्रूप आत्मा को- पाप-मलों से छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्मा के विकास की साधना करते हैं। अत: वह आपकी पूजा- वन्दना हम अपने हित के लिए करते हैं।

पूज्यं जिनं त्वाऽर्चयतो जनस्य।
सावद्य लेशो बहु पुण्य राशौ।।
दोषाय नाऽलं कणिका विषस्य।
न दूषिका शीत शिवाऽम्बुराशौ।।२।।

हे पूज्य जिन वासुपूज्य ! आपकी पूजा करते हुए प्राणी के जो सावद्यलेश होता है- सरागपरिणति तथा आरम्भादिक -द्वारा लेशमात्र पाप का उपार्जन होता है, वह (भावपूर्वक की हुई पूजा से उत्पन्न होने वाली) बहुपुण्य- राशि में दोष का कारण नहीं बनता- प्रचुर पुण्य- पुञ्ज से हतवीर्य हुआ वह पाप उस पुण्य को दूषित करने अथवा पाप रूप परिणत करने में समर्थ नहीं होता। (सो ठीक ही है) विष की एक कणिका शीतल तथा कल्याणकारी जल से भरे हुए समुद्र को दूषित नहीं

करती– उसे प्राणघातक विष-धर्म युक्त विषैला नहीं बनाती।

यद्वस्तु बाह्यं गुण-दोष-सूते- र्निमित्तमभ्यन्तर-मूलहेतो: ।
अध्यात्म-वृत्तस्य तदङ्गभूत-, मभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ।।४।।

जो बाह्य वस्तु गुण-दोष की-पुण्य पापादि-रूप उपकार की, उत्पत्ति का निमित्त होती है, वह अन्तरंग में वर्तने वाले गुण-दोषों की उत्पत्ति के अभ्यन्तर मूल हेतु की– शुभाऽशुभादि- परिणाम-लक्षण उपादानकारण की, अंगभूत– सहकारी कारणभूत होती है (और इस कारण मूल कारण शुभाऽशुभादि- परिणाम के अभाव में सहकारीकारण-रूप कोई भी बाह्य वस्तु पुण्य- पापादि रूप गुण-दोष की जनक नहीं)। बाह्य वस्तु की अपेक्षा न रखता हुआ केवल अभ्यन्तर कारण भी– अकेला जीवादि किसी द्रव्य का परिणाम भी, गुण- दोष की उत्पत्ति में समर्थ नहीं है।'

बाह्ये तरोपाधि- समग्रतेयं ।
कार्येषु ते द्रव्यगत: स्वभाव: ।।
नैवाऽन्यथा मोक्ष-विधिश्च पुंसां ।
तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ।।५।।

कार्यों में बाह्य और आभ्यन्तर– सहकारी और उपादान, दोनों कारणों की जो यह पूर्णता है, वह आपके मत में द्रव्यगत स्वभाव है– जीवादि पदार्थगत अर्थ- क्रिया कारित्वस्वरूप है। अन्यथा- इस समग्रता अर्थात् द्रव्यगत स्वभाव के बिना अन्य प्रकार से, पुरुष के मोक्ष की विधि भी नहीं बनती- घटादिकका विधान ही नहीं किन्तु मुक्ति का विधान भी नहीं बन सकता। इसी से परमर्द्धि- सम्पन्न ऋषि- वासुपूज्य ! आप बुधजनों के अभिवन्द्य हैं– गणधरादि विबुधजनों के द्वारा पूजा-वन्दना किये जाने के योग्य हैं।

13. श्री विमल-जिन-स्तवन

य एव नित्य- क्षणिकादयो नया।
मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः।।
स एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः।
परस्परेक्षाः स्व -परोपकारिणः।।१।।

जो ही नित्य- क्षणिकादिक नय परस्पर में अनपेक्ष (स्वतन्त्र) होने से- एक दूसरे की अपेक्षा न रख कर स्वतन्त्र भाव से सर्वथा नित्य-क्षणिकादि रूप वस्तु तत्त्व का कथन करने के कारण - (पर-मतों में) स्व-पर प्रणाशी हैं- निज और पर दोनों का नाश करने वाले स्व-पर बैरी हैं, और इसलिए दुर्नय है। वे ही नय, हे प्रत्यक्षज्ञानी विमल जिन ! आपके मत में परस्पर सापेक्ष (परस्परतन्त्र) होने से- एक दूसरे की अपेक्षा रखने से, स्व-पर-उपकारी हैं- अपना और परका दोनों का भला करने वाले- दोनों का अस्तित्व बनाये रखने वाले स्व-पर-मित्र हैं, और इसलिए तत्त्व-रूप सम्यक् नय हैं।

यथैकशः कारकमर्थ- सिद्धये।
समीक्ष्य शेषं स्व-सहाय-कारकम्।।
तथैव सामान्य विशेष मातृका।
नयास्तवेष्टा गुण-मुख्य-कल्पतः।।२।।

जिस प्रकार एक एक कारक- उपादानकारण या निमित्तकारण अथवा कर्ता, कर्म आदि कारकों में से प्रत्येक, शेष-अन्य को अपना सहायक-रूप कारक अपेक्षित करके अर्थ की सिद्धि के लिए समर्थ होता है, उसी प्रकार (हे विमलजिन !) आपके मत में सामान्य और विशेष से उत्पन्न होने वाले अथवा सामान्य और विशेष को विषय

करने वाले (द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि रूप) जो नय हैं, वे मुख्य और गौण की कल्पना से इष्ट (अभिप्रेत) हैं। प्रयोजन वश सामान्य की मुख्यरूप से कल्पना (विवक्षा) होने पर विशेष की गौण-रूप से और विशेष की मुख्य रूप से कल्पना होने पर सामान्य की गौण-रूप से कल्पना होती है, एक दूसरे की अपेक्षा को कोई छोड़ता नहीं, और इस तरह सभी नय सापेक्ष होकर अपने अर्थ की सिद्धि रूप विवक्षित अर्थ के परिज्ञान में समर्थ होते हैं।

परस्परेक्षाऽन्वय-भेद-लिङ्गतः।
प्रसिद्ध- सामान्य- विशेषयोस्तव।।
समग्रताऽस्ति स्व- पराऽवभासकं।
यथा प्रमाणं भुवि बुद्धि-लक्षणम्।।३।।

परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा को लिए हुए जो अन्वय (अभेद) और भेद (व्यतिरेक) का ज्ञान होता है, उससे प्रसिद्ध होने वाले सामान्य और विशेष की (हे विमल जिन!) आपके मत में उसी तरह समग्रता (पूर्णता) है जिस तरह कि भूतल पर बुद्धि (ज्ञान) लक्षण प्रमाण स्व-पर प्रकाशक -रूप में समग्र (पूर्ण सकलादेशी) है– अर्थात् जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान-लक्षण प्रमाण लोक में स्व-प्रकाशकत्व और पर-प्रकाशकत्व-रूप दो धर्मों से युक्त हुआ अपने विषय में पूर्ण होता है और उसके ये दोनों धर्म परस्पर में विरुद्ध न होकर सापेक्ष होते हैं– स्व-प्रकाशकत्व के बिना पर-प्रकाशकत्व और परप्रकाशत्व के बिना स्व- प्रकाशकत्व बनता ही नहीं– उसी प्रकार एक वस्तु में विशेषण- विशेष्य-भाव से प्रवर्त्तमान सामान्य और विशेष ये दोनों धर्म भी परस्पर में विरोध नहीं रखते, किन्तु अविरोध रूप से सापेक्ष होते हैं– सामान्य के बिना विशेष और विशेष के बिना सामान्य अपूर्ण है। अथवा यों कहिये कि, बनतो ही नहीं,- और इसलिए दोनों के मेल से ही वस्तु में पूर्णता आती है।

विशेष्य- वाच्यस्य विशेषणं वचो।
यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत्।।
तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते।
विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम्।।४।।

वाच्यभूत विशेष्य का— सामान्य अथवा विशेष का, वह वचन जिससे विशेष्य को नियमित किया जाता है— विशेषण की नियतरूपता के साथ अवधारण किया जाता है— 'विशेषण' कहलाता है और जिसे नियमित किया जाता है, वह 'विशेष्य' है। विशेषण और विशेष्य दोनों के सामान्य-रूपता का जो अतिप्रसंग आता है, वह (हे विमल जिन!) आपके मत में नहीं बनता, क्योंकि विवक्षित विशेषण-विशेष्य से अन्य अविवक्षित विशेषण-विशेष्य का 'स्यात्' शब्द से वर्जन (परिहार) हो जाता है— 'स्यात्' शब्द की सर्वथा प्रतिष्ठा रहने से अविवक्षित विशेषण- विशेष्य का ग्रहण नहीं होता, और इसलिए अतिप्रसंग दोष नहीं आता।

नयास्तव स्यात्पद-सत्य-लांछिता।
रसोपविद्धा इव लोह- धातवः।।
भवन्त्यभिप्रेत- गुणा यतस्ततो।
भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः।।५।।

(विमल जिन !) आपके मत में जो (नित्य -क्षणिकादि) नय हैं, वे सब स्यात्पद-रूपी सत्य से चिह्नित हैं— कोई भी नय 'स्यात्' शब्द के आशय (कथंचित् के भाव) से शून्य नहीं है, भले ही 'स्यात्' शब्द साथ में लगा हुआ हो या न हो— और रसोपविद्ध लोह-धातुओं के समान— पारे अनुविद्ध हुई लोहा ताम्बा आदि धातुओं की तरह, अभिमत फल को फलते हैं— यथा स्थित वस्तु तत्त्व के प्ररूपण में

समर्थ होकर सन्मार्ग पर ले जाते हैं। इसी से अपना हित चाहने वाले आर्यजनों ने आपको प्रणाम किया है – उत्तम पुरुष सदा ही आपके सामने नत-मस्तक हुए हैं।

14. श्री अनन्त -जिन-स्तवन

अनन्त-दोषाऽऽशय-विग्रहो ग्रहो।
विषंगवान्मोह- मयश्चिरं हृदि।।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता।
त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित्।।१।।

जिसका शरीर अनन्त दोषों का- राग-द्वेष कामक्रोधादिक अगणित विकारों का, आधारभूत है (और इसीलिए अनन्त संसार परिभ्रमण का कारण है) ऐसा मोहनीय ग्रह- पिशाच, जो चिरकाल से हृदय में चिपटा हुआ था– आत्मा के साथ सम्बद्ध होकर उस पर आतंक जमाए हुए था, वह चूँकि तत्त्वश्रद्धान में प्रसन्नता धारण करने वाले आपके द्वारा पराजित- निर्मूलित, किया गया है, इसलिए आप भगवान् 'अनन्तजित्' हुए हैं– आपकी 'अनन्तजित्' यह संज्ञा सार्थक है।

कषाय-नाम्नां द्विषतां प्रमाथिना-।
मशेषयन्नाम भवानशेषवित्।।
विशोषणं मन्मथ- दुर्मदाऽऽमयं।
समाधि-भैषज्य-गुणैर्व्यलीनयत्।।२।।

(हे भगवन) आप 'कषाय' नाम के पीड़नशील शत्रुओं का (हृदय में) नाम नि:शेष करते हुए– उनका आत्मा से पूर्णत: सम्बन्ध विच्छेद करते हुए अशेषवित्- सर्वज्ञ, हुए हैं और आपने कामदेव

के दुरभिमान-रूप आतंक को, जो कि विशेष-रूप से शोषक- सन्तापक है, समाधि-रूप- प्रशस्त ध्यानात्मक, औषध के गुणों से विलीन किया है- विनाशित किया है।

परिश्रमाम्बुर्भय-वीचि मालिनी।
त्वया स्वतृष्णा- सरिदाऽर्य ! शोषिता।।
असङ्ग -घर्मार्क -गभस्ति- तेजसा।
परं ततो निर्वृति- धाम तावकम्।।३।।

जिसमें परिश्रम रूप जल भरा है और भय-रूप तरंगमालाएं उठती हैं, उस अपनी तृष्णा-नदी को हे आर्य- अनन्तजित् ! आपने अपरिग्रह- रूप ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों के तेज से सुखा डाला है, इसलिए आप का निर्वृति तेज उत्कृष्ट है।

(इस पर से स्पष्ट है कि- तृष्णा को जीतने का अमोघ उपाय अपरिग्रह व्रत का भले भकार पालन है। परिग्रह के रहते तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ा करती है, जिससे उसका जीतना प्रायः नहीं बनता।)

सुहृत्त्वयि श्री- सुभगत्वमश्नुते।
द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते।।
भवानुदासी नत मस्तयोरपि।
प्रभो ! परं चित्रमिदं तवेहितम्।।४।।

हे भगवन् ! जो आप में अनुराग- भक्ति-भाव, रखता है, वह श्रीविशिष्ट सौभाग्य को- ज्ञानादिक-लक्ष्मी के आधिपत्य आदि को प्राप्त करता है, जो आप में द्वेष-भाव रखता है, वह प्रत्यय की तरह- व्याकरण-शास्त्र में प्रसिद्ध 'क्विप्' प्रत्यय के समान अथवा क्षणस्थायी इन्द्रियजन्य ज्ञान के समान, विलीन (नष्ट) हो जाता है- नरकादिक दुर्गतियों में जा पड़ता है। परन्तु आप अनुरागी (मित्र) और द्वेषी (शत्रु)

दोनों में अत्यन्त उदासीन रहते हैं– न किसी का नाश चाहते हैं और न किसी की श्रीवृद्धि, फिर भी मित्र और शत्रु स्वयं ही उक्त फल को प्राप्त हो जाते हैं– यह आपका ईहित– चारित्र, बड़ा ही विचित्र है– अद्‌भुत माहात्म्य को प्रकट करता अथवा गुप्त रहस्य का सूचक है।

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम।
प्रलाप-लेशोऽल्प-मतेर्महामुने!।।
अशेष- माहात्म्यमनीरयन्नपि।
शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः।।५।।

(हे भगवन्!) आप ऐसे हैं- वैसे हैं– आपके ये गुण हैं-वे गुण हैं, इस प्रकार मुझ अल्पमति का– यथावत् गुणों के परिज्ञान से रहित स्तोता का, यह स्तुति-रूप थोड़ा-सा प्रलाप है। (तब क्या यह निष्फल होगा? नहीं) अमृत समुद्र के अशेष-माहात्म्य को न जानते और न कथन करते हुए भी जिस प्रकार उसका संस्पर्श कल्याणक-कारक होता है। उसी प्रकार हे महामुने! आपके अशेष-माहात्म्य को न जानते और न कथन करते हुए भी मेरा यह थोड़ा-सा प्रलाप आपके गुणों के संस्पर्श-रूप होने से कल्याण का ही हेतु है।

15. श्रीधर्म-जिन स्तवन

धर्म-तीर्थ मनघं प्रवर्तयन्।
धर्म-इत्यनुमतः सतां भवान्।।
कर्म-कक्षमदहत्तपोऽग्निभिः।
शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः।।१।।

(हे धर्मजिन!) अनवद्य-धर्म-तीर्थ को– सम्यग्दर्शनादि -रूप धर्म-तीर्थ को अथवा सम्यग्दर्शनाद्यात्मक -धर्म के प्रतिपादक आगम

तीर्थ को (लोक में) प्रवर्तित करते हुए आप सत्पुरुषों द्वारा 'धर्म' इस सार्थक संज्ञा को लिए हुए माने गये हैं। आपने (विविध) तप-रूप अग्नियों से कर्म-वन को जलाया है, (फलतः) शाश्वत- अविनश्वर, सुख प्राप्त किया है। (और इसलिए) आप शंकर हैं- कर्म-वन को दहन कर धर्म-तीर्थ को प्रवर्तित कर सकल प्राणियों को सुख के करने वाले हैं।

देव- मानव - निकाय सत्तमै।
रेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः।।
तारका- परिवृतोऽतिपुष्कलो।
व्योमनीव शशलांछनोऽमलः।।२।।

जिस प्रकार निर्मल- घन-पटलादि मल से रहित- पूर्ण चन्द्रमा आकाश में ताराओं से परिवेष्टित हुआ शोभता है, उसी प्रकार (हे धर्मजिन !) आप देव और मनुष्यों के उत्तम समूहों से परिवेष्टित तथा गणधरादि बुधजनों से परिवेष्टित (सेवित) हुए (समवशरण-सभा में) शोभा को प्राप्त हुए हैं।

प्रातिहार्य- विभवैः परिष्कृतो।
देहतोऽपि विरतो भवानभूत्।।
मोक्ष मार्गमशिषन्नरामरान्।
नाऽपि शासन- फलैषणाऽऽतुरः।।३।।

प्रातिहार्यों और विभवों से- छत्र, चमर सिंहासन, भामण्डल, अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, देवदुन्दुभि और दिव्य-ध्वनि-रूप आठ प्रकार के चमत्कारों तथा समवशरणादि विभूतियों से, विभूषित होते हुए भी आप उन्हीं से नहीं किन्तु देह से भी विरक्त रहे हैं- अपने शरीर से भी आपको ममत्व एवं रागभाव नहीं रहा। (फिर भी तीर्थंकर

-प्रकृति -रूप पुण्य-कर्म के उदय से) आपने मनुष्यों तथा देवों को मोक्षमार्ग सिखलाया है-- मुक्ति की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप अमोघ उपाय बतलाया है। परन्तु आप शासन-फल की एषणा से आतुर नहीं हुए-- कभी आपने यह इच्छा नहीं की कि मेरे उपदेश का फल जनता की भक्ति अथवा उसकी कार्यसिद्धि आदि के रूप में शीघ्र प्रकट होवे और यह सब परिणति आपकी वीतरागता, परिमुक्तता और उच्चता का द्योतक है। जो शासन-फल के लिए आतुर रहते हैं वे ऐश्वर्यशाली होते हुए भी क्षुद्र संसारी जीव होते हैं। इसी से वे प्राय: दम्भ के शिकार होते हैं और उनसे सच्चा शासन बन नहीं सकता।

काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयो।
नाऽभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।।
नाऽसमीक्ष्य भवत: प्रवृत्तयो।
धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम्।।४।।

आप प्रत्यक्षज्ञानी, मुनि के मन-वचन-काय की प्रवृत्तियां प्रवृत्त करने की इच्छा से नहीं हुई-- (तब क्या असमीक्ष्यकारित्त्व के रूप में हुई?) यथावत् वस्तुस्वरूप को न जानकर असमीक्ष्यकारित्व के रूप में भी वे नहीं हुई। इस तरह हे धीर-धर्मजिन ! आपका ईहित-चारित्र, अचिन्त्य है-- उसमें वे सब प्रवृत्तियाँ बिना आपकी इच्छा और असमीक्ष्यकारिता के तीर्थंकर- नामकर्मोदय तथा भव्य जीवों के अदृष्ट (भाग्य) विशेष के वश से होती है।

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्।
देवतास्वपि च देवता यत:।।

तेन नाथ ! परमाऽसि देवता।
श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः।।५।।

हे नाथ ! चूंकि आप मानुषी प्रकृति को– मानव स्वभाव को, अतिक्रांत कर गये हैं और देवताओं में भी देवता हैं– पूज्य हैं, इसलिए आप परम उत्कृष्ट देवता हैं– पूज्यतम है। अतः हे धर्मजिन ! आप हमारे कल्याण के लिए प्रसन्न होवें– हम प्रसन्नतापूर्वक रसायन -सेवन की तरह आपका आराधन करके संसार -रोग मिटाते हुए अपना पूर्ण स्वास्थ्य (मोक्ष) सिद्ध करने में समर्थ होवें।

16. श्री शांति जिन- स्तवन

विधाय रक्षां परतः प्रजानां।
राजा चिरं योऽप्रतिम- प्रतापः।।
व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्ति-।
र्मुनिर्दया-मूर्तिरिवाऽघशान्तिम्।।१।।

जो शान्ति-जिन! पर से- शत्रुओं से, प्रजाजनों की रक्षा करके चिरकाल तक अप्रतिम-प्रताप के– अनुपम पराक्रम के, धारक राजा हुए और फिर जिन्होंने स्वयं ही-बिना किसी के उपदेश के, मुनि होकर दयामूर्ति की तरह प्रथम ही (हिंसादि) पापों की शान्ति की।'

चक्रेण यः शत्रु–भयंकरेण।
जित्वा नृपः सर्व–नरेन्द्र–चक्रम्।।
समाधि–चक्रेण पुनर्जिगाय।
महोदयो दुर्जय–मोह–चक्रम्।।२।।

जो– गृहस्थावस्था में, शत्रुओं के लिए भय उपजाने वाले चक्र से सर्व नरेन्द्र चक्र को- सम्पूर्ण राजाओं के समूह को, जीत कर चक्री

नृप चक्रवर्ती सम्राट हुए और बाद में (मुनि अवस्था में) समाधि चक्र से – धर्मध्यान -शुक्लध्यान के प्रभाव से, दुर्जय मोह चक्र को– मोहनीय कर्म की मूलोत्तर-प्रकृति प्रपंच को जीतकर जो महान उदय को- अपने पूर्ण विकास को, प्राप्त हुए हैं।

राज-श्रिया राजसु राज- सिंहो।
रराज यो राज- सुभोग -तन्त्रः।।
आर्हन्त्य- लक्ष्म्या पुनरात्म-तन्त्रो।
देवाऽसुरोदार-सभे रराज।।३।।

जो राजेन्द्र, राजाओं के योग्य सुभोगों के अधीन हुए अथवा उन्हें स्वाधीन– (अधिकाधिक रूप में प्राप्त) किये हुए, राज-लक्ष्मी से राजाओं में शोभा को प्राप्त हुए वे ही फिर– (परम वीतराग अवस्था में), आत्माधीन हुए– आत्मा को कर्मबन्ध से छुड़ाकर स्वाधीन किये हुए, आर्हन्त्य-लक्ष्मी से-अनन्त-ज्ञानादि रूप अंतरंग और अष्ट महाप्रातिहार्यादि रूप बहिरंग विभूति से, देवों तथा असुरों– (अदेवों) मनुष्यादिकों की महती– (समवशरणवर्तिनी) सभा में शोभा को प्राप्त हुए हैं।

यस्मिन्नभूद्राजनि राज- चक्रं।
मुनौ दया- दीधिति-धर्म-चक्रम्।।
पूज्ये मुहुः प्रांजलि देव- चक्रं।
ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्त- चक्रम्।।४।।

जिनके राजा होने पर राजाओं का समूह हाथ जोड़े खड़ा रहा, मुनि होने पर दया की किरणों वाला धर्मचक्र प्रांजलि हुआ– आत्माधीन बना, पूज्य होने पर– धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने पर, देवों का समूह पुनः पुनः हाथ जोड़े खड़ा रहा और ध्यान के सन्मुख

होने पर– व्युपरतक्रियानिवृतिलक्षण- योग के चरम- समय में, कृतान्तचक्र– कर्मों का अवशिष्ट समूह, नाश को प्राप्त हुआ।

स्वदोष- शान्त्या विहिताऽऽत्मशान्तिः।
शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।।
भूयाद्भव- क्लेश- भयोपशान्त्यै।
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः।।५।।

जिन्होंने अपने दोषों की– अज्ञान तथा राग-द्वेष-काम-क्रोधादि विकारों की, शान्ति करके– पूर्ण निर्वृत्ति करके, आत्मा में शान्ति स्थापित की है– पूर्ण सुखस्वरूप स्वाभाविक स्थिति प्राप्त की है, और-इसलिए जो शरणागतों के लिए शान्ति के विधाता हैं वे भगवान शान्ति जिन मेरे शरण्य हैं– शरणभूत हैं। अतः मेरे संसारपरिभ्रमण की, क्लेशों की, भयों की उपशान्ति के लिए निमित्तभूत होवें।'

17. श्री कुन्थु-जिन-स्तवन

कुन्थु-प्रभृत्यखिल- सत्त्व-दयैकतानः।
कुन्थुर्जिनो ज्वर-जरा-मरणोपशान्त्यै।।
त्वं धर्म-चक्रमिह वर्तयसि स्म भूत्यै।
भूत्वा पुरः क्षितिपतीश्वर- चक्रपाणिः।।१।।

कुन्थ्वादि सकल प्राणियों पर दया के अनन्य विस्तार को लिए हुए हे कुन्थुजिन ! आपने पहले (गृहस्थावस्था में) राज्यविभूति के निमित्त राजाओं के स्वामी चक्रवर्ती होकर तथा बाद में ज्वरादि रोग, जरा (बुढ़ापा) और मरण की उपशान्ति-रूप मुक्ति-विभूति के लिए इस लोक में धर्म-चक्र को प्रवर्तित किया है– अर्थात् आप चक्रवर्ती और तीर्थंकर दोनों महान् पदों को प्राप्त हुए हैं।

तृष्णाऽर्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-।
मिष्टेन्द्रियार्थ-विभवैः परिवृद्धिरेव।।
स्थित्यैव काय- परिताप- हरं निमित्त-।
मित्यात्मवान् विषय- सौख्य पराङ्मुखोऽभूत्।।२।।

तृष्णा (विषयाकांक्षा) रूप अग्नि ज्वालाएं स्वभाव से ही सन्तापित करती हैं। इनकी शान्ति अभिलषित इन्द्रिय-विषयों की सम्पत्ति से प्रचुर परिमाण में सम्प्राप्ति से नहीं होती, उल्टी वृद्धि ही होती है, क्योंकि वस्तु- स्थिति ऐसी ही है- इन्द्रिय-विषयों को जितना अधिक सेवन किया जाता है, उतनी ही अधिक उनके और सेवन की तृष्णा बढ़ती रहती है। सेवन किये हुए इन्द्रिय-विषय (मात्र कुछ समय के लिए) शरीर के सन्ताप को मिटाने के निमित्तमात्र हैं– तृष्णा-रूप अग्नि- ज्वालाओं को शान्त करने में समर्थ नहीं होते। यह सब जान कर हे आत्मवान्! – इन्द्रियविजेता भगवन्! आप विषय-सौख्य से पराङ्मुख हुए हैं– आपने चक्रवर्तित्व की सम्पूर्ण विभूति को हेय समझते हुए उनसे मुख मोड़ कर अपना पूर्ण आत्मविकास सिद्ध करने के लिए स्वयं ही वैराग्य लिया है– जिन दीक्षा धारण की है।

बाह्यं तपः परम-दुश्चरमाऽऽचरंस्त्व।
माऽऽध्यात्मिकस्य तपसः परिबृहणार्थम्।।
ध्यानं निरस्य कलुष- द्वयमुत्तरस्मिन्।
ध्यान- द्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने।।३।।

(वैराग्य लेकर) आपने आध्यात्मिक तप की– आत्मध्यान की, परिवृद्धि के लिए अत्यन्त कठिन बाह्य तप– अनशनादि रूप- घोर-दुर्द्धर तपश्चरण किया है और (इस बाह्यतपश्चरण को करते हुए)

आप आर्तरौद्र-रूप दो कलुषित (खोटे) ध्यानों का निराकरण करके, उत्तरवर्ती- धर्म और शुक्ल नामक, दो सातिशय (प्रशस्त) ध्यानों में प्रवृत्त हुए हैं।

हुत्वा स्व-कर्म-कटुक-प्रकृतीश्चतस्रो।
रत्नत्रयाऽतिशय- तेजसि जात-वीर्यः।।
बभ्राजिषे सकल-वेद- विधेर्विनेता।
व्यभ्रे यथा वियति दीप्त- रुचिर्विवस्वान्।।४।।

(सातिशय ध्यान करते हुए हे कुन्थुजिन!) आप अपने कर्मों की चार कटुक प्रकृतियों को- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नाम के चार घातिया कर्मों को, रत्नत्रय की- सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की सातिशय अग्नि में- परम शुक्लध्यान- रूप- वह्नि में, भस्म करके जातवीर्य हुए हैं- शक्तिसम्पन्न बने हैं- और सकलवेद-विधि के - सम्पूर्ण लोकाऽलोक- विषय-ज्ञान-विधायक आगम के प्रणेता होकर ऐसे शोभायमान हुए हैं, जैसे कि- घनपटल-विहीन आकाश में दीप्त किरणों को लिए हुए सूर्य शोभता है।

यस्मान्मुनीन्द्र ! तव लोक- पितामहाद्या।
विद्या-विभूति-कणिकामपि नाप्नुवन्ति।।
तस्माद्भवन्त मजमप्रतिमेयमार्याः।
स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्व- हितैकतानाः।।५।।

हे मुनीन्द्र श्रीकुन्थुनाथ जिन ! चूँकि लोकपितामहादिक- ब्रह्मा-विष्णु-महेश- कपिल- सुगतादिक, आपकी विद्या (केवलज्ञान) की और विभूति की- समवशरणादि लक्ष्मी की, एक कणिका को भी

प्राप्त नहीं है, इसलिए आत्महित- साधन की धुन में लगे हुए श्रेष्ठ सुधीजन- गणधरादिक, पुनर्जन्म से रहित आप अद्वितीय स्तुत्य (स्तुति पात्र) की स्तुति करते हैं।

18. श्री अर-जिन-स्तवन

गुण-स्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्व-कथा स्तुतिः।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम्।।१।।

विद्यमान गुणों की अल्पता को उल्लंघन करके जो उनके बहुत्व की कथा की जाती है– उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है, उसे लोक में स्तुति कहते हैं। वह स्तुति (हे अर-जिन!) आप में कैसे बन सकती है? नहीं बन सकती। क्योंकि आपके गुण अनन्त होने से पूरे तौर पर कहा ही नहीं जा सकते– बढ़ा-चढ़ा कर कहने की तो फिर बात ही दूर है।

तथाऽपि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामाऽपि कीर्तितम्।
पुनाति पुण्य- कीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन।।२।।

(यद्यपि आपके गुणों का कथन करना अशक्य है) फिर भी आप पुण्यकीर्ति मुनीन्द्र का चूंकि नाम- कीर्तन भी– भक्तिपूर्वक नाम का उच्चारण भी, हमें पवित्र करता है। इसलिए हम आपके गुणों का कुछ लेशमात्र कथन (यहां) करते हैं।

लक्ष्मी-विभव- सर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्र-लाञ्छनम्।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाऽभवत्।।३।।

लक्ष्मी की विभूति के सर्वस्व को लिए हुए जो चक्रलाञ्छन– चक्रवर्ती का सार्वभौम साम्राज्य आपको प्राप्त था, वह मुमुक्ष होने पर– मोक्ष प्राप्ति की इच्छा को चरितार्थ करने के लिए उद्यत होने पर,

आपके लिए जीर्ण तृण के समान हो गया– आपने उसे निःसार समझ कर त्याग दिया।

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्।
द्वयक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहु- विस्मयः।।४।।

आपके रूप-सौन्दर्य को देख कर दो नेत्रों वाला इन्द्र तृप्ति को प्राप्त न हुआ– उसे आपको अधिकाधिक-रूप से देखने की लालसा बनी ही रही – (और इसलिए विक्रिया-द्वारा) वह सहस्र नेत्र बना कर देखने लगा, और बहुत ही आश्चर्य को प्राप्त हुआ।'

मोहरूपो रिपुः पापः कषाय-भट-साधनः।
दृष्टि-संवि दुपेक्षाऽस्त्रैस्त्वया धीर ! पराजितः।।५।।

कषाय-भटों की– क्रोध-मान-माया-लोभादिक की, सैन्य से युक्त जो मोह-रूप- मोहनीय-कर्म-रूप, पापी शत्रु हैं– आत्मा के गुणों का प्रधान रूप से घात करने वाला है, उसे हे धीर अरजिन ! आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा- परमौदासीन्य- लक्षण सम्यक्चारित्र, रूप अस्त्र-शस्त्रों से पराजित कर दिया है।'

कन्दर्पस्योद्धरो दर्पस्त्रैलोक्य- विजयार्जितः।
ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः।।६।।

तीन लोक की विजय से उत्पन्न हुए कामदेव के उत्कट दर्प को– महान् अहंकार को, आपने लज्जित किया है। आप धीरवीर- अक्षुभितचित्त, मुनीन्द्र के सामने कामदेव हतोदय– प्रभावहीन हो गया– उसकी एक भी कला न चली।'

आयत्यां च तदात्वे च दु:ख-योनिर्दुरुत्तरा।
तृष्णा-नदी त्वयोत्तीर्णा विद्या-नावा विविक्तया।।७।।

आपने उस तृष्णा-नदी को निर्दोष ज्ञान-नौका से पार किया है जो इस लोक तथा परलोक में दु:खों की योनि है– कष्ट परम्परा को उत्पन्न करने वाली है, और जिसका पार करना आसान नहीं है– बड़े कष्ट से जिसे तिरा (पार किया) जाता है।

अन्तक: क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वर-सखः सदा।
त्वामन्तकाऽन्तकं प्राप्य व्यावृत्त: काम-कारत:।।८।।

पुनर्जन्म और ज्वरादिक रोगों का मित्र अन्तक-यम सदा मनुष्य को रुलाने वाला है, परन्तु आप अन्तक का अन्त करने वाले हैं, आपको प्राप्त होकर अन्तक-काल अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति से उपरत हुआ है– उसे आपके प्रति अपना स्वेच्छ व्यवहार बन्द करना पड़ा है।

भूषा-वेषाऽऽयुध- त्यागि विद्या-दम-दया-परम्।
रूपमेव तवाऽऽचष्टे धीर ! दोष-विनिग्रहम्।।९।।

हे धीर अर- जिन! आभूषणों, वेषों तथा आयुधों का त्यागी और ज्ञान, कषायेन्द्रिय-जय तथा दया की उत्कृष्टता को लिए हुए आपका रूप ही इस बात को बतलाता है कि आपने दोषों का पूर्णतया निग्रह (विजय) किया है– क्योंकि राग तथा अहंकार का निग्रह किये बिना कटक- केयूरादि आभूषणों तथा जटा-मुकुट-रक्ताम्बरादि रूप वेषों के त्यागने में प्रवृत्ति नहीं होती, द्वेष तथा भय का निग्रह किये बिना शस्त्रास्त्रों का त्याग नहीं बनता, अज्ञान का नाश किये बिना ज्ञान में उत्कृष्टता नहीं आती, मोह का क्षय किये बिना कषायों और इन्द्रियों का पूरा दमन नहीं बनता और हिंसावृत्ति, द्वेष तथा लौकिक स्वार्थ को छोड़े बिना दया में तत्परता नहीं आती।'

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा।
तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यान- तेजसा।।१०।।

सब ओर से निकलने वाले आपके शरीर- तेजों के बृहत् परिमण्डल से– विशाल प्रभामण्डल से, आपका बाह्य अन्धकार दूर हुआ और ध्यान-तेज से आध्यात्मिक- ज्ञानावरणादि रूप भीतरी अन्धकार नाश को प्राप्त हुआ है।

सर्वज्ञ- ज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदयः।
कं न कुर्यात्प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ ! सचेतनम्।।११।।

हे नाथ अरजिन ! सर्वज्ञ की ज्योति से– ज्ञानोत्कर्ष से, उत्पन्न हुआ आपके माहात्म्य का उदय किस सचेतन प्राणी को- गुण-दोष के विवेक में चतुर जीवात्मा को, प्रणम्रशील नहीं बनाता? सभी को आपके आगे नत-मस्तक करता है।

तव वागमृतं श्रीमत्सर्व भाषा स्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि।।१२।।

सर्व भाषाओं में परिणत होने के स्वभाव को लिए हुए और समवशरण- सभा में व्याप्त हुआ आपका श्रीसम्पन्न– सकलार्थ के यथार्थ प्रतिपादन की शक्ति से युक्त, वचनामृत प्राणियों को उसी प्रकार तृप्त- सन्तुष्ट करता है जिस प्रकार कि अमृत-पान।

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः।।१३।।

हे अरजिन ! आपकी अनेकान्तदृष्टि– (अनेकान्तात्मक-मत-प्रवृत्ति) सती-सच्ची है, इससे विपरीत जो एकान्त मत है वह शून्यरूप असत् है। अतः जो कथन अनेकान्त-दृष्टि से रहित- एकान्त दृष्टि

को लिए हुए है वह सब मिथ्या है, क्योंकि वह अपना ही– सत्-असत् आदिरूप एकान्तमत का ही घातक है– अनेकान्त के बिना एकान्त की स्वरूप प्रतिष्ठा बन ही नहीं सकती।

ये परस्खलितोन्निद्राः स्व- दोषेभ- निमीलिनाः।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मत- श्रियः।।१४।।

जो एकान्तवादी जन, पर में– अनेकान्त में, विरोधादि दोष देखने के लिए उन्निद्र– जागृत रहते हैं और सत् आदि एकान्त में, दोषों के प्रति गज- निमीलिन का व्यवहार करते हैं, उन्हें देखते हुए भी न देखने का ढोंग बनाते हैं, वे बेचारे क्या करें? – उनमें स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का दूषण बन नहीं सकता। (क्योंकि) वे आपके अनेकान्त- मत की– यथार्थ वस्तुस्वरूप– विवेचकत्व- लक्षण, श्री के पात्र नहीं हैं– सर्वथा एकान्तपक्ष को अपनाने से उसके योग्य ही नहीं रहे।

ते तं स्वघातिनं दोषं शमी कर्तुमनीश्वराः।
त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वाऽवक्तव्यतां श्रिता।।१५।।

वे एकान्तवादी जन, जो उस – पूर्वोक्त, स्वघाति-दोष को दूर करने के लिए असमर्थ हैं, आपसे– आपके अनेकान्तवाद से द्वेष रखते हैं, आत्मघाती हैं– अपने सिद्धांत का घात स्वयं अपने हाथों करते हैं, और – यथावद्वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ, बालक हैं– इसी से उन्होंने तत्त्व की अवक्तव्यता का आश्रय लिया है– वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है ऐसा प्रतिपादन किया है।

सदेक-नित्य-वक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते।।१६।।

सत्, एक, नित्य, वक्तव्य और इनके विपक्षरूप असत्, अनेक, अनित्य, अवक्तव्य ये जो नय-पक्ष हैं वे यहां सर्वथा-रूप में तो अति दूषित हैं और स्यात् -रूप में पुष्टि को प्राप्त होते हैं। अर्थात् सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा एक (अद्वैत), सर्वथा अनेक, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा वक्तव्य और सर्वथा अवक्तव्यरूप में जो मत पक्ष हैं, वे सब दूषित (मिथ्या) नय हैं स्वेष्ट में बाधक हैं और स्यात् सत्, स्यात् असत्, स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् वक्तव्य और स्यात् अवक्तव्यरूप में जो नय-पक्ष हैं, वे सब पुष्ट (सम्यक्) नय हैं स्वकीय अर्थ का निर्बाध रूप से प्रतिपादन करने में समर्थ हैं।

सर्वथा-नियम-त्यागी यथा दृष्टमपेक्षक:।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम्।।१७।।

सर्वथा रूप से- सत् ही है, असत् ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि रूप से- प्रतिपादन के नियम का त्यागी, और यथा दृष्टि को- जिस प्रकार सत्-असत् आदि रूप से वस्तु- प्रमाण प्रतिपन्न है उसको -अपेक्षा में रखने वाला जो 'स्यात्' शब्द है वह आपके- अनेकान्त वादी जिनदेव के- न्याय में है, (त्वन्मत-बाह्य) दूसरों के- एकान्तवादियों के- न्याय में नहीं है, जो कि अपने वैरी आप हैं।

अनेकान्तोऽप्यनेकान्त: प्रमाण-नय-साधन:।
अनेकान्त: प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।।१८।।

आपके मत में अनेकान्त भी- सम्यक् एकान्त ही नहीं किन्तु अनेकान्त भी- प्रमाण और नयसाधनों (दृष्टियों) को लिए हुए अनेकान्तस्वरूप- कथञ्चित् एकान्तस्वरूप-है। प्रमाण की दृष्टि से

अनेकांतरूप सिद्ध होता है (सकलादेश: प्रमाणाधीन:' इस वाक्य के आशयानुसार) और विवक्षित नय की अपेक्षा से अनेकान्त में एकान्त रूप– प्रतिनियतधर्मरूप– सिद्ध होता है (विकलादेश: न्यायाधीन:' इस वाक्य के आशयानुसार।)

इति निरुपम युक्ति शासन:।
प्रिय-हित योग गुणाऽनुशासन:।।
अर-जिन! दम-तीर्थ-नायक-।
स्त्वमिव सतां प्रतिबोधनाय क:?।।१९।।

इस प्रकार हे अरजिन ! आप निरुपम-युक्त-शासन हैं– उपमा-रहित और प्रमाण -प्रसिद्ध शासन मत के प्रवर्तक हैं, प्रिय तथा हितकारी योगों के – मनवचन काय की प्रवृत्तियों अथवा समाधि के, और गुणों के– सम्यग्दर्शनादिक के, अनुशासक हैं, साथ ही दम-तीर्थ के नायक हैं– कषाय तथा इन्द्रियों की जय के विधायक प्रवचन-तीर्थ के स्वामी हैं। आपके समान फिर साधुजनों को प्रतिबोध देने के लिए और कौन समर्थ है? कोई भी समर्थ नहीं है। आप ही समर्थ हैं।

मति-गुण- विभवानुरूपत-।
स्त्वयि वरदाऽऽगम- दृष्टिरूपत:।।
गुण-कृशमपि किंचनोदितं।
मम भवताद् दुरितासनोदितम्।।२०।।

हे वरद– अरजिन ! मैंने अपनी मत-शक्ति की सम्पत्ति के अनुरूप– जैसी मुझे- बुद्धि शक्तिप्राप्त हुई है, उसके अनुसार, तथा आगम की दृष्टि के अनुसार– आगम में कथित गुणों के आधार पर,

आपके विषय में कुछ थोड़े से गुणों का कीर्तन किया है, यह गुण कीर्तन मेरे पाप कर्मों के विनाश में समर्थ होवे– इसके प्रसाद से मेरी मोहनीयादि पाप- कर्म प्रकृतियों का क्षय होवे।'

19. श्री मल्लि-जिन-स्तवन

यस्य महर्षेः सकल-पदार्थ-।
प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात्।।
साऽमर-मर्त्यं जगदपि सर्वं।
प्रांजलि भूत्वा प्रणिपतति स्म।।१।।

जिन महर्षि के सकल-पदार्थों का प्रत्यवबोध – जीवादि सम्पूर्ण पदार्थों को सब ओर से अशेष- विशेष को लिए हुए जानने वाला परिज्ञान (केवलज्ञान), साक्षात (इन्द्रिय-श्रुतादि-निरपेक्ष प्रत्यक्ष) रूप से उत्पन्न हुआ, (और इसलिए) जिन्हें देवों तथा मनुष्यों के साथ सारे ही जगत ने हाथ जोड़कर नमस्कार किया, (उन मल्लि जिन की मैंने शरण ली है)'।

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव।
स्व स्फुरदाभा कृत परिवेषा।।
वागपि तत्त्वं कथयितुकामा।
स्यात्पद पूर्वा रमयति साधून्।।२।।

जिनकी मूर्ति- शरीराकृति, सुवर्णनिर्मित –जैसी है और स्फुरायमान आभा से परिमण्डल किये हुए हैं–सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करने वाला भामण्डल बनाये हुए है, वाणी भी जिनकी स्यात् पदपूर्वक यथावत् वस्तुतत्त्व का कथन करने वाली है और साधुजनों को रमाती है– आकर्षित करके अपने में अनुरक्त करती है, (उन मल्लि-जिनकी

मैंने शरण ली है।

यस्य पुरस्ताद्विगलित माना।
न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते।।
भूरपि रम्या प्रतिपदमासी।
ज्जात विकोशाम्बुज मृदु हासा।।३।।

जिनके सामने गलितमान हुए प्रतितीर्थिजन- एकान्तवाद मतानुयायी, पृथ्वी पर विवाद नहीं करते थे और पृथ्वी भी– (जिनके विहार के समय) पद-पद पर विकसित कमलों से मृदु- हास्य को लिए हुए रमणीक हुई थी– (उन मल्लि जिनकी मैंने शरण ली है।)

यस्य समन्ताज्जिन शिशिरांशो:।
शिष्यक साधु ग्रह विभवोऽभूत्।।
तीर्थमपि स्वं जनन समुद्र।
त्रासित सत्त्वोत्तरण पथोऽग्रम्।।४।।

(अपनी शीतल-वचन-किरणों के प्रभाव से संसार-ताप को शान्त करने वाले) जिन-जिनेन्द्र-चन्द्र का विभव (ऐश्वर्य) शिष्य साधु-ग्रहों के रूप में हुआ था– प्रचुर परिमाण में शिष्य-साधुओं के समूह से जो व्याप्त थे, जिनका आत्मीय तीर्थ– शासन भी संसार -समुद्र से भयभीत प्राणियों को पार उतरने के लिए प्रधान मार्ग बना है– (उन मल्लि जिनेन्द्र की मैंने शरण ली है।)

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि-।
र्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत्।।
तं जिन- सिंहं कृतकरणीयं।
मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि्।।५।।

और जिनकी शुक्लध्यान-रूप परम तपोऽग्नि ने अनन्त दुरित को- अन्त को प्राप्त न होने वाले (परम्परा से चले आने वाले) कर्माष्टक को, भस्म किया था।

उन (उक्त गुणविशिष्ट) कृतकृत्य और अशल्य- माया-मिथ्या-निदान शल्यवर्जित, मल्लिजिनेन्द्र की मैं शरण में प्राप्त हुआ हूं- इस शरण-प्राप्ति द्वारा उस अनन्त दुरित-रूप कर्मशत्रु से मेरी रक्षा होवे।

20. श्री मुनिसुव्रत-जिन स्तवन

अधिगत- मुनि-सुव्रत- स्थिति।
मुनि-वृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः।।
मुनि- परिषदि निर्बभौ भवा।
नुडु- परिषत्परिवीत- सोमवत्।।१।।

मुनियों के सुव्रतों की- मूलोत्तर गुणों की स्थिति को अधिगत करने वाले- उसे भले प्रकार जानने वाले ही नहीं, किन्तु स्वतः के आचरण- द्वारा अधिकृत करने वाले- (और इसलिए) 'मुनि-सुव्रत' इस अन्वर्थ संज्ञा के धारक हे निष्पाप (घाति-कर्म चतुष्टय-रूप पाप से रहित) मुनिराज! आप मुनियों की परिषद् में- गणधरादि ज्ञानियों की सभा (समवशरण) में- उसी प्रकार शोभा को प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि नक्षत्रों के समूह से परिवेष्टित चन्द्रमा शोभा को प्राप्त होता है।

परिणत-शिखि-कण्ठ-रागया।
कृत-मद-निग्रह-विग्रहाऽऽभया।।
तव जिन ! तपसः प्रसूतया।
ग्रह- परिवेष रुचेव-शोभितम्।।२।।

मद-मदन अथवा अहंकार के निग्रहकारक- निरोधसूचक, शरीर के धारक हे मुनिसुव्रत जिन ! आपका शरीर तप से उत्पन्न हुई तरुण-मोर के कण्ठवर्ण- जैसी आभा से उसी प्रकार शोभित हुआ है, जिस प्रकार कि ग्रहपरिवेष की– चन्द्रमा के परिमण्डल की दीप्ति शोभती है।

शशि-रुचि-शुचि-शुक्ल-लोहितं।
सुरभितरं विरजो निजं वपुः।।
तव शिवमतिविस्मयं यते!।
यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम्।।३।।

हे यतिराज ! आपका अपना शरीर चन्द्रमा की दीप्ति के समान निर्मल शुक्ल रुधिर से युक्त, अतिसुगन्धित, रजरहित, शिव-स्वरूप (स्वपर-कल्याणमय) तथा अति आश्चर्य को लिए हुए रहा है और आपके वचन तथा मन की जो प्रवृत्ति हुई है, वह भी शिव-स्वरूप तथा अति आश्चर्य को लिए हुए हुई है।

स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणं।
चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्।।
इति जिन ! सकलज्ञ -लांछनं।
वचनमिदं वदतांवरस्य ते।।४।।

हे मुनिसुव्रत जिन ! आप वदतांवर हैं– प्रवक्ताओं में श्रेष्ठ हैं, आपका यह वचन कि 'चर और अचर (जंगम स्थावर) जगत प्रतिक्षण स्थिति-जनन निरोधलक्षण को लिए हुए है'– प्रत्येक समय में ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय (विनाश) स्वरूप है– सर्वज्ञता का चिह्न है– संसार भर में जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल और मूर्त्त अमूर्त्त सभी पदार्थों में प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को एक साथ लक्षित करना सर्वज्ञता

के बिना नहीं बन सकता, और इसलिए आपके इस परम अनुभूत वचन से स्पष्ट सूचित होता है कि आप सर्वज्ञ हैं।

दुरित- मल- कलंकमष्टकं।
निरुपम-योग-बलेन निर्दहन्।।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्।
भवतु ममापि भवोपशान्तये।।५।।

(हे मुनिसुव्रत जिन !) आप अनुपम योगबल से– परमशुक्ल ध्यानाग्नि के तेज से, आठों पाप-मल-रूप कलंकों को– जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप को आच्छादन करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु नाम के आठों कर्म-मलों को, भस्मीभूत करते हुए, संसार में न पाये जाने वाले सौख्य को– परम अतीन्द्रिय मोक्ष-सौख्य को प्राप्त हुए हैं। (अत:) आप मेरी– मुझ स्तोता को भी संसार -शान्ति के लिए निमित्तभूत होवें– आपके आदर्श को सामने रखकर मैं भी योग-बल से आठों कर्म-मलों को दग्ध करके अतीन्द्रिय परम सौख्य को प्राप्त करूं, ऐसी मेरी भावना अथवा आत्म- प्रार्थना है।

21. श्री नमि -जिन- स्तवन

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल- परिणामाय स तदा।
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायस- पथे।
स्तुयान्नत्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमि- जिनम्।।१।।

स्तुति के समय स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फल की प्राप्ति चाहे सीधी उनके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु साधु

स्तोता की– विवेक के साथ भक्ति-भावपूर्वक स्तुति करने वाले की स्तुति कुशल-परिणाम की– पुण्य प्रसाधक परिणामों की, कारण जरूर है, और वह कुशल-परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेय का दाता है। जब जगत् में इस तरह स्वाधीनता से श्रेयोमार्ग सुलभ है– स्वयं प्रस्तुत की गई स्तुति के द्वारा प्राप्त है, तब, हे सर्वदा अभिपूज्य नमि-जिन! ऐसा कौन विद्वान- प्रेक्षापूर्वकारी अथवा विवेकी जन है जो आपकी स्तुति न करे?– करे ही करे।'

त्वया धीमन् ! ब्रह्म-प्रणिधि -मनसा जन्म- निगलं।
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्ष- पदवी।।
त्वयि ज्ञान-ज्योतिर्विभव-किरणैर्भाति भगव-।
न्नभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतय:।।२।।

हे बुद्धि-ऋद्धि सम्पन्न भगवन् ! आपने परमात्म (शुद्धात्म) स्वरूप में चित्त को एकाग्र करके पुनर्जन्म के बन्धन को उसके मूलकारण-सहित नष्ट किया है, अतएव आप विद्वज्जनों के लिए मोक्षमार्ग अथवा मोक्षस्थान हैं– आपको प्राप्त होकर विवेकी जन अपना मोक्ष-साधन करने में समर्थ होते हैं। आप में विभव (समर्थ) किरणों के साथ केवलज्ञान ज्योति के प्रकाशित होने पर अन्यमती– एकान्तवादी, जन उसी प्रकार हतप्रभ हुए हैं जिस प्रकार कि निर्मल सूर्य के सामने खद्योत (जुगनू) होते हैं।

विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्-।
विशेषै: प्रत्येकं नियम-विषयैश्चापरिमितै:।।
सदाऽन्योन्पायेक्षै: सकल-भुवन-ज्येष्ठ-गुरुणा।
त्वया गीतं तत्त्वं बहु- नय-विवक्षेतर-वशात्।।३।।

हे सम्पूर्ण जगत के महान गुरु श्री नमिजिन ! आपने वस्तुतत्त्व को बहुत नयों की विवक्षा अविवक्षा के वश से विधेयं वार्यं (प्रतिषध्य) उभय, अनुभय तथा मिश्रभंग– विधेयाऽनुभय, प्रतिषेध्याऽनुभय और उभयाऽनुभय (ऐसे सप्तभंग) रूप निर्दिष्ट किया है। साथ ही अपरिमित विशेषों (धर्मों) का कथन किया है, जिनमें से एक-एक विशेष सदा एक दूसरे की अपेक्षा को लिए रहता है, और सप्तभंग के नियम को अपना विषय किये रहता है– कोई भी विशेष अथवा धर्म सर्वथा एक दूसरे की अपेक्षा से रहित कभी नहीं होता और न सप्तभंग के नियम से बहिर्भूत ही है।

सप्त भंग इस प्रकार हैं- स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादव्यक्तव्य, स्यादस्ति अव्यक्तव्य, स्यान्नास्ति अव्यक्तत्व, स्यादस्तिनास्ति अव्यक्तव्य।

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।
न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राऽऽश्रमविधौ।।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परम- करुणो ग्रन्थमुभयं।
भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधि-रत:।।४।।

प्राणियों की अहिंसा जगत् में परमब्रह्म– अत्युच्चकोटी की आत्मचर्या जानी गई है और वह अहिंसा उस आश्रम विधि में नहीं बनती, जिस आश्रम विधि में अणुमात्र- थोड़ा सा भी आरम्भ होता है। अत: उस अहिंसा परम ब्रह्म की सिद्धि के लिए परमकरुणाभाव से सम्पन्न आपने ही बाह्याभ्यन्तररूप से उभय प्रकार के परिग्रहों को छोड़ा है– बाह्य में वस्त्रालंकारादिक उपधियों का और अन्तरंग में रागादिक भावों का त्याग किया है, और फलत: परमब्रह्म की सिद्धि को प्राप्त किया है। किन्तु जो विकृत वेष और उपाधि में रत हैं–

यथाजातलिंग के विरोधी जटा मुकुट -धारण तथा भस्मोद्धूलनादिरूप वेष और वस्त्र, आभूषण, अक्षमाला तथा मृगचर्मादिरूप उपाधियों में आसक्त हैं, उन्होंने उस बाह्याभ्यन्तर परिग्रह को नहीं छोड़ा है। इसलिए ऐसो से उस परमब्रह्म की सिद्धि भी नहीं बन सकती है।'

वपुर्भूषा-वेष-व्यवधि-रहितं शान्त-करणं।
यतस्ते संचष्टे स्मर-शर-विषाऽऽतंक- विजयम्।।
विना भीमैः शस्त्रैरदय- हृदयाऽमर्ष- विलयं।
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्ति- निलयः।।५।।

(हे नमि-जिन) आभूषण, वेष तथा व्यवधान– वस्त्र-प्रावरणादि, से रहित और इन्द्रियों की शान्तता को– अपने-अपने विषयों में वांछा की निवृत्ति को लिए हुए आपका नग्न दिगम्बर शरीर चूंकि यह बतलाता है कि आपने कामदेव के बाणों के विष से होने वाली चित्त की पीड़ा अथवा अप्रतीकार व्याधि को जीता है और बिना भयङ्कर शस्त्रों के ही निर्दय हृदय होकर क्रोध का विनाश किया है, इसलिए आप निर्मोह हैं और शान्ति -सुख के स्थान हैं। अतः हमारे शरण्य हैं– हम भी निर्मोह होना और शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, इसी से हमने आपकी शरण ली है।

22. श्री अरिष्टनेमि-जिन-स्तवन

भगवानृषिः परमः योगः
दहन-हुत-कल्मषेन्धन-।
ज्ञान-विपुल-किरणै-सकलं
प्रतिबुद्धय बुद्ध- कमलायतेक्षणः।।१।।

हरिवंश -केतुरनवद्य-
विनय-दम-तीर्थ-नायकः ।।
शील-जलधिरभवो विभव-
स्त्वमरिष्टनेमि-जिनकुञ्जरोऽजरः ।।२।।

विकसित-कमल-दल के समान दीर्घ नेत्रों के धारक और हरिवंश में ध्वजरूप हे अरिष्टनेमि- जिनेन्द्र ! आप भगवान् - सातिशयज्ञानवान, ऋषि- ऋद्धिसम्पन्न, और शील समुद्र- अठारह हजार शीलों के धारक हुए हैं, आपने परमयोगरूप शुक्लध्यानाग्नि से कल्मषेन्धन को - ज्ञानावरणादि रूप कर्मकाष्ठ को भस्म किया है और ज्ञान की विपुल- निरवशेष -द्योतनसमर्थ विस्तीर्ण किरणों से सम्पूर्ण जगत अथवा लोकालोक को जानकर आप निर्दोष- मायादि रहित, विनय तथा दमरूप तीर्थ के नायक हुए हैं- आपने सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र तप और उपचार रूप पंच प्रकार के विनय तथा पंचेन्द्रिय- जयरूप पंचप्रकार दमन के प्रतिपादक प्रवचन- तीर्थ का प्रवर्तन किया है। (साथ ही) आप जरा से रहित और भव से विमुक्त हुए हैं।

त्रिदशेन्द्र-मौलि-मणि-रत्न-
किरण-विसरोपचुम्बितम् ।।
पाद-युगलममलं भवतो
विकसत्कुशेशय-दलाऽरुणोदरम् ।।३।।
नख-चन्द्र-रश्मि- कवचाऽति-
रुचिर-शिखरांऽगुलि-स्थलम् ।
स्वार्थ-नियत-मनसः सुधियः
प्रणमन्ति मन्त्र-मुखरा महर्षयः ।।४।।

आपके उस निर्मल चरण- युगल को जो– नत मस्तक हुए, देवेन्द्रों के मुकटों की मणियों और वज्रादिरत्नों की किरणों के प्रसार से उपचुम्बित है, जिसका उदर– पादतल, विकसित कमलदल के समान रक्तवर्ण है और जिसकी अंगुलियों का उन्नत प्रदेश नख-रूप चन्द्रमाओं की किरणों के परिमण्डल से अति सुन्दर मालूम होता है, वे सुधी महर्षिजन प्रणाम करते हैं जो अपना आत्महित साधन में दत्तचित्त हैं और जिनके मुखपर सदा स्तुति-मन्त्र रहते हैं।

द्युतिमद्रथांग– रवि - बिम्ब
किरण- जटिलांशुमण्डलः।
नील-जलज-दल-राशि-वपुः
सह- बन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः।।५।।
हलभृच्च ते स्वजनभक्ति
मुदित हृदयौ जनेश्वरौ।
धर्म-विनय-रसिकौ सुतरां
चरणाऽरविन्द -युगलं प्रणेमतुः।।६।।

जिनके शरीर का दीप्तिमण्डल द्युति को लिए हुए सुदर्शनचक्र रूप रवि मण्डल की किरणों से जटिल है– संवलित है, और जिनका शरीर नीले कमल-दलों की राशि के समान श्यामवर्ण है उन गरुड़ ध्वज– नारायण, और हलधर– बलभद्र, दोनों लोक नायकों ने, जो स्वजनभक्ति से प्रमुदितचित्त थे और धर्मरूप विनयाचार के रसिक थे, आपके दोनों चरण कमलों को बन्धु-जनों के साथ बार-बार प्रणाम किया है।

ककुदं भुवः खचरयोषि-
दुषित- शिखरैरलङ्कृतः।
मेघ- पटल- परिवीत- तट-
स्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा।।७।।
वहतीति तीर्थ मृषिभिश्च
सततमभि गम्यतेऽद्य च।
प्रीति-वितत-हृदयैः परितो
भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः।।८।।

जो पृथ्वी का ककुद है– बैल के कन्धे के समीप स्थित ककुद नामक सर्वोपरि भाग जिस प्रकार शोभा सम्पन्न होता है, उसी प्रकार जो पृथ्वी के सब अवयवों के ऊपर स्थित शोभा सम्पन्न उच्च स्थान की गरिमा को प्राप्त हैं, विद्याधरों की स्त्रियों से सेवित शिखरों से अलंकृत हैं और मेघपटलों से व्याप्त तटों को लिए हुए है वह विश्रुत- लोक प्रसिद्ध, ऊर्जयन्त- गिरनार, नाम का पर्वत– (हि नेमिजिन), इन्द्र द्वारा लिखे गये– उत्कीर्ण हुए, आपके चिन्हों को धारण करता है, इसलिए तीर्थस्थान है और आज भी भक्ति से उल्लसितचित्त ऋषियों द्वारा सर्व ओर से निरन्तर अतिसेवित है– भक्ति से भरे ऋषिगण अपनी आत्मसिद्धि के लिए बड़े चाव से आपके उस पुण्यस्थान का आश्रय लेते रहते हैं।

बहिरन्त रप्युभयथा च
करणमविघाति नाऽर्थकृत्।
नाथ ! युगपदखिलं च सदा
त्वमिदं तलाऽऽमलकवद्विवेदिथ।।९।।

अतएव ते बुध-नुतस्य
चरित- गुणमद्भुतोदयम्।
न्याय- विहितमवधार्य जिने
त्वयि सुप्रसन्न-मनसः स्थिता वयम्।।१०।।

हे नाथ! आपने इस अखिल विश्व को– चराचर जगत् को, सदा कर-तल-स्थित स्फटिक मणि के समान युगपत् जाना है, और आपके इस जानने के बाह्यकरण– चक्षुरादिक, और अन्तः करण– मन, ये अलग-अलग तथा दोनों मिलकर भी न तो कोई बाधा उत्पन्न करते हैं, और न किसी प्रकार का उपकार ही सम्पन्न करते हैं। इसी से बुधजन-स्तुत- अरिष्टनेमि जिन! आपके न्याय-विहित और अद्भुत उदय सहित- समवशरणादि विभूति के प्रादुर्भाव को लिए हुए, चरित-माहात्म्य को भले प्रकार अवधारण करके हम बड़े प्रसन्न चित्त से आप में स्थित हुए हैं– आपके भक्त बने हैं और हमने आपका आश्रय लिया है।

23. श्रीपार्श्व-जिन-स्तवन

तमाल-नीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः।
प्रकीर्ण-भीमाऽशनि-वायु-वृष्टिभिः।।
बलाहकैर्वैरि- वशैरुप द्रुतो।
महामना यो न चचाल योगतः।।१।।

तमाल वृक्ष के समान नील-श्यामवर्ण के धारक, इन्द्रधनुषों तथा विद्युद्गुणों से युक्त और भयंकर वज्र, वायु तथा वर्षा को सब ओर बिखेरने वाले ऐसे वैरि-वशवर्ती-कमठ शत्रु के इशारे पर नाचने वाले, मेघों से उपद्रत होने पर- पीड़ित किये जाने पर भी जो महा

मना योग से– शुक्लध्यान से, चलायमान नहीं हुए।

बृहत्फणा- मण्डल-मण्डपेन यं।
स्फुरत्तडित्पिङ्ग- रुचोपसर्गिणम्।।
जुगूह नागो धरणो धराधरं।
विराग-संध्या-तडिदम्बुदो यथा।।२।।

जिन्हें उपसर्ग प्राप्त होने पर धरणेन्द्र नाम के नाग ने चमकती हुई बिजली की पीली दीप्ति को लिए हुए बृहत्फणाओं के मण्डल-रूप मण्डप से उसी प्रकार वेष्टित किया, जिस प्रकार कृष्णसंध्या में विद्युतोपलक्षित मेघ अथवा विविध वर्णों-रूप विद्युत से उपलक्षित मेघ पर्वत को वेष्टित करता है।

स्व-योग-निस्त्रिंश-निशात-धारया।
निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम्।।
अवापदाऽऽर्हन्त्यमचिन्त्यमद्‌भुतं।
त्रिलोक-पूजाऽतिशयाऽऽस्पदं पदम्।।३।।

जिन्होंने अपने योग- शुक्लध्यान, रूप खड्ग की तीक्ष्ण धार से दुर्जय मोह-शत्रु का घात करके उस आर्हन्त्य-पद को प्राप्त किया है जो कि अचिन्त्य है, अद्‌भुत है और त्रिलोक की पूजा के अतिशय (परमप्रकर्ष) का स्थान है।

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूत-कल्मषं।
तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।।
वनौकसः स्व-श्रम-बन्ध्य-बुद्धयः।
शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे।।४।।

जिन्हें विधूतकल्मष– घातिकर्म– चतुष्टय-रूप पाप से रहित, शमोपदेशक– मोक्षमार्ग के उपदेष्टा और ईश्वर के– सकल-लोक-प्रभु के रूप में देखकर वे (अन्यमतानुयायी) वनवासी तपस्वी भी शरण में प्राप्त हुए– मोक्षमार्ग में लगे, जो अपने श्रम को– पंचाग्नि साधनादि- रूप प्रयास को विफल समझ गये थे और वैसे ही (भगवान पार्श्व जैसे विधूतकल्मष ईश्वर) होने की इच्छा रखते थे।'

स सत्य-विद्या-तपसां प्रणायकः।
समग्र धीरुग्र कुलाऽम्बरांशुमान्।।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते।
विलीन-मिथ्यापथ-दृष्टि-विभ्रमः।।५।।

वे (उक्त गुणविशिष्ट) श्रीपार्श्वजिन मेरे द्वारा प्रणाम किये जाते हैं, जो कि सच्ची विद्याओं तथा तपस्याओं के प्रणेता हैं, पूर्णबुद्धि– सर्वज्ञ, हैं, उग्रवंश-रूप आकाश के चन्द्रमा हैं और जिन्होंने मिथ्या दर्शनादि रूप कुमार्ग की दृष्टियों से उत्पन्न होने वाले विभ्रमों को– सर्वथा नित्य- क्षणिकादिरूप बुद्धि-विकारों को, विनष्ट किया है– अथवा यों कहिए कि– भव्यजन जिनके प्रसाद से सम्यग्दर्शनादि रूप सन्मार्ग के उपदेश को पाकर अनेकान्त-दृष्टि बने हैं और सर्वथा एकान्तवादि मतों के विभ्रम से मुक्त हुए हैं।

24. श्रीवीर-जिन-स्तवन

कीर्त्या भुवि भासि तया,
वीर ! त्वं गुण- समुत्थया भासितया।।
भासोडु सभा ऽसितया,
सोम इव व्योम्नि कुन्द शोभाऽऽसितया।।१।।

हे वीर जिन ! आप उस निर्मलकीर्ति से– ख्याति अथवा दिव्यवाणी से, जो (आत्म-शरीर-गत) गुणों से समुद्भूत है, पृथ्वी पर उसी प्रकार शोभा को प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि चन्द्रमा आकाश में नक्षत्र-सभा-स्थित उस प्रभा- दीप्ति से शोभता है जो कि कुन्द-पुष्पों की शोभा के समान सब ओर से धवल है।

तव जिन ! शासन विभवो।
जयति कलावपि गुणाऽनुशासन-विभवः।।
दोष-कशाऽसनविभवः स्तुवन्ति।
चैनं प्रभा- कृशाऽऽसनविभवः।।२।।

हे वीर जिन! आपका शासन-माहात्म्य- आपके प्रवचन का यथाव- स्थित पदार्थों के प्रतिपादन स्वरूप गौरव, कलिकाल में भी जय को प्राप्त है– सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्त रहा है, उसके प्रभाव से गुणों में, अनुशासन-प्राप्त शिष्यजनों का भव विनष्ट हुआ है– संसार परिभ्रमण सदा के लिए छूटा है, इतना ही नहीं, किन्तु जो दोषरूप चाबुकों का निराकरण करने में समर्थ हैं– चाबुकों की तरह पीड़ाकारी काम-क्रोधादि दोषों को अपने पास फटकने नहीं देते, और अपने ज्ञानादि तेज से जिन्होंने शासन-विभुओं को- लोक के प्रसिद्ध नायकों को, निस्तेज किया है वे– गणधरदेवादि महात्मा, भी आपके इस शासन-माहात्म्य की स्तुति करते हैं।

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाऽविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः।।३।।

हे मुनिनाथ ! स्यात् शब्द पुरस्सर कथन को लिए हुए आपका जो स्याद्वाद है– अनेकान्तात्मक प्रवचन है, वह निर्दोष है, क्योंकि

दृष्ट– प्रत्यक्ष, और इष्ट– आगमादिक, प्रमाणों के साथ उसका कोई विरोध नहीं है। दूसरा स्यात् शब्द-पूर्वक कथन से रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन नहीं है, क्योंकि दृष्ट और इष्ट दोनों के विरोध को लिए हुए है– प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित ही नहीं, किन्तु अपने इष्ट-अभिमत को भी बाधा पहुँचाता है और उसे किसी तरह भी सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकता।'

त्वमसि सुराऽसुर - महितो।
ग्रन्थिक सत्त्वाऽऽशय प्रणामाऽमहितः।।
लोक- त्रय- परम हितो।
ऽनावरणज्योति रुज्ज्वलद्धाम-हितः।।४।।

(हे वीर जिन !) आप सुरों तथा असुरों से पूजित हैं, किन्तु ग्रन्थिक सत्त्वों के– मिथ्यात्वादि- परिग्रह से युक्त प्राणियों के, (अभक्त) हृदय से प्राप्त होने वाले प्रणाम से पूजित नहीं हैं– भले ही वे ऊपरी प्रणामादि से पूजा करें, वास्तव में तो सम्यग्दृष्टियों के ही आप पूजा-पात्र हैं। (किसी किसी के द्वारा पूजित न होने पर भी) आप तीनों लोक के प्राणियों के लिए परमहितरूप हैं– राग द्वेषादि-हिसाभावों से पूर्णतया रहित होने के कारण किसी के भी अहितकारी नहीं, इतना ही नहीं, किन्तु अपने आदर्श से सभी भविकजनों के आत्म-विकास में सहायक हैं, आवरणरहित ज्योति को लिए हुए हैं– केवलज्ञान के धारक हैं, और उज्ज्वलधाम को– मुक्ति स्थान को प्राप्त हुए हैं अथवा अनावरण ज्योति से– केवलज्ञान के प्रकाश को लिए हुए मुक्तजीवों से, जो स्थान प्रकाशमान है उसको– सिद्धशिला को प्राप्त हुए हैं।

सभ्यानामभिरुचितं।
दधासि गुण-भूषण श्रिया चारु-चितम्।।
मग्नं स्वस्यां रुचि तं।
जयसि च मृग-लाञ्छनं स्व-कान्त्या रुचितम्।।५।।

(हे वीर जिन!) आप उस गुणभूषण को– सर्वज्ञ-वीतरागतादिरूप गुणों के आभूषणोंको, धारण किये हुए हैं जो सभ्यजनों अथवा समवशसरण सभा स्थित भव्यजनों को रुचिकर हैं– इष्ट हैं, और श्री से– अष्ट प्रातिहार्यादिरूप विभूति से, ऐसे रूप में पुष्ट हैं जिससे उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है और अपने शरीर की कान्ति से आप उस मृगलाञ्छन-चन्द्रमा को जीतते हैं जो अपनी दीप्ति में मग्न है और सबको सुन्दर तथा प्यारा मालूम होता है– आपके शरीर का सौन्दर्य और आकर्षण पूर्ण चन्द्रमा से भी बढ़ा चढ़ा है।

त्वं जिन! गत-मद-माय-
स्तव भावानां मुमुक्षु-कामद! माय।।
श्रेयान् श्रीमदमाय-
स्त्वया समादेशि सप्रयाम- दमायः।।६।।

मुमुक्षुओं को इच्छित प्रदान करने वाले– उनकी मुक्ति-प्राप्ति में परमसहायक– (हे वीर जिन!), आप मद और माया से रहित हैं– अकषायभाव को प्राप्त होने से निर्दोष हैं, आपका जीवादि-पदार्थों का परिज्ञान– केवलज्ञानरूप प्रमाण– सकल बाधाओं से रहित होने के कारण अतिशय प्रशंसनीय है और आपने श्रीविशिष्ट– हेयोपादेय तत्त्व के परिज्ञान– लक्षणा लक्ष्मी से युक्त, तथा कपट रहित यम और दम का– महाव्रतों के अनुष्ठान तथा परम इन्द्रियजय का उपदेश दिया है।

गिरिभित्त्यवदानवत: श्रीमत इव दन्तिन: स्रवद्दानवत: ।
तव शम-वादानवतो गतमूर्जितमपगत-प्रमादानवत: ।।७।।

जिस प्रकार झरते हुए मद के दानी और गिरि- भित्तियों- पर्वत-कटनियों का विदारण करने वाले- (महासामर्थ्यवान्) और श्रीमान्- सर्वलक्षणसम्पन्न उत्तम-जाति-विशिष्ट गजेन्द्र का स्वाधीन गमन होता है उसी प्रकार परम अहिंसा-दान- अभयदान के दानी हे वीर जिन ! शमवादों की- रागादिक दोषों की उपशान्ति के प्रतिपादक आगमों की रक्षा करते हुए आपका उदार विहार हुआ है। आपने अपने विहार-द्वारा जगत् को रागादिक दोषों के शमन रूप परमब्रह्म- अहिंसा का, सद्दृष्टि-विधायक अनेकान्तवादका और समता प्रस्थापक साम्यवाद का उपदेश किया है, जो सब (अहिंसा, अनेकान्तवाद और साम्यवाद) लोक में मद-अहंकार का त्याग, वैर-विरोध का परिहार और परस्पर में अभयदान का विधान करके सर्वत्र शान्ति-सुख की स्थापना करते हैं और इसलिए सन्मार्ग-स्वरूप हैं। साथ ही, वैषम्य-स्थापक, हिंसा-विधायक और सर्वथा एकान्त प्रतिपादक उन सभी वादों -मतों का खण्डन किया है जो गिरिभित्तियों की तरह सन्मार्ग में बाधक बने हुए थे।

बहुगुण- सम्पद सकलं ।
परमतमपि मधुर- वचन- विन्यास- कलम् ।।
नय- भक्त्यवतंस-कलं ।
तव देव ! मतं समन्दभद्रं सकलम् ।।८।।

हे वीर जिनदेव ! जो परमत है- आपके अनेकान्त शासन से भिन्न दूसरों का शासन है, वह मधुर वचनों के विन्यास से- कानों को प्रिय मालूम देने वाले वाक्यों की रचना से, मनोज्ञ होता हुआ

भी– प्रकट रूप में मनोहर तथा रुचिकर जान पड़ता हुआ भी, बहुगुणों की सम्पत्ति से विकल है– सत्य शासन के योग्य जो यथार्थवादिता और पर-हितप्रतिपादनादि-रूप बहुत से गुण हैं उनकी शोभा से रहित है– सर्वथैकान्तवाद का आश्रय लेने के कारण वे शोभन गुण उसमें नहीं पाये जाते– और इसलिए वह यथार्थ वस्तु के निरुपणादि में असमर्थ होता हुआ वास्तव में अपूर्ण, सबाध तथा जगत् के लिए अकल्याणकारी है। किन्तु आपका मत- शासन- नयों की भक्ति-उपासनारूप आभूषण को प्रदान करता है– अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर नयों के सापेक्ष व्यवहार की सुन्दर शिक्षा देता है, और इस तरह– यथार्थ वस्तु- तत्त्व के निरुपण और परहित-प्रतिपादनादि में समर्थ होता हुआ, बहुगुण-सम्पत्ति से युक्त है– (इसी से) पूर्ण है और समन्तभद्र है– सब ओर से भद्ररूप, निर्बाधतादि विशिष्ट शोभासम्पन्न एवं जगत के लिए कल्याणकारी है।

इति श्रीनिरवद्यस्याद्वाद विद्याधिपति सकलतार्किकचक्रचूड़ामणि-श्रद्धागुणज्ञतादि सातिशयगुणगणविभूषित - सिद्धसारस्वत-स्वामिसमन्तभद्राचार्य विरचितं चतुर्विंशतिजिन- स्तवनात्मकं स्वयम्भूस्तोत्रं समाप्तम्।

●

मोक्षशास्त्र-सटीक

श्रीउमास्वामी विरचित

प्रथम अध्याय

मङ्गलाचरण

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।।

मोक्ष प्राप्ति का उपाय

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।।१।।

अर्थ– सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिल कर, मोक्षमार्गः– मोक्ष के मार्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के उपाय हैं।

सम्यग्ज्ञान– संशय विपर्यय और अनध्यवसायरहित जीवादि पदार्थों का जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सम्यक्चारित्र– मिथ्यादर्शन, कषाय, हिंसा आदि संसार के कारणों से विरक्त होना सम्यक्चारित्र कहलाता है। सम्यग्दर्शन का लक्षण आगे के सूत्र में कहते हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।।२।।

अर्थ– तत्त्वार्थश्रद्धानम्– तत्त्व-वस्तु के स्वरूपसहित अर्थ-जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शनम्– सम्यग्दर्शन (अस्ति) है।

भावार्थ– चौथे सूत्र में कहे जाने वाले जीव आदि सात तत्वों का जैसा स्वरूप वीतराग सर्वज्ञ भगवान ने कहा– उसका उसी प्रकार श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति की अपेक्षा भेद

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।३ ।।

अर्थ– तत्– वह सम्यग्दर्शन, निसर्गात्– स्वभाव से, वा– अथवा, अधिगमात्– पर के उपदेश आदि से (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति की अपेक्षा दो भेद हैं– (१) निसर्गज, (२) अधिगमज।

निसर्गज– जो पर के उपदेश के बिना अपने-आप (पूर्व भव के संस्कार से) उत्पन्न हो उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अधिगमज– जो पर के उपदेश आदि से होता है, उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

तत्त्वों के नाम

जीवाजीवास्रवबन्ध संवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् । ।४ । ।

अर्थ– (जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाः) जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात (तत्त्वम्) तत्त्व (सन्ति) हैं।

जीव– जिसमें ज्ञानदर्शन चेतना पायी जावे उसे जीव कहते हैं।

अजीव– जिसमें चेतना न पाई जावे उसे अजीव कहते हैं।

आस्रव– बन्ध के कारण को आस्रव कहते हैं।

बन्ध– आस्रव के रुकने को संवर कहते हैं।

निर्जरा– आत्मा के प्रदेशों से पहले के बन्धे हुए कर्मों का एकदेश क्षय होना सो निर्जरा है।

मोक्ष– समस्त कर्मों के बिलकुल क्षय हो जाने को मोक्ष कहते हैं।

सात तत्त्व तथा सम्यग्दर्शन आदि के व्यवहार के कारण

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।।५।।

अर्थ– (नामस्थापनाद्रव्यभावतः) नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से (तत् न्यासः) उन सात तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शन आदि का लोकव्यवहार (भवति) होता है। नाम आदि चार पदार्थ ही चार निक्षेप कहलाते हैं।

नाम निक्षेप– गुण, जाति, द्रव्य और क्रिया की अपेक्षा के बिना ही इच्छानुसार किसी का नाम रखने को नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसी का नाम 'जिनदत्त ' है। यद्यपि वह जिनदेव के द्वारा नहीं दिया गया है तथापि लोक व्यवहार चलाने के लिए उसका जिनदत्त नाम रख लिया गया है।

स्थापनानिक्षेप– धातु काष्ठ पाषाण आदि की प्रतिमा तथा अन्य पदार्थों में 'यह वह है' इस प्रकार किसी की कल्पना करना सो स्थापनानिपेक्ष है। इसके दो भेद हैं– (१) तदाकार स्थापना (२) अतदाकार स्थाना। जिस पदार्थ का जैसा आकार है उसमें उसी आकार

वाले की कल्पना करना सो 'तदाकार स्थापना है'– जैसे पार्श्वनाथ की प्रतिमा में पार्श्वनाथ की कल्पना करना। और भिन्न आकार वाले पदार्थों में किसी भिन्न आकार वाले की कल्पना करना सो 'अतदाकार स्थापना' है। जैसे शतरंज की गोट में बादशाह, वजीर वगैरा की कल्पना करना।

द्रव्यनिक्षेप– भूत भविष्यत् पर्याय की मुख्यता लेकर वर्तमान में कहना सो द्रव्यनिक्षेप है। जैसे पहले कभी पूजा करने वाले पुरुष को वर्तमान में पुजारी कहना और भविष्यत में राजा होने वाले राजपुत्र को राजा कहना।

भावनिपेक्ष– केवल वर्तमान पर्याय की मुख्यता से अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको उसी रूप कहना सो भावनिक्षेप है। जैसे-काष्ठ को काष्ठ अवस्था में काष्ठ, आग होने पर आग और कोयला हो जाने पर कोयला कहना।

सम्यग्दर्शन आदि तथा तत्त्वों के जानने के उपाय

प्रमाणनयैरधिगमः ।।६।।

अर्थ– सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय और जीव आदि तत्त्वों का (अधिगमः) ज्ञान (प्रमाणनयैः) प्रमाण और नयों से (भवति) होता है।

प्रमाण– जो पदार्थ के सर्वदेश को ग्रहण करे उसे प्रमाण कहते हैं। इसके दो भेद हैं- १ प्रत्यक्ष प्रमाण और २. परोक्ष प्रमाण। आत्मा किसी बाह्य निमित की सहायता के बिना ही पदार्थों को स्पष्ट जाने उसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं और इन्द्रिय तथा प्रकाश आदि की सहायता से पदार्थों को एकदेश जाने उसे 'परोक्ष प्रमाण' कहते हैं।

नय– जो पदार्थ के एक देश को विषय करे-जाने उसे नय कहते

हैं। इसके दो भेद हैं १. द्रव्यार्थिक, २. पर्यायार्थिक। जो मुख्य रूप से द्रव्य को विषय करे उसे द्रव्यार्थिक और जो मुख्य रूप से पर्याय को विषय करे उसे 'पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः।।७।।

अर्थ– निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इनसे भी जीवादिक तत्त्व तथा सम्यग्दर्शन आदि का व्यवहार होता है।

निर्देश– वस्तु के स्वरूप का कथन करना सो निर्देश है।

स्वामित्व– वस्तु के अधिकार को स्वामित्व कहते हैं।

साधन– वस्तु की उत्पत्ति के कारण को साधन कहते हैं।

अधिकरण– वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं।

स्थिति– वस्तु के काल की अवधि को स्थिति कहते हैं।

विधान– वस्तु के भेदों को विधान कहते हैं।

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च।।८।।

अर्थ– च– और सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी पदार्थ का ज्ञान (भवति) होता है।

सत्– वस्तु के अस्तित्व को सत् कहते हैं।

संख्या– वस्तु के परिमाणों की गिनती को संख्या कहते हैं।

क्षेत्र– वस्तु के वर्तमान काल के निवास को क्षेत्र कहते हैं।

स्पर्शन– वस्तु के तीनों काल सम्बन्धी निवास को स्पर्शन कहते हैं।

काल— वस्तु के ठहरने की मर्यादा को काल कहते हैं।

अन्तर— वस्तु के विरह काल को अन्तर कहते हैं।

भाव— औपशमिक, क्षायिक आदि परिणामों को भाव कहते हैं।

अल्पबहुत्व— अन्य पदार्थ की अपेक्षा किसी वस्तु की हीनाधिकता वर्णन करने को अल्पबहुत्व कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान का वर्णन, ज्ञान के भेद और नाम

मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।९

अर्थ— मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानि— मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल ये पांच प्रकार के, ज्ञानं— ज्ञान (सन्ति) हैं।

मतिज्ञान— जो पांच इन्द्रियों और मन की सहायता से स्पष्ट जाने उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान— जो पांच इन्द्रियों और मन की सहायता से मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान— जो इन्द्रियों की सहायता के बिना ही अन्य पुरुष के मन में स्थित, रूपी पदार्थों को एक देश स्पष्ट जाने उसे मनः पर्ययज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान— जो सब द्रव्यों तथा उनकी सब पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जाने उसे केवलज्ञान कहते हैं।

प्रमाण का लक्षण और भेद

तत्प्रमाणे ।।१०।।

अर्थ– तत्– ऊपर कहा हुआ पांच प्रकार का ज्ञान ही, प्रमाणे– प्रमाण, अस्ति– है।

भावार्थ– सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके दो भेद हैं १. प्रत्यक्ष २. परोक्ष।

परोक्षप्रमाण के भेद

आद्ये परोक्षम्।।११

अर्थ– आद्ये– आदि के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, परोक्षम्– परोक्ष प्रमाण (स्त:) हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद

प्रत्यक्षमन्यत्।।१२।।

अर्थ– अन्यत्– शेष तीन अर्थात् अवधि, मन: पर्यय और केवल ज्ञान, प्रत्यक्षम्– प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

मतिज्ञान के दूसरे नाम

मति: स्मृति: संज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।।१३।।

अर्थ– मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इत्यादि अन्य पदार्थ नहीं हैं अर्थात् मतिज्ञान के नामान्तर हैं।

मति– मन और इन्द्रियों से वर्तमान काल के पदार्थों का जानना मति है।

स्मृति– पहले जाने हुए पदार्थ का वर्तमान में स्मरण आनेको स्मृति कहते हैं।

संज्ञा– वर्तमान में किसी पदार्थ को देखकर 'यह वही है' इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़ रूप ज्ञान को संज्ञा कहते हैं।

इसी का दूसरा नाम 'प्रत्यभिज्ञान' है।

चिन्ता— 'जहाँ-जहाँ' धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है- जैसे 'रसोई घर' इस प्रकार के व्याप्ति ज्ञान को चिन्ता कहते हैं। अभिनिबोध- साधन से साध्य का ज्ञान होने को अभिनिबोध कहते हैं- जैसे उस पहाड़ में अग्नि है, क्योंकि उस पर धूम है' इसी का दूसरा नाम 'अनुमान' है।

मतिज्ञान की उत्पत्ति का कारण और स्वरूप

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।।१४।।

अर्थ— तत्— वह मतिज्ञान, इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्— पांच इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है।

मतिज्ञान के भेद

अवग्रहेहावायधारणाः१५।।

अर्थ— मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं।

अवग्रह— दर्शन के बाद शुक्ल कृष्ण आदि रूप विशेष का ज्ञान होना अवग्रह है।

ईहा— अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानने की चेष्टा करना ईहा है। जैसे— वह शुक्ल रूप बगुला है या पताका।

ईहा ज्ञान को 'यह चांदी है या सीप' इत्यादि की तरह संशय रूप न समझना चाहिए, क्योंकि संशय में अनिश्चित अनेक कोटियों का अवलम्बन रहता है जो कि यहां नहीं है। यहां बलाका और पताका

का कथन के उदाहरणों की अपेक्षा है। उसका स्पष्ट भाव यह है– यदि यह बलाका है तो बलाका होना चाहिए और यदि पताका है तो पताका होना चाहिए। ईहा में भवितव्यतारूप प्रत्यय ज्ञान होता है।

अवाय– विशेष चिह्न देखने से उसका निश्चय हो जाना सो अवाय है। जैसे– उस शुक्ल पदार्थ में पंखों का फड़फड़ाना उड़ना आदि चिन्ह देखने से बगुला का निश्चय होना।

धारणा– अवाय से निश्चित किये हुए पदार्थ को कालांतर में नहीं भूलना सो धारणा है।

अवग्रह आदि के विषयभूत पदार्थ

बहुबहुविधक्षिप्रानि:सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां।।१६।।

अर्थ– सेतराणाम्– बहुबहुविधक्षिप्रानि:सृतानुक्तध्रुवाणाम्– अपने उल्टे भेदों सहित बहु आदि अर्थात् बहु, बहु विध, क्षिप्र, अनि:सृत, अनुक्त, ध्रुव और इनसे उल्टे एक, एकविध, अक्षिप्र, नि:सृत, उक्त तथा अध्रुव, इन बारह प्रकार के पदार्थों का अवग्रह ईहादि रूप ज्ञान होता है।

१. **बहु–** एक साथ बहुत पदार्थों का अवग्रहादि होना। जैसे– गेंहू की राशि देखने से बहुत से गेहूंओं का ज्ञान।

२. **बहुविध–** बहुत प्रकार के पदार्थों का अवग्रहादि ज्ञान होना जैसे– गेहूं, चना, चावल, आदि कई पदार्थ का ज्ञान।

३. **क्षिप्र–** शीघ्रता से पदार्थ का ज्ञान होना।

४. **अनि:सृत–** एकदेश के ज्ञान से सर्वदेश का ज्ञान होना। जैसे– बाहर निकली हुई सूंड देख कर जल में डूबे हुए पूरे हाथी का ज्ञान होना।

५. **अनुक्त**—वचन से कहे बिना अभिप्राय जान लेना। जैसे— मुंह की सूरत तथा हाथ आदि के इशारे से प्यासे मनुष्य का ज्ञान होना।

६. **ध्रुव**— बहुत काल तक जैसा का तैसा ज्ञान होते रहना।

७. **एक**— अल्प वा एक पदार्थ का ज्ञान। जैसे— एक गेहूं आदि का ज्ञान।

८. **एक विध**— एक प्रकार के पदार्थों का ज्ञान। जैसे— एक सदृश गेहुंओं का ज्ञान।

९. **अक्षिप्र**— चिरग्रहण— किसी पदार्थ को धीरे-धीरे बहुत समय में जानना।

१०. **नि: सृत**— बाहर निकले हुए प्रकट पदार्थों का ज्ञान होना।

११. **उक्त**— शब्द सुनने के बाद ज्ञान होना।

१२. **अध्रुव**— जो क्षण-क्षण हीन अधिक होता रहे, उसे अध्रुव ज्ञान कहते हैं।

अर्थस्य ।।१७।।

अर्थ— ऊपर कहे हुए बहु आदिक बारह भेद पदार्थ-द्रव्य के हैं अर्थात् बहु आदि विशेषण विशिष्ट पदार्थ के ही अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं।

अवग्रह ज्ञान में विशेषता

व्यञ्जनस्यावग्रह: ।।१८।।

अर्थ— व्यञ्जनस्य— अप्रकट रूप शब्दादि पदार्थों का, अवग्रह:— सिर्फ अवग्रह ज्ञान होता है। इहादिक तीन ज्ञान नहीं होते।

भावार्थ— अवग्रह के दो भेद हैं। १. व्यञ्जनावग्रह और

२. अर्थावग्रह।

व्यञ्जनावग्रह– अव्यक्त- अप्रकट पदार्थ के अवग्रह को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह– व्यक्त– प्रकट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।।१९।।

अर्थ– चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्– नेत्र और मन से व्यञ्जनावग्रह, न– नहीं होता है।

श्रुतज्ञान का वर्णन, श्रुतज्ञान की उत्पत्ति का क्रम और भेद

श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम्।। २०।।

अर्थ– श्रुतम्– श्रुतज्ञान, मतिपूर्वम्– मतिज्ञान पूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञान के पश्चात् होता है। और वह श्रुतज्ञान, द्वयनेकद्वादशभेदम् – दो अनेक तथा बारह भेद वाला है।

भावार्थ– श्रुतज्ञान मतिज्ञान के बाद में होता है। उसके दो भेद हैं। (१.) अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट। उनमें से अंग बाह्य के अनेक भेद हैं और अंग प्रविष्ट के– १. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ६. ज्ञातृधर्मकथांग ७. उपासकाध्ययनांग, ८. अन्त: कृद्दशांग, ९. अनुत्तरौपपादिकदशांग १०. प्रश्नव्याकरणांग ११. विपाकसूत्रांग और १२. दृष्टिप्रवाद अंग ये बारह भेद हैं। इनमें से दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के ५ भेद हैं। १. परिकर्म २. सूत्र ३ प्रथमानुयोग ४. पूर्वगत और ५, चूलिका। परिकर्म के ५ भेद हैं– १. व्याख्याप्रज्ञप्ति, २. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ४. सूर्य प्रज्ञप्ति ५. चन्द्र प्रज्ञप्ति। चूलिका के भी

५ भेद हैं– १. जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. आकाशगता और ५. रूपगता। सूत्रगत और प्रथमानुयोग के एक-एक ही भेद हैं। पूर्वगत के १४ भेद हैं-- १ उत्पाद, २. अग्रायणी ३. वीर्यानुप्रवाद, ४. अस्तिनास्तिप्रवाद, ५. ज्ञानप्रवाद ६. सत्यप्रवाद ७. आत्मप्रवाद ८. कर्मप्रवाद ९. प्रत्याख्यान, १०. विद्यानुवाद, ११. कल्याणानुवाद, १२. प्राणावायप्रवाद १३. क्रियाविशाल और १४. लोकबिन्दु। इन सबके पदों का प्रमाण तथा विषय वगैरा राजवार्तिक आदि उच्च ग्रन्थों से जानना चाहिए।

अवधि ज्ञान का वर्णन

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्।।२१।।

अर्थ– भवप्रत्ययः– भवप्रत्यय नाम का, अवधिः– अवधि ज्ञान, देवनारकाणाम्– देव और नारकियों के होता है।

भावार्थ– अवधिज्ञान के दो भेद हैं। १. भवप्रत्यय २. गुणप्रत्यय (ज्ञायोपशमिक)

भवप्रत्यय– देव और नरक भव (पर्याय) के कारण जो उत्पन्न हो उसे भवप्रत्यय कहते हैं।

गुणप्रत्यय– जो किसी पर्याय– विशेष की अपेक्षा न रखकर अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होवे उसे गुण गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं।

नोट– यहां इतना स्मरण रखना चाहिए कि भव प्रत्यय अवधिज्ञान में भी अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम रहता है पर वह क्षयोपशम देव और नरक पर्याय में नियम से प्रकट हो जाता है।

क्षयोपशम निमित्तक अवधि ज्ञान के भेद और स्वामी

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।।२२।।

अर्थ– क्षयोपशमनिमित्तः– क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान, षड्विकल्पः– अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित इस प्रकार छह भेदवाला है और वह शेषाणाम्– मनुष्य तथा तिर्यञ्चों के (भवति) होता है।

अनुगामी– जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश की तरह जीव के साथ साथ जावे उसे अनुगामी कहते हैं। इसके ३ भेद हैं– १. क्षेत्रानुगामी २. भवानुगामी और ३. उभयानुगामी

अननुगामी– जो अवधिज्ञान साथ नहीं जावे उसे अननुगामी कहते हैं।

वर्द्धमान– जो शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की तरह बढ़ता रहे उसे वर्द्धमान कहते हैं।

हीयमान– जो कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की तरह घटता रहे उसे हीयमान कहते हैं।

अवस्थित– जो अवधि ज्ञान एकसा रहे-न घटे न बढ़े उसे अवस्थित कहते हैं। जैसे सूर्य अथवा तिल आदि के चिन्ह।

अनवस्थित– जो हवा से प्रेरित जल की तरंगों की तरह घटता बढ़ता रहे– एक सा न रहे उसे अनवस्थित अवधि ज्ञान कहते हैं।

दूसरे ग्रन्थों में अवधिज्ञान के नीचे लिखे हुए तीन भेद भी बतलाये हैं– १. देशावधि २. परमावधि, ३. सर्वावधि। इनका स्वरूप और विषय अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए।

मनः पर्यय ज्ञान के भेद

ऋजुविपुलमती मनः पर्ययः।।२३।।

अर्थ– मनः पर्ययः– मनः पर्ययज्ञान, ऋजुमतिविपुलमती– ऋजुमति– विपुल– मति के भेद से दो प्रकार का है।

ऋजुमति– जो मन वचन काय की सरलता से चिन्तित, दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जाने, उसे ऋजुमति मनः पर्ययज्ञान कहते हैं।

विपुलमति– जो सरल तथा कुटिल रूप पर के मन में स्थित पदार्थ को जाने उसे विपुलमति मनः पर्ययज्ञान कहते हैं।

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर

।वैशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः।।२४।

अर्थ– विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्याम्– परिणामों की शुद्धता और अप्रतिपात– केवल-ज्ञान होने के पहले नहीं छूटना, इन दो बातों से, तद्विशेषः– ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता है।

भावार्थ– ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति में आत्मा के भावों की शुद्धता अधिक होती है। तथा ऋजुमति होकर छूट भी जाता है, पर विपुलमति केवलज्ञान के पहले नहीं छूटता। दोनों भेदों में मनः पर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा हीनाधिकता रहती है।

अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान में विशेषता

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनः पर्यययोः।।२५।।

अर्थ– अवधिमनः पर्यययोः– अवधि और मनः पर्ययज्ञान में, विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः– विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा (विशेषः भवति) विशेषता होती है।

भावार्थ– विशुद्धि आदि की न्यूनाधिकता से अवधि और मन: पर्ययज्ञान में भेद होता है।

मति और श्रुतज्ञान का विषय

मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।।२६।।

अर्थ– मतिश्रुतयो:– मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का, निबन्ध:- विषय सम्बन्ध, असर्वपर्यायेषु– सब पर्यायों से रहित, द्रव्येषु– जीव पुद्गल आदि सब द्रव्यों में (अस्ति) है।

भावार्थ– इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न हुए मति श्रुतज्ञान रूपी अरूपी सभी द्रव्यों को जानते हैं पर उनकी सब पर्यायों को नहीं जान पाते। इस लिए उनका विषय- सम्बन्ध द्रव्यों की कुछ पर्यायों के साथ होता है।

अवधिज्ञान का विषय

रूपिष्ववधे:।।२७।।

अर्थ– अवधे:– अवधिज्ञान का विषय- सम्बन्ध, रूपिषु– रूपी द्रव्यों में है अर्थात् अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है।

मन: पर्यय ज्ञान का विषय

तदनन्तभागे मन: पर्ययस्य।।२८।।

अर्थ– तदनन्तभागे– सर्वावधि ज्ञान के विषयभूत रूपी द्रव्य के अनन्तवें भाग में, मन: पर्ययस्य– मन: पर्यय ज्ञान का विषय सम्बन्ध है।

भावार्थ– सर्वावधि जिस रूपी द्रव्य को जानता है उससे बहुत

सूक्ष्म रूपी द्रव्य को मन: पर्यय ज्ञान जानता है।

मन: पर्ययज्ञान के भेद

१. ऋजुमति २. विपुलमति।

केवल ज्ञान का विषय

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।।२९।।

अर्थ— केवलस्य— केवलज्ञान का विषय सम्बन्ध, सर्वद्रव्यपर्यायेषु— सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों में है। अर्थात् केवलज्ञान एक साथ सब पदार्थों को जानता है।

एक जीव के साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।।३०।।

अर्थ— एकस्मिन्— एक जीव में, युगपत्— एक साथ, एकादीनि— एक को आदि लेकर, आचतुर्भ्यः चार ज्ञान तक, भाज्यानि— विभक्त करने के योग्य हैं अर्थात् हो सकते हैं।

भावार्थ— यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है। दो हों तो मतिश्रुत होते हैं। तीन हों तो मतिश्रुत अवधि अथवा मति श्रुत और मन: पर्यय होते हैं। यदि चार हों तो मतिश्रुत अवधि और मन: पर्यय ज्ञान होते हैं। एक साथ पांचों ज्ञान किसी भी जीव के नहीं होते। प्रारम्भ के चार ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं और अन्त का केवलज्ञान क्षय से होता है।

मतिश्रुत और अवधिज्ञान में मिथ्यापन

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।।३१।।

अर्थ– मतिश्रुतावधयः– मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान, विपर्ययः च– विपर्यय भी होते हैं। ऊपर कहे हुए पांचों ज्ञान सम्यग्ज्ञान होते हैं। परन्तु मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं। इन्हें क्रम से कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और कुअवधि ज्ञान (विभाङ्गावधि) कहते हैं।

नोट– इन तीन ज्ञानों में मिथ्यापन मिथ्यादर्शन के संसर्ग से होता है। जैसे मीठे दूध में कडुआपन कडुवी तूंबड़ी के संसर्ग से होता है।

प्रश्न– जिस प्रकार पदार्थों को सम्यग्दृष्टि जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी जानता है, फिर सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्याज्ञान क्यों कहलाता है?

उत्तर –

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।।३२।।

अर्थ– यदृच्छोपलब्धे– अपनी इच्छानुसार जैसा तैसा करने के कारण, सदसतोः– सत् और असत् पदार्थों में, अविशेषात्– विशेष ज्ञान न होने से, उन्मत्तवत्– पागल पुरुष के ज्ञान की तरह मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्याज्ञान ही होता है।

भावार्थ– जैसे पागल पुरुष जब स्त्री को स्त्री और माता को माता समझ रहा है तब भी उसका ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहलाता है, क्योंकि उसके माता और स्त्री के बीच कोई स्थिर अन्तर नहीं है। वैसे ही मिथ्यादृष्टि जब पदार्थ को ठीक जान रहा है तब भी सत् असत् का निर्णय नहीं होने से उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान ही कहलाता है।

नयों के भेद

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ।।३३।।

अर्थ– नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय हैं।

नैगम नय– जो नय अनिष्पन्न अर्थ के संकल्प मात्र को ग्रहण करता है वह नैगम नय है। जैसे– लकड़ी पानी आदि सामग्री इकट्ठी करने वाले पुरुष से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हैं, तब वह उत्तर देता है कि रोटी बना रहा हूं। यद्यपि उस समय वह रोटी नहीं बना रहा था तथापि नैगम नय उसके इस उत्तर को सत्यार्थ मानता है।

संग्रह नय– जो नय अपनी जाति का विरोध न करते हुए एक-पने से समस्त पदार्थों को ग्रहण करता है उसे संग्रह नय कहते हैं। जैसे सत्, द्रव्य, घट इत्यादि।

व्यवहार नय– जो नय संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों के विधिपूर्वक भेद करता है वह व्यवहार नय है। जैसे सत् दो प्रकार का है– द्रव्य और गुण। द्रव्य के ६ भेद हैं– जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। गुण के दो भेद हैं– सामान्य और विशेष। इस तरह यह नय वहां तक भेद करता है जहां तक भेद हो सकते हैं।

ऋजुसूत्र नय– जो सिर्फ वर्तमान काल के पदार्थों को ग्रहण करे उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं।

शब्द नय– जो नय लिंग संख्या कारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है वह शब्द नय है। यह नय लिंगादि के भेद से पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे दार (पुं०) भार्या (स्त्री०) कलत्र

(न०) ये तीनों शब्द भिन्न लिंग वाले होकर भी एक ही स्त्री पदार्थ के वाचक हैं पर यह नय स्त्री पदार्थ को लिंग के भेद से तीन भेद रूप मानता है।

समभिरूढ़ नय– जो नय नाना अर्थ को उल्लंघन कर एक अर्थ को रूढ़ि से ग्रहण करता है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं। जैसे वचन आदि अनेक अर्थों का वाचक गो शब्द किसी प्रकरण में गाय अर्थ का वाचक होता है। यह नय पर्याय के भेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे– इन्द्र शक्र पुरन्दर ये तीनों शब्द इन्द्र के नाम हैं पर यह नय इन तीनों के भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करता है।

एवंभूत– जिस शब्द का क्रियारूप अर्थ है उसी क्रियारूप परिणमते हुए पदार्थ को जो नय ग्रहण करता है उसे एवं भूत नय कहते हैं। जैसे पुजारी को पूजा करते समय ही पुजारी कहना।

इति श्री उमास्वामीविरचिते मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः।

●

द्वितीय अध्याय

जीव के साधारण भाव

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।।१।।

अर्थ– जीवस्य– जीव के, औपशमिकक्षायिकौ– औपशमिक और क्षायिक, भावौ– भाव, च मिश्रः – और मिश्र तथा, औदयिकपारिणामिकौ च– औदयिक और परिणामिक ये पांचों ही भाव, स्वतत्त्वम्– निज

के भाव हैं अर्थात् जीव को छोड़ कर अन्य किसी में नहीं पाये जाते।

उपशम तथा औपशमिक भाव– द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति के प्रकट न होने को उपशम कहते हैं और कर्मों के उपशम से आत्मा का जो भाव होता है उसे औपशमिक भाव कहते हैं जैसे निर्मली के संयोग से पानी की कीचड़ नीचे बैठ जाती है और पानी साफ हो जाता है।

क्षय तथा क्षायिक भाव– कर्मों के समूल विनाश होने को क्षय कहते हैं। जैसे पूर्व उदाहरण में जो कीचड़ नीचै बैठ गयी थी उस कीचड़ का बिल्कुल अलग हो जाना। कर्मों के क्षय से जो भाव होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं।

क्षयोपशम तथा क्षायोपशमिक भाव (मिश्र) का लक्षण)– सर्वघातिस्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय तथा उन्हीं का आगामी काल में उदय आने वाले जो निषेक उनका सदवस्थारूप उपशम और देशघातिस्पर्द्धकों के उदय होने को क्षयोपशम कहते हैं जैसे पानी की स्वच्छता को बिल्कुल नष्ट करने वाले कीचड़ के परमाणुओं के नीचे बैठ जाने तथा कुछ हल्के कीचड़ के परमाणुओं के मिले रहने पर पानी में स्वच्छास्वच्छ अवस्था होती है। कर्मों के क्षयोपशम से जो भाव होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

उदय तथ औदयिक भाव– स्थिति को पूरी करके कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं और कर्मों के उदय से जो भाव होता है उसे औदायिक भाव कहते हैं।

पारिणामिक भाव– जो भाव कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा उदय की अपेक्षा न रखता हुआ आत्मा का स्वभाव मात्र हो उसे पारिणामिक भाव कहते हैं।

भावों के भेद

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ।।२।।

अर्थ– ऊपर कहे हुए पांचों भाव, यथाक्रमम्– क्रम से, द्विनवाष्टादशैक विंशतित्रिभेदा:– दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेदवाले हैं।

औपशमिक भाव के दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे ।।३।।

अर्थ– औपशमिक सम्यकत्व और औपशमिक चारित्र ये दो औपशमिक भाव के भेद हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व– अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

औपशमिक चारित्र– अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों के उपशम से जो चारित्र होता है उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं।

क्षायिकभाव के नौ भेद

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ।।४।।

अर्थ– केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपयोग, क्षायिक वीर्य तथा चकार से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ये नव क्षायिक भाव के भेद हैं।

केवल ज्ञान– जो ज्ञानावरण के क्षय से हो।

केवल दर्शन – जो दर्शनावरण के क्षय से हो।

क्षायिक दान आदि पांच भाव – अन्तराय कर्म के ५ भेदों के क्षय से होते हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व– जो ऊपर कही हुई सात प्रकृतियों के क्षय से हो।

क्षायिक चारित्र– जो ऊपर कही हुई २१ प्रकृतियों के क्षय से हो।

क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्ध्यश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः
सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।।५।।

अर्थ– ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयः चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः- मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय ये चार ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन ये तीन दर्शन, क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, और वीर्य से पांच लब्धियां तथा, सम्यक्त्वचारित्र संयमासंयमाश्च– क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम ये अठारह भाव क्षायोपशमिक भाव हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व– अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व इन ६ सर्वघाती प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय से तथा उन्हीं के आगामी काल में उदय में आने वाले जो निषेध उनका सदवस्थारूप उपशम और देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर जो सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसी का दूसरा नाम वेदक सम्यक्त्व भी है।

क्षायोपशमिक चारित्र– अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषाय का

उदयाभावी क्षय तथा उन्हीं के निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और संज्वलन तथा नोकषाय का यथा संभव उदय होने पर जो चारित्र होता है उसे क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं। इसी का दूसरा नाम सरागसंयम है।

संयमासंयम– अनन्तानुबन्धी आदि ८ प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और उन्हीं के निषेकों का सद्वस्थारूप उपशम तथा प्रत्याख्याना-वरणादि १७ प्रकृतियों का यथा सम्भव उदय होने पर आत्मा की जो विरताविरत अवस्था होती है उसे संयमासंयम कहते हैं।

औदयिकभाव के इक्कीस भेद

गति कषाय लिंग मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयता-
सिद्ध लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ।।६।।

अर्थ– नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देव ये चार गति, क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चार कषाय, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद ये तीन लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म, तथा शुक्ल ये छः लेश्याएं, इस तरह सब मिलाकर औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं।

परिणामिक भाव के भेद

जीवभव्याभव्यत्वानि च।।७।।

अर्थ– जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन परिणामिक भाव हैं।

नोट– सूत्र में आये हुए, 'च' शब्द से अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणों का भी ग्रहण होता है।

इस तरह जीव के सब मिलाकर कुल २+९+१८+ २१+ ३+= ५३ त्रेपन भेद होते हैं।

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम् ।।८।।

अर्थ– जीव का, लक्षणम्– लक्षण, उपयोगः– उपयोग (अस्ति) है।

उपयोग– आत्मा के चैतन्य गुण से सम्बन्ध रखने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। उपयोग जीव का तद्भूत लक्षण है।

उपयोग के भेद

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।।९।।

अर्थ– सः– वह उपयोग मूल में, द्विविधः– ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग भेद से दो प्रकार का है। फिर क्रम से, अष्टचतुर्भेदः– आठ और चार भेद से सहित है अर्थात् ज्ञानोपयोग के मति श्रुत अवधि मनः पर्यय और केवलज्ञान तथा कुमति कुश्रुत और कुअवधि ये आठ भेद हैं एवं दर्शनोपयोग के चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद हैं। इस प्रकार दोनों भेदों के मिलाने से बाहर भेद हो जाते हैं।

जीव के भेदः

संसारिणो मुक्ताश्च ।।१०।।

अर्थ– वे जीव, संसारिणः– संसारी, च– और, मुक्ताः– मुक्त इस प्रकार दो भेदवाले हैं। कर्म सहित जीवों को संसारी और कर्म रहित जीवों को मुक्त कहते हैं।

संसारी जीवों के भेद

समनस्काऽमनस्काः ।।११।।

अर्थ– संसारी जीव समनस्क – सैनी और अमनस्क– असैनी

के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

समनस्क– मन सहित जीव।

अमनस्क– मन रहित जीव।

संसारी जीवों के अन्य प्रकार से भेद

संसारिणस्त्रसस्थावराः।।१२।।

अर्थ– संसारिणः– संसारी जीव, त्रसस्थावराः–त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं।

स्थावरों के भेद

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।।१३।।

अर्थ– पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच प्रकार के स्थावर हैं। इनके सिर्फ स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

स्थावर– स्थावर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की अवस्था विशेष को स्थावर कहते हैं।

त्रस जीवों के भेद

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः।।१४।।

अर्थ– द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं।

त्रस– त्रस नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की अवस्था विशेष को त्रस कहते हैं।।१४।।

इन्द्रियों की गणना

पंचेन्द्रियाणि।।१५।।

अर्थ-- सब इन्द्रियां पांच हैं।

इन्द्रिय-- जिनसे जीव की पहिचान हो उन्हें इन्द्रिय कहते हैं।

इन्द्रियों के मूल भेद

द्विविधानि।।१६।।

अर्थ-- सब इन्द्रियां द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय के भेद से दो दो प्रकार ही हैं।

द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्।।१७।।

अर्थ-- निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

निर्वृत्ति-- पुद्गलविपाकी नाम कर्म के उदय से निर्वृत्त-रची गई नियत संस्थान वाली पुद्गल की रचनाविशेष को निर्वृत्ति कहते हैं। इसके २ भेद हैं-- १. आभ्यन्तर निर्वृति और २. बाह्य निर्वृत्ति। उत्सेधांगुल के असंख्येय भाग प्रमाण शुद्ध आत्मा के प्रदेशों का चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार जो परिणमन होता है उसे 'आभ्यन्तर निर्वृत्ति' कहते हैं। तथा इन्द्रिय व्यपदेश को प्राप्त हुए आत्मा के उन प्रदेशों में नामकर्म के उदय से चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार परिणत जो पुद्गल प्रचय है उसे बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं।

उपकरण-- जो निर्वृत्ति का उपकार करे उसे उपकरण कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं। १. आभ्यन्तर उपकरण २. बाह्य उपकरण। जैसे चक्षु इन्द्रिय में जो कृष्ण शुक्ल मण्डल है वह 'आभ्यन्तर

उपकरण' है और पलके तथा रोम वगैरा 'बाह्य उपकरण' हैं।

भाव इन्द्रिय का स्वरूप

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।।१८।।

अर्थ– लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं।

लब्धि– ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमविशेष को लब्धि कहते हैं।

उपयोग– जिसके निमित्त से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की निर्वृत्ति के प्रति व्यापार करता है उसे उपयोग कहते हैं।

पंच इन्द्रियों के नाम

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्राणि।।१९।।

अर्थ– स्पर्शन– त्वचा, रसना– जीभ, घ्राण – नाक, चक्षुः– आंख और श्रोत्र–कान ये पांच इन्द्रियां हैं।

इन्द्रियों के विषय

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः।।२०।।

अर्थ– स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पांच क्रम से ऊपर कहीं हुई पांच इन्द्रियों के विषय हैं। अर्थात् उक्त इन्द्रियां इन विषयों को जानती हैं।

मन का विषय

श्रुतमनिन्द्रियस्य।।२१।।

अर्थ– अनिन्द्रियस्य– मन का विषय, श्रुतम्– श्रुतज्ञान गोचर पदार्थ है अथवा मन का प्रयोजन श्रुतज्ञान है।

इन्द्रियों के स्वामी

वनस्पत्यन्तानामेकम्।।२२।।

अर्थ– वनस्पत्यन्तानाम्– वनस्पति काय है अन्त में जिनके ऐसे जीवों के अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक, जीवों के, एकम्– एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि।।२३।।

अर्थ– लट आदि, चिउंटी आदि, भौंरा आदि तथा मनुष्य आदि के क्रम से एक एक इन्द्रिय बढ़ती हुई हैं। अर्थात् लट आदि के प्रारम्भ की दो, चिउंटी आदि के तीन, भौंरा आदि के चार और मनुष्य आदि के पांचों इन्द्रियां होती हैं।

समनस्क की परिभाषा

संज्ञिन: समनस्का:।।२४।।

अर्थ – समनस्का:– मन सहित जीव, संज्ञिन:– संज्ञी कहलाते हैं।

संज्ञा– हित अहित की परीक्षा तथा गुणदोष का विचार वा स्मरणादिक करने को संज्ञा कहते हैं।

प्रश्न– जब कि जीवों की हिताहित में प्रवृत्ति मन की सहायता से ही होती है तब वे विग्रहगति में मन के बिना भी नवीन शरीर की प्राप्ति के लिए गमन क्यों करते हैं?

उत्तर–

विग्रहगतौ कर्मयोग:।।२५।।

अर्थ– विग्रहगतौ– विग्रहगति में, कर्मयोग– कार्मण काय योग होता है। उसी की सहायता से जीव एक गति से दूसरी गति में गमन

करता है।

विग्रहगति– एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिए गमन करना सो विग्रहगति है।

कर्मयोग– ज्ञानावरणादिकर्मों के समूह को कार्मण कहते हैं। उनके निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे कर्मयोग अथवा कार्मणयोग कहते हैं।

गमन किस प्रकार होता है?

अनुश्रेणि गतिः।।२६।।

अर्थ– गतिः– जीव और पुद्गलों का गमन, अनुश्रेणि– श्रेणि के अनुसार ही होता है।

श्रेणि– लोक के मध्यभाग से ऊपर, नीचे तथा तिर्यक, दिशा में क्रम से सन्निवेश, (रचना) को प्राप्त हुए आकाश-प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणि कहते हैं।

नोट– जो जीव मरकर दूसरे शरीर के लिए विग्रह गति में गमन करता है, उसी का गमन विग्रह गति में श्रेणि के अनुसार होता है, अन्य का नहीं। इसी तरह जो पुद्गल का शुद्ध परमाणु एक समय में चौदह राजु गमन करता है उसी का श्रेणि के अनुसार गमन होता है, सब पुद्गलों का नहीं।

मुक्त जीवों की गति

अविग्रहा जीवस्य।।२७।।

अर्थ– जीवस्य – मुक्त जीव की गति, अविग्रहा– वक्रता रहित-सीधी होती है।

भावार्थ– श्रेणि के अनुसार होनें वाली गति के दो भेद हैं। १. विग्रहवती (जिसमें मुड़ना पड़े) और २. अविग्रहा (जिसमें मुड़ना न पड़े)। इनमें से कर्मों का क्षय कर सिद्ध शिला के प्रति गमन करनें वाले जीवों के अविग्रहा गति होती है।

संसारी जीवों की गति और समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः।।२८।।

अर्थ– संसारिणः– संसारी जीव की गति, चतुर्भ्यः प्राक्– चार समय से पहले पहले, विग्रहवती च– विग्रहवती और अविग्रहा दोनों प्रकार की होती है।

भावार्थ– संसारी जीव की गति मोड़ा रहित भी होती है और मोड़ा सहित भी। जो मोड़ा रहित होती है उसमें एक समय लगता है। जिसमें एक मोड़ा लेना पड़ता है उसमें दो समय; जिसमें दो मोड़ा लेना पड़ते हैं उसमें तीन समय और जिसमें तीन मोड़ा लेना पड़ते हैं उसमें चार समय लगते हैं। पर यह जीव चौथे समय में कहीं न कहीं नवीन शरीर नियम से धारण कर लेता है, इसलिए विग्रह गति का समय चार समय के पहले पहले तक कहा गया है।

अविग्रह गति का समय

एकसमयाऽविग्रहा।।२९।।

अर्थ – अविग्रहा– मोड़ा रहित गति, एकसमया– एक समय मात्र ही होती है अर्थात् उसमें एक समय ही लगता है।

विग्रहगति में आहारक अनाहारक की व्यवस्था

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः।।३०।।

अर्थ— विग्रह गति में जीव एक दो अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है।

आहार— औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर तथा ६ पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल परमाणुओं के ग्रहण को आहार कहते हैं।

भावार्थ— जब तक जीव ऊपर कहे हुए आहार को ग्रहण नहीं करता तब तक वह 'अनाहारक' कहलाता है। संसारी जीव अविग्रह गति में आहारक ही होता है। किन्तु एक दो और तीन मोड़ावली गतियों में क्रम से एक दो और तीन समय तक अनाहारक रहता है। चौथे समय में नियम से आहारक हो जाता है।

जन्म के भेद

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म।।३१।।

अर्थ— जन्म— जन्म, सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा— सम्मूर्च्छन गर्भ और उपपाद के भेद से तीन प्रकार का होता है।

सम्मूर्च्छन जन्म— अपने शरीर के योग्य पुद्गल परमाणुओं के द्वारा माता पिता के रज और वीर्य के बिना ही रचना होने को सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं।

गर्भजन्म— स्त्री के उदर में रज और वीर्य के मिलने से जो जन्म होता है उसे गर्भजन्म कहते हैं।

उपपाद जन्म— माता पिता के रज और वीर्य के बिना देव नारकियों के निश्चित स्थान— विशेष पर उत्पन्न होने को उपपाद जन्म कहते हैं।

योनियों के भेद

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः।।३२।।

अर्थ— सचित्तशीतसंवृता:— सचित्त शीत संवृत्त, सेतरा:— इनसे उल्टी तीन अचित्त उष्ण विवृत, च— और एकश:— एक-एक कर, मिश्रा:— क्रम से मिली हुई तीन सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृत विवृत ये नौ, तद्योनय:— सम्मूर्च्छन आदि जन्मों की योनियां हैं।

सचित्तयोनि— जीव सहित योनि को सचित्तयोनि कहते हैं।

संवृतयोनि— जो किसी के देखने में न आवे ऐसे जीव के उत्पत्ति स्थान को संवृतयोनि कहते हैं।

विवृतयोनि— जो सबके देखने में आवे उस उत्पत्ति स्थान को विवृतयोनि कहते हैं। शेष योनियों का अर्थ स्पष्ट है।

नोट— कौन योनि किस जींव के होती है? इस विषय को आगे के चार्ट पर देखिये।

योनिभेद और उनके स्वामी

योनि नाम	स्वामी
१. सचित्त—	साधारण शरीर
२. अचित्त—	देव नारकी
३. सचित्ताचित्त—	गर्भज मनुष्य और तिर्यंच
४. शीत—	तेजस्कायिक और देवनारकियों को छोड़कर
५. उष्ण—	तेजस्कायिक
६. शीतोष्ण—	देव नारकी
७. संवृत—	देव, नारकी, एकेन्द्रिय
८. विवृत—	विकलेन्द्रिय व संमूर्च्छन
९. संवृतविवृत—	गर्भज

गर्भजन्म किसके होता है

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ।।३३।।

अर्थ– जरायुज, अण्डज और पोत इन तीन प्रकार के जीवों के गर्भ जन्म ही होता है। अथवा गर्भ जन्म उक्त जीवों के ही होता है।

जरायुज– जाल के समान मांस और खून से व्याप्त एक प्रकार की थैली से लिपटे हुए जो जीव पैदा होते हैं उन्हें जरायुज कहते हैं– जैसे गाय, भैंस, मनुष्य वग़ैरा।

अण्डज– जो जीव अण्डे से उत्पन्न हों, उन्हें अण्डज कहते हैं, जैसे– चील, कबूतर वग़ैरा पक्षी।

पोत– पैदा होते समय जिन जीवों पर किसी प्रकार का आवरण नहीं हो और पैदा होते ही चलने फिरने लग जावें उन्हें पोत कहते हैं, जैसे, हिरण सिंह वग़ैरा।

उपपाद जन्म किसके होता है

देवानारकाणामुपपादः ।।३४।।

अर्थ– देवनारकाणाम्– देव और नारकियों के, उपपाद– उपपाद जन्म ही होता है अथवा उपपाद जन्म देव और नारकियों के ही होता है।

सम्मूर्च्छन जन्म किसके होता है?

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ।।३५।।

अर्थ– शेषाणाम्– गर्भ और उपपाद जन्म वालों से बाकी बचे हुए जीवों के, सम्मूर्च्छनम्– सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है अथवा सम्मूर्च्छन जन्म शेष-जीवों के ही होता है।

नोट– एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों का नियम

से सम्मूर्च्छन जन्म होता है। बाकी तिर्यञ्चों के गर्भ और सम्मूर्च्छन दोनों होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का भी संमूर्च्छन जन्म होता है।

शरीरों के नाम व भेद

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजस कार्मणानि शरीराणि।।३६।।

अर्थ– औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच शरीर हैं।

औदारिक शरीर– स्थूल शरीर (जो दूसरे को छेड़े और दूसरे से छिड़ सके) को औदारिक शरीर कहते हैं– यह मनुष्य और तिर्यञ्चों के होता है।

वैक्रियिक शरीर– जिसमें हल्के भारी तथा कई प्रकार के रूप बनाने की शक्ति हो उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं। यह देव और नारकियों के होता है। विक्रिया ऋद्धि इससे भिन्न है।

आहारक शरीर– सूक्ष्म पदार्थ के निर्णय के लिए वा संयम की रक्षा के लिए छठवें गुणस्थानवर्ती जीव के मस्तक से एक हाथ का जो सफेद रंग का पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।

तैजस शरीर– जिसके कारण शरीर में तेज रहे उसे तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मण शरीर– ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं।

शरीरों की सूक्ष्मता का वर्णन

परं परं सूक्ष्मम्।।३७।।

अर्थ– पूर्व से, परम्परम्– आगे-आगे के शरीर, सूक्ष्मम्– सूक्ष्म-सूक्ष्म। अर्थात् औदारिक से वैक्रियिक, वैक्रियिक से आहारक,

आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

शरीरों के प्रदेशों का विचार

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात्।।३८।।

अर्थ– प्रदेशतः– प्रदेशों की अपेक्षा, तैजसात् प्राक्– तैजस शरीर से पहले पहले के शरीर, असंख्येयगुणम्– असंख्यातगुणे हैं।

भावार्थ– औदारिक शरीर की अपेक्षा असंख्यातगुणे प्रदेश (परमाणु) वैक्रियिक में हैं और वैक्रियिक की अपेक्षा असंख्यातगुणे आहारक में है।

अनन्तगुणे परे।।३९।।

अर्थ– परे– बाकी के दो शरीर, अनन्तगुणे– अनन्तगुण परमाणु वाले हैं। अर्थात् आहारक शरीर से अनन्तगुणे परमाणु तैजस शरीर में और तैजस शरीर की अपेक्षा अनन्तगुणे परमाणु कार्मण शरीर में हैं।

तैजस और कार्मण शरीर की विशेषता

अप्रतीघाते ।।४०।।

अर्थ– तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर प्रतीघात- बाधारहित हैं अर्थात् किसी भी मूर्तिक पदार्थ से न स्वयं रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं।

अनादिसम्बन्धे च।।४१।।

अर्थ– ये दोनों शरीर आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

नोट– यह कथन सामान्य तैजस और कार्मण की अपेक्षा है। विशेष की अपेक्षा पहले के शरीरों का सम्बन्ध नष्ट होकर उनके स्थान में नये नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है।

सर्वस्य।।४२।।

अर्थ– ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवों के होते हैं।

एक साथ एक जीव के कितने शरीर हो सकते हैं?

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।।४३।।

अर्थ– तदादीनि– उन तैजस और कार्मण शरीर को आदि लेकर, युगपद्– एकसाथ, एकस्मिन्– एक जीव के, आचतुर्भ्यः– चार शरीर तक, भाज्यानि– विभक्त करना चाहिए। अर्थात् दो शरीर हों तो तैजस और कार्मण, तीनों हों तो तैजस कार्मण और औदारिक अथवा तैजस कार्मण और वैक्रियिक, तथा चार हों तो तैजस कार्मण औदारिक और आहारक अथवा तैजस कार्मण औदारिक और वैक्रियिक होते हैं।

कार्मण शरीर की विशेषता

निरुपभोगमन्त्यम्।।४४।।

अर्थ– अन्त्यम्– अन्त का कार्मण शरीर, निरुपभोगम्– उपभोग रहित होता है।

उपभोग– इन्द्रियों के द्वारा शब्दादिक के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं।

औदारिक शरीर का लक्षण

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम्।।४५।।

अर्थ– गर्भसम्मूर्च्छनजम्– गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से

उत्पन्न हुआ शरीर, आद्यम्– औदारिक शरीर कहलाता है।

वैक्रियिक शरीर का लक्षण

औपपादिकं वैक्रियिकम्।।४६।।

अर्थ– औपपादिकम्– उपपाद जन्म से उत्पन्न होने वाला देव नारकियों का शरीर, वैक्रियिकम्– वैक्रियिक कहलाता है।

लब्धिप्रत्ययं च।४७।।

अर्थ– वैक्रियिक शरीर लब्धि निमित्तक भी होता है।

लब्धि– तपोविशेष से प्राप्त ऋद्धि को लब्धि कहते हैं।

तैजसमपि ।।४८।।

अर्थ– तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय (ऋद्धिनिमित्तक) होता है।

नोट– यह तैजस शुभ अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है।

आहारक शरीर का स्वामी व लक्षण

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव।।४९।।

अर्थ– आहारकम्– आहारक शरीर, शुभम्– शुभ है अर्थात् शुभ कार्य को करता है, विशुद्धम्– विशुद्ध कर्म का कार्य है, च और, अव्याघाति–व्याघातबाधा रहित है तथा प्रमत्तसंयतस्यैव– प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के ही होता है।

लिंग (वेद) के स्वामी

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि।।५०।।

अर्थ– नारकी और सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीव नपुंसक होते हैं।

न देवा: ।।५१।।

अर्थ– देव नपुंसक नहीं होते। अर्थात् देवों में स्त्रीलिंग और पुरुषलिंग ये दो ही लिंग होते हैं।

शेषास्त्रिवेदा: ।।५२।।

अर्थ– शेष बचे हुए मनुष्य और तिर्यंच तीनों वेदवाले होते हैं।

अकाल मृत्यु किनकी नहीं होती?

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुष: ।।५३।

अर्थ– उपपाद जन्म वाले देव नारकी तद्भवमोक्षगामियों में श्रेष्ठ तीर्थंकर आदि तथा असंख्यात वर्षो की आयु वाले -भोगभूमि के जीव परिपूर्ण आयु वाले होते हैं। अर्थात् इन जीवों की असमय में मृत्यु नहीं होती।

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्याय:

●

तृतीय अध्याय

अधोलोक का वर्णन

सात पृथ्वियां नरक

रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातम: प्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठा: सप्ताऽधोऽध: ।।१।।

अर्थ– रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातम: प्रभा- रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा,

ये भूमियां, सप्त– सात हैं और क्रम से, अधोऽध:– नीचे नीचे, घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा:– घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाश के आधार हैं।

विशेष– रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग हैं । १. खर भाग २. पंक भाग ३. अब्बहुल भाग। इनमें से ऊपर के दो भागों में व्यन्तर तथा भवनवासी देव रहते हैं और नीचे के अब्बहुल भाग में नारकी रहते हैं। इस पृथ्वी की कुल मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन की है।

सात पृथ्वियों में नरकों (बिलों) की संख्या

तासुत्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशत्रिपञ्चोनैकनरकशत सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्।।२।।

अर्थ– तासु– उन पृथ्वियों में, यथाक्रमम्– क्रम से, त्रिंशत् पंचविंशति पंच दश दश त्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि– तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दश लाख, तीन लाख, पांच कम एक लाख च– और पंच एव– पांच ही नरक बिल हैं। ये बिल जमीन में गड़े हुए ढोल की पोल के समान होते हैं।

नारकियों के दुःख का वर्णन

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणाम देहवेदनाविक्रिया:।।३।।

अर्थ– नारकी जीव हमेशा ही अत्यन्त अशुभ लेश्या, परिणाम, शरीर वेदना और विक्रिया के धारक होते हैं।

परिणाम– स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द को परिणाम कहते हैं।

परस्परोदीरित दुःखाः ।।४।।

अर्थ– नारकी जीव परस्पर में एक दूसरे को दुःख उत्पन्न करते हैं– वे कुत्तों की तरह परस्पर में लड़ते हैं।

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ।।५।।

अर्थ– च– और वे नारकी, चतुर्थ्याः प्राक्– चौथी पृथ्वी से पहले-पहले अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यन्त, संक्लिष्टाऽसुरोदीरित दुःखाः- अत्यन्त संक्लिष्ट परिणामों के धारक अम्बावरीष जाति के असुरकुमार देवों के द्वारा उत्पन्न किया गया है दुःख जिनको ऐसे होते हैं अर्थात् – तीसरे नरक तक जाकर अम्बावरीष- असुरकुमार उन्हें पूर्व वैर का स्मरण दिलाकर आपस में लड़ाते हैं और उन्हें दुःखी देखकर हर्षित होते हैं। उनके इसी प्रकार की कषाय का उदय रहता है।

नरकों में उत्कृष्ट आयु का प्रमाण

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंश-त्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ।।६।।

अर्थ– तेषु– उन नरकों में, सत्त्वानां– नारकी जीवों की, परास्थितिः– उत्कृष्ट स्थिति क्रम से, एक त्रि सप्तदश सप्तदश द्वाविंशति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा– एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर, और तैंतीस सागरोपम है।

नोट– नरकों में भयानक दुःख होने पर भी असमय में मृत्यु नहीं होती।

मध्यलोक का वर्णन

कुछ द्वीप समुद्रों के नाम

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ।।७।।

अर्थ– इस मध्यलोक में, शुभनामानः– अच्छे-अच्छे नाम वाले, जम्बूद्वीपलवणोदादयः द्वीपसमुद्राः– जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र हैं।

भावार्थ– सबके बीच में थाली के आकार का जम्बूद्वीप है, उसके चारों तरफ लवण समुद्र है, उसके चारो तरफ धातकीखण्ड द्वीप है, उसके चारों तरफ कालोदधि समुद्र है, उसके चारों तरफ पुष्करवर द्वीप है, उसके चारों तरफ पुष्करवर समुद्र है। इस प्रकार एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। सबसे अन्त के द्वीप का नाम स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयंभूरमण समुद्र है।

द्वीप और समुद्रों का विस्तार और आकार

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ।।८।।

अर्थ– प्रत्येक द्वीप समुद्र दूने-दूने विस्तार वाले, पहले पहले के द्वीप समुद्र को घेरे हुए तथा चूड़ी के समान आकार वाले हैं।

जम्बूद्वीप का विस्तार और आकार

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ।।९।।

अर्थ– तन्मध्ये– उन सब द्वीप समुद्रों के बीच में, मेरुनाभिः– सुदर्शन मेरु है नाभि जिसकी ऐसा तथा, वृत्तः– थाली के समान गोल और, योजनशतसहस्रविष्कम्भः– एक लाख योजन विस्तार वाला,

जम्बूद्वीपः– जम्बूद्वीप, अस्ति– है।

सात क्षेत्रों के नाम

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि।।१०।।

अर्थ– इस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मि शिखरिणो वर्षधरपर्वताः।।११।।

अर्थ– तद्विभाजिनः– उस सात क्षेत्रों को विभाग करने वाले, पूर्वापरायताः– पूर्व से पश्चिम तक लम्बे, हिमवन्महाहिमवन्निषध नीलरुक्मिशिखरिणः– हिमवत् महाहिमवत्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिन् ये छः, वर्षधरपर्वताः– वर्षधर- कुलाचल पर्वत हैं। वर्ष= क्षेत्र।

कुलाचलों का वर्णन

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः।।१२।।

अर्थ– ऊपर कहे हुए पर्वत क्रम से, सुवर्ण, चांदी, तपाया ताया हुआ सुवर्ण, वैडूर्य-नीलमणि, चांदी और सुवर्ण के समान वर्ण वाले हैं।

कुलाचलों का आकार

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः।।१३।।

अर्थ– वे पर्वत, मणिविचित्रपार्श्वाः– कई तरह के मणियों से चित्रविचित्र हैं तट जिनके ऐसे तथा, उपरि मूले च– ऊपर नीचे और मध्य में, तुल्यविस्ताराः– एक समान विस्तार वाले हैं।

कुलाचलों पर स्थित सरोवर के नाम

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीक पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि।।१४।।

अर्थ– तेषाम् उपरि– उन पर्वतों के ऊपर क्रम से, पद्म महापद्मतिगिञ्छकेशरि महापुण्डरीक पुण्डरीका ह्रदाः- पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केशरी महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के, ह्रद-सरोवर हैं।

प्रथम सरोवर की लम्बाई, चौड़ाई

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भोह्रदः।।१५।।

अर्थ– प्रथमोह्रदः– पहला सरोवर, योजनसहस्रायामः– एक हजार योजन लम्बा और तदर्द्धविष्कम्भः– लम्बाई से आधा अर्थात् पांच सौ योजन विस्तार वाला है।

प्रथम सरोवर की गहराई

दशयोजनावगाहः।।१६।।

अर्थ– पहला सरोवर दश योजन गहरा है।

उसके मध्य में क्या है?

तन्मध्ये योजनं पुष्करम्।।१७।।

अर्थ– उसके बीच में एक योजन विस्तार का कमल है।

महापद्म आदि सरोवर तथा उनमें रहने वाले कमलों का प्रमाण

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च।।१८।।

अर्थ– आगे के सरोवर और कमल क्रम से प्रथम सरोवर तथा

उसके कमल से दूने दूने विस्तार वाले हैं।

नोट– यह दूने दूने का क्रम तिगिंच्छ नामक तीसरे सरोवर तक ही है। उसके आगे के तीन सरोवर और तीन कमल दक्षिण के सरोवर और कमलों के समान विस्तार वाले हैं।

कमलों में रहने वाली छह देवियां

तन्निवासिन्यो देव्य: श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्य: पल्योपमस्थितय: ससामानिकपरिषत्का: ।।१९।।

अर्थ– पल्योपमस्थितय:– एक पल्य की आयुवाली तथा, ससामानिकपरिषत्का:– सामानिक और पारिषद जाति के देवों से सहित, श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्य:– श्री, ह्री, धृति, कीर्ति बुद्धि और लक्ष्मी नाम की, देव्य:– देवियां क्रम से, तन्निवासिन्य:– उन सरोवरों के कमलों पर निवास करती हैं।

चौदह महानदियों के नाम

गंगासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासी-तोदानारीनरकान्तासुवर्ण रूप्यकूलारक्तारक्तोदा: सरितस्तन्मध्यगा: ।।२०।।

अर्थ– गंङ्गा–सिन्धु, रोहित- रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी- नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकला और रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियां जम्बूद्वीप के पूर्वोक्त सात क्षेत्रों के बीच में बहती हैं।

विशेष– पहले पद्म और छठवें पुण्डरीक नामक सरोवर से क्रम से आदि और अन्त की तीन तीन नदियां निकलती हैं तथा बाकी

के सरोवरों से दो दो नदियां निकली हैं। नदियों और क्षेत्र का क्रम इस प्रकार है– 'भरत में'– गंगा सिन्धु, हैमवत में- रोहित रोहितास्या, हरि में- हरित् हरिकान्ता, विदेह में- सीता सीतोदा, रम्यक में–सुवर्ण कूला, रूप्यकूला और ऐरावत में– रक्ता रक्तोदा बहती हैं।

नदियों के बहने का क्रम

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः।।२१।।

अर्थ– सूत्र के क्रमानुसार गंगा सिन्धु इत्यादि दो दो नदियों में से प्रथम नम्बर वाली नदियां पूर्वसमुद्र में जाती हैं। जैसे गंगा-सिन्धु में गंगा आदि।

शेषास्त्वपरगाः।।२२।।

अर्थ– बाकी बची हुई सात नदियां पश्चिम की ओर जाती हैं। जैसे गंगा-सिन्धु में सिन्धु आदि।

महानदियों की सहायक नदियां

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः।।२३।।

अर्थ– गंगा सिन्धु आदि नदियों के युगल चौदह हजार सहायक नदियों से घिरे हुए हैं।

नोट– सहायक नदियों का क्रम भी विदेह क्षेत्र तक आगे आगे के युगलों में पूर्व के युगलों से दूना-दूना है। और उत्तर के तीन क्षेत्रों में दक्षिण के तीन क्षेत्रों के समान है।

नदी युगल–	सहायक नदी संख्या
गंगा–सिन्धु	१४ हजार

रोहित्-रोहितास्या	२८ हजार
हरित्-हरिकान्ता	५६ हजार
सीता-सीतोदा	१ लाख बारह हजार
नारी-नरकान्ता	५६ हजार
सुवर्णकूला-रूप्यकूला	२८ हजार
रक्ता-रक्तोदा	१४ हजार

भरत क्षेत्र का विस्तार

भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः
षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य।।२४।।

अर्थ— भरतः— भरतक्षेत्र, षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः— पांच सौ छब्बीस योजन विस्तार वाला, च— और योजनस्य— एक योजन के, एकोनविंशतिभागाः— उन्नीस भागों से, षट्— छह भाग अधिक है।

भावार्थ— भरत क्षेत्र का विस्तार ५२६ योजन है।

आगे के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः।।२५।।

अर्थ— विदेहान्ताः— विदेहक्षेत्र पर्यन्त के, वर्षधरवर्षा—पर्वत और क्षेत्र, तद्द्विगुणद्विगुणाः—भरतक्षेत्र से दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

विदेह क्षेत्र के आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार

उत्तरा दक्षिणतुल्याः।।२६।।

अर्थ— विदेह क्षेत्र से उत्तर के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिण पर्वत और क्षेत्रों के समान विस्तार वाले हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र का परिवर्तन

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यव सर्पिणीभ्याम्।।२७।।

अर्थ– षट्समयाभ्याम्– छह कालों से युक्त, उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा, भरतैरावतयो:– भरत और ऐरावत क्षेत्र में जीवों को अनुभव आदि की, वृद्धिह्रासौ- बढ़ती तथा न्यूनता होती रहती है।

भावार्थ– बीस कोड़ा कोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है उसके दो भेद हैं।

१. उत्सर्पिणी– जिसमें जीवों के ज्ञान आदि की वृद्धि होती है।

२. अवसर्पिणी– जिसमें जीवों के ज्ञान आदि का ह्रास होता है। अवसर्पिणी के छह भेद हैं– १. सुषमासुषमा २. सुषमा, ३. सुषमदु:षामा– ४. दु:षमा सुषमा– ५. दुषमा और ६. अतिदुषमा। इसी प्रकार उत्सर्पिणी के भी अति दुषमा आदि को लेकर ६ भेद हैं- इन ६ भेदों के काल का नियम इस प्रकार है–

१. सुषमासुषमा- चार कोड़ा-कोड़ी सागर, २. सुषमा- तीन कोड़ा कोड़ी सागर ३. सुषमादुषमा- २ कोड़ा-कोड़ी सागर, ४. दुषमा सुषमा- व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, ५. दु:षमा– इक्कीस हजार वर्ष, ६. अतिदु:षमा– इक्कीस हजार वर्ष। भरत और ऐरावत क्षेत्र में इन छह भेदों सहित उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का परिवर्तन होता रहता है। असंख्यात अवसर्पिणी बीत जाने के बाद एक हुण्डावसर्पिणी काल होता है। अभी हुण्डावसर्पिणी काल चल रहा है।

नोट– भरत और ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी म्लेच्छखण्डों तथा

विजयार्द्ध पर्वत की श्रेणियों में अवसर्पिणी काल के समय चतुर्थ काल के आदि से लेकर अन्त तक परिवर्तन होता है और उत्सर्पिणी काल के समय तृतीय काल के अन्त से लेकर आदि तक परिवर्तन होता है। इनमें आर्यखण्डों की तरह छहों कालों का परिवर्तन नहीं होता और न इनमें प्रलय काल पड़ता है।

अन्य भूमियों की व्यवस्था

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः।।२८।।

अर्थ– ताभ्याम्– भरत और ऐरावत के सिवाय, अपराः– अन्य, भूमयः– क्षेत्र, अवस्थिताः– एक ही अवस्था में रहते हैं– उनमें काल का परिवर्तन नहीं होता।

हैमवत आदि क्षेत्रों में आयु की व्यवस्था

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षक दैवकुरवकाः।।२९।।

अर्थ– हैमत हारिवर्ष और देवकुरु (विदेहक्षेत्र के अन्तर्गत एक विशेष स्थान) के निवासी मनुष्य तिर्यञ्च क्रम से एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयु वाले होते हैं।

हैरण्यवत आदि क्षेत्रों में आयु की व्यवस्था

तथोत्तराः।।३०।।

अर्थ– उत्तर के क्षेत्रों में रहने वाले मनुष्य भी हैमवत आदि के मनुष्यों के समान आयुवाले होते हैं।

भावार्थ– हैरण्यवत क्षेत्र की रचना हैमवतक्षेत्र के समान, रम्यक क्षेत्र की रचना हरिक्षेत्र के समान और उत्तरकुरु (विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत

स्थान विशेष) की रचना देवकुरु के समान है। इस प्रकार उत्तम मध्यम और जघन्यरूप तीनों भोगभूमियों के दो दो क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीप में छः भोगभूमियां और अढ़ाई द्वीप में कुल ३० भोगभूमियां है।

विदेह क्षेत्र में आयु की व्यवस्था

विदेहेषु संख्येयकालाः।।३१।।

अर्थ– विदेह क्षेत्र में मनुष्य और तिर्यञ्च संख्यात वर्ष की आयु वाले होते हैं।

भरतक्षेत्र का अन्य प्रकार से विस्तार

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः।।३२।।

अर्थ– भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप का एक सौ नब्बेवां भाग है।

नोट– २४वें सूत्र में भरतक्षेत्र का जो विस्तार बतलाया है उसमें और इसमें कोई भेद नहीं है। सिर्फ कथन करने का प्रकार दूसरा है। यदि एक लाख के एक सौ नब्बे हिस्से किये जायें तो उनमे हर एक का प्रमाण ५२६/६/१९ योजन होगा।

धातकी खण्ड का वर्णन

द्विर्धातकीखण्डे।।३३।।

अर्थ– धातकीखण्ड नामक दूसरे द्वीप में क्षेत्र, कुलाचल, मेरु, नदी आदि समस्त पदार्थों की रचना जम्बू द्वीप से दूनी दूनी है।

पुष्कर द्वीप का वर्णन

पुष्करार्द्धे च।।३४।।

अर्थ— पुष्करार्द्ध द्वीप में जम्बूद्वीप की अपेक्षा सब रचना दूनी दूनी है।

विशेष— पुष्करवर द्वीप का विस्तार १६ लाख योजन है उसके ठीक बीच में चूड़ी के आकार मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है, जिससे इस द्वीप के दो हिस्से हो गये हैं। पूर्वार्ध में सब रचना धातकीखण्ड के समान है और जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी है। इस द्वीप के उत्तरकुरु प्रान्त में एक पुष्कर (कमल) है, उसके संयोग से ही इसका नाम पुष्करवर द्वीप पड़ा है।

मनुष्य क्षेत्र

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः।।३५।।

अर्थ— मानुषोत्तर पर्वत के पहले अर्थात् अढ़ाई द्वीप में मनुष्य होते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के आगे ऋद्धिधारी मुनीश्वर तथा विद्याधर भी नहीं जा सकते।

मनुष्यों के भेद

आर्या म्लेच्छाश्च।।३६।।

अर्थ— आर्य और म्लेच्छ के भेद से मनुष्य दो प्रकार के होते हैं।

आर्य— जो अनेक गुणों से सम्पन्न हों तथा गुणी पुरुष जिनकी सेवा करें उन्हें आर्य कहते हैं।

म्लेछ— जो आचार-विचार से भ्रष्ट हों तथा जिन्हें धर्म-कर्म का कुछ विवेक न हो उन्हें म्लेच्छ कहते हैं।

कर्म भूमि का वर्णन

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।।३७।।

अर्थ– पांच मेरु सम्बन्धी ५ भरत, ५ ऐरावत और देवकुरु उत्तर कुरु को छोड़कर ५ विदेह, इस तरह अढ़ाई द्वीप में कुल १५ कर्मभूमियां है।

कर्मभूमि– जहां पर असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प इन छह कर्मों की प्रवृत्ति हो उसे कर्मभूमि कहते हैं।

मनुष्यों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते।।३८।।

अर्थ– मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

तिर्यंचों की स्थिति

तिर्यग्योनिजानां च।।३९।।

अर्थ– तिर्यञ्चों की भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति क्रम से तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त की है।

।। इति श्रीमदुमास्वामीविरचिते मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः।।

●

चतुर्थ अध्याय

देवों के भेद

देवाश्चतुर्णिकायाः।।१।।

अर्थ– देव चार समूह वाले हैं अर्थात् देवों के चार भेद हैं– १. भवनवासी २. व्यन्तर ३. ज्योतिषी ४. वैमानिक।

भवनत्रिक देवों में लेश्या का विभाग

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ।।२।।

अर्थ— पहले के तीन निकायों में पीतान्त अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएं होती हैं।

चार निकायों के प्रभेद

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ।।३।।

अर्थ— कल्पोपपन्न (सोलहवें स्वर्ग तक के देव) पर्यन्त उक्त चार प्रकार के देवों के क्रम से दश आठ पांच और बारह भेद हैं।

चार प्रकार के देवों के सामान्य भेद

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपाला नीक प्रकीर्णकाभियोग्य किल्विषिकाश्चैकशः ।।४।।

अर्थ— उक्त चार प्रकार के देवों में प्रत्येक के इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ये दश भेद होते हैं।

इन्द्र— जो देव दूसरे देवों में नहीं रहने वाली अणिमा आदि ऋद्धियों से सहित हो उसे इन्द्र कहते हैं। ये देव राजा के तुल्य होते हैं।

सामानिक— जिनकी आयु वीर्य भोग उपभोग आदि इन्द्र के तुल्य हो, पर आज्ञारूप ऐश्वर्य से रहित हों उन्हें सामानिक कहते हैं। ये देव पितागुरु के तुल्य होते हैं।

त्रायस्त्रिंश— जो देव मंत्री पुरोहित के स्थानापन्न हों उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। ये देव एक इन्द्र की सभा में तेतीस ही होते हैं।

पारिषद– जो देव इन्द्र की सभा में बैठने वाले हों उन्हें पारिषद कहते हैं।

आत्मरक्ष– जो देव अंगरक्षक के सदृश होते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं।

लोकपाल– जो देव कोतवाल के समान लोक का पालन करते हैं उन्हें लोकपाल कहते हैं।

अनीक– जो देव पदाति आदि सात तरह की सेना में विभक्त रहते हैं वे अनीक कहलाते हैं।

प्रकीर्णक– जो देव नगरवासियों के समान हों उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं।

आभियोग्य– जो देव दासों के समान सवारी आदि के काम आवें वे आभियोग्य हैं।

किल्विषिक– जो देव चाण्डालादिक की तरह नीच काम करने वाले हों उन्हें किल्विषिक कहते हैं।

व्यंतर और ज्योतिषी देवों में इन्द्र आदि भेदों की विशेषता

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ।।५।।

अर्थ– व्यन्तर और ज्योतिषी देव त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल भेद से रहित हैं।

देवों में इन्द्रों की व्यवस्था

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।।६।।

अर्थ– भवनवासी और व्यन्तरों में प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र होते हैं।

भवार्थ– भवनवासियों के दश भेदों में बीस और व्यन्तरों के आठ भेदों में सोलह इन्द्र होते हैं तथा इतने ही प्रतींद्र होते हैं।

देवों में स्त्री सुख का वर्णन

कायप्रवीचारा आ ऐशानात्।।७।।

अर्थ– आ ऐशानात्– ऐशान स्वर्ग पर्यन्त के देव अर्थात् भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और पहले दूसरे स्वर्ग के देव, काय प्रवीचारा:– मनुष्यों के समान शरीर से काम सेवन करते हैं। प्रवीचार- कामसेवन।

शेषा: स्पर्शरूपशब्दमन: प्रवीचारा:।।८।।

अर्थ– शेष स्वर्ग के देव, देवियों के स्पर्शन से, रूप देखने से, शब्द सुनने से और मन में विचारने से कामसेवन करते हैं। अर्थात् तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव देवांगनाओं के स्पर्श से, पांचवें, छठवें, सातवें, आठवें स्वर्ग के देव, देवियों के रूप देखने से, नौवें, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग के देव देवियों के शब्द सुनने से तथा तेरहवें, चौदहवें पन्द्रहवें और सोलहवें स्वर्ग के देव, देवांगनाओं के मन में विचारने मात्र से तृप्त हो जाते हैं– उनकी कामेच्छा शांत हो जाती है।

परेऽप्रवीचारा:।।९।।

अर्थ– सोलहवें स्वर्ग से आगे के देव कामसेवन से रहित होते हैं। इनके कामेच्छा ही उत्पन्न नहीं होती, तब उसके प्रतिकारक से क्या प्रयोजन?।

भवनवासियों के दश भेद

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीप दिक्कुमाराः ।।१०।।

अर्थ– भवनवासी देवों के असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ये दश भेद हैं।

व्यन्तर देवों के आठ भेद

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षस भूतपिशाचाः ।।११।।

अर्थ– व्यन्तर देव- किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच इस प्रकार आठ तरह के होते हैं।

ज्योतिषीदेवों के पांच भेद

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णक तारकाश्च ।।१२।।

अर्थ– ज्योतिषीदेव– सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, और प्रकीर्णक तारों के भेद से पाँच प्रकार के हैं।

नोट– ज्योतिषीदेवों का निवास मध्यलोक के समधरातल से ७९० योजन की ऊंचाई से लेकर ९०० योजन की ऊंचाई तक आकाश में है।

ज्योतिषीदेवों का विशेष वर्णन

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।।१३।।

अर्थ– ऊपर कहे हुए ज्योतिषीदेव नृलोके– मनुष्यलोक में, मेरुप्रदक्षिणा– मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए, नित्यगतय:– हमेशा गमन करते रहते हैं।

तत्कृत: कालविभाग: ।।१४।।

अर्थ– कालविभाग:–घड़ी घण्टा दिन रात आदि व्यवहारकाल का विभाग, तत्कृत:– उन्हीं गतिशील ज्योतिषी देवों के द्वारा किया गया है।

बहिरवस्थिता: ।।१५।।

अर्थ– मनुष्यलोक– अढ़ाई द्वीप से बाहर के ज्योतिषी देव स्थिर हैं।

वैमानिक देवों का वर्णन

वैमानिका: ।।१६।।

अर्थ– अब यहां से वैमानिक देवों का वर्णन शुरु होता है।

विमान– जिनमें रहने वाले देव अपने को विशेष पुण्यात्मा समझें उन्हें विमान कहते हैं और विमान में जो पैदा हों उन्हें वैमानिक कहते हैं।

वैमानिक देवों के भेद

कल्पोपपन्ना: कल्पातीताश्च ।।१७।।

अर्थ– वैमानिक देवों के दो भेद हैं– १. कल्पोपपन्न २. कल्पातीत। जिनमें इन्द्र आदि दश भेदों की कल्पना होती है ऐसे सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। उनमें जो पैदा हों उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं। और जो सोलहवें स्वर्ग से आगे पैदा हों उन्हें कल्पातीत कहते हैं।

कल्पों का स्थितिक्रम

उपर्युपरि।।१८।।

अर्थ– सोलह स्वर्गों के आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर ये सब विमान क्रम से ऊपर ऊपर हैं।

वैमानिक देवों के रहने का स्थान

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेंद्र ब्रह्मब्रह्मोत्तर लान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसुग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च।।१९।।

अर्थ– सौधर्म- ऐशान, सानत्कुमार- माहेन्द्र, ब्रह्म- ब्रह्मोतर, लान्तव–कापिष्ठ, शुक्र– महाशुक्र, सतार– सहस्रार इन छह युगलों के बारह स्वर्गों में, आनत प्राणत इन दो स्वर्गों में, आरण- अच्युत इन दो स्वर्गों में, नव ग्रैवेयक विमानों में, नव अनुदिश विमानों में और विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

नोट– इस सूत्र में यद्यपि अनुदिश विमानों का पाठ नहीं है तथापि नवसु इस पद से उनका ग्रहण कर लेना चाहिए।

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर अधिकता

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः।।२०।।

अर्थ– वैमानिक देव – आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धता, इन्द्रियविषय, और अवधिज्ञान का विषय इन सब की अपेक्षा ऊपर विमानों में अधिक अधिक हैं।

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ।।२१।।

अर्थ– ऊपर ऊपर के देव गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा हीन -हीन हैं।

नोट– सोलहवें स्वर्ग से आगे के देव अपने विमान को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते।

वैमानिक देवों में लेश्या का वर्णन

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ।।२२।।

अर्थ– द्वित्रिशेषेषु– दो युगलों में, तीन युगलों में तथा शेष के समस्त विमानों में क्रम से, पीतपदम्शुक्ललेश्याः– पीत पदम् और शुक्ललेश्या होती हैं।

विशेषार्थ– पहले और दूसरे स्वर्ग में पीतलेश्या, तीसरे और चौथे स्वर्ग में पीत और पद्मलेश्या, पाचवें, छठवें, सातवें, आठवें स्वर्ग में पद्मलेश्या, नवमें, दशवें ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग में पद्म और शुक्ललेश्या तथा शेष समस्त विमानों में शुक्ललेश्या है। अनुदिश और अनुत्तर के १४ विमानों में परम शुक्ललेश्या होती है।

कल्पसंज्ञा कहां तक है?

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ।।२३।।

अर्थ– ग्रैवेयकेभ्यः प्राक्– ग्रैवेयकों से पहले पहले के १६ स्वर्ग, कल्पाः– कल्प कहलाते हैं। इनसे आगे के विमान कल्पातीत हैं। नवग्रैवेयक वगैरा के देव एक समान वैभव के धारी होते हैं और वे अहमिन्द्र कहलाते हैं।

लौकान्तिक देव

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ।।२४।।

अर्थ– ब्रह्मलोक (पांचवां स्वर्ग) है आलय (निवास स्थान) जिनका ऐसे लौकांतिक देव हैं।

नोट– ये देव ब्रह्मलोक के अन्त में रहते हैं अथवा एक भवावतारी होने से लोक (संसार) का अन्त (नाश) करने वाले होते हैं, इसलिए लौकांतिक कहलाते हैं। ये द्वादशांग के पाठी होते हैं। ब्रह्मचारी रहते हैं और तीर्थकरों के सिर्फ तप कल्याणक में आते हैं। इन्हें 'देवर्षि' भी कहते हैं।

लोकान्तिक देवों के नाम

सारस्वतादित्यवन्हयरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधा रिष्टाश्च।२५।।

अर्थ– १. सारस्वत, २. आदित्य ३. वन्हि ४. अरुण ५. गर्दतोय, ६. तुषित, ७. अव्याबाध ८ अरिष्ट ये आठ लौकांतिक देव हैं। ये ब्रह्मलोक की ऐशान आदि आठ दिशाओं में रहते हैं।

अनुदिश तथा अनुत्तरवासी देवों में अवतार का नियम

विजयादिषु द्विचरमाः ।।२६।।

अर्थ– विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र द्विचरम होते हैं अर्थात् मनुष्यों के दो जन्म लेकर नियम से मोक्ष चले जाते हैं। किन्तु सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र एक भवावतारी ही होते हैं।

तिर्यंच कौन हैं?

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः।।२७।।

अर्थ– उपपाद जन्मवाले- देव, नारकी तथा मनुष्यों से अतिरिक्त जीव, तिर्यग्योनयः तिर्यञ्च हैं। तिर्यञ्च संसार में व्याप्त हैं परन्तु त्रसनाली में ही रहते हैं।

भवनवासीदेवों की उत्कृष्ट आयु का वर्णन

**स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरो-
पमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः।।२८।।**

अर्थ– भवनवासियों में असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष के छह कुमारों की उत्कृष्ट आयु क्रम से १ सागर ३ पल्य, २.५ पल्य, २ पल्य और १.५ पल्य है।

वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके।।२९।।

अर्थ– सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

नोट– यहां सागरोपमे इस द्विवचनान्त प्रयोग से ही दो सागर अर्थ हो जाता है।

सानत्कुमारमाहेन्द्रयो सप्त।।३०।।

अर्थ– सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

नोट– इस सूत्र में अधिक शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से हुई है।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु।।३१।।

अर्थ– आगे के युगलों में ७ सागर से क्रमपूर्वक ३। ७। ९। ११। १३ और १५ सागर अधिक आयु है। अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में १० सागर से कुछ अधिक, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग में १४ सागर से कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग में १६ सागर से कुछ अधिक, सतार और सहस्रार स्वर्ग में १८ सागर के कुछ अधिक, आनत और प्राणत स्वर्ग में २० सागर तथा आरण और अच्युत स्वर्ग में २२ सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च।।३२।।

अर्थ– आरणाच्युतात्– आरण और अच्युत स्वर्ग से, ऊर्ध्वम् ऊपर, नवसु ग्रैवेयकेषु– नव ग्रैवेयकों में, विजयादिषु– विजय आदि चार विमान तथा नव अनुदिशों में, च– और, सर्वार्थसिद्धौ– सवार्थसिद्धि विमान में, एकैकेन– एक एक सागर बढ़ती हुई आयु है अर्थात् पहले ग्रैवेयक में २३ सागर, दूसरे में २४ सागर आदि, अनुदिशों में ३२ सागर और अनुत्तरों में ३३ सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

नोट– सूत्र में 'सवार्थसिद्धौ' इस पद को विजयादि से पृथक कहने से सूचित होता है। कि सर्वार्थ सिद्धि में सिर्फ उत्कृष्ट स्थिति ही होती है।

स्वर्गों में जघन्य आयु का वर्णन

अपरा पल्योपममधिकम्।।३३।।

अर्थ– सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा।।३४।।

अर्थ– पूर्वापूर्वा– पहले पहले युगल की उत्कृष्ट आयु, परतः परतः– आगे आगे के युगलों में, अनन्तरा– जघन्य आयु है। जैसे सौधर्म और ऐशान स्वर्ग की जो उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक दो सागर की है वह सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य आयु है। इसी क्रम से आगे जानना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती।

नारकियों की जघन्य आयु

नारकाणां च द्वितीयादिषु।।३५।।

अर्थ– और इसी प्रकार दूसरे आदि नरकों में भी नारकियों की जघन्य आयु है। अर्थात् पहले नरक की उत्कृष्ट आयु दूसरे नरक की जघन्य आयु है। इसी तरह समस्त नरकों में जानना चाहिए।

प्रथम नरक की जघन्य आयु

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्।।३६।।

अर्थ– पहले नरक में नारकियों की जघन्य आयु दश हजार वर्षों की है।

भवनवासियों की जघन्य आयु

भवनेषु च।।३७।।

अर्थ– भवनवासियों में भी जघन्य आयु दश हजार वर्षों की है।

व्यन्तरों की जघन्य आयु

व्यन्तराणां च।।३८।।

अर्थ– व्यन्तर देवों की भी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षों की है।

व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु

परापल्योपममधिकम्।।३९।।

अर्थ– व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु

ज्योतिष्काणां च।।४०।।

अर्थ– ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य की है।

ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु

तदष्टभागोऽपरा।।४१।।

अर्थ– ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु उस एक पल्य के आठवें भाग है।

लौकान्तिक देवों की आयु

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्।।४२।।

अर्थ– सर्वोषाम्–समस्त, लौकान्तिकानाम्– लौकान्तिक देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु, अष्टौ सागरोपमाणि- आठ सागर प्रमाण है।

इति श्री मदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽध्यायः।

●

पंचमः अध्याय

अजीवतत्त्व का वर्णन

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ।।१।।

अर्थ– धर्माधर्माकाशपुद्गलाः– धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार, अजीवकायाः– अजीव तथा बहुप्रदेशी हैं।

नोट– इस सूत्र में बहुप्रदेशी नहीं होने से काल द्रव्य का ग्रहण नहीं किया है।

द्रव्यों की गणना

द्रव्याणि ।।२।।

अर्थ– उक्त चार पदार्थ द्रव्य हैं। द्रव्य का लक्षण आगे मूल सूत्रों में कहा जावेगा।

जीवाश्च ।।३।।

अर्थ– जीव भी द्रव्य है।

नोट– यहां 'जीवाः' इस बहुवचन से जीव द्रव्य के अनेक भेद सूचित होते हैं। इनके सिवाय ३९ वें सूत्र में काल द्रव्य का भी कथन होगा। इसलिए इन सबको मिलाने पर १ जीवद्रव्य २. पुद्गल द्रव्य ३. धर्म द्रव्य ४. अधर्म द्रव्य ५. आकाश द्रव्य ६. काल द्रव्य ये छह द्रव्य होते हैं।

द्रव्यों की विशेषता

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।।४।।

अर्थ– ऊपर कहे हुए सभी द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं। कभी नष्ट नहीं होते इसलिए नित्य हैं। अपनी ६ संख्या का

उल्लंघन नहीं करते, इसलिए अवस्थित हैं और रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से रहित हैं इसलिए अरूपी हैं।

पुद्गल द्रव्य अरूपी नहीं हैं

रूपिणः पुद्गलाः ।।५।।

अर्थ– पुद्गल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्तिक हैं।

नोट– यद्यपि सूत्र में सिर्फ पुद्गल को रूपी बतलाया है पर साहचर्य से रस, गन्ध तथा स्पर्श का भी ग्रहण हो जाता है।

द्रव्यों के स्वभेद की गणना

आ आकाशादेकद्रव्याणि ।।६।।

अर्थ– आकाश पर्यन्त एक एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाश द्रव्य एक-एक है। जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं और कालद्रव्य असंख्यात (अणुरूप) हैं।

निष्क्रियाणि च ।।७।।

अर्थ– धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य क्रिया रहित हैं। क्रिया- एक स्थान से दूसरे स्थान में प्राप्त होने को क्रिया कहते हैं।

नोट– धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त है तथा आकाश द्रव्य लोक और अलोक दोनों जगह व्याप्त है इसलिए अन्य क्षेत्र का अभाव होने से इनमें क्रिया नहीं होती।

द्रव्यों के प्रदेशों का वर्णन

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ।।८।।

अर्थ– धर्माधर्मैकजीवानाम्– धर्म, अधर्म और एक जीवद्रव्य के असंख्येयाः– असंख्यात प्रदेशाः– प्रदेश होते हैं।

प्रदेश– जितने क्षेत्र को एक पुद्गल परमाणु रोकता हैं उतने क्षेत्र को एक प्रदेश कहते हैं।

नोट– सब जीव द्रव्यों के अनन्तानन्त प्रदेश होते हैं इसलिए सूत्र में एक जीव का ग्रहण किया है।

आकाशस्यानन्ताः ।।९ ।।

अर्थ– आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। परन्तु लोकाकाश के असंख्यात ही है।

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।।१० ।।

अर्थ– पुद्गलानाम्– पुद्गलों के, संख्येयाऽसंख्येयाः च– संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

शंका– जब लोकाकाश में असंख्यात ही प्रदेश हैं तब उसमें अनन्त प्रदेश वाले पुद्गल तथा शेष द्रव्य किस तरह रह सकेंगे?

समाधान– पुद्गल द्रव्य में दो तरह का परिणमन होता है– एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। जब उसमें सूक्ष्म परिणमन होता है तब लोकाकाश के एक प्रदेश में भी अनन्त प्रदेशवाला पुद्गल स्कन्ध स्थान पा लेता है। इसके सिवाय समस्त द्रव्यों में एक दूसरे को अवगाहन देने की सामर्थ्य है, जिससे अल्प क्षेत्र में ही समस्त द्रव्यों के निवास में कोई बाधा नहीं होती।

नाणोः ।।११ ।।

अर्थ– पुद्गल के परमाणु के द्वितीयादिक प्रदेश नहीं हैं अर्थात् वह एक प्रदेशी ही है।

समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान

लोकाकाशेऽवगाहः।।१२।।

अर्थ– ऊपर कहे हुए समस्त द्रव्यों का अवगाह (स्थान) लोकाकाश में है।

लोकाकाश– आकाश के जितने हिस्से में जीव आदि छहों द्रव्य पाये जावें उतने हिस्से को लोकाकाश कहते हैं। बाकी हिस्सा अलोकाकाश कहलाता है।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने।।१३।।

अर्थ– धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह तिल में तैल की तरह समस्त लोकाकाश में है।

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्।।१४।।

अर्थ– पुद्गलानाम्–पुद्गल द्रव्य का अवगाह, एकप्रदेशादिषु–लोकाकाश के एक प्रदेश को लेकर संख्यात असंख्यात प्रदेशों में, भाज्यः– विभाग करने योग्य है।

असंख्येयभागादिषु जीवानाम्।।१५।।

अर्थ– जीवानाम्– जीवों का अवगाह, असंख्येयभागादिषु–लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकक्षेत्र में हैं।

प्रश्न– जबकि एक जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है तब वह लोक के असंख्यातवें भाग में कैसे रह सकता है? समाधान–

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।।१६।।

अर्थ– प्रदीपवत्– दीप के प्रकाश की तरह, प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम् प्रदेशों के संकोच और विस्तार के द्वारा जीव लोकाकाश के असंख्यातवें

आदि भागों में रहता है अर्थात् जिस तरह एक बड़े मकान में दीपक के रख देने से प्रकाश उसका समस्त मकान में फैल जाता है और उसी दीपक को एक छोटे बर्तन के भीतर रख देने से उसका प्रकाश उसी में संकुचित होकर रह जाता है, उसी तरह जीव भी जितना बड़ा या छोटा शरीर पाता है उसमें उतना ही विस्तृत या संकुचित होकर रह जाता है। परन्तु केवली समुद्घात अवस्था में सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है और सिद्ध अवस्था में अन्तिम शरीर से कुछ कम रहता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार या लक्षण

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ।।१७।।

अर्थ– स्वयमेव गमन तथा स्थिति को प्राप्त हुए जीव और पुद्गलों की गति तथा स्थिति में सहायता देना क्रम से धर्म अधर्म द्रव्य का उपकार है।

भावार्थ– जो जीव और पुद्गलों के चलने में सहायक हो उसे धर्म द्रव्य तथा जो ठहरने में सहायक हो उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं।

आकाश का उपकार या लक्षण

आकाशस्यावगाहः ।।१८।।

अर्थ– समस्त द्रव्यों को अवकाश देना आकाश का उपकार है।

भावार्थ– जो सब द्रव्यों को ठहरने के लिए स्थान देवे उसे आकाश कहते हैं।

पुद्गल द्रव्य का उपकार

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ।।१९।।

अर्थ– औदारिक आदि शरीर वचन, मन तथा श्वासोच्छवास ये पुद्गलद्रव्य के उपकार हैं अर्थात् शरीरादि की रचना पुद्गल से ही होती है।

सुखदु:खजीवितमरणोपग्रहाश्च।।२०।।

अर्थ– इन्द्रियजन्य सुख दु:ख जीवन और मरण ये भी पुद्गलद्रव्य के उपकार हैं।

नोट१– इस सूत्र में जो उपग्रह शब्द का ग्रहण किया है उससे सूचित होता है कि पुद्गल परस्पर में एक दूसरे का उपकार करते हैं। जैसे– राख कांसेका, पानी लोहे का, साबुन कपड़े का आदि।

नोट २– यहां उपकार शब्द का अर्थ निमित्त मात्र. ही समझना चाहिए। अन्यथा दु:ख मरण आदि उपकार नहीं कहलावेंगे।

जीवों का उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम्।।२१।।

अर्थ– जीवों का परस्पर उपकार है अर्थात् जीव कारणवश एक दूसरे का उपकार करते हैं। जैसे– स्वामी सेवक का, सेवक स्वामी का, गुरु शिष्य का और शिष्य गुरु का।

काल का उपकार

वर्तनापरिणामक्रिया: परत्वापरत्वे च कालस्य।।२२।।

अर्थ– वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

वर्तना– जो द्रव्यों को वर्तावे उसे वर्तना कहते हैं।

परिणाम– द्रव्य की अपनी मर्यादा के भीतर प्रति समय जो पर्याय होती है उसे परिणाम कहते हैं। जैसे आचार्य के उपदेश से दानादि

का परिणाम होना तथा छहों द्रव्यों में जो प्रति समय पर्याय हो रही है वह परिणाम है।

क्रिया– हलन चलन रूप परिणति को क्रिया कहते हैं।

परत्वापरत्व– छोटे बड़े व्यवहार को परत्वापरत्व कहते हैं। जैसे २५ वर्ष के मनुष्य को बड़ा और २० वर्ष के मनुष्य को उसकी अपेक्षा छोटा कहते हैं।

ये सब कालद्रव्य की सहायता से होते हैं, इसलिए इन्हें देखकर अमूर्तिक निश्चय कालद्रव्य का अनुमान कर लेना चाहिए।

पुद्‌गल द्रव्य का लक्षण

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्‌गला।।२३।।

अर्थ– स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले पुद्‌गल हैं।

विशेष– ये चारों गुण प्रत्येक पुद्‌गल में एक साथ रहते हैं। इनके उत्तर भेद इस प्रकार हैं–

स्पर्श के आठ भेद– १. कोमल २ कठोर ३. हलका ४. भारी ५. शीत, ६. उष्ण ७. स्निग्ध ८. रुक्ष।

रस के पांच भेद– १. खट्टा २. मीठा ३. कड़ुआ ४. कषायला ५. चरपरा।

गन्ध के दो भेद– १. सुगन्ध २. दुर्गन्ध

वर्ण के पांच भेद– काला, नीला, पीला, लाल और सफेद। ये बीस पुद्‌गल के गुण कहलाते हैं क्योंकि हमेशा उसी में रहते हैं।

पुद्गल की पर्याय

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छाया तपोद्योतवन्तश्च ।।२४।।

अर्थ– उक्त लक्षणवाले पुद्गल– शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता संस्थान (आकार) भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत सहित हैं। अर्थात् ये पुद्गल की पर्यायें हैं।

पुद्गल के भेद

अणवः स्कन्धाश्च ।।२५।।

अर्थ– पुद्गल द्रव्य अणु और स्कन्ध इस प्रकार दो भेद रूप हैं।

अणु– जिसका दूसरा विभाग न हो सके ऐसे पुद्गल को अणु कहते हैं।

स्कन्ध– दो, तीन, संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त परमाणुओं के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं।

स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ।।२६।।

अर्थ– पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध, भेद– बिछुड़ने, संघात– मिलने और भेद संघात– दोनों से उत्पन्न होते हैं। जैसे १०० परमाणु वाला स्कन्ध है उसमें १० परमाणु बिखर जाने से ९० परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है और उसी में एक साथ दश परमाणुओं के बिछुड़ने और १५ परमाणुओं के मिल जाने से १०५ परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है।

नोट– सूत्र में द्विवचन के स्थान में जो बहुवचन रूप प्रयोग किया है उसी से यह तीसरा अर्थ व्यक्त हुआ है।

अणु की उत्पत्ति का कारण

भेदादणुः ।।२७।।

अर्थ– अणु की उत्पत्ति भेद से होती है।

चाक्षुष (देखनेयोग्य- स्थूल) स्कन्ध की उत्पत्ति

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ।।२८।।

अर्थ– चाक्षुषः– चक्षु इन्द्रिय से देखने योग्य स्कन्ध, भेदसंघाताभ्याम्– भेद और संघात दोनों से ही उत्पन्न होता है। अकेले भेद से उत्पन्न नहीं हो सकता।

द्रव्य का लक्षण

सद्द्रव्यलक्षणम् ।।२९।।

अर्थ– द्रव्य का लक्षण सत् (अस्तित्व) है।

सत् का लक्षण

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।।३०।।

अर्थ– जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित हो वह सत् है।

उत्पाद– द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं। जैसे– मिट्टी की पिण्डपर्याय से घटका।

व्यय– पूर्वपर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। जैसे– घटपर्याय उत्पन्न होने पर पिण्डपर्याय का विनाश व्यय है।

ध्रौव्य– दोनों पर्यायों में मौजूद रहने को ध्रौव्य कहते हैं। जैसे– पिण्ड तथा घट पर्याय में मिट्टी का।

नित्य का लक्षण

तद्भावाव्ययं नित्यम्।।३१।।

अर्थ– जो द्रव्य तद्भावरूप से अव्यय है वही नित्य है। अर्थात् उसके भाव से (अपनी जाति से) च्युत न होना नित्य है।

भावार्थ– प्रत्यभिज्ञान के हेतु को तद्भाव कहते हैं। जिस द्रव्य को पहले समय में देखने के बाद दूसरे आदि समयों में देखने पर 'यह वही है जिसे पहले देखा था' ऐसा जोड़रूप ज्ञान हो वह द्रव्य नित्य है। परन्तु यह नित्यता पदार्थ में सामान्य स्वरूप की अपेक्षा होती है, विशेष अर्थात् पर्याय की अपेक्षा सभी द्रव्य अनित्य हैं। इसलिए संसार के सब पदार्थ नित्यानित्यरूप हैं।

प्रश्न– एक ही द्रव्य में नित्यता और अनित्यता ये दो विरुद्ध धर्म किस प्रकार रहते हैं? समाधान–

अर्पितानर्पितसिद्धेः।।३२।।

अर्थ– विवक्षित और अविवक्षितरूप से एक ही द्रव्य में नाना धर्म रहते हैं। वक्ता जिस धर्म को कहने की इच्छा करता है उसे 'अर्पित' विवक्षित कहते हैं और वक्ता उस समय जिस धर्म को नहीं कहना चाहता है वह 'अनर्पित' -अविवक्षित है। जैसे वक्ता यदि द्रव्यार्थिक नय से वस्तु का प्रतिपादन करेगा तो नित्यता विवक्षित कहलावेगी और यदि पर्यायार्थिक नय से प्रतिपादन करेगा तो अनित्यता विवक्षित है जिस समय किसी पदार्थ को द्रव्य की अपेक्षा नित्य कहा जा रहा है उसी समय वह पदार्थ पर्याय की अपेक्षा अनित्य भी है। पिता, पुत्र, मामा, भानजा आदि की तरह एक ही पदार्थ में अनेक धर्म रहने पर भी विरोध नहीं आता है।

परमाणुओं के बंध होने में कारण

स्निग्धरुक्षत्वाद्बन्धः ।।३३ ।।

अर्थ– चिकनाई और रूखापन के निमित्त से दो तीन आदि परमाणुओं का बंध होता है।

बन्ध– अनेक पदार्थों में एकपने का ज्ञान कराने वाले सम्बन्ध विशेष को बन्ध कहते हैं।

न जघन्यगुणानाम् ।।३४ ।।

अर्थ– जघन्य गुण सहित परमाणुओं का बन्ध नहीं होता।

गुण– स्निग्धता और रुक्षता के अविभागीप्रतिच्छेदों (जिसका टुकड़ा न हो सके ऐसे अंशों) को गुण कहते हैं।

जघन्य गुणसहित परमाणु– जिस परमाणु में स्निग्धता और रुक्षता का एक अविभागी अंश हो उसे जघन्य गुण सहित परमाणु कहते हैं।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ।।३५ ।।

अर्थ– गुणों की समानता होने पर समान जातिवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। जैसे दो गुणवाले स्निग्ध परमाणु का दूसरे दो गुणवाले स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता।

नोट– सूत्र में -सदृशानाम्' इस पद के ग्रहण से प्रकट होता है कि गुणों की विषमता में समान जातिवाले अथवा भिन्न जातिवाले पुद्गलों का बन्ध हो जाता है।

बन्ध किनका होता है

द्वयधिकादिगुणानां तु ।।३६ ।।

अर्थ– किन्तु दो अधिक गुणवालों के साथ ही बन्ध होता है। अर्थात् बन्ध तभी होगा जब एक दूसरे परमाणु में २ अधिक गुण होवें। जैसे दो गुणवाले परमाणु का, चार गुण वाले परमाणु के साथ बन्ध होगा, इससे अधिक व कम गुणवाले के साथ नहीं होगा। यह बन्ध स्निग्ध, स्निग्ध का, रुक्ष रुक्ष का और स्निग्ध रुक्ष का भी होता है।

बन्धेऽधिकौ परिणामिकौ च।।३७।।

अर्थ– च– और, बन्धे– बन्धरूप अवस्था में, अधिकौ– अधिक गुणवाले परमाणु हीन गुण वाले परमाणुओं को अपने रूप, पारिणामिकौ– परिणमाने वाले होते हैं। जैसी गीला गुड़ अपने साथ बन्ध को प्राप्त हुए रज को गुड़रूप परिणमा लेता है।

द्रव्य का लक्षण

गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।।३८।।

अर्थ– जिसमें गुण और पर्याय पाई जावे उसे द्रव्य कहते हैं।

गुण– द्रव्य की अनेक पर्याय पलटते रहने पर भी जो द्रव्य से कभी पृथक् न हो, निरन्तर द्रव्य के साथ रहे उसे गुण कहते हैं। जैसे जीव के ज्ञान आदि पुद्गल के रूप रसादि।

पर्याय– क्रम से होने वाली वस्तु की विशेषता को पर्याय कहते हैं। जैसे जीव की नर नारकादि।।

काल भी द्रव्य है

कालश्च।।३९।।

अर्थ– काल भी द्रव्य है, क्योंकि यह भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य तथा गुण पर्यायों से सहित है।

नोट— यह काल द्रव्य रत्नों की राशि की तरह एक दूसरे से पृथक रहते हुए लोकाकाश के समस्त प्रदेशों पर स्थित है यह एक प्रदेशी और अमूर्तिक है।

कालद्रव्य की विशेषता

सोऽनन्तसमयः ।।४०।।

अर्थ— वह काल द्रव्य अनन्त समय वाला है। यद्यपि वर्तमान काल एक समय मात्र ही है तथापि भूत भविष्यत की अपेक्षा अनन्त समय वाला है।

समय— कालद्रव्य के सबसे छोटे हिस्से को समय कहते हैं। मन्दगति से चलने वाला पुद्‌गल परमाणु आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जितने काल में पहुंचता है उतना काल एक समय है। इन समयों के समूह से ही आवलि, घण्टा और व्यवहारकाल होता है। व्यवहारकाल निश्चय कालद्रव्य की पर्याय है।

निश्चयकालद्रव्य— लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की तरह जो स्थित है उसे निश्चय कालद्रव्य कहते हैं। वर्तना उसका कार्य है।

गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।।४१।।

अर्थ— जो द्रव्य के आश्रय हों और स्वयं दूसरे गुणों से रहित हों वे गुण कहलाते हैं, जैसे— जीव के ज्ञान आदि। ये जीव द्रव्य के आश्रय रहते हैं तथा इनमें कोई दूसरा गुण नहीं रहता।

पर्याय का लक्षण

तद्भावः परिणामः ।।४२।।

अर्थ– जीवादि द्रव्य जिस रूप हैं उनके उसी रूप होने को परिणाम या पर्याय कहते हैं। अर्थात् प्रति समय बदलते रहना परिणाम है। जैसे जीव की नर-नारकादि पर्याय।

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे पंचमोऽध्यायः।।

●

षष्ठः अध्याय

आस्रवतत्त्व का वर्णन

योग के भेद व स्वरूप

कायवाङ्मनः कर्मयोगः।।१।।

अर्थ– काय वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। अर्थात् काय वचन और मन के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्द (हलन चलन) होता है उसे योग कहते हैं। योग के तीन भेद हैं–

मनोयोग– मन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे मनोयोग कहते हैं।

वचनयोग– वचन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों से जो हलन चलन होता है उसे वचन योग कहते हैं।

काययोग– काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे काययोग कहते हैं।

इन तीनों योगों की उत्पत्ति में वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम कारण है।

आस्रव का स्वरूप

स आस्रवः।।२।।

अर्थ– वह तीन प्रकार का योग ही आस्रव है। जिस प्रकार कुए के भीतर पानी आने में झिरें कारण होती हैं उसी प्रकार आत्मा में कर्म आने में योग कारण है। कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं।

नोट– यद्यपि योग आस्रव के होने में कारण है तथापि सूत्र में कारण में कार्य का उपचार कर उसे आस्रव रूप कह दिया है। जैसे– प्राणों की स्थिति में कारण होने से अन्न ही को प्राण कह देते हैं।

योग के निमित्त से आस्रव का भेद

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।।३।।

अर्थ– शुभ योग पुण्यकर्म के आस्रव में अशुभयोग पापकर्म के आस्रव में कारण है।

शुभयोग– शुभ परिणामों से रचे हुए योग को शुभ योग कहते हैं। जैसे अरहन्त की भक्ति करना, जीवों की रक्षा करना आदि।

अशुभ योग– अशुभ परिणामों से रचे हुए योग को अशुभ योग कहते हैं। जैसे जीवों की हिंसा करना, झूठ बोलना आदि।

पुण्य– जो आत्मा को पवित्र करे उसे पुण्य कहते हैं।

पाप– जो आत्मा को अच्छे कार्यों से बचावे– दूर करे उसे पाप कहते हैं।

स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।।४।।

अर्थ– वह योग कषाय सहित जीवों के साम्परायिक आस्रव और कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव का कारण है।

कषाय– जो आत्मा को कषै अर्थात् चारों गतियों में भटका कर दुःख देवे उसे कषाय कहते हैं। जैसे– क्रोध, मान, माया, लोभ।

साम्परायिक आस्रव– जिस आस्रव का संसार ही प्रयोजन है उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं।

ईर्यापथ आस्रव– स्थिति और अनुभाग रहित कर्मों के आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं।

नोट:– ईर्यापथ आस्रव ११वें से १३वें गुणस्थान तक के जीवों के होता है और उसके पहले गुणस्थानों में साम्परायिक आस्रव होता है। १४वें गुणस्थान में आस्रव का सर्वथा अभाव हो जाता है।

साम्परायिक आस्रव के भेद

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुः पञ्चपञ्च विंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः।।५।।

नोट:– स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां, क्रोधादि चार कषाय, हिंसादि पांच अव्रत और सम्यक्त्व आदि पच्चीस क्रियाएं, इस तरह साम्परायिक आस्रव के ३९ भेद हैं अर्थात् इन सब ३९ भेदों के द्वारा साम्परायिक कर्म का आस्रव होता है।

पच्चीस क्रियाएं

(१) सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली क्रिया को 'सम्यक्त्व क्रिया' कहते हैं, जैसे देवपूजन आदि।

(२) मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली क्रिया को 'मिथ्यात्व क्रिया' कहते हैं, जैसे कुदेवपूजन आदि।

(३) शरीरादि से गमनागमन रूप प्रवृत्ति करना सो 'प्रयोग क्रिया' है।

(४) संयमी का असंयम के सन्मुख होना सो 'समादान क्रिया' है।

(५) गमन के लिए जो क्रिया होती है उसे 'ईर्यापथ क्रिया' कहते हैं।

(६) क्रोध के वश से जो क्रिया हो वह 'प्रादोषिकी क्रिया' है।

(७) दुष्टतापूर्वक उद्यम करना सो 'कायिकी क्रिया' है।

(८) हिंसा के उपकरण, तलवार आदि का ग्रहण करना सो 'अधिकरण क्रिया' है।

(९) जीवों को दुख उत्पन्न करने वाली क्रिया को 'पारितापिकी क्रिया' कहते हैं।

(१०) आयु, इन्द्रिय आदि प्राणों का वियोग करना सो –'प्राणातिपाति क्रिया' है।

(११) राग के वशीभूत होकर मनोहर रूप देखना सो 'दर्शन क्रिया' है।

(१२) राग के वशीभूत होकर वस्तु का स्पर्श करना 'स्पर्शन क्रिया' है।

(१३) विषयों के नये नये कारण मिलाना 'प्रात्ययिकी क्रिया' है।

(१४) स्त्री पुरुष अथवा पशुओं के बैठने तथा सोने आदि के स्थान में मल मूत्रादि क्षेपण करना 'समन्तानुपात क्रिया' है।

(१५) बिना देखी बिना शोधी हुई भूमि पर उठना बैठना 'अनाभोग क्रिया' है।

(१६) दूसरे द्वारा करने योग्य क्रिया को स्वयं करना 'स्वहस्त क्रिया' है।

(१७) पाप को उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति को भला समझना 'निसर्ग क्रिया' है।

(१८) परके किये हुए पापों को प्रकाशित करना 'विदारण क्रिया' है।

(१९) चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से शास्त्रोक्त आवश्यकादि क्रियाओं को करने में असमर्थ होकर अन्यथा निरूपण करना सो 'आज्ञाव्यापादिकी क्रिया' है।

(२०) प्रमाद अथवा अज्ञान के वशीभूत होकर आगमोक्त क्रियाओं में अनादर करना 'अनाकांक्षा क्रिया' है।

(२१) छेदन भेदन आदि क्रियाओं में स्वयं प्रवृत्त होना तथा अन्य को प्रवृत्त देखकर हर्षित होना 'प्रारम्भ क्रिया' है।

(२२) परिग्रह की रक्षा में प्रवृत्त होना 'परिग्रहिकी क्रिया' है।

(२३) ज्ञान दर्शन आदि में कपटरूप प्रवृत्ति करना 'माया क्रिया' है।

(२४) प्रशंसा आदि से किसी को मिथ्यात्व रूप परिणति में दृढ़ करना 'मिथ्यादर्शन क्रिया' है।

(२५) चारित्र मोहनीय के उदय से त्यागरूप प्रवृत्ति नहीं होना 'अप्रत्याख्यान क्रिया' है।

आस्रव की विशेषता में कारण

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्य-
स्तद्विशेषः ।।६।।

अर्थ— तीव्रभाग, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव अधिकरण-विशेष और वीर्यविशेष से आस्रव में विशेषता - हीनाधिकता होती है।

तीव्रभाग— अत्यन्त बढ़े हुए, क्रोधादि के द्वारा जो तीव्ररूप भाव होते हैं उनको तीव्रभाव कहते हैं।

मन्दभाव— कषायों की मन्दता से जो भाव होते हैं उन्हें मन्द भाव कहते हैं।

ज्ञातभाव— यह प्राणी मारने के योग्य है इस तरह जानकर प्रवृत्त

होने को ज्ञातभाव कहते हैं।

अज्ञातभाव— प्रमाद अथवा अज्ञान से प्रवृत्ति करने को अज्ञातभाव कहते हैं।

अधिकरण— जिसके आश्रय अर्थ रहे उसे अधिकरण कहते हैं।

वीर्य— द्रव्य की स्वशक्ति विशेष को वीर्य कहते हैं।

अधिकरण के भेद

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ।।७।।

अर्थ— अधिकरण के दो भेद हैं— १. जीव २. अजीव। अर्थात् आस्रव, जीव और अजीव दोनों के आश्रय हैं।

जीवाधिकरण के भेद

आद्यसंरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमत कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ।।८।।

अर्थ— आदि का जीवाधिकरण आस्रव— संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, मन वचन कायरूप तीन योग, कृत कारित अनुमोदना, तथा क्रोधादि चार कषायों की विशेषता से १०८ भेदरूप हैं।

भावार्थ— सरंम्भादि तीनों में तीन योगों को गुणा करने से ९ भेद हुए। इन ९ भेदों में कृत आदि तीन को गुणा करने पर २७ भेद हुए और इन २७ भेदों में ४ कषाय का गुण करनें से कुल १०८ भेद हुए।

संरम्भ— हिंसादि पापों के करने का मन में विचार करना संरम्भ है।

समारम्भ— हिंसादि पापों के कारणों का अभ्यास करना समारम्भ है।

आरम्भ– हिंसादि पापों के करने का प्रारम्भ कर देना आरम्भ है।

कृत– स्वयं करना कृत है।

कारित– दूसरे से कराना कारित है।

अनुमोदना– दूसरे के द्वारा किये हुए कार्य को भला समझना अनुमोदना है।

अजीवाधिकरण के भेद

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदा: परम्।।९।।

अर्थ– परं अर्थात् अजीवाधिकरण आस्रव- दो प्रकार की निर्वर्तना, चार प्रकार का निक्षेप, दो प्रकार का संयोग और तीन प्रकार का निसर्ग, इस तरह ११ भेदवाला है।

दो प्रकार की निर्वर्तना– रचना करने को निर्वर्तना कहते हैं। इसके दो भेद हैं– १. मूलगुण निर्वर्तना २. उत्तरगुण निर्वर्तना। शरीर मन तथा श्वासोच्छ्वास की रचना करना 'मूलगुण निर्वर्तना' है और काष्ठ, मिट्टी आदि से चित्र वगैरा की रचना करना 'उत्तरगुणनिर्वर्तना' है।

निक्षेप– वस्तु के रखने को निक्षेप कहते हैं– इसके चार भेद हैं– १. अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण, २. दु:प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण, ३. सहसानिक्षेपाधिकरण और ४. अनाभोग निक्षेपाधिकरण है। बिना देखे किसी वस्तु को रखना 'अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण' है। यत्नाचार रहित होकर रखने को दु:प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण' कहते हैं। शीघ्रता से रखना 'सहसानिक्षेपाधिकरण' है। और किसी वस्तु को

योग्य स्थान में न रखकर बिना देखे ही वहां रख देना अनाभोगनिक्षेपाधिकरण' है।

संयोग– मिला देने का नाम संयोग है। इसके दो भेद हैं– १. भक्तपान संयोग २. उपकरण संयोग। आहार पानी को दूसरे आहार पानी में मिलाना भक्तपान संयोग है। और कमण्डलु आदि उपकरणों को दूसरे की पीछी आदि से पोंछना 'उपकरण संयोग है।

निसर्ग– प्रवर्तने को निसर्ग कहते हैं। इसके ३ भेद हैं। १. कायनिसर्ग अर्थात् काय को प्रवर्ताना, २. वाङ्निसर्ग अर्थात् वचनों को प्रवर्ताना और मनोनिसर्ग अर्थात् मन को प्रवर्ताना।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो: ।।१०।।

अर्थ– ज्ञान और दर्शन के विषय में किये गये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के आस्रव हैं।

प्रदोष– किसी धर्मात्मा के द्वारा की गई तत्त्वज्ञान की प्रशंसा का नहीं सुहाना प्रदोष है।

निह्नव– किसी कारण से अपने ज्ञान को छुपाना निह्नव है।

मात्सर्य– वस्तु स्वरूप को जानकर यह भी पण्डित हो जावेगा ऐसा विचार कर किसी को नहीं पढ़ाना मात्सर्य है।

अन्तराय– किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना अन्तराय है।

आसादन– दूसरे के द्वारा प्रकाशित होने योग्य ज्ञान को रोक देना आसादन है।

उपघात– सच्चे ज्ञान में दोष लगाना उपघात है।

असातावेदनीय के आस्रव

दु:खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभय स्थानान्यसद्वेद्यस्य।।११।।

अर्थ– आत्मपरोभयस्थानानि– निज पर तथा दोनों के विषय में स्थित, दु:ख-शोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानि– दु:ख शोक ताप आक्रन्दन वध और परिदेवन ये, असद्वेद्यस्य– असातावेदनीय के आस्रव हैं।

दु:ख– पीड़ारूप परिणाम विशेष को दु:ख कहते हैं।

शोक– अपना उपकार करने वाले पदार्थ का वियोग होने पर विकलता होना शोक है।

ताप– संसार में अपनी निन्दा आदि के हो जाने से पश्चाताप करना ताप है।

आक्रन्दन– पश्चाताप से अश्रुपात करते हुए रोना आक्रन्दन है।

वध– आयु आदि प्राणों का वियोग करना वध है।

परिदेवन– संक्लेश परिणामों का अवलम्बन कर इस तरह रोना कि सुनने वाले के हृदय में दया उत्पन्न हो जावे सो परिदेवन है।

नोट– यद्यपि शोक आदि दु:ख के ही भेद हैं तथापि दु:ख की जातियां बतलाने के लिए सबका ग्रहण किया है।

साता वेदनीय का आस्रव

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोग: क्षान्ति: शौचमिति सद्वेद्यस्य।।१२।।

अर्थ– भूतव्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, शान्ति, और

शौच तथा अर्हद्भक्ति आदि, ये सातावेदनीय के आस्रव हैं।

भूतव्रत्यनुकम्पा– भूत-संसार के समस्त प्राणी और व्रती अणुव्रती या महाव्रतधारी जीवों पर दया करना सो भूतव्रत्यनुकम्पा है।

दान– निज और परके उपकार योग्य वस्तु के देने को दान कहते हैं।

सरागसंयमादि–पांच इन्द्रिय और मन के विषयों से विरक्त होने तथा छह काय के जीवों की हिंसा न करने को संयम कहते हैं और राग सहित संयम को सरागसंयम कहते हैं।

नोट– यहां आदि शब्द से संयमासंयम– (श्रावक के व्रत) अकाम निर्जरा (बन्दीखाने आदि में संक्लेशतारहित भोगोपभोग का त्याग करना) और बालतप– (मिथ्या दर्शनसहित तपस्या करना) का भी ग्रहण होता है।

योग– इन सब को अच्छी तरह धारण करना योग कहलाता है।

क्षान्ति– क्रोधादि कषाय के अभाव को क्षांति कहते हैं।

शौच– लोभ का त्याग करना शौच है।

नोट– इति शब्द से अर्हद्भक्ति, मुनियों की वैयावृत्ति आदि का ग्रहण करना चाहिए।

दर्शनमोहनीय का आस्रव

केवलिश्रुतसंघ धर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।।१३।।

अर्थ– केवली, श्रुत– (शास्त्र), संघ (मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका) धर्म और देव इनका अवर्णवाद करना दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव है।

अवर्णवाद– गुणवानों को झूठे दोष लगाना सो अवर्णवाद है।

केवली का अवर्णवाद– केवली ग्रासाहार करके जीवित रहते हैं इत्यादि कहना सो केवली का अवर्णवाद है।

श्रुत का अवर्णवाद– शास्त्र में मांसभक्षण करना आदि लिखा है ऐसा कहना सो श्रुत का अवर्णवाद है।

संघ का अवर्णवाद– ये शूद्र हैं, मलिन हैं, नग्न हैं इत्यादि कहना सो संघ का अवर्णवाद है।

धर्म का अवर्णवाद– जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए धर्म में कुछ भी गुण नहीं हैं– उनके सेवन करने वाले असुर होवेंगे, इत्यादि कहना धर्म का अवर्णवाद है।

देव का अवर्णवाद– देव मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, जीवों की बलि में प्रसन्न होते हैं, आदि कहना देव का अवर्णवाद है।

चारित्र मोहनीय का आस्रव

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य।।१४।।

अर्थ– कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम चारित्रमोहनीय के आस्रव हैं।

नरक आयु का आस्रव

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।।१५।।

अर्थ– बहुत आरम्भ और परिग्रह का होना नरक आयु का आस्रव है।

तिर्यंच आयु का आस्रव

माया तैर्यग्योनस्य।।१६।।

अर्थ– माया (छलकपट) तिर्यञ्च आयु का आस्रव है।

मनुष्य आयु का आस्रव

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य।।१७।।

अर्थ– थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह का होना मनुष्य आयु का आस्रव है।

स्वभावमार्दवं च।।१८।।

अर्थ– स्वभाव से ही सरल परिणामी होना भी मनुष्य आयु का आस्रव है।

नोट–इस सूत्र को पृथक् लिखने का आशय यह है कि इस सूत्र में बताई हुई बातें देवायु के आस्रव में भी कारण हैं।

सब आयु का आस्रव

निः शीलव्रतत्वं व सर्वेषाम्।।१९।।

अर्थ– दिग्व्रतादि ७ शील अर्थात् ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत और अहिंसादि पांच व्रतों का अभाव भी समस्त आयु के आस्रव में कारण है।

नोट– शील और व्रत का अभाव रहते हुए जब कषायों में अत्यन्त तीव्रता, तीव्रता, मन्दता और अत्यन्त मन्दता होती है तभी वे क्रम से चारों आयुओं के आस्रव का कारण होते हैं।

देव आयु का आस्रव

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य।।२०।।

अर्थ– सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बाल तप ये देव आयु के आस्रव हैं।

सम्यक्त्वं च।।२१।।

अर्थ– सम्यग्दर्शन भी देव आयु कर्म का आस्रव है।

नोट–१ इस सूत्र को पृथक् लिखने का प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्व अवस्था में वैमानिक देवों की ही आयु का आस्रव होता है।

नोट– २.. यद्यपि सम्यग्दर्शन किसी भी कर्म के बन्ध में कारण नहीं है तथापि सम्यग्दर्शन की अवस्था में जो रागांश पाया जाता है उसी से बन्ध होता है। इसी तरह सराग संयम- संयमासंयम आदि के विषय में भी जानना चाहिए।

अशुभ नामकर्म का आस्रव

योगवक्रता विसम्वादनं चाशुभस्य नाम्नः।।२२।।

अर्थ– योगों की कुटिलता और विसंवादन- अन्यथा प्रवृत्ति करना अशुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

शुभ नामकर्म का आस्रव

तद्विपरीतं शुभस्य।।२३।।

अर्थ– योग वक्रता और विसंवादन से विपरीत अर्थात् योगों की सरलता और अन्यथा प्रवृत्ति का अभाव ये शुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव

दर्शन विशुद्धिर्विनय सम्पन्नता शीलव्रतेष्वनती-चारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधि वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुत प्रवचनभक्तिरावश्यका-परिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य।।२४।।

अर्थ– १. दर्शनविशुद्धि– पच्चीस दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शन २. विनयसम्पन्नता– रत्नत्रय तथा उनके धारकों की विनय करना, ३. शीलव्रतेष्वनतीचार– अहिंसादि व्रत और उनके रक्षक क्रोध त्याग आदि शीलों में विशेष प्रवृत्ति, ४-५ अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ– निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना और संसार से भयभीत होना, ६-७ शक्तितस्त्याग तपसी– यथाशक्ति दान देना और उपवासादि तप करना, ८ साधुसमाधि– साधुओं के विघ्न आदि को दूर करना, ९ वैयावृत्यकरणम्– रोगी तथा बाल वृद्ध मुनियों की सेवा करना, १०-११-१२-१३- अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति– अरहन्त भगवान की भक्ति करना- दीक्षा देने वाले आचार्यों की भक्ति करना, उपाध्यायों की भक्ति करना, शास्त्र की भक्ति करना, १४ आवश्यकापरिहाणि:- सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओं में हानि नहीं करना, १५ मार्ग प्रभावना– जैन धर्म की प्रभावना करना और १६ प्रवचनवत्सलत्वम्– गोवत्स की तरह धर्मात्मा जीवों से स्नेह रखना। ये सोलह भावनायें तीर्थंकर प्रकृति नामक नामकर्म के आस्रव हैं।

नोट–इन भावनाओं में दर्शनविशुद्धि मुख्य भावना है उसके अभाव में सबके अथवा यथासंभव हीनाधिक होने पर भी तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव नहीं होता और उसके रहते हुए अन्य भावनाओं के अभाव में भी तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव होता है।

नीच गोत्रकर्म के आस्रव

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।।२५।।

अर्थ– परात्मनिन्दाप्रशंसे– दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना, च– तथा, सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने– दूसरे के मौजूद गुणों

को ढांकना और अपने झूठे गुणों को प्रकट करना, ये नीच गोत्रकर्म के आस्रव हैं।

उच्च गोत्र कर्म के आस्रव

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।।२६।।

अर्थ– तद्विपर्ययः– नीच गोत्र के आस्रवों से विपरीत अर्थात् परप्रशंसा तथा आत्मनिन्दा, च– और, नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ– नम्रवृत्ति तथा मद का अभाव ये, उत्तरस्य– उच्च गोत्रकर्म के आस्रव हैं।

अन्तराय कर्म का आस्रव

विघ्नकरणमन्तरायस्य।।२७।।

अर्थ– परके दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न करना, अन्तराय कर्म के आस्रव हैं।

।। इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः।।

●

सप्तमः अध्याय

शुभास्रवका वर्णन

व्रत का लक्षण

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।।१।।

अर्थ– हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाच पापों से भावपूर्वक विरक्त होना व्रत कहलाता है।

व्रत के भेद

देशसर्वतोऽणुमहती।।२।।

अर्थ– व्रत के दो भेद हैं। १. अणुव्रत और २. महाव्रत। हिंसादि पापों का एकदेश त्याग करने से अणुव्रत और सर्वदेश त्याग करने से महाव्रत होते हैं।

व्रतों की स्थिरता के कारण

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्चपञ्च।।३।।

अर्थ– उन व्रतों की स्थिरता के लिए प्रत्येक व्रत की पांच पांच भावनाएं हैं।

भावना– किसी वस्तु का बार बार चिंतवन करना सो भावना है।

अहिंसा व्रत की पांच भावनाएं

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान भोजनानि पञ्च।।४।।

अर्थ– वाग्गुप्ति– वचन को रोकना, मनोगुप्ति– मन की प्रवृत्ति को रोकना, ईर्यासमिति– चार हाथ जमीन देखकर चलना, आदाननिक्षपेण समिति– भूमि को जीव रहित देखकर सावधानी से किसी वस्तु को उठाना, रखना और, आलोकितपान भोजन– देख शोधकर भोजनपान ग्रहण करना ये पांच अहिंसा व्रत की भावानाएं हैं।

सत्यव्रत की भावनाएं

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचि भाषणं च पञ्च।।५।।

अर्थ– क्रोधप्रत्याख्यान– क्रोध का त्याग करना, लोभ प्रत्याख्यान– लोभ का त्याग करना, भीरुत्व प्रत्याख्यान– भय का त्याग करना, हास्य प्रत्याख्यान– हास्य का त्याग करना और, अनुवीचि भाषण– शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना, ये पांच सत्य व्रत की भावनाएं हैं।

अचौर्य व्रत की भावनाएं

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष
शुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पञ्च।।६।।

अर्थ– शून्यागारवास– पर्वतों की गुफा, वृक्ष की कोटर आदि निर्जन स्थानों में रहना, विमोचितावास– राजा वगैरा के द्वारा छुड़वाये हुए दूसरे के स्थान में निवास करना, परोपरोधाकरण– अपने स्थान पर ठहरे हुए दूसरे को नहीं रोकना, भैक्षशुद्धि– चरणानुयोग शास्त्र के अनुसार भिक्षा की शुद्धि रखना, और, सधर्माविसंवाद– सहधर्मी भाइयों से यह हमारा है, यह आपका है इत्यादि कलह नहीं करना, ये पांच अचौर्य व्रत की भावनाएं हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावनाएं

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानु-
स्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च।।७।।

अर्थ– स्त्रीरागकथाश्रवण त्याग– स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने का त्याग, तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण त्याग– स्त्रियों के मनोहर अंगों के देखने का त्याग करना, पूर्वरतानुस्मरण त्याग– अव्रत अवस्था में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग करना, वृष्येष्टरस त्याग– काम वर्द्धक गरिष्ठ रसों का त्याग करना और, स्वशरीर संस्कार त्याग– अपने शरीर के संस्कारों का त्याग करना,

ये पांच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएं हैं।

परिग्रह त्याग व्रत की भावनाएं

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय विषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च।।८।।

अर्थ– स्पर्शन आदि पांचों इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट आदि विषयों में क्रम से राग-द्वेष का त्याग करना, ये पांच परिग्रह त्याग व्रत की भावनाएं हैं।

हिंसादि पांच पापों के विषय में करने योग्य विचार

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्।।९।।

अर्थ– हिंसादिषु– हिंसादि पांच पापों के होने पर, इह– इस लोक में तथा, अमुत्र– परलोक में, अपायावद्यदर्शनम्– सांसारिक और पारमार्थिक प्रयोजनों का नाश तथा निन्दा को देखना पड़ता है ऐसा विचार करें।

भावार्थ– हिंसादि पाप करने से इस लोक तथा परलोक में अनेक आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं और निंदा भी होती है, इसलिए इनको छोड़ना ही अच्छा है।

दुःखमेव वा।।१०।।

अर्थ– अथवा हिंसादिक पांच पाप दुःखरूप ही हैं ऐसा विचार करें।

नोट– यहां कार्य में कारण का उपचार समझना चाहिए, क्योंकि हिंसादि दुःख के कारण हैं, पर यहां उन्हें कार्य अर्थात् दुःखरूप वर्णन किया है।

निरन्तर चिन्तवन करने योग्य चार भावनाएं

मैत्रीप्रमोद कारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिक क्लिश्यमानाऽविनयेषु।।११।।

अर्थ– च– और, सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु– सत्त्व, गुणाधिक, क्लिश्यमान और अविनय जीवों में क्रम से, मैत्रीप्रमोदकारुण्य माध्यस्थानि– मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ्य भावना भावे।

मैत्री– दूसरों को दु:ख न हो ऐसे अभिप्राय को मैत्री भावना कहते हैं।

प्रमोद– अधिक गुणों के धारी जीवों को देखकर मुखप्रसन्नता आदि से प्रकट होने वाली अन्तरंग की भक्ति को प्रमोद कहते हैं।

कारुण्य– दु:खी जीवों को देखकर उनके उपकार करने के भावों को कारुण्यभाव कहते हैं।

माध्यस्थ्य– जो जीव तत्त्वार्थ श्रद्धान से रहित हैं तथा हित का उपदेश देने से उलटे चिढ़ते हैं उनमें राग-द्वेष का अभाव होना सो माध्यस्थ भावना है।

संसार और शरीर के स्वभाव का विचार

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्।।१२।।

अर्थ– संवेग (संसार से भय) और वैराग्य (रागद्वेष के अभाव) के लिए क्रम से संसार और शरीर के स्वभाव का चिंतवन करें।

हिंसा पाप का लक्षण

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।।१३।।

अर्थ– प्रमाद के योग से यथासंभव द्रव्य प्राण वा भाव प्राणों का वियोग करना सो हिंसा है।

नोट— १. जिस समय कोई व्रती जीव ईर्यासमिति से गमन कर रहा हो, यदि उस समय कोई क्षुद्र जीव अचानक उसके पैर के नीचे आकर दब जावे तो वह व्रती उस हिंसा पाप का भागी नहीं होगा क्योंकि उसके प्रमाद नहीं है।

नोट— २. एक जीव किसी जीव को मारना चाहता था पर मौका न मिलने से मार न सका तो भी वह हिंसा का भागी होगा क्योंकि वह प्रमाद सहित है और अपने भावप्राणों की हिंसा करने वाला है।

असत्य का लक्षण

असदभिधानमनृतम्।।१४।।

अर्थ— प्रमाद के योग से जीवों को दु:खदायक वा मिथ्यारूप वचन बोलना सो असत्य है।

स्तेय- चोरी का लक्षण

अदत्तादानं स्तेयम्।।१५।।

अर्थ— प्रमाद के योग से बिना दी हुई किसी की वस्तु को ग्रहण करना सो चोरी है।

कुशील का लक्षण

मैथुनमब्रह्म।।१६।।

अर्थ— मैथुन को अब्रह्म अर्थात् कुशील कहते हैं।

मैथुन— चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से राग परिणाम सहित स्त्री पुरुषों के परस्पर स्पर्श करने की इच्छा को मैथुन कहते हैं।

परिग्रह पाप लक्षण

मूर्च्छा परिग्रहः।।१७।।

अर्थ– मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं।

मूर्च्छा– बाह्य धन, धान्यादि तथा अंतरंग क्रोधादि कषायों में ये मेरे हैं ऐसा भाव रखना सो मूर्च्छा है।

व्रती की विशेषता

निः शल्यो व्रती।।१८।।

अर्थ– शल्य रहित जीव ही व्रती है।

शल्य– जो आत्मा को कांटे की तरह दुःख दे उसे शल्य कहते हैं। उसके तीन भेद हैं– १. मायाशल्य (छलकपट करना) २. मिथ्यात्वशल्य (तत्त्वों का श्रद्धान न होना) और ३. निदानशल्य (आगामी काल में विषयों की वांछा करना।)

जब तक इनमें से एक भी शल्य रहती है तब तक जीव व्रती नहीं हो सकता।

व्रती के भेद

अगार्यनगारश्च।।१९।।

अर्थ– अगारी (गृहस्थ) और अनगारी (गृहत्यागी मुनि) इस प्रकार व्रती के दो भेद हैं।

अगारी का लक्षण

अणुव्रतोऽगारी।।२०।।

अर्थ– अणु अर्थात् एकदेश व्रत पालने वाला जीव अगारी कहलाता है।

अणुव्रत के पांच भेद- (१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत (५) परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

अहिंसाणुव्रत– संकल्प पूर्वक त्रस जीवों की हिंसा का परित्याग करना सो अहिंसाणुव्रत है।

सत्याणुव्रत– राग, द्वेष भय आदि के वश हो स्थूल असत्य बोलने का त्याग करना सत्याणुव्रत है।

अचौर्याणुव्रत– स्थूल चोरी के त्याग को अचौर्याणुव्रत कहते हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत– पर स्त्री सेवन का त्याग करना सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

परिग्रह- परिमाणाणुव्रत– आवश्यकता से अधिक परिग्रह का त्यागकर शेष का परिमाण करना सो परिग्रह-परिमाणाणुव्रत है।

अणुव्रत के सहायक सात शीलव्रत

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक प्रोषधोपवासोप-भोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च।२१।।

अर्थ– यह व्रती दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डविरतिव्रत इन तीन गुणव्रतों से तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण और अतिथिसंविभागव्रत इन चार शिक्षाव्रतों से सहित होता है। अर्थात् व्रती श्रावक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार बारह व्रतों का धारी होता है।

गुणव्रत

दिग्व्रत– मरणपर्यन्त सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिए दशों दिशाओं में आने जाने का परिमाण कर उससे बाहर नहीं जाना सो दिग्व्रत है।

देशव्रत– जीवन पर्यन्त के लिए किए हुए दिग्व्रत में और भी संकोच करके घड़ी घण्टा दिन महिना आदि तक किसी गृह मौहल्ले आदि तक आना जाना रखना सो देशव्रत है।

अनर्थदण्डविरतिव्रत– प्रयोजन रहित पापवर्धक क्रियाओं का त्याग करना सो अनर्थदण्डविरतिव्रत है। अनर्थ दण्ड के पांच भेद हैं– १. पापोपदेश (हिंसा आरम्भ आदि पाप के कामों का उपदेश देना), २. हिंसादान (तलवार आदि हिंसा के उपकरण देना) ३. अपध्यान (दूसरे का बुरा विचारना), ४. दुःश्रुति (राग द्वेष को बढ़ाने वाले खोटे शास्त्रों का सुनना) और ५. प्रमादचर्या, (बिना प्रयोजन यहां वहां घूमना तथा पृथ्वी आदि का खोदना।)

शिक्षाव्रत

१. सामायिक– मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से पांचों पापों का त्याग करना सो सामायिक है।

२. प्रोषधोपवास– पहले और आगे के दिनों में एकासन के साथ अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास आदि करना प्रोषधोपवास है।

३. उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत– भोग और उपभोग की वस्तुओं का परिमाण कर उससे अधिक ममत्व नहीं करना सो उपभोग- परिभोग परिमाणव्रत है।

४. अतिथि संविभागव्रत– अतिथि अर्थात् मुनियों के लिए आहार कमण्डलु, पींछी वसतिका का दान देना सो अतिथि संविभाग व्रत है।

व्रती का सल्लेखना धारण करने का उपदेश

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता।।२२।।

अर्थ– गृहस्थ मरण के समय होने वाली सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

सल्लेखना– इस लोक अथवा परलोक सम्बन्धी किसी प्रयोजन की अपेक्षा न करके शरीर और कषाय के कृश करने को सल्लेखना कहते हैं।

सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टि प्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ।।२३।।

अर्थ– शंका (जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए सूक्ष्म पदार्थों में सन्देह करना अथवा सप्तभय करना) कांक्षा (सांसारिक सुखों की इच्छा करना) विचिकित्सा (दु:खी दरिद्री जीवों को अथवा रत्नत्रय से पवित्र, पर बाह्य में मलिन मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना), अन्यदृष्टिप्रशंसा (मन से मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान आदि को अच्छा समझना) और अन्यदृष्टि संस्तव (वचन से मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना) ये पांच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

5 व्रत और 7 शीलों के अतिचारों की संख्या

व्रतशीलेषु पञ्च पंच यथाक्रमम् ।।२४।।

अर्थ– पांच व्रत और सात शीलों में भी क्रम से पांच-पांच अतिचार होते हैं, जिनका वर्णन आगे के सूत्रों में है।

अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।।२५।।

अर्थ– बन्ध–इच्छित स्थान में जाने से रोकने के लिए रस्सी

आदि से बांधना, वध– कोड़ा वेंत आदि से मारना, छेद– नाक कान आदि अंगों का छेदना, अतिभारारोपण– शक्ति से अधिक भार लादना, और अन्नपाननिरोध– समय पर खाना पीना नहीं देना, ये पांच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

सत्याणुव्रत के अतिचार

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रिया न्यासापहारसाकार मन्त्रभेदाः ।।२६।।

अर्थ– मिथ्योपदेश – झूठा उपदेश देना, रहोभ्याख्यान– स्त्री पुरुष की एकान्त की बात को प्रकट करना, कूटलेखक्रिया- झूठे दस्तावेज आदि लिखना, न्यासापहार– किसी की धरोहर का अपहरण करना, और साकारमन्त्रभेद– हाथ चलाने आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर उसे प्रकाशित कर देना, ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीना-धिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ।।२७।।

अर्थ– स्तेनप्रयोग– चोर को चोरी के लिए प्रेरणा करना व उसके उपाय बताना, तदाहृतादान– चोर के द्वारा चुराई हुई वस्तु को खरीदना, विरुद्धराज्यतिक्रम– राजा की आज्ञा के विरुद्ध चलना, टाऊन डयूटी, टैक्स वगैरा नहीं देना, हीनाधिकमानोन्मान– देने लेने के बांट तराजू वगैरा को कमती बढ़ती रखना, और प्रतिरूपकव्यवहार– बहुमूल्य वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर असली भाव से बेचना, ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ।।२८।।

अर्थ— परविवाहकरण— दूसरे के पुत्र पुत्रियों का विवाह करना कराना, परिगृहीतेत्वरिकागमन— पति सहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास आना जाना लेन देन रखना, रागभाव पूर्वक बातचीत करना, अपरिगृहीतेत्वरिकागमनं— पति रहित वेश्या आदि व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहां आना-जाना लेनदेन आदि का व्यवहार रखना, अनंगक्रीड़ा— काम सेवन के लिए निश्चित अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से काम सेवन करना, और कामतीव्राभिनिवेश— कामसेवन की अत्यन्त अभिलाषा रखना, ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसवुर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।।२९।।

अर्थ— क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम— खेत तथा रहने के घरों के प्रमाण का उल्लंघन करना, हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम— चांदी और सोने के प्रमाण का उल्लंघन करना, धनधान्यप्रमाणातिक्रम— गाय भैंस आदि पशु तथा गेंहु चना आदि अनाज के प्रमाण का उल्लंघन करना, दासीदासप्रमाणातिक्रम— नौकर-नौकरानियों के प्रमाण का उल्लंघन करना, और कुप्यप्रमाणातिक्रम- वस्त्र तथा बर्तन आदि के प्रमाण का उल्लंघन करना, ये पांच परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार हैं।

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।।३०।।

अर्थ– ऊर्ध्वव्यतिक्रम– प्रमाण से अधिक ऊंचाई वाले पर्वतादि पर चढ़ना, अधोव्यतिक्रम– प्रमाण से अधिक निचाई वाले कुएं आदि में उतरना, तिर्यग्व्यतिक्रम– समान स्थान में प्रमाण से अधिक लम्बे जाना, क्षेत्रवृद्धि– प्रमाण किये हुए क्षेत्र को बढ़ा लेना, और स्मृत्यन्तराधान– किये हुए प्रमाण को भूल जाना, ये पांच दिग्व्रत के अतिचार हैं।

देशव्रत के अतिचार

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।।३१।।

अर्थ– आनयन– मर्यादा से बाहर की चीज को बुलाना, प्रेष्यप्रयोग– मर्यादा के बाहर नौकर आदिको भेजना, शब्दानुपात– खांसी आदि के शब्द के द्वारा मर्यादा से बाहर वाले आदमियों को अपना अभिप्राय समझा देना, रूपानुपात– मर्यादा से बाहर रहने वाले आदमियों को अपना शरीर दिखाकर इशारा करना, और पुद्गलक्षेप– मर्यादा से बाहर कंकर पत्थर फेंकना, ये पांच देशव्रत के अतिचार हैं।

अनर्थदण्डविरतिव्रत के अतिचार

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोप भोगपरिभोगानर्थक्यानि ।।३२।।

अर्थ– कन्दर्प– राग से हास्य सहित अशिष्ट वचन बोलना, कौत्कुच्य– शरीर से कुचेष्टा करते हुए अशिष्ट वचन बोलना, मौखर्य – धृष्टता पूर्वक आवश्यकता से अधिक बोलना, असमीक्ष्याधिकरण– बिना प्रयोजन मन वचन काय की अधिक प्रवृत्ति करना, और उपभोगपरिभोगानर्थक्य– भोग उपभोग के पदार्थों का

जरूरत से अधिक संग्रह करना, ये पांच अनर्थदण्डविरतिव्रत के अतिचार हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।।३३।।

अर्थ— मनोयोगदुष्प्रणिधान— मन की अन्यथा प्रवृत्ति करना, वाग्योगदुष्प्रणिधान— वचन की अन्यथा प्रवृत्ति करना, काययोगदुष्प्राणिधान— शरीर की अन्यथा प्रवृत्ति करना, अनादर- उत्साह रहित होकर सामायिक करना, स्मृत्यनुपस्थान— एकाग्रता के अभाव में सामायिक पाठ वगैरा का भूल जाना, ये पांच सामायिक शिक्षा व्रत के अतिचार हैं।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रम-णानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।।३४।।

अर्थ— अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग (बिना देखी बिना शोधी हुई जमीन में मलमूत्रादि का क्षेपण करना), अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण (बिना देखे बिना शोधे हुए वस्त्र चटाई आदि को बिछाना) अनादर (भूख से व्याकुल होकर आवश्यक धर्मकार्यों को उत्साह रहित होकर करना) और स्मृत्यनुपस्थान (करने योग्य आवश्यक धर्मकार्यों को भूल जाना) ये पांच प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

उपभोग परिभोग परिमाणव्रत के अतिचार

सचित्तसम्बन्धसंमिश्राभिषवदु:पक्वाहारा: ।।३५।।

अर्थ— सचित्ताहार (जीव सहित- हरे फल आदि का भक्षण करना),

सचित्त सम्बन्धाहार (सचित्त पदार्थ से सम्बन्ध को प्राप्त हुई चीज का आहार करना), सचित्तसन्मिश्राहार (सचित्त पदार्थ से मिले हुए पदार्थ का आहार करना), अभिषवाहार- (गरिष्ठ पदार्थ का आहार करना) और दुपक्वाहार (अधपके अथवा अधिक पके हुए पदार्थ का आहार करना), ये पांच उपभोग परिभोगव्रत के अतिचार हैं।

अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेश
मात्सर्यकालातिक्रमाः ।।३६।।

अर्थ– सचित्तनिक्षेप (सचित्त पत्र आदि में भोजन को रखकर देना), सचित्तापिधान (सचित्त पत्र आदि से ढके हुए भोजनादि का दान करना), परव्यपदेश (दूसरे दातार की वस्तु को देना), मात्सर्य (अनादर पूर्वक देना अथवा दूसरे दाता से ईर्ष्या करके देना) और कालातिक्रम (योग्य काल का उल्लंघन कर अकाल में देना), ये पांच अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार हैं।

सल्लेखना के अतिचार

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।।३७।।

अर्थ– जीविताशंसा (सल्लेखना धारण कर जीने की इच्छा करना), मरणाशंसा (वेदना से व्याकुल होकर शीघ्र मरने की वाञ्छा करना), मित्रानुराग (मित्रों का स्मरण करना), सुखानुबन्ध (पूर्व काल में भोगे हुए सुखों का स्मरण करना), और निदान (आगामी काल में विषयों की इच्छा करना), ये पांच सल्लेखना व्रत के अतिचार हैं।

नोट– ऊपर कहे हुए ७० अतिचारों का त्यागी ही निर्दोष व्रती कहलाता है।

दान का लक्षण

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।।३८।।

अर्थ– (अनुग्रहार्थम्) अपने और परके उपकार के लिए (स्वस्य) धनादिक का (अतिसर्गः) त्याग करना (दानम्) दान है।

नोट– दान देने में अपना उपकार तो यह है कि पुण्य का बन्ध होता है और पर का उपकार यह है कि दान लेने वाले के सम्यग्ज्ञान आदि गुणों की वृद्धि होती है।

दान में विशेषता

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः।।३९।।

अर्थ– विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष और पात्र विशेष से उस दान में विशेषता होती है।

विधिविशेष– नवधाभक्ति के क्रम को विधिविशेष कहते हैं।

द्रव्यविशेष– तप स्वाध्याय आदि की वृद्धि में कारण आहार को द्रव्य विशेष कहते हैं।

दातृविशेष– श्रद्धा आदि सप्तगुण सहित दातार को दातृविशेष कहते हैं।

पात्रविशेष– सम्यक्चारित्र आदि गुणसहित मुनि आदि को पात्रविशेष कहते हैं।

।। इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः।।

●

अष्टम: अध्याय:

बन्धतत्त्व का वर्णन

बन्ध के कारण

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव: ।।१।।

अर्थ– मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच कर्मबन्ध के कारण हैं।

मिथ्यादर्शन– अतत्त्वों के श्रद्धान को अथवा तत्त्वों के श्रद्धान न होने को मिथ्यादर्शन कहते हैं। इसके दो भेद हैं– १. गृहीत मिथ्यादर्शन और २. अगृहीत मिथ्यादर्शन।

गृहीत मिथ्यादर्शन– परोपदेश के निमित्त से जो अतत्त्व श्रद्धान हो, उसे गृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

अगृहीत मिथ्यादर्शन– परोपदेश के बिना ही केवल मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो अतत्त्व श्रद्धान हो, उसे अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

मिथ्यादर्शन के ५ भेद और भी हैं– १ एकान्त, २ विपरीत ३. संशय, ४ वैनयिक और ५. अज्ञान।

एकान्त मिथ्यादर्शन– अनेक धर्मात्मक वस्तुओं में यह इसी प्रकार है, इस तरह के एकान्त अभिप्राय को एकान्त मिथ्यादर्शन कहते हैं। जैसे– बौद्ध मत वाले वस्तु को अनित्य ही मानते हैं और वेदान्ती सर्वथा नित्य ही मानते हैं।

विपरीत मिथ्यादर्शन– परिग्रह सहित भी गुरु हो सकता है, केवली कवलाहार करते हैं स्त्री को भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, इत्यादि उल्टे श्रद्धान को विपरीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

संशय मिथ्यादर्शन– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये मोक्ष के मार्ग हैं अथवा नहीं, इस प्रकार चलायमान श्रद्धान को संशय मिथ्यादर्शन कहते हैं।

वैनयिक मिथ्यादर्शन– सब प्रकार के देवों को तथा सब प्रकार के मतों को समान मानना वैनयिक मिथ्यादर्शन है।

अज्ञान मिथ्यादर्शन– हिताहित की परीक्षा न करके श्रद्धान करना अज्ञान मिथ्यात्व है।

अविरति– छह काय के जीवों की हिंसा के त्याग न करने और ५ इन्द्रिय तथा मन के विषयों में प्रवृत्ति करने को अविरति कहते हैं इसके बारह भेद हैं– पृथ्वीकायिकाविरति, जलकायिकाविरति इत्यादि।

प्रमाद– ५ समिति, ३ गुप्ति, ८ शुद्धि १० धर्म इत्यादि अच्छे कार्यों में उत्साह पूर्वक प्रवृत्ति न करने को प्रमाद कहते हैं। इसके १५ भेद हैं।

कषाय– इसके २५ भेद हैं।

योग– इसके १५ भेद हैं– ४ मनोयोग, ४ वचनयोग और ७ काययोग।

नोट– ये मिथ्यादर्शन आदि सम्पूर्ण तथा पृथक्-पृथक् बन्ध के कारण हैं अर्थात् किसी के पांचों ही बन्ध के कारण हैं, किसी के अविरति आदि ४, किसी के प्रमाद आदि ३, किसी के कषाय आदि २ और किसी के सिर्फ एक योग की बन्ध का कारण है।

बन्ध का लक्षण

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।।२।।

अर्थ– **जीवः**– जीव, **सकषायत्वात्** – कषाय सहित होने से, **कर्मणः**– कर्म के, **योग्यान्**– योग्य, **पुद्गलान्**– कार्मण वर्गणारूप पुद्गल परमाणुओं को जो, **आदत्ते**– ग्रहण करता है, **सः**– वह, **बंध**– बन्ध है।

भावार्थ– सम्पूर्ण लोक में कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल भरे हुए हैं। कषाय के निमित्त से उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है। यही बन्ध कहलाता है।

नोट– इस सूत्र में कर्मयोग्यान्' ऐसा समास न करके जो अलग-अलग ग्रहण किया है, उससे सूत्र का यह अर्थ निकलता है कि 'जीव कर्म से सकषाय होता है और सकषाय होने से कर्म-रूप पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध कहलाता है।

बन्ध के भेद

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ।।३।।

अर्थ– प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेश बन्ध– ये बन्ध के चार भेद हैं।

प्रकृतिबन्ध– कर्मों के स्वभाव को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

स्थितिबन्ध– ज्ञानावरणादि कर्मों का अपने स्वभाव से च्युत नहीं होना सो स्थितिबन्ध है।

अनुभागबन्ध– ज्ञानावरणादि कर्मों के रस विशेष को अनुभागबन्ध कहते हैं।

प्रदेशबन्ध– ज्ञानावरणादि कर्म-रूप होने वाले पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

नोट– इन चार प्रकार के बन्धों में प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग

के निमित्त से होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग बन्ध कषाय के निमित्त से होते हैं।

प्रकृति बन्ध का वर्णन- प्रकृति बन्ध के मूल भेद

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।।४।।

अर्थ– पहला प्रकृतिबन्ध-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ऐसे आठ प्रकार का है।

ज्ञानावरण– जो आत्मा के ज्ञान गुण को घाते उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण– जो आत्मा के दर्शन गुण को घाते उसे दर्शनावरण कहते हैं।

वेदनीय– जिसके उदय से जीवों को सुख दुःख होवे, उसे वेदनीय कहते हैं।

मोहनीय– जिसके उदय से जीव अपने स्वरूप को भूलकर अन्य को अपना समझने लगे, उसे मोहनीय कहते हैं।

आयु– जो इस जीव को नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव में से किसी शरीर में रोके रखे, उसे आयु-कर्म कहते हैं।

नाम– जिसके उदय से शरीर आदि की रचना हो, उसे नाम-कर्म कहते हैं।

गोत्र– जिसके उदय से यह जीव ऊँच-नीच कुल में पैदा होवे, उसे गोत्र-कर्म कहते हैं।

अन्तराय– जिसके उदय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न आवे, उसे अन्तराय-कर्म कहते हैं।

नोट– उक्त आठ कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय

और अन्तराय– ये चार कर्म घातिया (जीव के अनुजीवी गुणों के घातने वाले) हैं और बाकि के चार कर्म अघातिया (प्रतिजीवी गुणों के घातने वाले) हैं।

प्रकृति बन्ध के उत्तर भेद

पञ्चनवद्वयष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ।।५।।

अर्थ– ऊपर कहे हुए ज्ञानावरणादि कर्म क्रम से ५, ९, २, २८, ४, ४२, २ और ५ भेदवाले हैं।

ज्ञानावरण के पांच भेद

मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानाम् ।।६।।

अर्थ– मतिज्ञानावरण– मतिज्ञान को ढांकने वाला, श्रुतज्ञानावरण– श्रुतज्ञान को ढांकने वाला, अवधिज्ञानावरण– अवधिज्ञान को ढांकने वाला, मनः पर्ययज्ञानावरण– मनः पर्ययज्ञान को ढांकने वाला, और केवलज्ञानावरण– केवलज्ञान को ढांकने वाला, ये पांच ज्ञानावरण कर्म के भेद हैं।

दर्शनावरण कर्म के भेद

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचला प्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ।।७।।

अर्थ– चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि- ये नौ दर्शनावरण कर्म के भेद हैं।

चक्षुदर्शनावरण– जो कर्म चक्षु इन्द्रिय से होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे, उसे चक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं।

अचक्षुर्दर्शनावरण– जिस कर्म के उदय से चक्षु–इन्द्रिय को

छोड़कर शेष इन्द्रियों तथा मन से पदार्थ का सामान्य अवलोकन न हो सके, उसे अचक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं।

अवधि दर्शनावरण— जो कर्म अवधिज्ञान से पहले होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे, उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं।

केवल दर्शनावरण— जो कर्म केवल ज्ञान के साथ होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे, उसे केवल दर्शनावरण कहते हैं।

निद्रा— खेद श्रम आदि को दूर करने के लिए जो शयन करते हैं सो निद्रा है। वह निद्रा जिस कर्म के उदय से हो वह कर्म निद्रा दर्शनावरण है।

निद्रानिद्रा— नींद के बाद फिर फिर नींद आने को निद्रानिद्रा कहते हैं। निद्रानिद्रा के वशीभूत होकर जीव अपनी आंखों को नहीं खोल सकता।

प्रचला— बैठे २ नेत्र शरीर आदि में विकार करने वाली, शोक तथा थकावट आदि से उत्पन्न हुई नींद प्रचला कहलाती है। प्रचला के वशीभूत हुआ जीव सोता हुआ भी जागता रहता है।

प्रचलाप्रचला— प्रचला के ऊपर प्रचला के आने को प्रचलाप्रचला प्रकृति कहते हैं। प्रचलाप्रचला के द्वारा शयन अवस्था में मुंह से लार बहने लगती है तथा अंगोपांग चलने लगते हैं।

स्त्यानगृद्धि— जिस निद्रा के द्वारा सोती अवस्था में नाना तरह के भयंकर कार्य कर डाले और जागने पर कुछ मालूम ही न हो कि मैंने क्या किया है? उसको स्त्यानगृद्धि कहते हैं।

वेदनीय के भेद

सदसद्वेद्ये।।८।।

अर्थ— सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो वेदनीय कर्म के भेद हैं।

सद्वेद्य— जिसके उदय से देव आदि गतियों में शारीरिक तथा मानसिक सुख प्राप्त हो उसे सद्वेद्य कहते हैं।

असद्वेद्य— जिसके उदय से नरकादि गतियों में तरह तरह के दु:ख प्राप्त हों उसे असद्वेद्य कहते हैं।

मोहनीय के भेद

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदा: सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्कषाय कषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकश: क्रोधमान मायालोभा: ।।९।।

अर्थ— दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय, कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय इन चार भेदरूप मोहनीय कर्म क्रम से तीन, दो, नौ और सोलह भेदरूप है। जिनमें से सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व ये तीन दर्शन मोहनीय कर्म के भेद हैं। अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय ये दो भेद चारित्र मोहनीय के हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये ९ अकषाय वेदनीय के भेद हैं और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन इन चार भेदस्वरूप क्रोध मान माया लोभ ये सोलह भेद कषाय वेदनीय के हैं।

भावार्थ— मोहनीय कर्म के मुख्य में दो भेद हैं— १. दर्शनमोहनीय ओर २. चारित्र मोहनीय। उनमें दर्शनमोहनीय के तीन और चारित्र मोहनीय के २५ इस प्रकार कुल मिलाकर मोहनीय कर्म के २८ भेद हैं।

मिथ्यात्व प्रकृति— जिस कर्म के द्वारा सर्वज्ञ कथित मार्ग से पराङ्मुखता हो अर्थात् मिथ्यादर्शन हो उसे मिथ्यात्व प्रकृति कहते हैं।

सम्यक्त्व प्रकृति– जिस कर्म के उदय से आत्मा के सम्यग्दर्शन में दोष उत्पन्न हों उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहते हैं।

सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति– जिस प्रकृति के उदय से मिले हुए दही गुड़ के स्वाद की तरह उभय रूप परिणाम हों उसे सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति कहते हैं।

हास्य– जिसके उदय से हंसी आवे वह हास्य नोकषाय है।

रति– जिसके उदय से विषयों में प्रेम हो वह रति है।

अरति– जिसके उदय से विषयों में प्रेम न हो वह अरति है।

शोक– जिसके उदय से शोक-चिन्ता हो वह शोक है।

भय– जिसके उदय से डर लगे वह भय है।

जुगुप्सा– जिसके उदय से ग्लानि हो वह जुगुप्सा है।

स्त्रीवेद– जिसके उदय से स्त्री के साथ रमने के भाव हों वह स्त्री वेद है।

पुंवेद– जिसके उदय से पुरुष से रमने के भाव हों वह पुंवेद है।

नपुंसकवेद– जिसके उदय से स्त्री पुरुष दोनों से रमने की इच्छा हो वह नपुंसकवेद है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ– जो आत्मा के स्वरूपाचरण चारित्र को घाते उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं।

अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यात्व को अनन्त कहते हैं। उसके साथ ही इसका बन्ध होता है इसलिए इसको अनन्तानुबन्धी कहते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ– जिसके उदय से देशचारित्र न हो सके उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ– जो प्रत्याख्यान अर्थात् सकल चारित्र को घाते उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

संज्वलन क्रोध मान माया लोभ– जिसके उदय से यथाख्यात चारित्र न हो सके उसे संज्वलन कहते हैं। यह कषाय सम्-अर्थात् संयम के साथ ज्वलित जागृत रही आती है, इसलिए इसका नाम संज्वलन है।

नोट– इन कषायों में आगे-आगे मन्दता है और नीचे-नीचे तीव्रता है।

आयुकर्म के भेद

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ।।१०।।

अर्थ– नारकायु, तिर्यगायु, मानुषायु और देवायु ये चार आयुकर्म के भेद हैं।

नारकायु– जिसकर्म के उदय से जीव नारकी के शरीर में रुका रहे उसे नारकायु कहते हैं। इसी तरह सब भेदों में समझना चाहिए।

नामकर्म के भेद

गति जाति शरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघात-संस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूप-घातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्ये-कशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादे-ययशः कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ।।११।।

अर्थ– गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति ये

इक्कीस तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यश: कीर्ति ये दश तथा इनसे उल्टे साधारण, स्थावर, दुर्भग, दु:स्वर, अशुभ, स्थूल, अपर्याप्त, अस्थिर, अनादेय, अयश: कीर्ति, ये दश तथा साधारण आदि प्रतिपक्षी १० और तीर्थंकरत्व इस प्रकार सब मिलकर नामकर्म के ४२ भेद हैं।

१. गति– जिसके उदय से जीव दूसरे भव को प्राप्त करता है उसे गति नामकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं– १. नरकगति २. तिर्यग्गति ३. मनुष्यगति और ४. देवगति। जिसके उदय से आत्मा को नरकगति प्राप्त होवे उसे नरकगति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना चाहिए।

२. जाति– जिस कर्म के उदय से जीव नरकादि गतियों में अव्यभिचार रूप समानता से एकरूपता को प्राप्त होवे वह जाति नामकर्म है। इसके पांच भेद हैं– १. एकेंद्रिय जाति २. द्वींद्रिय जाति ३. त्रींद्रिय जाति ४. चतुरिन्द्रिय जाति और ५. पंचेंद्रिय जाति। जिसके उदय से जीव एकेंद्रिय जाति में पैदा हो उसको एकेंद्रिय जाति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेद का लक्षण जानना चाहिए।

३. शरीर– जिस कर्म के उदय से शरीर की रचना हो उसे शरीर नामकर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं– १. औदारिक शरीर नामकर्म २. वैक्रियिक शरीर नामकर्म ३. आहारक शरीर नामकर्म ४. तैजस शरीर नामकर्म और ५. कार्मण शरीर नामकर्म। जिसके उदय से औदारिक शरीर की रचना हो उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

४. अंगोपांग– जिसके उदय से अंग उपांगों की रचना हो उसे अंगोपांग नामकर्म कहते हैं। इसके तीन भेद है– १. औदारिक

शरीरांगोपांग २. वैक्रियिक शरीरांगोपांग और ३. आहारक शरीरांगोपांग। जिसके उदय से औदारिक शरीर के अंग और उपांगों की रचना हो उसे औदारिक शरीरांगोपांग नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष दो भेदों के लक्षण समझना चाहिए।

५. निर्माण– जिस कर्म के उदय से अंगोपांगों की यथास्थान और यथाप्रमाण रचना हो, उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं।

६. बन्धन नामकर्म– शरीर नामकर्म के उदय से ग्रहण किये हुए पुद्गल स्कन्धों का परस्पर-सम्बन्ध जिस कर्म के उदय से होता है उसे बन्धन नामकर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं– १. औदारिक बन्धन नाम-कर्म २. वैक्रियिक बन्धन नाम-कर्म, ३. आहारक बन्धन नाम-कर्म ४. तैजस बन्धन नाम-कर्म और ५. कार्मण बन्धन नाम-कर्म। जिसके उदय से औदारिक शरीर के परमाणु दीवाल में लगे हुए ईंट और गारे की तरह छिद्र सहित परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त हों, वह औदारिक बन्धन नाम-कर्म है। इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना चाहिए।

७. संघात नाम-कर्म– जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीरों के प्रदेशों का छिद्र रहित बन्ध हो, उसे संघात नाम-कर्म कहते हैं। इसके भी ५ भेद हैं औदारिक संघात आदि।

८. संस्थान नाम-कर्म– जिस कर्म के उदय से शरीर का संस्थान अर्थात् आकार बने, उसे संस्थान नाम-कर्म कहते हैं। इसके ६ भेद हैं– १. समचतुरस्रसंस्थान नाम-कर्म २. न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान ३. स्वातिसंस्थान ४. कुब्जकसंस्थान ५. वामनसंस्थान और ६. हुण्डकसंस्थान।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर ऊपर नीचे तथा बीच

में समान भागरूप अर्थात् सुडौल हो, उसे 'समचतुरस्रसंस्थान' कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर वटवृक्ष की तरह नाभि से नीचे पतला और ऊपर मोटा हो, उसे 'न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान' कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सर्प की वामी की तरह ऊपर पतला और नीचे मोटा हो, उसे 'स्वातिसंस्थान नाम-कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कुबड़ा हो उसे 'कुब्जक संस्थान नाम-कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से बौना शरीर हो उसे 'वामनसंस्थान नाम-कर्म कहते हैं। और जिस कर्म के उदय से शरीर के अंगोपांग किसी खास आकृति के न हों उसे 'हुण्डक संस्थान नामकर्म, कहते हैं।

९. संहनन नाम-कर्म– जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बन्धन में विशेषता हो उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। इसके ६ भेद हैं– वज्रर्षभनाराच संहनन, २. वज्रनाराच संहनन, ३. नाराच संहनन, ४ अर्द्धनाराच संहनन, ५. कीलक संहनन और ६. असंप्राप्तसृपाटिका संहनन।

जिस कर्म के उदय से वृषभ (वेष्टन) नाराच (कील) और संहनन (हड्डियां) वज्र की ही हों उसे 'वज्रर्षभनाराच संहनन नामकर्म' कहते हैं।।१।। जिस कर्म के उदय से वज्र के हाड़ और वज्र की कीलियां हों परन्तु वेष्टन वज्र का न हो उसे 'वज्रनाराच संहनन नामकर्म कहते हैं।२।। जिसके उदय से सामान्य वेष्टन और कीली सहित हाड़ हों उसे 'नाराच संहनन नामकर्म' कहते हैं।।३।। जिसके उदय से हड्डियों की संधियां अर्धकीलित हों उसे 'अर्धनाराच संहनन नामकर्म कहते हैं।।४।। जिसके उदय से हड्डियां परस्पर कीलित हों उसे 'कीलक संहनन नामकर्म' कहते हैं।।५।। और जिसके उदय से जुदी हड्डियां नसों से बन्धी हुई हों,

परस्पर में कीलित नहीं हो उसे 'असंप्राप्तसृपाटिका संहनन नामकर्म कहते हैं।।६।।

१०. स्पर्श– जिसके उदय से शरीर में स्पर्श हो उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं। इसके आठ भेद हैं– १. कोमल, २. कठोर ३. गुरु ४. लघु, ५. शीत ६. उष्ण, ७. स्निग्ध ८. रुक्ष।

११ रस– जिसके उदय से शरीर में रस हो वह रस नामकर्म कहलाता है। इसके ५ भेद हैं– १ तिक्त (चरपरा), कटु (कडुआ), कषाय (कषायला), आम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा)।

१२. गन्ध– जिसके उदय से शरीर में गन्ध हो उसे गन्ध नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं– १. सुगन्ध २. दुर्गंध।

१३. वर्ण– जिसके उदय से शरीर में वर्ण अर्थात् रूप हो वह वर्ण नामकर्म है। इसके पांच भेद हैं – १ शुक्ल, २. कृष्ण ३. नील ४. रक्त और ५. पीत।

१४ आनुपूर्व्य– जिस कर्म के उदय से विग्रह गति में मरण से पहले शरीर के आकार के आत्मा के प्रदेश रहते हैं उसे आनुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं– १. नरक गत्यानुपूर्व्य २. तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, ३. मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और ४. देवगत्यानुपूर्व्य।

जिस समय आत्मा मनुष्य अथवा तिर्यंच आयु को पूर्ण कर पूर्व शरीर से पृथक् हो नरकभव के प्रति जाने को सन्मुख होता है उस समय पूर्व शरीर के आकार आत्मा के प्रदेश जिस कर्म के उदय से होते हैं उसे -नरकगत्यानुपूर्व्य' कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

१५. अगुरुलघु नामकर्म– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे के गोले की तरह भारी और आक के तूल की तरह हल्का न

हो वह अगुरुलघु नामकर्म है।

१६. उपघात– जिस कर्म के उदय से अपने अंगों से अपना घात हो उसे उपघात नामकर्म कहते हैं।

१७. परघात– जिसके उदय से दूसरे का घात करने वाले अंगोपांग हों उसे परघात नामकर्म कहते हैं।

१८. आतप– जिस कर्म के उदय से आतपरूप शरीर हो उसे आतप नामकर्म कहते हैं।

१९. उद्योत– जिसके उदय से उद्योतरूप शरीर हो उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं।

२०. उच्छ्वास– जिसके उदय से शरीर में उच्छ्वास हो उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं।

२१. विहायोगति– जिसके उदय से आकाश में गमन हो, उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं–१. प्रशस्त विहायोगति और २. अप्रशस्त विहायोगति।

२२. प्रत्येक शरीर– जिस नामकर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येक शरीर नामकर्म कहते हैं।

२३. साधारण शरीर– जिसके उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी हों, उसे साधारण शरीर नामकर्म कहते हैं।

२४. त्रस नामकर्म– जिसके उदय से द्वीन्द्रियादिक जीवों में जन्म हो उसे त्रस नामकर्म कहते हैं।

२५. स्थावर नामकर्म– जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जीवों में जन्म हो, उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं।

२६. सुभग नामकर्म– जिसके उदय से दूसरे जीवों को अपने

से प्रीति उत्पन्न हो, उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

२७. दुर्भग नामकर्म– जिस कर्म के उदय से रूपादि गुणों से युक्त होने पर भी दूसरे जीवों को अप्रीति उत्पन्न हो, उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

२८. सुस्वर– जिसके उदय से उत्तम स्वर (आवाज) हो, उसे सुस्वर नाम-कर्म कहते हैं।

२९. दुःस्वर– जिसके उदय से खराब स्वर हो, उसे दुःस्वर नाम-कर्म कहते हैं।

३०. शुभ– जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों, उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

३१. अशुभ– जिसके उदय से शरीर के अवयव देखने में मनोहर न हों, उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

३२. सूक्ष्म– जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जो न किसी को रोक सकता हो और न किसी से रोका जा सकता हो, उसे सूक्ष्म शरीर नामकर्म कहते हैं।

३३. वादर (स्थूल)– जिस कर्म के उदय से दूसरे को रोकने वाला तथा दूसरे से रुकनेवाला स्थूल शरीर प्राप्त हो, उसे वादर शरीर नामकर्म कहते हैं।

३४. पर्याप्ति नामकर्म– जिसके उदय से अपने योग्य शरीर आदि पर्याप्ति पूर्ण हो, उसे पर्याप्ति नाम-कर्म कहते हैं।

३५. अपर्याप्ति नामकर्म– जिस कर्म के उदय से जीव के एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हो, उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

३६. स्थिर– जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएं (रस, रुधिर, मांस, मेद, हाड़, मज्जा और शुक्र) तथा उपधातुएं (वात, पित, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि) अपने अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त हों, उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं।

३७. अस्थिर– जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएं अपने-अपने स्थान पर स्थिर न रहे, उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

३८. आदेय– जिसके उदय से प्रभा सहित शरीर हो, उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

३९. अनादेय– जिसके उदय से प्रभारहित शरीर हो, उसे अनोदय नामकर्म कहते हैं।

४०. यश: कीर्ति– जिसके उदय से संसार में जीव की प्रशंसा हो, उसे यश: कीर्ति नाम-कर्म कहते हैं।

४१. अयश: कीर्ति– जिसके उदय से जीव की संसार में निन्दा हो, उसे अयश: कीर्ति नाम-कर्म कहते हैं।

४२. तीर्थकरत्व– तीर्थंकरपद के कारण भूत कर्म को तीर्थकरत्व नाम-कर्म कहते हैं।

गोत्र कर्म के भेद

उच्चैर्नीचैश्च।।१२।।

अर्थ– उच्च गोत्र और नीच गोत्र ये दो भेद गोत्र-कर्म के हैं।

१. उच्च गोत्र– जिसके उदय से लोकमान्य कुल में जन्म हो, उसे उच्च गोत्र-कर्म कहते हैं।

२. नीच गोत्र– जिस कर्म के उदय से लोकनिन्द्य कुल में जन्म हो, उसे नीच गोत्र-कर्म कहते हैं।

अन्तराय कर्म के भेद

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्।।१३।।

अर्थ– दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये अन्तराय कर्म के ५ भेद हैं। जिसके उदय से दान की इच्छा रखता हुआ भी दान न कर सके, उसे 'दानान्तराय कर्म कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों के भी लक्षण समझना चाहिए।

स्थिति बन्ध का वर्णन

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय: परा स्थिति:।।१४।।

अर्थ– आदि के तीन– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय- इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागर की है।

नोट– मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेद्रिय पर्याप्तक जीव के ही इस उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

सप्ततिर्मोहनीयस्य।।१५।।

अर्थ– मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की है।

नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति

विंशतिर्नामगोत्रयोः ।।१६।।

अर्थ– नाम-कर्म और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडा-कोड़ी सागर की है।

आयु-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ।।१७।।

अर्थ– आयु-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ।।१८।।

अर्थ– वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की है।

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति

नामगोत्रयोरष्टौ ।।१९।।

अर्थ– नाम और गोत्र-कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है।

शेष पांच कर्मो की जघन्य स्थिति

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ।।२०।।

अर्थ– बाकी के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

अनुभव (अनुभाग) बन्ध का वर्णन

अनुभव बन्ध का लक्षण

विपाकोऽनुभवः ।।२१।।

अर्थ– कषायों की तीव्रता मन्दता अथवा मध्यमता से जो आस्रव

में विशेषता होती है, उससे होनेवाले विशेष पाक को विपाक कहते हैं। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के निमित्त के वश से नाना रूपता को प्राप्त होने वाले पाक को विपाक कहते हैं और इस पाक को ही अनुभव अर्थात् अनुभाग बन्ध कहते हैं।

नोट– १. शुभ परिणामों की अधिकता होने पर शुद्ध प्रकृतियों में अधिक और अशुभ प्रकृतियों में हीन अनुभाग होता है।

नोट– २. अशुभ परिणामों की अधिकता होने पर अशुभ प्रकृतियों में अधिक और शुभ प्रकृतियों में हीन अनुभाग होता है।

स यथानाम।।२२।।

अर्थ– वह अनुभाग बन्ध कर्मों के नामानुसार ही होता है।

भावार्थ– जिस कर्म का जैसा नाम है, उसमें वैसा ही अनुभाग बन्ध पड़ता है। जैसे– ज्ञानावरण कर्म में ज्ञान को रोकना' दर्शनावरण कर्म में 'दर्शन को रोकना' आदि।

फल दे चुकने के बाद कर्मों का क्या होता है?

ततश्च निर्जरा।।२३।।

अर्थ– तीव्र मन्द या मध्यम फल दे चुकने के बाद कर्मों की निर्जरा होती है। अर्थात् कर्म उदय में आकर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।

निर्जरा के दो भेद हैं– १. सविपाक निर्जरा और २. अविपाक निर्जरा।

सविपाक निर्जरा– शुभ अशुभ कर्मों को जिस प्रकार बांधा था, उसी प्रकार स्थितिपूर्ण होने पर फल देकर आत्मा से पृथक् होने को सविपाक निर्जरा कहते हैं।

अविपाक निर्जरा– उदयकाल प्राप्त न होने पर भी तप आदि

उपायों से बीच में ही फल भोग कर खिरा देने को अविपाक निर्जरा कहते हैं।

नोट— इस सूत्र में जो 'च' शब्द का ग्रहण किया है, उससे नवम अध्याय के 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्र से सम्बन्ध सिद्ध होता है जिससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मों की निर्जरा तप से भी होती है। अर्थात् उक्त दो प्रकार की निर्जरा के कारण क्रम से कर्मों का विपाक और तपश्चरण है।

प्रदेश बन्ध का वर्णन

प्रदेश बन्ध का स्वरूप

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगा- हस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ।।२४।।

अर्थ— नामप्रत्ययाः— ज्ञानावरणादि कर्म- प्रकृतियों के कारण, सर्वतः- सब ओर से अथवा देव नारकादिक समस्त भवों में, योगविशेषात्— मन, वचन, काय-रूप योग विशेष से, सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः— सूक्ष्म तथा एकक्षेत्रावगाह-रूप स्थित, सर्वात्मप्रदेशेषु— सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशों में जो, अनन्तानन्तप्रदेशाः— कर्म-रूप पुद्गल के अनन्तानन्त प्रदेश हैं उनको प्रदेश बन्ध कहते हैं।

नोट— उक्त सूत्र में प्रदेशबन्ध के विषय में होने वाले निम्नलिखित ६ प्रश्नों का समाधान किया गया है।

(१) किसके कारण है? (२) किस समय होता है? (३) किस कारण से होता है? (४) किस स्वभाव वाला है? (५) किसमें होता है और (६) कितनी संख्यावाला है?

भावार्थ– आत्मा के योग– विशेषों द्वारा त्रिकाल में बंधने वाले, ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के कारणभूत, आत्मा के समस्त प्रदेशों में व्याप्त होकर कर्म-रूप परिणमने योग्य सूक्ष्म, आत्मा के प्रदेशों में क्षीर-नीर की तरह एक होकर स्थिर रहने वाले, तथा अनंतानन्त प्रदेशों का प्रमाण लिए प्रदेशबन्ध-रूप पुद्‌गल -स्कन्धों को प्रदेश बन्ध कहते हैं।

पुण्यप्रकृतियां

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्।।२५।।

अर्थ– साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियां हैं।

नोट– घातिया कर्मों की समस्त प्रकृतियां पाप-रूप हैं। किन्तु अघातिया कर्मों में पुण्य और पाप दोनों रूप हैं।। उनमें से ६८ प्रकृतियां पुण्यरूप हैं।

पाप-प्रकृतियां

अतोऽन्यत्पापम्।।२६।।

अर्थ– इससे भिन्न अर्थात् असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र ये पाप प्रकृतियां हैं।

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे अष्टमऽध्याय:

●

नवमः अध्याय

संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन

संवर का लक्षण

आस्रवनिरोधः संवरः ।।१।।

अर्थ– आस्रव का रोकना सो संवर है। अर्थात् आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आस्रव होता था उन कारणों को दूर कर देने से जो कर्मों का आना बन्द हो जाता है, उनको संवर कहते हैं।

संवर के दो भेद हैं– (१) द्रव्यसंवर (पुद्गल कर्मों के आस्रव का रुकना) और (२) भावसंवर (कर्मास्रव के कारणभूत भावों का अभाव होना)

संवर के कारण

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ।।२।।

अर्थ– वह संवर तीन गुप्ति, पांच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहों को जीतना और पांच प्रकार का चारित्र इन छः कारणों से होता है।

गुप्ति– संसार-भ्रमण के कारणस्वरूप मन, वचन और काय इन तीन योगों के निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं।

समिति– जीवों को हिंसा से बचने के लिए यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं।

धर्म– जो आत्मा को संसार के दुःखों से छुटा कर अभीष्ट स्थान में प्राप्त करावे, उसे धर्म कहते हैं।

अनुप्रेक्षा– शरीरादिक के स्वरूप का बार-बार चिन्तवन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं।

परीषहजय– भूख आदि की वेदना उत्पन्न होने पर कर्मों की निर्जरा करने के लिए उसे शान्त भावों से सह लेना सो परीषहजय है।

चारित्र– कर्मों के आस्रव में कारणभूत बाह्य आभ्यन्तर क्रियाओं के रोकने को चारित्र कहते हैं।

निर्जरा और संवर का कारण

तपसा निर्जरा च।।३।।

अर्थ– तप से निर्जरा और संवर दोनों होते हैं।

नोट– (१) तप का दश प्रकार के धर्मों में अन्तर्भाव हो जाने पर भी जो अलग से ग्रहण किया है। उसका प्रयोजन यह है कि यह संवर और निर्जरा दोनों का कारण है तथा संवर का प्रधान कारण है।

नोट– (२) यद्यपि पुण्य-कर्म का बन्ध होना भी तप का फल है, तथापि तप का प्रधान फल कर्मों की निर्जरा ही है। जब तप में कुछ न्यूनता होती है, तब उससे पुण्य-कर्म का बन्ध हो जाता है, इसलिए पुण्य का बन्ध होना तप का गौण फल है। जैसे खेती करने का प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न होना है, और गौण फल पलाल (प्यांल) वगैरा का उत्पन्न होना है।

गुप्ति का लक्षण व भेद

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः।।४।।

अर्थ– भले प्रकार से अर्थात् विषयाभिलाषा को छोड़कर मन, वचन, काय की स्वच्छन्द प्रवृत्ति के रोकने को गुप्ति कहते हैं। उसके तीन भेद हैं– १ मनोगुप्ति (मन को रोकना), २. वचनगुप्ति (वचन को रोकना) और ३. कायगुप्ति (शरीर को वश में करना)।।

समिति के भेद

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः।।५।।

अर्थ– सम्यग् ईर्या, (चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना, सम्यग् भाषा (हित मित प्रिय वचन बोलना), सम्यग् एषणा (दिन में एकबार शुद्ध निर्दोष आहार लेना), सम्यग् आदान निक्षेपण, (देख-भालकर किसी वस्तु को उठाना रखना) और सम्यग् उत्सर्ग (जीव रहित स्थान में मलमूत्र क्षेपण करना) ये पांच समिति के भेद हैं।

दश धर्म

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः।।६।।

अर्थ– उत्तम क्षमा (क्रोध के कारण के उपस्थित रहते हुए भी क्रोध नहीं करना), उत्तम मार्दव– (उत्तम, कुल, विद्या, बल आदि का घमण्ड नहीं करना), उत्तम आर्जव– (मायाचार का त्याग करना), उत्तम शौच– (लोभ का त्याग कर आत्मा को पवित्र बनाना) उत्तम सत्य– (रागद्वेष पूर्वक असत्य वचनों को छोड़कर हित, मित, प्रिय वचन बोलना), उत्तम संयम– (५ इन्द्रिय और मन को वश में करना तथा छः काय के जीवों की रक्षा करना), उत्तम त्याग– (कीर्ति तथा प्रत्युपकार की वांछा से रहित होकर चार प्रकार का

दान देना), उत्तम आकिञ्चन्य– (पर पदार्थों में ममत्व-रूप परिणामों का त्याग करना) और उत्तम ब्रह्मचर्य– (स्त्रीमात्र का त्याग कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन रहना), ये दश धर्म हैं।

बारह अनुप्रेक्षाएं

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।।७।।

अर्थ– अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह के स्वरूप का बार-बार चिन्तवन करना सो अनुप्रेक्षा है।

अनित्यानुप्रेक्षा– संसार के समस्त पदार्थ इन्द्रधनुष बिजली अथवा जल के बबूले के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाले हैं, ऐसा विचार करना सो अनित्यानुप्रेक्षा है।

अशरणअनुप्रेक्षा– जिस प्रकार निर्जन वन में भूखे सिंह के द्वारा पकड़े हुए हिरण के बच्चे को कोई शरण नहीं है। उसी प्रकार इस संसार में मरते हुए जीव को कोई शरण नहीं है। यदि अच्छे भावों से धर्म का सेवन किया है तो वही आपत्तियों से बचा सकता है। इस प्रकार चिन्तवन करना सो अशरण-अनुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षा– इस चतुर्गति– रूप संसार में भ्रमण करता हुआ जीव पिता से पुत्र, पुत्र से पिता, स्वामी से दास, दास से स्वामी हो जाता है और तो क्या स्वयं अपना ही पुत्र हो जाता है, इत्यादि संसार के दुःख मय स्वरूप का विचार करना सो संसारानुप्रेक्षा है।

एकत्वानुप्रेक्षा– जन्म, जरा, मरण रोग आदि के दुःख मैं अकेला ही भोगता हूं, कुटुम्बी आदि जन साथी नहीं हैं, इत्यादि विचार करना सो एकत्वानुप्रेक्षा है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा– शरीरादि से अपनी आत्मा को भिन्न चिन्तवन करना सो अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

अशुचित्वानुप्रेक्षा– यह शरीर महा अपवित्र है, खून मांस आदि से भरा हुआ है, स्नान आदि से कभी पवित्र नहीं हो सकता। इससे सम्बन्ध रखने वाले दूसरे पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं, इत्यादि शरीर की अपवित्रता का विचार करना सो अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

आस्रवानुप्रेक्षा– मिथ्यात्व आदि भावों से कर्मों का आस्रव होता है, आस्रव ही संसार का मूल कारण है। इस प्रकार विचार करना सो आस्रवानुप्रेक्षा है।

संवरानुप्रेक्षा– आत्मा में नवीन कर्मों का प्रवेश नहीं होने देना सो संवर है। संवर से ही जीवों का कल्याण होता है। ऐसा विचार करना सो संवरानुप्रेक्षा है।

निर्जरानुप्रेक्षा– सविपाकनिर्जरा से आत्मा का कुछ भला नहीं होता, किन्तु अविपाकनिर्जरा से ही आत्मा का कल्याण होता है, इत्यादि निर्जरा के स्वरूप का चिन्तवन करना सो निर्जरानुप्रेक्षा है।

लोकानुप्रेक्षा– अनन्त अलोकाकाश के ठीक बीच में रहने वाले चौदह राजु-प्रमाण लोक के आकारादिक का चिन्तवन करना सो लोकानुप्रेक्षा है।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा– रत्नत्रय-रूप बोधि का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, इस प्रकार विचारना तो बोधिदुर्लभ भावना है।

धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा– जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ अहिंसा लक्षणवाला धर्म ही जीवों का कल्याण करने वाला है। इसके प्राप्त न होने से ही जीव चतुर्गति के दुःख सहते हैं, आदि विचार करना सो धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा है।

नोट– इन अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने वाला जीव उत्तमक्षमा आदि धर्मों को पालता है और परीषहों को जीतता है। इसलिए इनका कथन दोनों के बीच में किया गया है।

परीषह सहन करने का उपदेश

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः।।८।।

अर्थ– संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के हेतु २२ परीषह सहन करने के योग्य हैं।

बाईस परीषह

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्या-
निषद्याशय्याक्रोधवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्श-
मलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि।।९।।

अर्थ– १. क्षुधा २. तृषा, ३. शीत ४. उष्ण ५. दंशमशक, ६. नाग्न्य ७. अरति, ८. स्त्री ९. चर्या, १०. निषद्या ११. शय्या १२. आक्रोश १३. वध, १४. याचना १५. अलाभ, १६. रोग १७. तृण-स्पर्श, १८. मल, १९. सत्कार पुरस्कार २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान और २२. अदर्शन– ये बाईस परीषह हैं।

क्षुधा– क्षुधा (भूख) के दुःख को शान्त भाव से सह लेना सो क्षुधा परीषहजय है।

तृषा– पिपासा-रूपी अग्नि को धैर्य- रूपी जल से शान्त करना तृषा परीषहजय है।

शीत– शीत की वेदना को शान्त भावों से सहना शीत परीषहजय है।

उष्ण– गर्मी की वेदना को शान्त भावों से सहना उष्ण परीषहजय है।

दंशमशक– डांस, मच्छर, बिच्छू, चिंउटी आदि के काटने से उत्पन्न हुई वेदना को शान्त भावों से सहना से दंशमशक परीषह जय है।

नाग्न्य– नग्न रहते हुए भी मन में किसी प्रकार का विकार नहीं करना सो नाग्न्य परीषहजय है।

अरति– अरति के कारण उपस्थित होने पर भी संयम में अरति अर्थात् अप्रीति नहीं करना सो अरति परीषहजय है।

स्त्री– स्त्रियों के हावभाव, प्रदर्शन आदि उपद्रवों को शान्त भाव से सहना, उन्हें देखकर मोहित नहीं होना सो स्त्री परीषहजय है।

चर्या– गमन करते समय खेदखिन्न नहीं होना सो चर्या परीषहजय है।

निषद्या– ध्यान के लिए नियमित काल पर्यंत स्वीकार किये हुए आसन से च्युत नहीं होना सो निषद्या परीषहजय है।

शय्या– विषम कठोर कंकरीले आदि स्थानों में एक करवट से निद्रा लेना अनेक उपसर्ग आने पर भी शरीर को चलायमान नहीं करना सो शय्या परीषहजय है।

आक्रोश– दुष्ट जीवों के द्वारा कहे हुए कठोर शब्दों को शान्त भावों से सह लेना सो आक्रोश परीषहजय है।

वध– तलवार आदि के द्वारा शरीर पर प्रहार करने वाले से भी द्वेष नहीं करना सो वध परीषहजय है।

याचना– प्राणों का वियोग होने पर भी आहारादिक को नहीं मांगना सो याचना परीषहजय है।

अलाभ– भिक्षा के प्राप्त न होने पर सन्तोष धारण करना सो अलाभ परीषहजय है।

रोग– अनेक रोग होने पर भी उनकी वेदना को शान्त भावों से सह लेना सो रोग परीषहजय है।

तृणस्पर्श– चलते समय पांवों में तृणकण्टक वगैरा के चुभ जाने से उत्पन्न हुए दुःख को सहना तो तृण स्पर्श परीषहजय है।

मलपरीषहजय– जलकायिक जीवों की हिंसा से बचने के लिए स्नान न करना तथा अपने मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना सो मल परीषहजय है।

सत्कारपुरस्कार– अपने में गुणों की अधिकता होने पर भी यदि कोई सत्कारपुरस्कार न करे तो चित्त में कलुषता न करना सो सत्कारपुरस्कार परीषहजय है।

प्रज्ञा– ज्ञान की अधिकता होने पर भी मान नहीं करना सो प्रज्ञा परिषहजय है।

अज्ञान– ज्ञानादिक की हीनता होने पर लोगो के द्वारा किये हुए तिरस्कार को शान्त भावों से सह लेना अज्ञान परीषहजय है।

अदर्शन– बहुत समय तक कठोर तपश्चर्या करने पर भी मुझे अवधि ज्ञान तथा चारण आदि ऋद्धियों की प्राप्ति नहीं हुई, इसलिए व्रत धारण करना व्यर्थ है। इस प्रकार अश्रद्धा के भाव नहीं होना सो अदर्शन परीषहजय है।

नोट– उक्त बाईस परीषहों को संक्लेशरहित भावों से जीत लेने से संवर होता है।

किस गुण स्थान में कितने परीषह होते हैं?

सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश।।१०।।

अर्थ– सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें और छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें उपशांत मोह तथा बारहवें क्षीणमोह नामक गुणस्थान में १४ परीषह होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं– १. क्षुधा २. तृषा ३. शीत, ४. उष्ण ५. दंशमशक, ६. चर्या ७. शय्या ८. वध ९. अलाभ १०. रोग, ११. तृणस्पर्श १२. मल, १३. प्रज्ञा और १४. अज्ञान।।

एकादश जिने।।११।।

अर्थ– सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में रहने वाले जिनेन्द्र भगवान के ऊपर लिखे हुए १४ परीषहों में से अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञान को छोड़ कर शेष ११ परीषह होते हैं।

नोट– जिनेन्द्र भगवान के वेदनीय कर्म का उदय होने से उसके उदय से होने वाले ११ परीषह कहे गये हैं। यद्यपि मोहनीय कर्म का उदय न होने से भगवान का क्षुधादिक की वेदना नहीं होती। तथापि इन परीषहों का कारण वेदनीय कर्म मौजूद है, इसलिए उपचार से ११ परीषह कहे गये हैं। वास्तव में उनके एक भी परीषह नहीं होती।

बादरसाम्पराये सर्वे।।१२।।

अर्थ– बादर साम्पराय अर्थात् स्थूल कषायवाले छठवें से नवमें गुणस्थान तक सब परीषह होती हैं। क्योंकि इन गुणस्थानों में परीषहों के कारणभूत सब कर्मों का उदय है।

कौन परीषह किस कर्म के उदय से होता है?

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ।।१३।।

अर्थ– प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होती हैं।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।।१४।।

अर्थ– दर्शनमोहनीय और अन्तराय-कर्म का उदय होने पर क्रम से अदर्शन और अलाभ परीषह होती हैं।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना सत्कारपुरस्काराः ।।१५।।

अर्थ– चारित्रमोहनीय-कर्म का उदय होने पर नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार ये ७ परीषह होते हैं।

वेदनीये शेषाः ।।१६।।

अर्थ– शेष ११ परीषह (क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल) वेदनीय कर्म के उदय से होती हैं।

एक साथ होने वाले परीषहों की संख्या

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ।।१७।।

अर्थ– युगपत्– एक साथ, एकस्मिन्– एक जीव में, एकादयः– एक को आदि लेकर, एकोनविंशतेः– उन्नीस परीषहतक, भाज्याः– विभक्त करनी चाहिए।

भावार्थ– एक जीव के एक काल में अधिक से अधिक १९ परीषह हो सकती हैं, क्योंकि शीत और उष्ण इन दो परीषहों में से एक काल में एक ही होगी तथा शय्या, चर्या और निषद्या इन तीनों में से भी एक काल में एक ही होगी। इस प्रकार तीन परीषह कम कर दिये गये हैं।

पांच चारित्र

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराय यथाख्यातमिति चारित्रम्।।१८।।

अर्थ– सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये चारित्र के पांच भेद हैं।

सामायिक चारित्र– भेद रहित सम्पूर्ण पापों के त्याग करने को सामायिक चारित्र कहते हैं।

छेदोपस्थापना– प्रमाद के वश से चारित्र में कोई दोष लग जाने पर प्रायश्चित के द्वारा उसको दूर कर पुनः निर्दोष चारित्र को स्वीकार करना सो छेदोपस्थापना चारित्र है।

परिहारविशुद्धि– जिस चारित्र में जीवों की हिंसा का त्याग हो जाने से विशेष शुद्धि प्राप्त होती है, उसको परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं।

सूक्ष्मसाम्पराय– अत्यन्त सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय होने पर जो चारित्र होता है, उसे सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र कहते हैं।

यथाख्यात– सम्पूर्ण मोहनीय-कर्म के क्षय अथवा उपशम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर होने को यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

निर्जरा तत्त्व का वर्णन

बाह्य तप

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त शय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ।।१९।।

अर्थ– १. अनशन (संयम की वृद्धि के लिए चार प्रकार के आहार का त्याग करना) २. अवमौदर्य– (रागभाव दूर करने के लिए भूख से कम भोजन करना), ३. वृत्तिपरिसंख्यान– (इन्द्रियों का दमन करने के लिए घृत दुग्ध आदि रसों का त्याग करना), ५. विविक्तशय्यासन– (स्वाध्याय ध्यान आदि की सिद्धि के लिए एकान्त तथा पवित्र स्थान में सोना बैठना) और ६ कायक्लेश– (शरीर से ममत्व न रखकर आतापन योग आदि धारण करना) ये बाह्य तप हैं। ये तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा से होते हैं तथा बाह्य में सबके देखने से आते हैं, इसलिए बाह्य तप कहे जाते हैं।

आभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।२०।।

अर्थ– १. प्रायश्चित– (प्रमाद अथवा अज्ञान से लगे हुए दोषों की शुद्धि करना), २. विनय– (पूज्य पुरुषों का आदर करना), ३. वैयावृत्य– (शरीर तथा अन्य वस्तुओं से मुनियों की सेवा करना), ४. स्वाध्याय– (ज्ञान की भावना में आलस्य नहीं करना) ५. व्युत्सर्ग– (बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना) और ६. ध्यान– (चित्त की चंचलता को रोक कर उसे किसी एक पदार्थ के चिन्तवन में लगाना) ये ६ आभ्यन्तर तप हैं। इन तपों का आत्मा से घनिष्ट सम्बंध है, इसलिए आभ्यन्तर तप कहते हैं।

आभ्यन्तर तपों के उत्तर भेद

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्।।२१।।

अर्थ– ध्यान से पहले के पांच तप क्रम से ९, ४, १०, ५ और २ भेदवाले हैं।

प्रायश्चित के 9 भेद

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेद परिहारोपस्थापनाः।।२२।।

अर्थ– १. आलोचना (प्रमाद के वश से लगे हुए दोषों को गुरु के पास जाकर निष्कपट रीति से कहना), २. प्रतिक्रमण– (मेरे द्वारा किये हुए अपराध मिथ्या हों ऐसा कहना), ३. तदुभय– आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों को करना) ४. विवेक– (संसक्त आहार पानी का तथा अन्य उपकरणों का नियमित समय तक पृथक् विभाग करना), ५. व्युत्सर्ग– (कायोत्सर्ग करना), ६. तप– (उपवासादि करना) ७. छेद – (एक दिन, एक पक्ष, एक महीना आदि की दीक्षा का छेद करना) ८. परिहार– (दिन, पक्ष, महीना आदि नियमित समय तक संघ से पृथक् कर देना) और ९ उपस्थापन– (सम्पूर्ण दीक्षा का छेद कर फिर नवीन दीक्षा देना) ये ९ प्रायश्चित्त तप के भेद हैं। यह प्रायश्चित संघ के आचार्य देते हैं।

विनय तप के चार भेद

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः।।२३।।

अर्थ– १. ज्ञान विनय– (आदरपूर्वक योग्यकाल में शास्त्र पढ़ना, अभ्यास करना, आदि), २ दर्शन विनय–(शङ्का कांक्षा आदि दोष-रहित सम्यग्दर्शन को धारण करना), ३. चारित्र विनय–

(चारित्र को निर्दोष रीति से पालना) और ४. उपचार विनय– (आचार्य आदि पूज्य पुरुषों को देखकर खड़े होना, नमस्कार करना आदि) ये चार विनय तप के भेद हैं।

वैयावृत्त्य तप के 10 भेद

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसङ्घ-साधुमनोज्ञानाम्।।२४।।

अर्थ– आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्षय, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ इन १० प्रकार के मुनियों की सेवा टहल करना सो १० प्रकार का वैयावृत्त्य है।

आचार्य– जो मुनि पञ्चाचार का स्वयं आचरण करते और दूसरों को आचरण कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं।

उपाध्याय– जिनके पास शास्त्रों का अध्ययन किया जाता हो, वे उपाध्याय कहलाते हैं।

तपस्वी– महान उपवास के करने वाले साधुओं को तपस्वी कहते हैं।

शैक्षय– शास्त्र के अध्ययन में तत्पर मुनि शैक्षय कहलाते हैं।

ग्लान– रोग से पीड़ित मुनि ग्लान कहलाते हैं।

गण– वृद्ध मुनियों के अनुसार चलने वाले मुनियों के समुदाय को गण कहते हैं।

कुल– दीक्षा देने वाले आचार्य के शिष्यों को कुल कहते हैं।

सङ्घ– ऋषि, यति, मुनि, अनगार- इस चार प्रकार के मुनियों के समूह को संघ कहते हैं।

साधु– जिन ने बहुत काल से दीक्षा ग्रहण की है, उन्हें साधु कहते हैं।

मनोज्ञ— लोक में जिनकी प्रशंसा बढ़ रही हो, उन्हें मनोज्ञ कहते हैं।

स्वाध्याय तप के ५ भेद

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः।।२५।।

अर्थ—वाचना (निर्दोष ग्रन्थ को, उसके अर्थ को, तथा दोनों को भव्य जीवों को श्रवण कराना), पृच्छना— (संशय को दूर करने के लिए अथवा कृत निश्चय को दृढ़ करने के लिए प्रश्न पूछना), अनुप्रेक्षा— (जाने हुए पदार्थ का बार-बार चिन्तवन करना, आम्नाय— निर्दोष उच्चारण करते हुए पाठ करना) और धर्मोपदेश— धर्म का उपदेश करना) ये पांच स्वाध्याय तप के भेद हैं।

व्युत्सर्ग तप के 2 भेद

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः।।२६।।

अर्थ— बाह्योपधिव्युत्सर्ग— (धनधान्यादि बाह्य पदार्थों का त्याग करना), और आभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग— (क्रोध, मान आदि खोटे भावों का त्याग करना) ये दो व्युत्सर्ग तप के भेद हैं।

ध्यान तप का लक्षण

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्।।२७।।

अर्थ— उत्तमसंहननस्य— उत्तम संहननवाले का, आन्तर्मुहूर्त्तात्— अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त, एकाग्रचिन्तानिरोधः— एकाग्रता से चिन्ता का रोकना, ध्यानम्— ध्यान है।

भावार्थ— किसी एक विषय में चित्त को रोकना सो ध्यान है। वह उत्तम संहननधारी जीवों के ही होता है और एक पदार्थ का ध्यान अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक समय तक नहीं होता।

ध्यान के भेद

आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि।।२८।।

अर्थ– आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म ध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यान के चार भेद हैं।

परे मोक्षहेतू।।२९।।

अर्थ– इनमें से धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं।

नोट– (१) धर्मध्यान परम्परा से और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है।

नोट– (२) शुरू के आर्त और रौद्र ये २ ध्यान संसार के कारण हैं।

आर्तध्यान का लक्षण और भेद

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः।।३०।।

अर्थ– अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए बार-बार विचार करना सो (१) अनिष्ट संयोगज नामक आर्तध्यान है।

विपरीतं मनोज्ञस्य।।३१।।

अर्थ– स्त्री, पुत्र आदि इष्ट जनों का वियोग होने पर उनके संयोग के लिए बार बार चिन्ता करना सो (२) इष्ट वियोगज नामक आर्तध्यान है।

वेदनीयाश्च।।३२।।

अर्थ– रोगजनित पीड़ा का निरन्तर चिन्तवन करना सो (३)

वेदनाजन्य नामक आर्तध्यान है।

निदानं च।।३३।।

अर्थ– आगामीकाल सम्बन्धी विषयों की प्राप्ति में चित्त को तल्लीन करना सो (४) निदान नामक आर्तध्यान है।

गुणस्थानों की अपेक्षा आर्तध्यान के स्वामी

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्।।३४।।

अर्थ– वह आर्तध्यान अविरत अर्थात् आदि के चार गुणस्थान, देशविरत अर्थात् पंचम गुणस्थान और प्रमत्तसंयत अर्थात् छठवें गुणस्थान में होता है।

नोट– छठवें गुणस्थान में निदान नाम का आर्तध्यान नहीं होता है।

रौद्र ध्यान के भेद व स्वामी

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो
रौद्रमविरतदेशविरतयो:।।३५।।

अर्थ– हिंसा, झूठ, चोरी और विषय संरक्षण से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है और वह अविरत तथा देशविरत (आदि के पांच) गुणस्थानों में होता है।

भावार्थ– निमित्त के भेद से रौद्रध्यान चार प्रकार का होता है। १. हिंसानन्दी– (हिंसा में आनन्द मानकर उसी के साधन जुटाने में तल्लीन रहना), २. मृषानन्दी– (असत्य बोलने में आनन्द मान कर उसी का चिन्तवन करना), ३. चौर्यानन्दी– (चोरी में आनन्द मान कर उसी का चिन्तवन करना) और ४ परिग्रहानन्दी– (परिग्रह

की रक्षा की चिन्ता करना)।

धर्मध्यान का स्वरूप व भेद

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्।।३६।।

अर्थ– आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्मध्यान है।

भावार्थ:– धर्मध्यान के चार भेद हैं– १. आज्ञाविचय. (आगम की प्रमाणता से अर्थ का विचार करना), २. अपायविचय... (संसारी जीवों के दु:ख का तथा उससे छूटने के उपाय का चिन्तवन करना), ३ विपाकविचय.. (कर्म के फल का... उदय का विचार करना) और ४ संस्थानविचय.... (लोक के आकार का विचार करना)।

स्वामी– यह धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक श्रेणी चढ़ने के पहले तक होता है।

शुक्लध्यान के स्वामी

शुक्ले चाद्ये पूर्वविद:।।३७।।

अर्थ– प्रारम्भ के पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामक दो शुक्लध्यान पूर्वज्ञान धारी श्रुतकेवली के ही होते हैं।

नोट– चकार से श्रुतकेवली के धर्मध्यान भी होता है।

परे केवलिन:।।३८।।

अर्थ– अन्त के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो शुक्लध्यान सयोग केवली और अयोगकेवलीके ही होते हैं।

शुक्लध्यान के चार भेदों के नाम

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरत क्रियानिवर्तीनि ।।३९।।

अर्थ– पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यान के चार भेद हैं।

शुक्ल ध्यान के आलम्बन

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ।।४०।।

अर्थ– उक्त चार भेद क्रम से तीन योग, एक योग, काययोग और योगरहित जीवों के होते हैं अर्थात् पहला पृथक्त्ववितर्कध्यान मन, वचन, काय इन तीनों योगों के धारक के होता है। दूसरा एकत्ववितर्कध्यान तीन योगों में से किसी एक योग के धारक के होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान सिर्फ काययोग के धारक के होता है और चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान योग रहित जीवों के होता है।

आदि के ध्यानों की विशेषता

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ।।४१।।

अर्थ– एक परिपूर्ण श्रुतज्ञानी के आश्रित रहने वाले प्रारम्भ के दो ध्यान वितर्क और वीचार सहित है।

अवीचारं द्वितीयम् ।।४२।।

अर्थ– किन्तु दूसरा शुक्लध्यान वीचार से रहित है।

भावार्थ– जिसमें वितर्क और वीचार दोनों हों, उसे 'पृथक्त्ववितर्क' नामक शुक्लध्यान कहते है और जो केवल वितर्क से सहित हो, उसे 'एकत्ववितर्क' नामक शुक्लध्यान कहते हैं।

सूक्ष्मकाययोग के आलम्बन से जो ध्यान होता है, उसे 'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति' नामक शुक्लध्यान कहते हैं। जिसमें आत्मप्रदेशों

में परिस्पन्द पैदा करने वाली श्वासोच्छ्वास आदि समस्त क्रियाऐं निवृत्त हो जाती हैं– रुक जाती हैं, उसे 'व्युपरतक्रियानिवर्ति' नामक शुक्लध्यान कहते हैं।

वितर्क का लक्षण

वितर्कः श्रुतम् ।४३।।

अर्थ– श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं।

वीचार का लक्षण

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः।।४४।।

अर्थ– अर्थ, व्यंजन और योग की पलटना को वीचार कहते हैं।

अर्थसंक्रांति– अर्थ अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ को छोड़कर उसकी पर्याय को ध्यावे और पर्याय को छोड कर द्रव्य को ध्यावे सो अर्थ संक्रांति है।

व्यञ्जनसंक्रान्ति– श्रुत के एक वचन को छोड़कर अन्य का अवलम्बन करना और उसे छोड़ किसी अन्य का अवलम्बन करना से व्यंजनसंक्रान्ति है।

योगसंक्रान्ति– काययोग को छोड़ कर मनोयोग या वचनयोग को ग्रहण करना और उन्हें छोड़कर किसी अन्य योग को ग्रहण करना सो योग संक्रान्ति है।

पात्र की अपेक्षा निर्जरा में न्यूनाधिकता का वर्णन

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोह क्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशो-ऽसंख्येयगुणनिर्जराः।।४५।।

अर्थ– १. सम्यग्दृष्टि, २. पंचमगुणस्थानवर्ती ३. विरत (मुनि) ४. अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला ५. दर्शन मोह का क्षय करने वाला ६. चारित्र मोह का उपशम करने वाला, ७. उपशान्त मोहवाला ८. क्षपकश्रेणी चढ़ता हुआ ९. क्षीणमोह (बारहवें गुणस्थान वाला) और १० जिनेन्द्र भगवान्, इन सबके (अन्तर्मुहर्त पर्यन्त) परिणामों की विशुद्धता की अधिकता से आयु-कर्म को छोड़कर प्रति समय क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

निर्ग्रन्थ साधुओं के भेद

पुलाकबकुशकुलीशनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ।।४६।।

अर्थ– पुलाक, बकुश, कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ साधु हैं।

पुलाक– जो उत्तर गुणों की भावना से रहित हो तथा किसी क्षेत्र व काल में मूलगुणों में भी दोष लगावें उन्हें पुलाक कहते हैं।

बकुश– जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करते हों, परन्तु अपने शरीर व उपकरणादि की शोभा बढ़ाने की कुछ इच्छा रखते हों उन्हें बकुश कहते हैं।

कुशील– मुनि दो प्रकार के होते हैं– एक प्रतिसेवनाकुशील और दूसरे कषायकुशील।

प्रतिसेवनाकुशील– जिनके उपकरण तथा शरीरादि से विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तरगुण की परिपूर्णता है, परन्तु उत्तरगुणों में कुछ विराधना दोष हो, उन्हें प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं।

कषायकुशील– जिन्होंने संज्वलन के सिवाय अन्य कषायों को

जीत लिया हो, उन्हें कषायकुशील कहते हैं।

निर्ग्रन्थ– जिनका मोहकर्म क्षीण हो गया हो, ऐसे बारहवें गुणस्थान वर्ती मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

स्नातक– समस्त घातिया कर्मों का नाश करने वाले केवली भगवान स्नातक कहलाते हैं।

पुलाकादि मुनियों में विशेषता

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थान विकल्पतः साध्याः ।।४७।।

अर्थ– उक्त मुनि संयम, श्रुत प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों के द्वारा भेद-रूप से साध्य हैं। अर्थात्– इन आठ अनुयोगों से पुलाक आदि मुनियों के विशेष भेद होते हैं।

इति श्रीमदुमास्वामि विरचिते मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः

●

दशमः अध्यायः

मोक्ष तत्त्व का वर्णन

केवल ज्ञान की उत्पत्ति का कारण

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।।१।।

अर्थ– मोहनीय कर्म का क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त क्षीणकषाय नामक बारहवां गुणस्थान पाकर बाद में एक साथ ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

भावार्थ— चार घातिया कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान होता है।

नोट— घातिया कर्मों में सबसे पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है, इसलिए सूत्र में गौरव होने पर भी उसका पृथक् निर्देश किया है।

मोक्ष के कारण और लक्षण

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।।२।।

अर्थ— बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा ज्ञानावरणादि समस्त कर्मप्रकृतियों का अत्यन्त अभाव होना मोक्ष है।

भावार्थ— आत्मा से समस्त कर्मों का सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष है और वह संवर तथा निर्जरा के द्वारा प्राप्त होता है।

मोक्ष में कर्मों के सिवाय और किसका अभाव होता है

औपशमिकादिभव्यत्वानां च।।३।।

अर्थ— मुक्त जीव के औपशमिक आदि भावों का तथा पारिणामिक भावों में से भव्यत्व भाव का भी अभाव हो जाता है।

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः।।४।।

अर्थ— केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इन भावों को छोड़कर मोक्ष में अन्य भावों का अभाव हो जाता है।

भावार्थ— मुक्त अवस्था में जीवत्व नामक पारिणामिक भाव और कर्मों के क्षय से प्रगट होने वाले आत्मिक भाव रहते हैं, शेष का अभाव हो जाता है।

नोट— जिन गुणों का अनन्तज्ञानादि के साथ सहभाव सम्बन्ध

है, ऐसे अनन्तवीर्य, अनन्तसुख आदि गुण भी पाये जाते हैं।

कर्मों का क्षय होने के बाद

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छंत्यालोकान्तात्।।५।।

अर्थ– समस्त कर्मों का क्षय होने के बाद मुक्त जीव लोक के अन्त भाग पर्यन्त ऊपर को जाता है।

मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन में कारण

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।।६।।

अर्थ– पूर्व प्रयोग– (पूर्व संस्कार) से, संगरहित होने से, कर्म-बन्धन के नष्ट होने से तथा गति परिणाम अर्थात् ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

उक्त चारों कारणों के क्रम से चार दृष्टान्त

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबी-जवदग्निशिखावच्च।।७।।

अर्थ– (१) मुक्त जीव कुम्हार के द्वारा घुमाये हुए चक्र की तरह पूर्वप्रयोग से ऊर्ध्वगमन करता है। अर्थात् जिस प्रकार कुम्भकार चाक को घुमाकर छोड़ देता है, तब भी चक्र पहले के भरे हुए वेग के वश में घूमता रहता है। उसी प्रकार जीव भी संसार अवस्था में मोक्ष प्राप्ति के लिए बार बार अभ्यास करता था। मुक्त होने पर यद्यपि उसका वह अभ्यास छूट जाता है, तथापि वह पहले के अभ्यास से ऊपर को गमन करता है।

(२) मुक्त जीव, दूर हो गया है लेप जिसका ऐसे तूम्बी की तरह ऊपर को जाता है। अर्थात् तूम्बी पर जबतक मिट्टी का लेप रहता है, तब तक वह वजनदार होने से पानी में डूबी रहती है, पर ज्यों ही उसकी

मिट्टी गल कर दूर हो जाती है, त्योंही वह पानी के ऊपर आ जाती है। इसी प्रकार जीव जब तक कर्मलेप से सहित होता है, तब तक संसार समुद्र में डूबा रहता है, पर ज्योंहि इसका कर्मलेप दूर होता है, त्योंहि वह ऊपर उठ कर लोक के ऊपर पहुंच जाता है।

(३) मुक्त जीव कर्म-बन्ध से मुक्त होने के कारण एरण्ड के बीज के समान ऊपर को जाता है। अर्थात् एरण्ड वृक्ष का सूखा बीज जब चटकता है, तब उसकी मिंगी जिस प्रकार ऊपर को जाती है उसी प्रकार यह जीव कर्मों का बन्धन दूर होने पर ऊपर को जाता है।

(४) मुक्त जीव स्वभाव से ही अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगमन करता है। अर्थात् जिस प्रकार हवा के अभाव में अग्नि (दीपक आदि) की शिखा ऊपर को जाती है उसी प्रकार कर्मों के बिना यह जीव भी ऊपर को जाता है।

लोकाग्र के आगे नहीं जाने में कारण

धर्मास्तिकायाभावात्।।८।।

अर्थ– धर्म- द्रव्य का अभाव होने से मुक्त जीव लोकाग्र भाग के आगे अर्थात् अलोकाकाश में नहीं जाते। क्योंकि जीव और पुद्गलों का गमन धर्म-द्रव्य की सहायता से ही होता है और अलोकाकाश में धर्म द्रव्य का अभाव है।

मुक्त जीवों में भेद होने के कारण

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः।।९।।

अर्थ– क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगों से सिद्धों में भेद साधने योग्य हैं।

भावार्थ— कोई भरतक्षेत्र से, कोई ऐरावत क्षेत्र से और कोई विदेहक्षेत्र से सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा सिद्धों में भेद होता है। काल— कोई उत्सर्पिणीकाल में सिद्ध हुए है और कोई अवसर्पिणीकाल में। गति— वर्तमान दृष्टि से सिद्ध गति में ही सिद्ध होते हैं, भूतकाल की दृष्टि से यदि अनन्तर गति की अपेक्षा विचार करें तो मनुष्य गति से ही सिद्ध होते हैं और यदि एक गति का अन्तर देकर विचार करें तो चारों गतियों से आकर जीव सिद्ध होते हैं। लिङ्ग— वास्तव में अलिंग से ही सिद्ध होते हैं अथवा द्रव्यपुल्लिग से ही सिद्ध होते हैं। भावलिंग की अपेक्षा तीनों लिंगों से मुक्त हो सकते हैं। तीर्थ— कोई तीर्थंकर होकर सिद्ध होते हैं, कोई बिना तीर्थंकर हुए सिद्ध होते हैं। कोई तीर्थकर के काल में सिद्ध होते हैं और कोई तीर्थंकर के मोक्ष चले जाने के बाद उनके तीर्थ (आम्नाय) से सिद्ध होते हैं। चारित्र— चारित्र की अपेक्षा कोई एक से अथवा कोई भूतपूर्व नय की अपेक्षा दो तीन चारित्र से सिद्ध हुए हैं। प्रत्येकबुद्धबोधित— कोई स्वयं संसार से विरक्त होकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और कोई किसी के उपदेश से। ज्ञान— कोई एक ही ज्ञान से और कोई भूतपूर्व नय की अपेक्षा दो, तीन, चार ज्ञान से सिद्ध हुए हैं।

अवगाहना— कोई उत्कृष्ट अवगाहना-पांच सौ पच्चीस धनुष से सिद्ध हुए हैं। कोई मध्यम अवगाहना से और कोई जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन हाथ से सिद्ध हुए हैं। अन्तर— एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध होने का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से आठ समय का है तथा विरहकाल जघन्य से एक समय और उत्कृष्टता से छः माह का होता है। संख्या— जघन्य से एक समय में एक ही जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्टता से १०८ जीव सिद्ध हो सकते हैं। अल्पबहुत्व— समुद्र आदि जल क्षेत्रों से थोड़े सिद्ध होते

हैं और विदेहादि क्षेत्रों से अधिक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सिद्ध जीवों में बाह्य निमित्त की अपेक्षा भेद की कल्पना की गई है। वास्तव में आत्मीय गुणों की अपेक्षा कुछ भी भेद नहीं रहता है।

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्यायः

दोधक वृत्त

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यंजनसंधिविवर्जितरेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षन्तव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।।१।।

अर्थ– इस शास्त्र में यदि कहीं अक्षर मात्रा पद वा स्वर से रहित हो तथा व्यंजन संधि व रेफ से रहित हो तो सज्जन पुरुष क्षमा करें क्योंकि शास्त्र-रूपी समुद्र में कौन पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् भूल नहीं करता।

अनुष्टप्

दशाध्याय परिच्छिन्ने, तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः।।२।।

अर्थ– दश अध्यायों में विभक्त इस तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) के पाठ करने से श्रेष्ठ मुनियों ने एक उपवास का फल कहा है।

भावार्थ– जो पुरुष भावपूर्वक पूर्ण मोक्षशास्त्र का पाठ करता है, उसे एक उपवास का फल लगता है।

●

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

श्रीसमन्तभद्र आचार्य विरचित

प्रथमः परिच्छेदः

मङ्गलाचरण

नमः श्रीवर्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ।।१।।

अन्वयार्थ– यद्विद्या– जिनका ज्ञान, सालोकानाम्– अलोकाकाश सहित, त्रिलोकानाम्– ऊर्ध्व, मध्य और अलोलोक तीनों लोकों को, दर्पणायते– दर्पण के समान निर्मल जानता है, उस, निर्धूतकलिलात्मने– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मस्वरूप मल को धो डालने वाले कर्मनाश करने वाले, श्रीवर्द्धमानाय– अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्धमान को, नमः– नमस्कार हो ।

भावार्थ– श्रीवर्धमान शब्द का अभिप्राय अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर आदि चौबीसों तीर्थकरों से भी है। क्योंकि समवशरणादि रूप बहिरंग लक्ष्मी आदि अनन्तदर्शनादि चतुष्टय-रूप अन्तरंग लक्ष्मी प्राप्त करने वाले को 'श्री वर्द्धमान' कहते हैं। इसलिए २४वें भगवान के समान शेष २३ तीर्थंकरों के लिए भी यहां नमस्कार समझना चाहिए। रूढ़ि और व्युत्पत्ति दोनों अर्थों से 'श्रीवर्धमान' यह सिद्ध और सुसंगत होता है।

धर्मोपदेश करने की प्रतिज्ञा

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।।२।।

अन्वयार्थ– यः– जो, सत्वान्– प्राणियों को, संसार दुःखतः–

चतुर्गति भ्रमण रूप– संसार के दुःखों से उद्धार कर, उत्तमे सुखे– स्वर्गादि से उत्पन्न होने वाले उत्तम सुख में, धरति– रखता है, उस, कर्मनिवर्हणम्– संसार के दुःखों में भ्रमण कराने वाले कर्मों का नाश करने वाले, समीचीनम्– बाधारहित इसलोक, परलोक में उपकारक, धर्मम्– धर्म को, देशयामि– कहता हूं।

धर्म का स्वरूप

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।।३।।

अन्वयार्थ– धर्मेश्वराः– रत्नत्रय स्वरूप धर्म के स्वामी जिनेन्द्र भगवान, सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि को, धर्मम्– धर्म, विदुः– कहते हैं और, यदीयप्रत्यनीकानि– इनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, भवपद्धतिः– संसार के मार्ग-रूप, भवन्ति– होते हैं।

सारांश– सम्यग्दर्शनादि से स्वर्गादि और मिथ्यादर्शनादि से नरकादि की प्राप्ति होती है तथा क्रम से इन्हें ही धर्म और अधर्म कहते हैं।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्।।४।।

अन्वयार्थ– परमार्थानाम्– सत्य परमार्थ भूत सप्त तत्त्वों का, आप्तागमतपोभृताम्– देव, शास्त्र और गुरुओं का, अष्टांगम्– निःशङ्कितादि अष्टगुण सहित, त्रिमूढापोढम्– तीन मूढतारहित, अस्मयम् ज्ञानादि अष्टमद रहित, श्रद्धानम् रुचि– श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शनम्– सम्यग्दर्शन है।

सर्वज्ञ आप्त का स्वरूप

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।।५।।

अन्वयार्थ– नियोगेन– निश्चय से, उच्छिन्नदोषेण– अठारह दोष रहित वीतराग, सर्वज्ञेन– सर्वज्ञ और, आगमेशिना– हेयोपादेय का विश्वास उत्पन्न कराने वाले शास्त्र का प्रतिपादक, आप्तेन– आप्त, भवितव्यम्– होना चाहिए, हि– क्योंकि अन्यथा– इससे विपरीत अर्थात् १८ दोष रहित बिना, आप्तता– सत्य आप्तता, न भवेत्– नहीं हो सकती।

वीतराग आप्त का स्वरूप

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मया:।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त: स प्रकीर्त्यते।।६।।

अन्वयार्थ– यस्य– जिस देव के, क्षुत्पिपासाजरातङ्क जन्मान्तकभयस्मया:– क्षुधा, तृषा, जरा, रोग, जन्म-मरण, भय, मद, रागद्वेष, मोह– राग, द्वेष और मोह, च और चिन्ता, अरति, निद्रा, आश्चर्य, विषाद, स्वेद, और खेद ये अठारह दोष, च– नहीं होते हैं। स आप्त:– वह आप्त, प्रकीर्त्यति– कहलाता है।

हितोपदेशी आप्त का स्वरूप

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमल: कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्त: सार्व: शास्तोपलाल्यते।।७।।

अन्वयार्थ– परमेष्ठी– इन्द्रादि द्वारा वंदनीय परम पद में स्थित, परंज्योति:– निरावरण ज्ञान का धारक, विराग:– भाव कर्म रहित,

विमल:– मूल और उत्तर कर्म प्रकृति रूप मल रहित, कृती– सम्पूर्ण हेय तथा उपादेय तत्त्व का ज्ञानी, सर्वज्ञ:– समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञाता, अनादिमध्यान्त:– उक्त आप्त के प्रवाह की अपेक्षा आदि मध्य और अन्त रहित, सार्व:– सबके हित के लिए इसलोक और परलोक के उपकार मार्ग का व्याख्यान करने वाला, शास्ता– पूर्वा पर विरोधादि दोष रहित समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप का वक्ता हितोपदेशी, उपलाल्यते– कहा जाता है।

आप्त कैसे उपदेश करता है?

अनात्मार्थं बिना रागै: शास्ता शास्ति सतोहितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरज: किमपेक्षते।।८।।

अन्वयार्थ– शास्ता– हितोपदेशी, अनात्मार्थम्– अपना प्रयोजन रहित, रागै: बिना– लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि की इच्छा बिना, सतो हितम्– भव्यों को स्वर्गादि तथा सम्यग्दर्शन आदि के कारणभूत– हित का, शास्ति– उपदेश करता है। क्योंकि, शिल्पकरस्पर्शात्– बजाने वाले के हाथ लगाने से, ध्वनन्– बजता हुआ, मुरज:– मृदङ्ग, किमपेक्षते– क्या अपेक्षा करता है?

सार यह है कि जैसे मृदंग स्वार्थ रहित विचित्र स्वर करता है, इसी प्रकार सर्वज्ञदेव भी निरपेक्ष होकर शास्त्र का उपदेश करते हैं।

शास्त्र का उपदेश

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्।।९।।

अन्वयार्थ– आप्तोपज्ञम्– सर्वज्ञ का कहा हुआ हो, अनुल्लंघ्यम्– वादी प्रतिवादियों द्वारा खण्डन न हो, अदृष्टेष्ट विरोधकम्– प्रत्यक्ष

और अनुमान से विरोध न हो, तत्त्वोपदेशकृत– जीवादि सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का कथन करने वाला, सार्वम्– समस्त प्राणियों के लिए हितकारक आदि, कापथघट्टनम्– मिथ्यादर्शनादि कुमार्ग का खण्डन करने वाला, शास्त्रम्– शास्त्र कहा जाता है।

तपस्वी-गुरु का लक्षण

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।।१०।।

अन्वयार्थ– यः– जो, विषयाशावशातीतः– स्त्री आदि विषयों की आकांक्षा की अधीनता से रहित है, निरारम्भः– कृषि आदि व्यापार रहित है, अपरिग्रहः– बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह रहित है, ज्ञानध्यानतपोरक्तः– ज्ञान, ध्यान और तप रूपी रत्नों का धारक है, सः– वह, तपस्वी– अथवा गुरु, प्रशस्यते– प्रशंसनीय है।

निःशंकित अंग का स्वरूप

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः।।११।।

अन्वयार्थ– तत्त्वं– देव, शास्त्र, गुरु, स्वरूप, तत्त्वम्, इदम एव– यही है, इदृशम् एव– उक्त लक्षण स्वरूप ही है, अन्यत् न– और नहीं है, च अन्यथा न– और दूसरी प्रकार नहीं है, इति– इस प्रकार, सन्मार्गे– संसार समुद्र से पार होने के लिए सत्यदेव शास्त्र गुरु-स्वरूप प्रवाह-मार्ग में, आयसाम्भोवत्– तलवार के पानी के समान, अकम्पा– निश्चल, रुचिः– सम्यग्दर्शन का, असंशया– निः शंकित अंग है।

निकांक्षित अंग का स्वरूप

कर्म परवशे सान्ते दु:खैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता।।१२।।

अन्वयार्थ– कर्मपरवशे– कर्म के आधीन, सान्ते– अन्त सहित, दु:खै: अन्तरितोदये– मानसिक और शारीरिक दु:खों से मिश्रित तथा फल-रूप, पापबीजे– पाप की उत्पत्ति के कारणभूत, सुखे– विषय जन्य सुख में, अनास्था– अविश्वस्त रूप से, श्रद्धान–श्रद्धान करना, अनाकाङ् क्षणा–निष्कांक्षित अंग, स्मृता– माना गया है।

निर्विचिकित्सित अंग का स्वरूप

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सागुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता।।१३।।

अन्वयार्थ– स्वभावत:– स्वरूप से, अशुचौ– अपवित्र किन्तु, रत्नत्रय पवित्रिते– सम्यग्दर्शनादि से पवित्र, काये– शरीर में निर्जुगुप्सागुणप्रीति:– ग्लानि रहित रत्नत्रय के आधारभूत मुक्ति के साधक स्वरूप गुण द्वारा मनुष्य शरीर ही मोक्ष का साधक है, ऐसी प्रीति करना, निर्विचिकित्सिता मता– निर्विचिकित्सित अंग माना गया है।

अमूढदृष्टि अंग का स्वरूप

कापथे पथि दु:खानां कापथस्थेऽप्यसम्मति:।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते।।१४।।

अन्वयार्थ–दु:खानां पथि– दु:खों के मार्गभूत, कापथे– मिथ्यादर्शनादि कुमार्ग में और कापथस्थे अपि– मिथ्यादर्शनादिधारक जीव में भी, असम्मति:– मन से सम्मति न देना, असंपृक्ति:– काय से प्रशंसा न

करना और, अनुत्कीर्ति:– कीर्तन कर वचन से प्रशंसा न करना, अमूढा दृष्टि:– अमूढ़ दृष्टि अंग, उच्यते– कहा जाता है।

भावार्थ– मन, वचन, और काय से मिथ्या मार्ग और मिथ्यामार्गानुयायियों से सहमत न होना अमूढ़दृष्टि अंग है।

उपगूहन अंग का स्वरूप

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तिजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम्।।१५।।

अन्वयार्थ– गणधरादि देव, स्वयं– स्वभाव से, शुद्धस्य मार्गस्य– निर्मल रत्नत्रय स्वरूप मार्ग के, बालाशक्तिजनाश्रयाम्– अज्ञान अशक्ति आदि करण से उत्पन्न, वाच्यतां– दोष का, यत् प्रमार्जन्ति– जो निराकरण करते हैं, तत्– उसको, उपगूहनम् अंग, वदन्ति– कहते हैं।

स्थितिकरण अंग का स्वरूप

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते।।१६।।

अन्वयार्थ– दर्शनात्– सम्यग्दर्शन, वा– अथवा, चरणात् अपि– सम्यक् चारित्र से, चलतां– विचलितों को धर्म्मवत्सलैः– धर्म वत्सलों से, प्रत्यवस्थापनम्– दर्शनादि में फिर भी स्थापित करा देना, प्राज्ञैः– बुद्धिमानों द्वारा, स्थितिकरणम्– स्थितिकरण अंग, उच्यते– कहा जाता है।

वात्सल्य अंग का स्वरूप

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते।।१७।।

अन्वयार्थ— स्वयूथ्यान्प्रति— सहधर्मियों के प्रति, सद्भावसनाथा— सरल परिणाम सहित तथा, अपेतकैतवा— माया रहित, यथायोग्यम्— अंजलि देना, सन्मुख जाना, प्रशंसा वचन, उपकरण देना आदि यथायोग्य, प्रतिपत्तिः— पूजा प्रशंसा आदि करना, वात्सल्यम्— वात्सल्य अंग, अभिलप्यते— कहा जाता है।

प्रभावना अंग का स्वरूप

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना।।१८।।

अन्वयार्थ— अज्ञानतिमिरव्याप्तिम्— जिनमत के सिवाय जो स्नान दानादि विषय में अज्ञानान्धकार के प्रसार का, यथायथम्— स्नान, पूजन, दान, मन्त्र, तन्त्र आदि के विषय में यथा शक्ति, अपाकृत्य— निराकरण कर, जिनशासनमाहात्म्यप्रकाश— जैन-धर्म के महत्व का प्रकाश करना, प्रभावना— प्रभावना अंग, स्यात्—है।

प्रत्येक अंग में प्रसिद्धि पाने वालों के नाम

तावदंजनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमती स्मृता।
उद्दायनस्तृतीयेपि तुरीये रेवती मता।।१९।।
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ।।२०।।

अन्वयार्थ— तावत् अंगे— प्रथम निःशंकित अंग में, अञ्जनचौरः— अंजन चोर, ततः अनन्तमती— दूसरे निःकांक्षित अंग में सेठ की पुत्री अनन्तमती, स्मृता— स्मरण की गयी है, तृतीये— निर्विचिकित्सित अंग में, उद्दायनः— उद्दायन नामा राजा, अपि— और, तुरीये— चौथे अमूढ़दृष्टि अंग में, रेवती— रेवती रानी, मता— मानी गई है।

अन्वयार्थ— ततः— पांचवें उपगूहन अंग में, जिनेन्द्रभक्तः— जिनेन्द्र नाम सेठ, ततः पर अन्यः— अगले छठे स्थितिकरण अंग में, वारिषेणः— वारिषेण नामक श्रेणिक राजा का पुत्र च— और, शेषयोः— शेष सातवें वात्सल्य अंग और आठवें प्रभावना अंग में क्रम से, विष्णुः— श्री विष्णुकुमार मुनि, च— और, वज्रनामा— वज्रकुमार मुनि, लक्ष्यतां गतौ— प्रसिद्ध हुए हैं।

सम्यक्त्व के अष्टांग का प्ररूपण करने का क्या प्रयोजन है

नाङ्गहीन मलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
नहि मन्त्रोक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्।।२१।।

अन्वयार्थ— अंगहीनं — निशःङ्कित आदि किसी एक भी अंग के कम रहने पर, दर्शनं— सम्यग्दर्शन, जन्मसन्ततिम्— संसार परिपाटी को, छेत्तुम्— नाश करने के लिए, अलं न— समर्थ नहीं है, हि— क्योंकि, अक्षरन्यूनः— अक्षर हीन, मन्त्र— मन्त्र, विषवेदनाम्— विष की पीड़ा को, न निहन्ति— नाश नहीं करता है। इसीलिए संसार का नाश करने में अष्टांग सहित सम्यग्दर्शन ही समर्थ है।

लोकमूढ़ता का स्वरूप

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते।।२२।।

अन्वयार्थ— आपगासागरस्नानम्— नदी तथा सागर में कल्याण साधने के अभिप्राय से स्नान करना, सिकताश्मनां— बालू और पत्थरों का, उच्चयः— ढेर लगाना, च— और, अग्निपातः— अग्नि में प्रवेश करना, लोकमूढं— लोकमूढ़ता, निगद्यते— कही जाती है।

देवमूढ़ता का स्वरूप

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते।।२३।।

अन्वयार्थ– आशावान्– ऐहिक सुख की आशा करता हुआ, वरोपलिप्सया– वांछित फल के प्राप्त करने की इच्छा से, रागद्वेष मलीमसाः– रागद्वेष से मलिन, देवता– देवताओं की, यत्– जो, उपासीत– उपासना करना है वह, देवतामूढं– देव मूढ़ता, उच्यते– कही जाती है।

गुरु मूढ़ता का स्वरूप

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्।।२४।।

अन्वयार्थ– सग्रन्थारम्भहिंसानाम्– दासीदास आदि परिग्रह और कृषि आदि अनेक प्रकार प्राणिहिंसा करने वाले और, संसारावर्तवर्तिनाम्– संसार में परिभ्रमण कराने वाले विवाह आदि कराने में लीन, पाखण्डिनाम्– मिथ्यादृष्टियों की, पुरस्कारः– प्रशंसा करना, पाखण्डिमोहनम्– पाखण्डिमूढ़ता, ज्ञेयम्– जाननी चाहिए।

मद के भेद

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः।।२५।।

अन्वयार्थ– गतस्मयाः– मदरहित जिन भगवान, ज्ञानं– ज्ञान, पूजां– पूजा, कुलं– कुल, जातिं–जाति, बलं–बल, ऋद्धिं– ऋद्धि, तपः– तप, वपु– शरीर इन, अष्टौ आश्रित्य– आठों का आश्रय लेकर, मानित्वं– मान करने को, स्मयं– मद, आहुः– कहते हैं।

मद करने से हानि

स्मयेन योन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्बिना।।२६।।

अन्वयार्थ– यः– जो पुरुष, गर्विताशयः– गर्व करता हुआ, स्मयेन– मद से, अन्यान्–दूसरे, धर्मस्थान्– रत्नत्रय सहित पुरुषों का, अत्येति– अनादर करता है, सः– वह, आत्मीयम्– जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रणीत, धर्मम्– रत्नत्रयः धर्म का, अत्येति– अनादर करता है, यतः– क्योंकि, धर्मः– धर्म, धार्मिकैः– रत्नत्रय धारियों के, बिना न– बिना नहीं होता।

कुलीन, मद का कैसे त्याग करें?

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापाश्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।।२७।।

अन्वयार्थ– यदि– अगर, पापनिरोधः– ज्ञानावरणादि अशुभ कर्म-रूप का निरोध हो गया है अर्थात् रत्नत्रय का सद्भाव है तो, अन्य सम्पदा–दूसरे कुलीनता आदि से, किम् प्रयोजनम्– क्या प्रयोजन है अर्थात् रत्नत्रय से उत्कृष्ट कोई सम्पत्ति नहीं होती, अथ– और, पापास्रवः अस्ति– मिथ्यात्व विरत आदि अशुभ कर्म-रूप पाप का आस्रव है तो, अन्य सम्पदा– दुर्गति में गमन आदि समझने वाले को उस सम्पत्ति से, किम् प्रयोजनम्– कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि पापास्रव काल में मद करना अनुचित है।

सारांश– रत्नत्रयधारी पुरुष के लिए कुल ऐश्वर्य आदि तुच्छ मालूम होते हैं और जो यह समझता है कि मद करने से नरकादि गति में जाना पड़ता है तो उसे भी मद करने की आवश्यकता नहीं है। पापास्रव होते हुए भी कुलादि के मद का कोई फल नहीं मिल सकता है।

सम्यग्दर्शन का प्रभाव उत्कार्थ को ही प्रकट करते हैं

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्।।२८।।

अन्वयार्थ– देवा:– गणधर देव, सम्यग्दर्शनसम्पन्नम्– सम्यग्दर्शन सहित, मातंगदेहजम् अपि– चाण्डाल को भी, भस्मगूढांगारान्तरौजसम्– भस्म से ढके हुए अंगार के मध्य के प्रकाश के समान, देवं– देव, विदु:– कहते हैं।

धर्म अधर्म का फल

श्वापि देवोपि देव: श्वा जायते धर्मकिल्विषात्।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम्।।२९।।

अन्वयार्थ– धर्मकिल्विषात्– धर्म और पाप से, श्वा अपि देव:– कुत्ता भी देव और, देव: अपि श्वा– देव भी कुत्ता, जायते– हो जाता है, शरीरिणाम्– संसारी प्राणियों को, धर्मात् अन्या– धर्म के सिवाय दूसरी, कापि नाम सम्पत्– वचनागोचर विभूति, भवेत्– होगी। ऐसा होने पर बुद्धिमानों को धर्म की ही शरण लेनी चाहिए।

सम्यग्दर्शन को म्लान न करें

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्यु: शुद्धदृष्टय:।।३०।।

अन्वयार्थ– शुद्धदृष्टय:– सम्यग्दृष्टि जीव, भयाशास्नेहलोभात्– राजा आदि के भय, भविष्य में धनादि की आकांक्षा, मित्रों के अनुराग और वर्तमान में अर्थादि प्राप्ति के लोभ से, कुदेवागमलिंगिनाम्– कुदेव, कुशास्त्र

और कुलिङ्गियों को, प्रणामं– सिर झुकाना प्रणाम, च– और विनय एव– हाथ जोड़ना, प्रशंसा करना आदि विनय भी, न कुर्युः– न करें।

सम्यग्दर्शन का महत्व

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते।।३१।।

अन्वयार्थ– दर्शनम्– सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्रात्– ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा, साधिमानम्– उत्कृष्टता को, उपाश्नुते– प्राप्त होता है, यत्ः– क्योंकि, तत् दर्शनम्– वह सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्गे– रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग में, कर्णधारं– प्रधान, प्रचक्ष्यते– कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जैसे समुद्र के दूसरे किनारे जाने के लिए नौका की प्रवृत्ति, नौका के खेने वाले– कर्णधार के आधीन रहती है, वैसे ही संसार समुद्र से पार होने के लिए सम्यग्दर्शन के आधीन होकर मोक्षमार्ग -रूप नौका की प्रवृत्ति होती है।

उक्त अभिप्राय ही स्पष्ट करते हैं

विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव।।३२।।

अन्वयार्थ– सम्यक्त्वे असति– सम्यक्त्व न रहने पर, विद्यावृत्तस्य– मतिज्ञानादि-का और सामायिक आदि चारित्र का, संभूति स्थितिवृद्धि फलोदयाः– प्रादुर्भाव, पदार्थ का ज्ञान होने और कर्म का निर्जरा आदि कारणता होने, उत्पन्न व अधिक बढ़ने, देवादि पूजा और स्वर्ग मोक्ष आदि फल की प्राप्ति ये सब, बीजाभावे– बीज के अभाव में, तरो इव– वृक्ष की स्थिति वृद्धि और फल न होने के समान, न सन्ति– नहीं होते हैं।

सारांश– यह है कि बीज के होने पर वृक्ष का अंकुर होता है, स्थिर होता है, बढ़ता है और फल की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के होने पर जीव के मतिज्ञानादि उत्पन्न होते हैं, कर्म की निर्जरा के साधन मिलते हैं, चारित्र की वृद्धि होती है और स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति होती है। इस लिए सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के साथ मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन नितान्त आवश्यक है। सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान और चारित्र सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहलाते हैं।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुने:।।३३।।

अन्वयार्थ– निर्मोह:- मोहनीय कर्म रहित सम्यग्दृष्टि जीव, गृहस्थ:– गृहस्थ श्रावक, मोक्ष मार्गस्थ:– मोक्ष मार्ग में स्थित है किन्तु मोहवान्– दर्शन मोहनीय सहित, अनगार:– यति, न एव-मोक्ष मार्गस्थ नहीं है। इसीलिए मोहिन: मुने:– दर्शन मोह सहित मुनि की अपेक्षा, निर्मोह: गृही– निर्मोही गृहस्थ श्रेयान्– उत्कृष्ट है।

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।।३४।।

अन्वयार्थ– त्रैकाल्ये– भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में तथा त्रिजगति– ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक में, तनूभृताम्– संसारियों को, सम्यक्त्वसमम्– सम्यग्दर्शन के समान, किंचित् अपि- अन्य वस्तु, श्रेय:- श्रेष्ठ उपकारक, न- नहीं है। च– और, मिथ्यात्वसमम्– मिथ्यादर्शन के समान तीन लोक तथा तीन काल में कुछ भी, अश्रेय: न– अनुपकारक नहीं है। क्योंकि मिथ्यात्व सहित मुनि से भी

सम्यग्दर्शन सम्पन्न गृहस्थ श्रेष्ठ होता है।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः।।३५।।

अन्वयार्थ– सम्यग्दर्शनशुद्धाः अव्रतिकाः अपिः– सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव व्रत रहित होते हुए भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पहले आयु बांध लेने वाले को छोड़कर, नारकतिर्यङ् नपुंसकस्त्रीत्वानि– नरक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री पर्याय, च– और, दुष्कुलविकृताल्पायु– नीचकुल विकृत अंग और अल्पायु, दरिद्रताम्– तथा दरिद्रता को, न वजन्ति– नहीं प्राप्त होते हैं।

ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः।।३६।।

अन्वयार्थ– दर्शनपूताः– सम्यग्दृष्टि, ओजस्तेजोविद्यावीर्य यशो वृद्धि विजयविभवसनाथाः– उत्साह, प्रताप, विद्या, विशेष सामर्थ्य, विशेषख्याति, स्त्री पुत्र सन्तति, अन्य की सम्पत्ति से अपने गुणों की उत्कृष्टता और धनधान्य आदि सम्पत्ति सहित, महाकुलाः- उच्चकुल, महार्थाः- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ के साधक तथा मानवतिलकाः– मनुष्यों में प्रधान, भवन्ति– होते हैं।

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमंते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे।।३७।।

अन्वयार्थ– दृष्टिविशिष्टाः– सम्यग्दृष्टि जीव, स्वर्गे– स्वर्ग में, जिनेन्द्रभक्ताः– जिनेन्द्र भगवान के भक्त होते हुए, अष्ट गुणपुष्टितुष्टा– अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व वशित्व और काम-रूपित्व इन आठ गुण सहित तथा शरीर के अवयवों

के संगठन से प्रसन्न, प्रकृष्टशोभाजुष्टा:- अन्य देवों की अपेक्षा अधिक शोभायमान, अमराप्सरसाम्- देव-देवियों की, परिषदि- सभा में, चिरम्- बहुतकालतक, रमन्ते- क्रीड़ा करते हैं।

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम्।
वर्त्तयितुंप्रभवंति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ।।३८।।

अन्वयार्थ- स्पष्टदृश:- सम्यग्दर्शन धारक, क्षत्रमौलिशेखर चरणा:- दुष्टों से रक्षा करने वाले राजाओं के मस्तक के मुकुट हैं, चरणों में जिनके ऐसे, नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशा:- नवनिधि और चौदह रत्नों के धारक और, सर्वभूमिपतय:- षट्खण्ड पृथ्वी के स्वामी- चक्रवर्ती होकर, चक्रम्- चक्र रत्न का, वर्त्तयितुम्- स्वतन्त्र रूप से, चक्र से साध्य समस्त कार्यों में प्रवर्तन करने के लिए, प्रभवन्ति- समर्थ होते हैं।

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्चनूतपादाम्भोजाः।
दृष्ट्यासुनिश्चितार्था वृषचक्रधराभवन्ति लोकशरण्याः ।।३९।।

अन्वयार्थ- दृष्टयासुनिश्चितार्था:- सम्यग्दर्शन से धर्मादि स्वरूप अर्थों का निश्चय करने वाले, अमरासुरनरपतिभि:- सौधर्म आदि, धरणेन्द्र आदि और चक्रवर्तियों से तथा, यमधरपतिभि:- गणधरों से, नूतपादाम्भोजा:- पूजित कमल चरण, वृषचक्रधरा:- धर्मचक्र के धारक- तीर्थंकर और, लोकशरण्या:- तीन लोक के प्राणियों के लिए शरण स्वरूप, भवन्ति- होते हैं।

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशंकम्।
काष्ठागतसुखविद्याविभवंविमलं भजन्तिदर्शनशरणाः ।।४०।।

अन्वयार्थ- दर्शनशरणा:-सम्यग्दृष्टी जीव, अजरम्- अजर, अरुजम्- व्याधि रहित, अक्षयम्- प्राप्त अनन्त चतुष्टय का जहां

क्षय नहीं है, अव्याबाधम्– प्रत्येक प्रकार के दुःख के कारण रहित, विशोकभयशङ्कम्– शोक, भय और शंका रहित, काष्ठागतसुखविद्या विभवम्– चरम सीमा को प्राप्त है सुख और ज्ञान की सम्पत्ति जहां ऐसे, विमलम्– द्रव्य भाव कर्म रहित, शिवम्– मोक्ष का, भजन्ति– अनुभव करते हैं।

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्।
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्।।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्।
लब्ध्वाशिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः।।४१।।

अन्वयार्थ– जिनभक्तिः भव्यः– जिनेन्द्र भगवान का भक्त भव्य, अमेयमानं– अपरिमित, देवेन्द्रचक्रमहिमानम्– देवेन्द्रों के समूह में महत्व, अवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्– राजाओं के मस्तक से पूजनीय, राजेन्द्रचक्रम्– राजाओं के इन्द्र चक्रवर्ती के चक्ररत्न तथा, अधरीकृत सर्वलोकम्– तीन लोक के दास बना लेने वाले, धर्मेन्द्रचक्रम्– रत्नत्रय अथवा उत्तम क्षमादि धर्म के इन्द्र अर्थात् प्रणयन करने वाले तीर्थङ्करों के चक्र को, लब्ध्वा– प्राप्त कर, शिवम्– मुक्ति को, उपैति– प्राप्त करता है।

इति समन्तभद्रस्वामीविरचिते सम्यग्दर्शन वर्णनं रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने प्रथम परिच्छेदः।

द्वितीयः परिच्छेदः

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निस्सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।।४२।।

अन्वयार्थ– यत्– जो ज्ञान पदार्थ को, अन्यूनम्– सम्पूर्ण वस्तु स्वरूप, अनतिरिक्तम्– वस्तु स्वरूप से अधिक नहीं और, विपरीतात् बिना– विपर्यय ज्ञान रहित, याथातथ्यम्– पदार्थ के यथार्थ स्वरूप, निस्सन्देहं– शंका रहित, वेद– जानता है, तत्– उसे, आगमिनः– शास्त्रज्ञ, ज्ञानम्– सम्यग्ज्ञान, आहुः– कहते हैं।

सारांश– यथास्थित स्वरूप को जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ऐसा ही ज्ञान जीवादि समस्त पदार्थों के सम्पूर्ण विशेष को केवलज्ञान के समान सम्पूर्णता के स्वरूप के प्रकाशित करने में समर्थ होता है।

प्रथमानुयोग का स्वरूप

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपिपुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः।।४३।।

अन्वयार्थ– समीचीनः बोधः– सम्यग्ज्ञान, अर्थाख्यानम्– परमार्थ का व्याख्यान वाले, चरितम्– एक पुरुष के आश्रित कथा तथा, पुराणम्– त्रेसठ शलाका पुरुषों के आश्रित कथा, अपि– और, पुण्यं-पुण्यस्वरूप, बोधिसमाधिनिधानम्– अप्राप्त सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति का बोध, प्राप्त सम्यग्दर्शनादि का अन्त तक पालना, समाधि अथवा धर्म तथा शुक्लध्यान को भी समाधि कहते हैं, इनके कारण स्वरूप, प्रथमानुयोगम्– प्रथमानुयोग को, बोधति– जानता है।

करणानुयोग का स्वरूप

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च।।४४।।

अन्वयार्थ– च– और, तथामतिः– प्रथमानुयोग के प्रकरण के मनन करने वाले श्रुतज्ञान, लोकालोकविभक्तेः– लोकाकाश और

अलोकाकाश के विभाग, युगपरिवृत्ते:– उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी आदि के परिवर्तन, च– और, चतुर्गतीनाम्– नरक, तिर्यंच, मनुष्य आदि देव-रूप चारों गतियों को, आदर्शम् इव– दर्पण के समान, अवैति– जानता है।

चरणानुयोग का स्वरूप

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षांगम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति।।४५।।

अन्वयार्थ– सम्यग्ज्ञानम्- सम्यग्ज्ञान, गृहमेध्यनगाराणाम्- श्रावक और मुनियों के, चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षांगम्- चारित्र की उत्पत्ति वृद्धि और रक्षा के कारण स्वरूप, चरणानुयोगम्- चरणानुयोग शास्त्र को, विजानाति- जानता है।

द्रव्यानुयोग का स्वरूप

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते।।४६।।

अन्वयार्थ– द्रव्यानुयोगदीप:– द्रव्यानुयोग-रूपी दीपक, जीवाजीवसुतत्त्वे– उपयोग लक्षणात्मक जीव इससे विपरीत अजीव इन दोनों तत्त्वों को, पुण्यापुण्ये–पुण्य और पाप को, च– और, बन्धमोक्षौ–मिथ्यात्वादि कर्म से आत्मा का सम्बन्ध बन्ध और बन्ध के हेतुओं के अभाव और निर्जरा द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का मोक्ष इन दोनों को, च– और, श्रुतिविद्यालोकम्– भावश्रुत के प्रकाश का, आतनुते– सम्पूर्ण रूप से प्ररूपण करता है।

इति समन्तभद्रविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने सम्यग्ज्ञानवर्णनम् नाम द्वितीय परिच्छेदः।

तृतीयः परिच्छेदः

चारित्र धारण की आवश्यकता

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।४७।।

अन्वयार्थ– मोहतिमिरापहरणे– दर्शनमोहनीय रूप अन्धकार के यथा सम्भव उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर, दर्शनलाभात्– सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से, अवाप्त संज्ञानः– सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने वाला, रागद्वेषनिवृत्यै– रागद्वेष की निवृति के लिए, चरणम्– चारित्र मोहनीय का नाश होने पर सम्यक्चारित्र को, प्रतिपद्यते– प्राप्त करता है।

रागद्वेषनिवृत्ते हिंसादिनिवर्तना कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्।।४८।।

अन्वयार्थ– रागद्वेषनिवृत्तेः– रागद्वेष के दूर हो जाने से, हिंसादिनिवर्तना– हिंसादि से निवृत्ति रूप चारित्र, कृताभवति– हो जाता है। क्योंकि, अनपेक्षितार्थवृत्तिः– द्रव्य प्राप्ति की अभिलाषा रहित, कः पुरुषः– कौन बुद्धिमान पुरुष, नृपतीन्– राजाओं की, सेवते– सेवा करता है।

चारित्र का स्वरुप

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्।।४९।।

अन्वयार्थ– हिंसानृतचौर्येभ्यः– हिंसा, झूठ, चौरी, मैथुन सेवापरिग्रहाभ्याम्– मैथुन, सेवन और परिग्रह, एतेभ्यः– इन, पापप्रणालिकाभ्यः– पापास्रव के द्वारों से, विरतिः– व्यावृत्ति होने पर, संज्ञस्य– सम्यग्ज्ञानी का, चारित्रम्– चारित्र होता है।

चारित्र के भेद

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम् ।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससङ्गानाम् । ।५० । ।

अन्वयार्थ– तत् चरणम्– वह चारित्र, सकलं– सकल और, विकलम्– विकल इस तरह दो प्रकार का है । सर्वसंगविरतानाम्– वाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह रहित, अनगाराणाम्– मुनियों का, सकलम्– महाव्रत-रूप सकल और, ससंगानां– परिग्रह सहित, सागाराणाम्– गृहस्थों का, विकलम्– अणुव्रत विकल चारित्र होता है ।

श्रावकाचार के भेद

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।
पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम् । ।५१ । ।

अन्वयार्थ– गृहिणां– गृहस्थों का, चरणं– चारित्र, अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकम्– अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत इस तरह, त्रेधा– तीन प्रकार का, तिष्ठति– होता है । त्रयं– तीनों, यथासंख्यम्– क्रमानुसार, पंचत्रिचतुर्भेदम्– पांच, तीन और चार भेद वाला, आख्यातम्– कहा गया है ।

अणुव्रत का स्वरूप

प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेय काममूर्छाभ्यः ।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति । ।५२ । ।

अन्वयार्थ– प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्छाभ्यः– इन्द्रियादिक प्राणों का विनाश, असत्यभाषण, चौर्य, मैथुन और परिग्रह, इन पांच, स्थूलेभ्यः पापेभ्यः– स्थूल हिंसादि पापों से, व्युपरमणम्– निवृत होना, अणुव्रतम्– अणुव्रत, भवति– होता है ।

अहिंसाणुव्रत का स्वरूप

सङ्कल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः।।५३।।

अन्वयार्थ– योगत्रयस्य– मन, वचन, काय के, संकल्पात्– संकल्पी हिंसा का आश्रय लेकर, कृत कारितमननात्– कृत-कारित और अनुमोदना से, चरसत्त्वान्– द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन त्रस जीवों को, यत्– जो, न हिनस्ति– नहीं मारता है, तत्– उसे, निपुणाः– हिंसादि विरति के व्रत में विचार रखने वाले, स्थूलवधात्– स्थूल हिंसा से, विरमणम्– विरक्त होना, आहुः– कहते हैं अर्थात् मन, वचन, काय से संकल्प पर्वूक त्रस जीवों का घात न करना अहिंसाणुव्रत कहलाता है।

अहिंसाणुव्रत के अतिचार

छेदनबन्धनपीड़नमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद्व्युपरतेः पञ्च।।५४।।

अन्वयार्थ– छेदनबन्धनपीड्नम्– कान, नाक आदि का काटना छेदन, स्वतन्त्र-रूप से चलने के लिए रोकना– बन्धन, डण्डा, कोड़ा आदि मारना– पीड़न, च– और, अतिभारारोपणम्– उचित भार से अधिक भार लादना, अपि- और, आहारवारणा–खाना-पीना रोकना– आहार वारण, पंच– ये पांच, व्यतीचाराः– अतीचार, स्थूलवधात्– स्थूल बन्ध से, व्युपरतेः– विरक्त के हैं अर्थात् ये पांच प्रकार के दोष अहिंसाणुव्रत के होते हैं।

विशेषः– व्यतिचार, व्यतिपात, व्यतिक्रम विक्षेप अत्याश, व्यतीति अत्यय, अतिगम, व्यतिलंघन और अतिचार इन सब शब्दों का अभिप्राय एक सा है, इसलिए इसका स्पष्ट अर्थ यह है, व्यतिचार

शब्द की निरुक्ति अर्थात् शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार है। "विविधा विरूपका वा अतिचारा: दोषा:" अर्थात् अनेक प्रकार के बेढंगे अथवा विलक्षण दोष। इसी प्रकार सब शब्दों की निरुक्ति का अर्थ ऐसा ही होता है। व्रत में दोष लगाना अतिचार और व्रत का भंग होना अनाचार कहलाता है।

सत्याणुव्रत का स्वरूप

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम्।।५५।।

अन्वयार्थ– यत्– जो, स्थूलम् अलीकम्– स्थूल, झूठ, न वदति – नहीं बोलता है, न परान्– न दूसरों से, वादयति– झूठबुलवाता है तथा, विपदे– आपत्ति में, सत्यम् अपि– सत्य भी न बोले न सत्य बुलवावे, तत्– उसे, सन्तः– सज्जन, स्थूलमृषावादवैरमणम्– स्थूल झूठ वचन से विरक्ति होना कहते हैं।

विशेषः– चौराहे पर खड़े हुए आदमी से कसाई ने पूछा कि– गाय किस तरफ गई? तो उस आदमी को चाहिए कि यदि गाय पूरब दिशा में गई तो पश्चिम में गई बतला दे। झूठ बोलने पर भी यह झूठ नहीं कहलायेगा, क्योंकि इस अवसर पर झूठ बोलने से गाय के प्राणों की रक्षा होती है।

सत्याणुव्रत के अतिचार

परिवादरहोभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य।।५६।।

अन्वयार्थ– परिवादरहोभ्याख्या–उन्नति और कल्याण की क्रियाओं में कुछ का कुछ कहना परिवाद है। एकान्त में स्त्री पुरुषों

द्वारा किये हुए काम को प्रगट करना रहोऽभ्याख्या है, पैशून्यम्– अंग का विकार भौं चलाना आदि से दूसरे का अभिप्राय जान कर ईर्ष्या आदि से उसे प्रकट कर देना पैशून्य अथवा साकार मन्त्र भेद है, च– और, कूटलेखकरणम्– दूसरे के न कहे हुए न किये हुए भी काम को उसने ऐसा कहा है, किया है। इस प्रकार ठगने का कारण कूटलेखकरण है, च– और, न्यासापहारिता– द्रव्य रख जाने वाले को, संख्या भूल जाने अथवा थोड़ा ले जाने पर 'इतना ही है' इस प्रकार स्वीकारता का वचन कहना न्यासापहारिता ये, पञ्च– पांच, सत्यस्य– सत्याणुव्रत के, व्यतिक्रमाः– अतिचार हैं।

अचौर्याणुव्रत का स्वरूप

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृषचौर्यादुपारमणम्।।५७।।

अन्वयार्थ– यत्– जो, निहितम्– रखे हुए, वा– तथा, पतितम्– गिरे हुए, वा– अथवा, सुविस्मृतम– भूले हुए, वा– और, अविसृष्टम्– न दिये हुए, परस्वं– पर के धन को, न हरति– नहीं लेता है, च– और, न अन्यस्मै– न दूसरे को, दत्ते– देता है, तत्– वह, अकृषचौर्यात्– स्थूल चोरी से, उपारमणम्– विरक्त होना अर्थात् अचौर्याणुव्रत है।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार

चौरप्रयोगचौरार्थादान विलोपसदृशसन्मिश्राः।
हीनाधिकमानोन्मानं पञ्चास्तेये व्यतीपाताः।।५८।।

अन्वयार्थ– चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृश सन्मिश्राः– चोर को स्वयं अथवा दूसरे से, प्रेरणा कराना अथवा प्रेरित की अनुमोदना

करना चोर प्रयोग अप्रेरित और अनुमोदित, चोरी लाये हुए पदार्थ का ग्रहण कर लेना चौरार्थादान, उचित न्याय के विरुद्ध प्रकार से पदार्थ का ग्रहण करना विलोप अथवा विरुद्ध राज्यातिक्रम है, सदृशसन्मिश्राः– समान तैलादि को घी में मिलाना सदृशसन्मिश्र अथवा प्रतिरूपक है, व्यवहार और, हीनाधिक मानोन्मानम्– बरैया पैला वगैरा मान और तराजू वगैरा उन्मान कहलाते हैं, कम नाप तौल से देना और बड़े नाप तौल से लेना हीनाधिकमानोन्मान कहलाता हैं, ये पञ्च–पंच, अस्तेय– अचौर्याणुव्रत के, व्यतीपातः– अतिचार हैं।

परदार निवृत्ति का स्वरूप

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति न पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ।।५९।।

अन्वयार्थ– यत्– जो, पापभीतेः– पापोपार्जन के भय से, न तु– न तो, परदारान्– अन्य की स्त्रियों के पास, गच्छति– जाता है, च– और, न परान्– न दूसरों को, गमयति– भेजता है, सा– उसे, परदारनिवृत्तिः– परस्त्री त्याग, अपि– तथा, स्वदारसन्तोषानाम– स्वदार सन्तोष नामक अणुव्रत कहते हैं।

परदार निवृत्ति के अतिचार

अन्यविवाहकरणानंगक्रीडाविटत्वविपुलतृषाः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः।।६०।।

अन्वयार्थ– अन्यविवाहकरणानंगक्रीड़ाविटत्वविपुलतृषः– कन्यादान को, विवाह कहते हैं, दूसरे का विवाह करना अन्य विवाह करण, काम सेवन के अंगों को, दूसरे अंगों में मैथुन करना अनंग क्रीड़ा, भण्ड, नीच, काय और वचन का प्रयोग करना विटत्व, काम

की तीव्र अभिलाषा रखना कामतीव्राभिनिवेश और, इत्वरिकागमनम्– पर पुरुषों के पास गमन करने वाली नीच स्त्री के पास जाना इत्वरिकागमन ये, अस्मरस्य– ब्रह्मचर्याणुव्रत के, पञ्च– पांच, व्यतीचारा:– अतिचार होते हैं।

परिग्रह परमाणु व्रत का स्वरूप

धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि।।६१।।

अन्वयार्थ– धनवान्यादिग्रन्थम्– गाय धन गेहूं आदि दस प्रकार के परिग्रह का, परिमाय– प्रमाण कर के, ततः अधिकेषु:– उससे अधिक में, निस्पृहता– वांछा न रखना, परिमित परिग्रहः– परिग्रहप्रमाण, अपि– अथवा, इच्छा परिमाण नाम– इच्छापरिमाण नामक व्रत, स्यात्– है।

परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च कथ्यन्ते।।६२।।

अन्वयार्थ– अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि– प्रयोजन से अधिक सवारी रखना अतिवाहन, यह धान्यादि आगे बहुत लाभ देगा। इस लोभ से अधिक संग्रह करना अतिसंग्रह, दूसरों का वैभव देख आश्चर्य करना अति विस्मय और लोभातिभारवहनानि लोभवश अधिक भार लादना ये, पञ्च– पांच, परिमितपरिग्रहस्य– परिग्रह परिमाण व्रत के, विक्षेपा:– अतिचार, कथ्यन्ते कहे जाते हैं।

पञ्चाणुव्रत धारण करने का फल

पंचाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणः फलन्ति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभन्ते।।६३।।

अन्वयार्थ– निरतिक्रमणः– अतिचार रहित, पञ्चाणुव्रतनिधयः– पांच अणुव्रत स्वरूप निधियां, सुरलोकम्– स्वर्ग लोक रूप, फलन्ति– फल देती हैं, यत्र– जहां, अवधिः– अवधिज्ञान, अष्टगुणाः– अणिमा महिमादि आठ सिद्धियां, च–और, दिव्यशरीरम्– सप्तधातु रहित दिव्य शरीर, लभन्ते– प्राप्त होते हैं।

पञ्चाणुव्रत धारण में प्रसिद्ध होने वालों के नाम

मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च सम्प्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम्।।६४।।

अन्वयार्थ– मातंग– अहिंसाणुव्रत में यमपाल चाण्डाल, च– और, धनदेवः– सत्याणुव्रत में सेठ धनदेव, ततः परः– अचौर्याणुव्रत में, वारिषेणः– वारिषेण, नीली– ब्रह्मचर्य व्रत में नीली, च– और, जयः– परिग्रह परिमाण व्रत में जयकुमार, उत्तमं– उत्तम, पूजातिशयं– पूजा भाव को, सम्प्राप्ताः– प्राप्त हुए हैं।

हिंसादि पाचं पापों में प्रसिद्ध होने वालों के नाम

धनश्री-सत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम्।।६५।।

अन्वयार्थ– धनश्रीसत्यघोषौ– हिंसा में धनश्री नाम की सेठानी, असत्य मे सत्यघोष, च– और, तापसारक्षकौ– चौरी में तापस, कुशील में यमदण्ड नामक कोतवाल, अपि– और, तथा– उसी प्रकार परिग्रह

में, श्मश्रुनवनीतः– श्मश्रुनवनीत, इस तरह से पांच, यथाक्रमम्– क्रमानुसार, उपाख्येयाः– प्रसिद्ध हैं।

श्रावक के अष्ट मूलगुण

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।।६६।।

अन्वयार्थ– श्रमणोत्तमाः– जिनेन्द्र भगवान, मद्यमांसमधु त्यागैः सह– मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ, अणुव्रतपञ्चकम्– पांच अणुव्रतों को, गृहिणाम्– गृहस्थों के, अष्टौ मूलगुणान्– आठ मूलगुण, आहुः– कहते हैं।

इति समन्तभद्र स्वामी विरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने अणुव्रतवर्णनं नाम तृतीय परिच्छेदः

चतुर्थ परिच्छेदः

तीन गुणव्रतों के नाम

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।
अनुवृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः।।६७।।

अन्वयार्थ– आर्याः– गुणों अथवा गुणवानी से प्राप्त किये जाते हैं, पूजित हैं, ऐसे आर्य तीर्थंकरदेवादि, गुणानाम्– अष्ट मूल गुणों को, अनुवृंहणात्– बढ़ाने के कारण, दिग्व्रतम्– दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रतम्– अनर्थ दण्डव्रत, च– और, भोगोपभोगपरिमाणम्– भोगोपभोगपरिमाण को, गुणव्रतानि– गुणव्रत, आख्यान्ति– कहते हैं।

दिग्व्रत का स्वरूप

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्यै।।६८।।

अन्वयार्थ– दिग्वलयं– दिशाओं का, परिगणितंकृत्वा– परिमाण करके, अत: बहि– इससे बाहर, न यास्यामि– नहीं जाऊँगा, इति– इस प्रकार, आमृत्यणुपाप विनिवृत्यै– मृत्यु पर्यन्त पाप के हटाने के लिए, सङ्कल्प:– सङ्कल्प दृढ़ विचार कर लेना, दिग्व्रतम्– दिग्व्रत नामक गुणव्रत हैं।

दिग्व्रत धारण करने की मर्यादा

मकराकर-सरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्यादा।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि।।६९।।

अन्वयार्थ– दशानां दिशां– दशों दिशाओं के, प्रतिसंहारे– त्याग में, प्रसिद्धानि– प्रसिद्ध, मकराकर सरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि– सागर, नदी, वन, पर्वत, देश और योजन की, मर्यादा:– मर्यादा, प्राहु:– दिग्व्रत कहते हैं।

दिग्व्रत धारण करने का फल

अवधेर्बहिरणुपाप प्रति विरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्।
पञ्च महाव्रत परिणतिमणु व्रतानि प्रपद्यन्ते।।७०।।

अन्वयार्थ– दिग्व्रतानि धारयताम्– दिग्व्रत धारण करने वालों के, अवधे: बहि:– मर्यादा से बाहर, अणुपाप प्रतिविरते:– सूक्ष्म पापों से विरत होने के कारण, अणुव्रतानि– अणुव्रत, पञ्चमहाव्रत परिणतिं– पंचमहाव्रत के स्वरूप को, प्रपद्यन्ते– प्राप्त होते हैं।

दिग्व्रती महाव्रत के समान क्यों होता है?

प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः ।
सत्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ।।७१।।

अन्वयार्थ– प्रत्याख्यानतनुत्वात्– प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के मन्द हो जाने से, मन्दतराः चरणमोहपरिणामाः– अतिशय मन्द चारित्र मोहनीय के परिणाम, महाव्रताय– महाव्रत के लिए, प्रकल्प्यन्ते– कल्पना किये जाते हैं, "कुतः" – क्योंकि वे परिणाम, सत्वेन– अस्तित्व से, दुरवधारा– महान कष्ट से निश्चय किये जाने पर भी लक्ष्य में नहीं आ सकते।

भावार्थ– यह है कि प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि द्रव्य-रूप हैं, इनके मन्द उदय से भाव-रूप चारित्र मोहनीय के परिणाम अतिशय मन्द हो जाते हैं। इसलिए कि इन परिणामों का अस्तित्व सहज में ही नहीं जाना जा सकता। इसलिए अतिशय मन्दता के कारण दिग्व्रत में किया हुआ त्याग ही महाव्रत के समान है।

महाव्रत का स्वरूप

पंचानां पापानां हिंसादीनां मनोवचः कायैः ।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ।।७२।।

अन्वयार्थ– हिंसादीनाम्– हिंसादि, पंचानाम् पापानाम्– पांच पापों का, मनोवचः कायैः– मन, वचन और काय से, तु– तथा, कृतकारितानुमोदैः– कृतकारित और अनुमोदना से, त्यागः– त्याग कर देना, महताम्– श्रेष्ठ पुरुष का, महाव्रतम्– महाव्रत है।

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पंच मन्यन्ते।।७३।।

अन्वयार्थ– अज्ञान अथवा प्रमाद से, ऊर्ध्वाधस्तात् तिर्यग्व्यतिपाताः– ऊपर, नीचे आदि विदिशाओं की मर्यादा को उल्लंघन करना, क्षेत्रवृद्धिः– क्षेत्र की मर्यादा बढ़ा लेना और, अवधीनाम् विस्मरणम्– की हुई मर्यादाओं को भूल जाना ये, पंच– पांच, दिग्विरतेः– दिग्व्रती के, अत्याशाः– अतिचार, मन्यन्ते– माने जाते हैं।

अनर्थदण्ड व्रत का स्वरूप

अभ्यंतरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं च विदुर्व्रतधराग्रण्यः।।७४।।

अन्वयार्थ– व्रतधराग्रण्यः– व्रत धारण करने वाले मुनियों के प्रधान तीर्थंकर देवादि, दिगवधेः अभ्यन्तरम्– दिशाओं की मर्यादा के भीतर, अपार्थिकेभ्यः– निष्प्रयोजन, सपापयोगेभ्यः– पाप सहित योगों से, पापोपदेशादि से, विरमणम्– विरक्त होने को, अनर्थदण्डव्रतम् अनर्थ दण्डव्रत, विदुः– कहते हैं।

अनर्थदण्ड के पांच भेद

पापोपदेश हिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पंच।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदंड धराः।।७५।।

अन्वयार्थ– अदण्डधराः– दण्ड से अशुभ, मन, वचन, काय का अभिप्राय है, क्योंकि वे पर पीड़ाकारक हैं। जो पर-पीड़ा न पहुंचावें वे अदण्डधर, गणधर, देव आदि, पापोपदेशहिंसादानापध्यान दुःश्रुतीः– पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और, प्रमादचर्या इन, पंच–

पांच पापों को, अनर्थदण्डान्– अनर्थ दण्ड, प्राहुः- कहते हैं।

पापोपदेशनामा अनर्थदण्ड

तिर्य्यक्क्लेश वाणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
कथाप्रसंगप्रसवः स्मर्त्तव्यः पाप उपदेशः।।७६।।

अन्वयार्थ– तिर्य्यक् क्लेशवाणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्– हाथी आदि पशुओं को अंकुश आदि लगाना- तिर्यक क्लेश, क्रय विक्रयादि-वाणिज्य, प्राणियों को वध करना-हिंसा, कृषि आदि करना- आरम्भ, ठगना, प्रलम्भन आदि की, कथा प्रसंग प्रसवः– कथाओं के प्रसंग से उत्पन्न, पापः उपदेशः– पापोपदेशनामा अनर्थ दण्ड, स्मर्त्तव्यः– जानना चाहिए।

हिंसादाननामा अनर्थदण्ड का स्वरुप

परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गशृङ्खलादीनाम्।
वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ती बुधाः।।७७।।

अन्वयार्थ– बुधाः– गणधर देवादिक, परशुकृपाणखनित्र ज्वलनायुधशृगशृङ्खलादीनाम्– फरसा, तलवार, कुदाल या फावड़ा, अग्नि, शस्त्र, सींग, सांकल, आदि, वधहेतुनाम्– हिंसा के कारणों के, दानम्– दान को, हिंसादानम्– हिंसादान अनर्थदण्ड, ब्रुवन्ति– कहते हैं।

अपध्यान अनर्थदण्ड का स्वरूप

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः।।७८।।

अन्वयार्थ– जिनशासने विशदाः– जैन मत में विशद-आचार्य,

द्वेषात्– द्वेष, च– और, रागात्– राग से, परकलत्रादे– परस्त्री आदि के, वधबन्धच्छेदादे:– मारने, बांधने और अंग छेदने आदि के, आध्यानम्– चिन्तन करने को, अपध्यानम्– अपध्यान अनर्थदण्ड, शासति– कहते हैं।

दुश्रुति अनर्थदण्ड का स्वरूप

आरम्भसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः ।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ।।७९।।

अन्वयार्थ– आरम्भ संगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनै:– कृषि आदि आरम्भ, परिग्रह संग, वीरों की कथा में अद्भुत साहस, अद्वैत क्षणिकादि प्रमाण विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक शास्त्र से मिथ्यात्व, विद्वेष वशीकरणादि शास्त्र में राग, वर्णों का गुरु ब्राह्मण होता है इत्यादि ग्रन्थों से मद, रतिगुण विलास आदि शास्त्र में मदन कामदेव, होता है। इन सबसे, चेत: कलुषयताम्– चित्त को क्लेशमय करने वाले, अवधीनाम्– शास्त्रों का, श्रुति:– श्रवण करना, दु:श्रुति:– दु:श्रुति अनर्थदण्ड, भवति– होता है।

प्रमादचर्या अनर्थदण्ड का स्वरुप

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम् ।
सरणं सारणमपि प्रमादचर्य्यां प्रभाषन्ते ।।८०।।

अन्वयार्थ– गणधरादि, विफलम्– प्रयोजन के बिना, क्षिति सलिलदहन पवनारम्भम्– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के आरम्भ, वनस्पतिच्छेदम्– वृक्षों का छेदन, सरणम्– पर्यटन, च– और, सारणम्– पर्यटन कराने को, अपि– भी, प्रमादचर्या नामा अनर्थदण्ड प्रभाषन्ते- कहते हैं।

अनर्थदण्ड के अतिचार

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पंच।
असमीक्ष्यचाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरते: ।।८१।।

अन्वयार्थ– कन्दर्पम् कौत्कुच्यम् मौखर्यम्– राग के उदय से हास्यमिश्रित भण्ड (ओछे) वचन बोलना- कन्दर्प, हास्य करना, भण्ड वचन नहीं बोलना, किन्तु काय से नीच काम करना- कौत्कुच्य धृष्टतापूर्वक बहुत बकवाद करना- मौखर्य, अतिप्रसाधनम्– आवश्यकता से अधिक भोगोपभोग की सामग्री बढ़ाना अतिप्रसाधन, च– और, असमीक्ष्य अधिकरणम्– बिना प्रयोजन का विचार किये अधिक काम करना असमीक्ष्याधिकरण ये, पञ्च– पांच, अनर्थदण्डकृद्विरते:– अनर्थदण्डव्रत के, व्यतीतय:– अतीचार होते हैं।

भोगोपभोग परिमाणव्रत का स्वरूप

अक्षार्थानां परिसङ्ख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये।।८२।।

अन्वयार्थ– रागरतीनाम्– राग के उदय से आसक्ति को, तनूकृतये– कमी करने के लिए, अवधौ– विषयों के परिमाण में, अर्थवताम्– प्रयोजनभूत अथवा सुखादि देने वाले पदार्थों का, अपि– भी, अक्षार्थानाम्– इन्द्रिय विषयों का, 'परिसङ्ख्यानाम्– परिमाण करना, भोगोपभोगपरिमाणम्– भोगोपभोगपरिमाण व्रत है।

भोग और उपभोग का लक्षण व दृष्टान्त

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्य:।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृति: पंचेन्द्रियो विषय:।।८३।।

अन्वयार्थ– अशनवसनप्रभृति:– भोजन वस्त्र आदि, पंचेन्द्रिय:

विषयः– स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों के विषय को, भुक्त्वा– भोगकर, परिहातव्य– छोड़ देने योग्य हो वह, भोगः– भोग हैं जैसे– भोजन, फूल, गन्ध, लेप आदि। च– और, भुक्त्वा– भोगकर, पुनः भोक्तव्यः– पुनः भोगने योग्य हो वह, उपभोगः– उपभोग है, जैसे– वस्त्र, आभूषण इत्यादि।

विशेष– क्रम से इनके नामान्तर उपभोग और परिभोग भी हैं।

भोगोपभोग परिमाणव्रत में विशेष त्याग

त्रसहति परिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः।।८४।।

अन्वयार्थ– जिनचरणौ शरणं– जिनेन्द्र भगवान के चरणों की शरण में, उपयातैः– आने वालों को, त्रसहतिपरिहरणार्थम्– द्वीन्द्रियादि जीवों की हिंसा से बचने के लिए, क्षौद्रम्– मधु, पिशितम्– मांस च– और, प्रमादपरिहृतये– प्रमाद को दूर करने के लिए, मद्यम्– मदिरा, शराब, वर्जनीयम्– छोड़ देनी चाहिए।

निम्न पदार्थ भी त्याज्य हैं

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्।।८५।।

अन्वयार्थ– अल्पफलबहुविघातात्– थोड़ा फल और त्रस हिंसा के कारण, आर्द्राणि– बिना पके अथवा सचित्त, शृंगवेराणि– अदरख, मूलकम्– मूली, गाजर, हल्दी आदि, नवनीतनिम्बकुसुमं– मक्खन और नीम के फूल, कैतकम्– केतकी के फूल इति और, एवं– इसी प्रकार अनन्तकाय कहलाने वाले और बहुजीवोत्पत्ति कारणभूत अन्य जमी कन्द और फूल आदि भी, अवहेयम्– त्याग देना चाहिए।

व्रत का लक्षण

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति।।८६।।

अन्वयार्थ– यत्– जो, अनिष्टम्– उदरशूलादि के प्रकृति के प्रतिकूल हो, तत्– वह, व्रतयेत्– छोड़ दे, च– और, यत्– जो, अनुपसेव्यम्– गोमूत्र, गधी का दूध, शंखचूर्ण, लार, मूत्र, विष्टा, खकार आदि सभ्य पुरुषों के सेवन न करने योग्य पदार्थ हैं, एतत् अपि– यह भी छोड़ दे क्योंकि, योग्यात् विषयात्– योग्य विषय से, अभिसन्धिकृता– अभिप्रायपूर्वक, विरतिः– त्याग, व्रतं– व्रत, भवति– होता है, नियम न होने पर इष्ट-रंग-बिरंगे भड़कीले फैशन के वस्त्र, आभूषण आदि का भी त्याग करना चाहिए।

यम नियम व्रत का स्वरूप

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोग संहारे।
नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमोध्रियते।।८७।।

अन्वयार्थ– भोगोपभोग संहारे– भोग और उपभोग के त्याग में, नियमः– नियम, च– और, यमः– यम इस प्रकार, द्वेधा– दो भेद, विहितौ– किये गये हैं। परिमितकालः– निश्चित काल त्याग का परिमाण करना भोगोपभोग परिमाणव्रत का, नियमः– नियम है और, यावज्जीवम्– मरण पर्यन्त त्याग करना, यमः– भोगोपभोग परिमाणव्रत का यम है।

नियम करने का विषय और त्याग

भोजनवाहनशयनस्नान पवित्रांगरागकुसुमेषु।
ताम्बूल वसनभूषणमन्मथ संगीत गीतेषु।।८८।।

अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथार्त्तुरयनं वा।
इतिकालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः।।८९।।

अन्वयार्थ– भोजनवाहनशयनस्नानपवित्रांगराग कुसुमेषु– भोजन, घोड़ा आदि सवारी, पलंग आदि, स्नान, कुसुमादि, लेप, अंजन, तिलक आदि और फूल आदि में तथा ताम्बूलवसन भूषणमन्मथसंगीतगीतेषु– पान, वस्त्र, सोने के कड़े कुण्डलादि भूषण, कामसेवन, गीत और नृत्य बाजे सहित को संगीत और जिसमें नृत्य और बाजा न हो वह गीत, सब विषयों में, अद्य दिवा रजनीवा– प्रवर्तमान दिन, रात्रि, प्रहर, दोपहर, पक्षः– एक पक्ष मासः– एक महीना, तथा– और, ऋतुः– दो महीने, वा– अथवा, अयनम्– छः मास, इति– इस प्रकार, कालपरिच्छित्त्या– काल के भेद से, प्रत्याख्यानम्– त्याग करना, नियमः– नियम, भवेत्– होता है।

भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार

विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवः।
भोगोपभोगपरिमाण व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते।।९०।।

अन्वयार्थ– विषय विषतः– जैसे विष प्राणियों को दाह, सन्ताप, मूर्छा आदि करता है, उसी प्रकार पंचेन्द्रिय विष भी प्राणियों को कष्ट पहुंचाते हैं, इसलिए इनसे, अनुपेक्षा– त्याग का अभाव अर्थात् विषयों में आदर, विषयों की वेदना के प्रतिकार के लिए विषय सेवन किया जाता है, प्रतीकार होने पर भी मीठा बोलना, आलिंगन करना आदि आदर करने से अतीचार लगता है, अनुस्मृतिः– सौन्दर्य, सुकुमारता आदि सुख साधन होने के कारणों का स्मरण करना, अतिलौल्यम्– बार बार विषयों के भोगने की अभिलाषा रखना, अतितृषा– भावी भोगोपभोगादि की अधिक आकांक्षा करना, अनुभव– नियतकाल में

भी जब भोगोपभोग का अनुभव होता है, तब अधिक आसक्ति के कारण अतिचार लगता है, ये, पञ्च– पांच, भोगोपभोगपरिमाण व्यतिक्रम:– भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार, कथ्यन्ते– कहे जाते हैं।

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने गुणव्रतवर्णनं नाम चतुर्थः परिच्छेद:

पंचम: परिच्छेद:

शिक्षाव्रतों के नाम

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि।।९१।।

अन्वयार्थ– देशावकाशिकम्– देशावकाशिक, वा– तथा, सामायिकम्– सामायिक, प्रोषधोपवास:– प्रोषधोपवास, वा– तथा, वैयावृत्त्यम्– वैयावृत्य ये, चत्वारि– चार, शिक्षाव्रतानि– शिक्षाव्रत, शिष्टानि- कहे जाते हैं।

देशावकाशिक शिक्षाव्रत

देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य।।९२।।

अन्वयार्थ– विशालस्य देशस्य– मर्यादा किये हुए विशाल देश अर्थात् दिग्व्रत के, कालपरिच्छेदनेन– दिवस और काल की मर्यादा से, प्रत्यहम्– प्रति दिन, प्रतिसंहार:– त्याग करना नियम करना, अणुव्रतानाम्– अणुव्रतों का, देशावकाशिकम्– देशावकाशिक व्रत, स्यात्– है।

देशावकाशिक क्षेत्र की मर्यादा

गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च।
देशावकाशिकस्य स्मरंति सीम्नां तपोवृद्धाः।।९३।।

अन्वयार्थ– तपोवृद्धाः– गणधर देवादिक, देशावकाशिकस्य– देशावकाशिक के क्षेत्र की, सीम्नाम्– मर्यादा, गृहहारिग्रामाणाम्– घर कटक, (छावनी) ग्राम, च– और, क्षेत्रनदीदावयोजनानाम्– खेत, नदी, वन, योजन को, स्मरन्ति– कहते हैं।

देशावकाशिक काल की मर्यादा

संवत्सरमृतुरयनं मास चतुर्मास पक्षमृक्षं च।
देशावकाशिकस्य प्राहु: कालावधिं प्राज्ञाः।।९४।।

अन्वयार्थ– प्राज्ञाः– गणधरदेवादिक, देशावकाशिकस्य– देशावकाशिकव्रत की, संवत्सरम्– एक वर्ष, ऋतुः– दो मास, अयनं– छः मास, मासचतुर्मासपक्षम्– एक मास, चार मास, एक पक्ष, च– और, ऋक्षं– चन्द्रमुक्ति और आदित्यमुक्ति इत्यादि नक्षत्र तक, कालावधिं– काल की मर्यादा, आहुः– कहते हैं।

देशावकाशिकव्रत का प्रयोजन

सीमान्तानां परतः स्थूलेतर पञ्चपाप संत्यागात्।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते।।९५।।

अन्वयार्थ– सीमान्तानां परतः– सीमाओं के आगे, स्थूलेतर पञ्चपापसंत्यागात्– स्थूल और सूक्ष्म पापों के त्याग से, देशावकाशिकेन च– देशावकाशिक व्रत के द्वारा भी, महाव्रतानि– महाव्रत, प्रसाध्यन्ते– साधे जा सकते हैं।

देशावकाशिक शिक्षाव्रत के अतिचार

प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च।।९६।।

अन्वयार्थ– प्रेषणशब्दानयनं– स्वयं मर्यादित देश में रहते हुए उससे बाहर 'ऐसा करो' ऐसी आज्ञा करना प्रेषण, मर्यादा से बाहर काम करने वालों को लक्ष्य कर खकारना आदि शब्द, मर्यादा से बाहर प्रयोजनवश 'यह लाओ' इस प्रकार आज्ञा देना आनयन, रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ– मर्यादा से स्थिर होकर भी बाहर काम करने वालों को अपना शरीर दिखलाना रूपाभिव्यक्ति, और मर्यादा से बाहर काम करने वालों को लक्ष्य कर कंकड़ वगैरा फेंकना, पुद्गलक्षेप, पञ्च– पांच, देशावकाशिकस्य– देशावकाशिकव्रत के, अत्ययाः– अतिचार, व्यपदिश्यन्ते– कहे जाते हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत

आसमयमुक्ति मुक्तं पंचाघानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामायिकाः सामायिकं नामशंसन्ति।।९७।।

अन्वयार्थ– सामायिकाः– गणधरदेवादि, अशेषभावेन– समस्त रूप बाहर और भीतर, आसमयमुक्ति– ग्रहण किये हुए नियम के काल पर्यन्त, सर्वत्र च– मर्यादा किये हुए क्षेत्र में व मर्यादा के बाहर क्षेत्र में मन, वचन, काय से, पञ्चाघानाम्– पांच पापों के, मुक्तम्– त्याग करने को, सामायिकं नाम– सामायिक नाम, शंसन्ति– कहते हैं।

आसमयमुक्ति में समय का अर्थ

मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धनं पर्य्यंकबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः।।९८।।

अन्वयार्थ— समयज्ञाः— आगम के ज्ञाता, मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धनम्— केश बांधना, मुट्ठी बांधना, वस्त्र बांधना, च— और, पर्य्यङ्क बन्धनं— पालथी बांधना व कायोत्सर्ग, अपि च— और, स्थानम् — ऊर्ध्वकायोत्सर्ग, उपवेशनम्— सामान्य से आसन की, समयम्— समय, जानन्ति— जानते हैं।

सामायिक करने का स्थान

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया।।९९।।

अन्वयार्थ— निर्व्याक्षेपे— चित्त की व्याकुलता रहित-शीत या उष्ण स्थान मच्छर आदि की बाधा रहित, एकान्ते— स्त्री, पक्षी आदि के शब्द रहित स्थान में, च— और, वनेषु— वनों में, वा— अथवा, वास्तुषु— घरों में, च— और, चैत्यालयेषु अपि— चैत्यालयों में और पर्वतों की गुफा में, प्रसन्नधिया— एकान्त चित्त से, सामयिकम्— सामायिक, परिचेतव्यम्— चित्त लगा कर करना चाहिए।

कैसे सामायिक करे?

व्यापार वैमनस्याद्विनिवृत्यामन्तरात्मविनिवृत्या।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा।।१००।।

अन्वयार्थ— व्यापारवैमनस्यात्— कायादि चेष्टा व्यापार, चित्त की कलुषता वैमनस्य, इन दोनों से, विनिवृत्याम्— निवृत होने पर, अन्तरात्मविनिवृत्या— अन्तरात्मा के विकल्पों का त्याग कर, उपवासे— उपवास काल में, च— और, एक भुक्ते वा— एकाशन काल में भी, सामयिकम्— सामायिक, बध्नीयात्— करना चाहिए।

सामायिक पर्वों में करें या कब

सामायिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम्।
व्रतपञ्चक परिपूरण कारणमवधानयुक्तेन।।१०१।।

अन्वयार्थ– प्रतिदिवसम्– प्रतिदिन, अनलसेन– आलस्य रहित होकर, अपि– और, अवधानयुक्तेन– एकाग्रचित्त से, व्रतपंचक परिपूरणकारणम्– अणुव्रतों को महाव्रत बनाने के कारण स्वरूप सामायिकं– सामायिक को, यथावत– उक्त विधि के अनुसार ही, चेतव्यम्– बढ़ाना चाहिए।

अर्थात्– अणुव्रतों को महाव्रत बनाने में प्रधान कारण सामायिक है, इसलिए नियमपूर्वक प्रतिदिन एकाग्रचित्त होकर सामायिक अवश्य करना चाहिए।

सामायिक में श्रावक-मुनि जैसा क्यों हो जाता है?

सामायिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्।।१०२।।

अन्वयार्थ– सामायिके– सामायिक काल में, सर्वे अपि– सभी, सारम्भाः परिग्रहा– कृषि आदि आरम्भ सहित परिग्रह, न एव– नहीं, सन्ति– होते हैं, तदा– उस समय, गृही– श्रावक, चेलोपसृष्टमुनिः इव– उपसर्ग के कारण वस्त्रधारित मुनि के समान, यतिभाव– मुनिपने को, याति– प्राप्त होता है।

सारांश– यह है कि मुनि तिलतुषमात्र वस्त्रादि परिग्रह नहीं रखते किन्तु यदि कोई मुनि पर वस्त्र डाल दे तो उपसर्ग समझा जाता है ठीक उसी तरह सामायिक करता हुआ श्रावक भी यद्यपि कपड़ा पहने हुए तो भी समस्त परिग्रह व पापों का त्याग होने से उन उपसर्ग

कालीन वस्त्र से ढके हुए मुनि की तरह श्रावक मुनि जैसा मालूम पड़ता है।

सामायिक में परीषह सहन करना चाहिए

शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः।।१०३।।

अन्वयार्थ– सामायिकं प्रतिपन्नाः– सामायिक को स्वीकार करने वाले अर्थात् सामायिक करने वाले, मौनधराः– मौन धारण कर, अचलयोगाः– मन, वचन और काय को निश्चल रखते हुए अर्थात् प्रतिज्ञा किये हुए अनुष्ठान को न छोड़ने वाले, शीतोष्णदंशमशक परीषहम्– शीत, उष्ण और दंशमशक आदि परीषहों को, च– और, उपसर्गमपि– मनुष्य, देव और तिर्यंचकृत उपसर्ग को भी, अधिकुर्वीरन्– सहन करे।

सामायिक में इस प्रकार ध्यान करे

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामिभवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके।।१०४।।

अन्वयार्थ– अहं– मैं, अशरणं– अशरण, अशुभम्– अशुभ, अनित्यम्– अनित्य, दुखम्– दुःख का कारण, अनात्मानम्– अनात्म स्वरूप, भवम्– संसार में, आवसामि– बसता हूं और, मोक्षः– मोक्ष, तद्विपरीतात्मा– शरण स्वरूप शुभ रूप, नित्य– रूप और आत्म स्वरूप है, इति– इस प्रकार, सामायिके– सामायिक में, ध्यायन्तु– ध्यान करना चाहिए।

सामायिक के पांच प्रकार

वाक्कायमानसानां दु:प्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्चभावेन।।१०५।।

अन्वयार्थ– वाक्कायमानसानाम्– वचन, काय और मनका, दु:प्रणिधानि चल रखना, अनादरास्मरणे– सामायिक में उत्साह न रखना एकाग्रता न रखना, पाठ भूल जाना ये, पञ्चच:– पांच, भावेन– परमार्थ से, सामायिकस्य– सामायिक के, अतिगमा:– अतिचार, व्यंजन्ते– कहे जाते हैं।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्य: प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभि:।।१०६।।

अन्वयार्थ– तु– तथा, पर्वणि– चतुर्दशी, च– और, अष्टम्याम्– अष्टमी के दिन, सदा– सदा, इच्छाभि:– व्रत विधान की अभिलाषाओं से, चतुरभ्यवहार्याणाम्– अशन, पान, खाद्य और लेह्य भोज्य पदार्थों का, प्रत्याख्यानम्– त्याग करना, प्रोषधोपवास:– प्रोषधोपवास, ज्ञातव्य:– जानना चाहिए।

उपवास के दिन क्या करना चाहिए?

पञ्चानांपापानामलङ्क्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्।
स्नानांजननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात्।।१०७।।

अन्वयार्थ– उपवासे– उपवास के दिन, पंचानां पापानाम्– पांच पापों का, अलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्– शृङ्गार वाणिज्यादि व्यापार, सुगन्धित पुष्प आदि रागवर्धक पदार्थों का और, स्नानांजन नस्यानाम्– स्नान-अंजन नस्य सूंघनी का, परिहृतिं– त्याग, कुर्यात्– करें।

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः।।१०८।।

अन्वयार्थ– उपवसन्– उपवास करते हुए, अतन्द्रालुः– निद्रा-आलस्य रहित सावधान चित्त हो, श्रवणाभ्यां– कानों से, सतृष्णः– अभिलाषा सहित, धर्मामृतं– धर्म-रूपी अमृत का, पिबतु– पान करे, वा– और स्वयं धर्म का स्वरूप समझ कर, अन्यान्– दूसरों को, पाययेत्– पान करावे, वा– अथवा, ज्ञानध्यानपरः– ज्ञान में और अशरण आदि द्वादश भावनाओं में लीन, भवतु– होवे।

प्रोषध और उपवास

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
सप्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति।।१०९।।

अन्वयार्थ– चतुराहारविसर्जनम्– दाल, रोटी, भात आदि अशन, दूध, दही आदि पान, मोदक आदि खाद्य और रबड़ी आदि लेह्य पदार्थों का चार प्रकार के आहार का त्याग करना, उपवासः– उपवास और, सकृद्भुक्तिः– एक बार भोजन करना, प्रोषधः– प्रोषध और यत्– जो, उपोष्य– प्रोषध अर्थात् एकाशनपूर्वक उपवास करके आरम्भम्– पारणा के दिन एक बार भोजन, आचरति– करते हैं, सः– वह, प्रोषधोपवासः– प्रोषधोपवास, 'अभिधीयते''– कहा जाता है।

प्रोषधोपवास के पांच अतिचार

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवासव्यतिलंघनपञ्चकं तदिदम्।।११०।।

अन्वयार्थ– यत्– जो, अदृष्टमृष्टानि– जन्तु है या नहीं, ऐसा

आंखों से देखना दृष्ट, मृदु उपकरण से साफ करना मृष्ट, ऐसा न कर, ग्रहणविसर्गास्तरणानि– पूजादि के उपकरण और अपने पहनने के कपड़े आदि ग्रहण करना, मलमूत्रादिक का त्याग करना और बिस्तर बिछाना, अनादरास्मरणे– क्षुधा पीड़ित होने से अनादर और अनेकाग्रता-रूप विस्मरण करना, तत्– सो, इदम्– ये प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घन– पञ्चकं– प्रोषधोपवास के पांच अतिचार हैं।

वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन।।१११।।

अन्वयार्थ– गुणनिधये– सम्यग्दर्शन आदि गुणसम्पन्न, अगृहाय– भावगृह और द्रव्यगृह रहित, तपोधनाय– तपस्वियों को, विभवेन– विधि द्रव्य आदि सम्पत्ति से, धर्माय– धर्म के निमित्त, अनपेक्षितोपचारोपक्रियम्– उपचार अर्थात् प्रतिदान् उपक्रिया और मन्त्रतन्त्रादि से प्रत्युपकार इन दोनों की वांछारहित, दानम्– दान, वैयावृत्यम्– वैयावृत्यनामक शिक्षाव्रत है।

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्त्यंयावानुपग्रहोऽन्योऽपिसंयमिनाम्।।११२।।

अन्वयार्थ– गुणरागात्– व्यवहार व दृष्ट फल की अपेक्षा न कर भक्तिवश गुणों में अनुराग होने से, संयमिनां– देश व सकल संयमियों की, व्यापत्तिव्यपनोदः– व्याधि आदि जनित आपत्ति का दूर रखना, च– और, पदयोः– चरणों का, संवाहनम्– मलना या दावना तथा, अन्यः अपि– और भी, यावान् उपग्रहः– जितना उपकार हो वह, वैयावृत्यम्– वैयावृत्य है।

दान का स्वरूप

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्।।११३।।

अन्वयार्थ– सप्तगुणसमाहितेन– सप्तगुण सहित, शुद्धेन– शुद्ध श्रावक, अपसूनारम्भाणाम्– पंचसून रहित, आर्याणाम्– सम्यग्दर्शनादि गुण सहितों का, नवपुण्यैः– नवधा भक्ति से, प्रतिपत्तिः– आदर सत्कार करना, दानम्– दान, इष्यते– कहा जाता है।

दान का फल

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि।।११४।।

अन्वयार्थ– गृहविमुक्तानां– सावद्यव्यापार से रहित, अतिथिनाम्– अतिथियों मुनियों को, प्रतिपूजा– दान, खलु– निश्चय ही, गृहकर्मणा– साधक व्यापार से, निचितं अपि– उपार्जन किये हुए, कर्म– पाप रूप कर्म को, विमार्ष्टि– नष्ट कर देता है। जैसे, वारि– पानी, रुधिरम्– खून को अपवित्र खून मल को भी, अलं– यथार्थ में, धावते– धो देता है।

सारांश– मलिन अपवित्र पानी भी खून को धो देता है, इसी प्रकार मुनियों अथवा उत्तम पात्रों को दान से गृहस्थ सम्बन्धी संचित कर्म अवश्य दूर हो जाते हैं।

किस किस कर्म से क्या फल मिलता है?

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु।।११५।।

अन्वयार्थ— तपोनिधिषु— तपस्वियों को, प्रणतेः— प्रणाम करने से, उच्चैर्गोत्रम्— उच्चगोत्र, दानात्— दर्शनशुद्धि स्वरूप यथाविधि दान देने से, भोगः— भोग सामग्री, उपासनात्— पड़गाहना आदि से, पूजा— प्रतिष्ठा, भक्तेः— गुणानुराग से उत्पन्न अन्तरंग श्रद्धा से, सुन्दररूपम्— सुन्दर रूप और, स्तवनात्— भक्तामर सकलज्ञेय इत्यादि स्तुति करने से सर्वत्र, कीर्तिः— कीर्ति प्राप्त होती है।

दान का फल

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृतां।।११६।।

अन्वयार्थ— काले— उचितकाल में, पात्रगतम्— सत्पात्र में दिया हुआ, अल्पम् अपि— थोड़ा भी, दानम्— दान, शरीरभृताम्— संसारी जीवों को, क्षितिगतम्— योग्य क्षेत्र में डाला हुआ, अल्पम् अपि— छोटा भी, वटबीजम्— बड़ का बीज, छायाविभवं इव— आताप को रोकने वाली छाया की अधिकता के समान, इष्टम्— अनेक प्रकार के सुन्दर-रूप आदि, बहुफलम्— बहुत फल, फलति— फलता है।

सार यह है कि जैसे— बहुत छोटे बड़के बीज को योग्य क्षेत्र में बोने पर बहुत अधिक छाया और फलवाला वृक्ष उत्पन्न होता है, इसी प्रकार यथावसर सुपात्र को थोड़ा भी विधि पूर्वक दिया हुआ दान ऐहिक सुख के साथ पारलौकिक सुख देता है।

दान के भेद

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः।।११७।।

अन्वयार्थ— चतुरस्राः— चार ज्ञान के धारी गणधर देव,

आहारौषधयो:– भोजनादि देना आहारदान, व्याधिनिवारक द्रव्य देना औषधिदान, अपि– और, उपकरणावासयो:– ज्ञानोपकरण शास्त्रादि देना उपकरणदान और वसतिका आदि रहने का स्थान देना आवासदान में भी, दानेन– दान द्वारा, चतुरात्मत्वेन– चार प्रकार का, वैयावृत्यम्– वैयावृत्य, ब्रुवते– कहते हैं।

दान में प्रसिद्ध

श्रीषेणवृषभसेन: कौण्डेश: शूकरश्च दृष्टान्ता: ।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्या: ।।११८।।

अन्वयार्थ– श्रीषेणवृभषसेन:– आहारदान में श्रीषेण और औषधिदान में वृषभसेन, कौण्डेश:– शास्त्र दान में कोण्डेश, च– और आवास वसतिका दान में, शूकर:– शूकर, ऐते– ये चार, चतुर्विकल्पस्य– चार प्रकार के, वैयावृत्यस्य– वैयावृत के, दृष्टान्त, मन्तव्या:– मानने चाहिए।

पूजा का विधान

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदु:खनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यं ।।११९।।

अन्वयार्थ– कामदुहि– वांछित फल प्रदान करने वाले और, कामदाहिनि– काम को विध्वंस करने वाले, देवाधिदेवचरणे– इन्द्रों आदि से वन्दनीय, देवाधिदेव के चरणों की, परिचरणम्– पूजा करना, सर्वदु:ख निर्हरणम्– समस्त दु:खों का विनाशक है। इसलिए, आदृत:– आदरपर्वूक, नित्यम्– प्रतिदिन, परिचिनुयात्– पूजन करना चाहिए।

पूजा के फल का प्रसिद्ध भोक्ता

अर्हच्चरण सपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे।।१२०।।

अन्वयार्थ– अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावम्– अर्हन्त भगवान के चरणों की पूजा का विशिष्ट माहात्म्य, राजगृहे– राजगृहे नगर में, एकेन– एक, कुसुमेन– फूल द्वारा, प्रमोदमत्तः– विशिष्ट धर्मानुराग सहित होकर, भेकः– एक मेंढ़क, महात्मनाम्– भव्य जीवों को, अवदत्– कहता हुआ।

सार यह है कि एक मेंढ़क ने भक्तिपूर्वक अर्हन्त भगवान की पूजा से स्वर्ग प्राप्त किया यदि इस प्रकार भव्यजीव भी अर्हन्तपूजन आदि करें तो क्या नहीं प्राप्त कर सकते? उन्हें मुक्ति- लक्ष्मी प्राप्त कर लेना सहज है।

वैयावृत्य के अतिचार

हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते।।१२१।।

अन्वयार्थ– हरितपिधाननिधाने– आहार को हरे कमलपत्र आदि से ढाँकना- हरितपिधान, हरे पत्र में रखना- निधान, अनादरास्मरणमत्सरत्वानि– आहार देते समय आदर न करना अनादर, आहारादि दान इस समय ऐसे पात्र के लिए देना चाहिए, दिया या नहीं दिया इस प्रकार की स्मृति न रखना अस्मरण– और दूसरे के दानगुण की असहनशीलता मत्सरत्व, एते– ये, पञ्च– पांच वैयावृत्यस्य– वैयावृत्य के, व्यतिक्रमाः– अतिचार, कथ्यन्ते– कहे जाते हैं।

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामीविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने शिक्षाव्रतवर्णनं नाम पंचम परिच्छेदः समाप्तः

षष्ठः परिच्छेदः

सल्लेखना का स्वरूप

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।।१२२।।

अन्वयार्थ– आर्याः– गणधरदेवादि, निः प्रतीकारे– उपाय के अभाव में, उपसर्गे– तिर्यंच मनुष्य और देवकृत उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्षे– अन्नादि का अकाल भूकम्प अथवा बाढ़ आने पर, जरसि– बुढ़ापा आने पर, च– और, रुजायां– रुग्ण होने पर, धर्माय– रत्नत्रय की उपासना के लिए, तनुविमोचनम्– शरीर का त्याग करना सल्लेखनाम्– सल्लेखना, आहुः– कहते हैं।

सल्लेखना की आवश्यकता

अन्तः क्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।।१२३।।

अन्वयार्थ– सकलदर्शिनः– सर्वज्ञ, अन्तः क्रियाधिकरणम्– सन्यास धारण करने को, तपः फलम्– तप का फल, स्तुवते– कहते हैं, तस्मात्– इसलिए, यावद्विभवम्– जब तक शरीर-रूपी ऐश्वर्य हो अर्थात् यथाशक्ति, समाधिमरणे– समाधिमरण में, प्रयतितव्यम्– प्रकृष्ट यत्न करना चाहिए।

समाधिमरण करने की विधि

स्नेहं वैरं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः।।१२४।।
आलोच्यसर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम्।।१२५।।

अन्वयार्थ— स्नेहं— उपकार में प्रीति, वैरं— अनुपकार में द्वेष, संगं— पुत्र स्त्री आदि में ये मेरे हैं। मैं इनका हूं इत्यादि बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का, अपहाय— त्याग कर, शुद्धमना:— निर्मल चित्त होता हुआ, प्रियै:वचनै:— प्रिय वचनों से, स्वजनम्— अपने परिवार, च— और, परिजनम् अपि— अन्य आप पास के जनों में भी, क्षान्त्वा— क्षमा करावे और आप भी, क्षमयेत्— क्षमा करे, निर्व्याजम्— आलोचना के दश दोष रहित, च— और, कृतकारितं अनुमतं— कृतकारित अनुमोदना से, सर्वं एन:— सभी पापों की, आलोच्य— आलोचनाकर, आमरणस्थायि— मरणकाल पर्यन्त, निश्शेष- सम्पूर्ण, महाव्रतम्— महाव्रत को, 'आत्मनि'— आत्मा में, आरोपयेत्— स्थापित करे अर्थात् महाव्रत धारण करे।

कषाय सल्लेखना

शोक भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपिहित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मन: प्रसाद्यं श्रुतैरमृतै:।।१२६।।

अन्वयार्थ— शोकं— इष्ट का वियोग होने पर उसके गुणों का शोक करना, भयं— क्षुधा आदि पीड़ा के कारण इहलोक भय आदि, अवसादं— विषाद-खेद, क्लेदं— स्नेह, कालुष्यं— किसी विषय में रागद्वेष भाव और, अरतिंअपि— अरति को भी, हित्वा— त्याग कर, सत्त्वोत्साहं— सल्लेखना करने में बल और उत्साह, उदीर्य— प्रकाशित कर, अमृतै:— संसार के दु:ख और सन्ताप को नाश करने के लिए अमृत समान, श्रुतै:— आगम के वाक्यों से, मन:— मन को, प्रसाद्यम्— प्रसन्न करना चाहिए।

सल्लेखना करने वाला आहार का क्रम से त्याग करे

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः।।१२७।।

अन्वयार्थ— क्रमशः— क्रम से, आहारं— कवलाहार को, परिहाप्य— छोड़ कर, स्निग्धं— पान दूध व छांछ को, विवर्द्धयेत्— बढ़ावें, च— और, स्निग्धं— दूध छाछ को, हापयित्वा— छोड़ कर, खरपानं— कांजी और गर्म जल को, पूरयेत्— पीवे।

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपिशक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन।।१२८।।

अन्वयार्थ— खरपान हापनाम् अपि— कांजी और पानी का भी त्याग, कृत्वा- करके, शक्त्या— शक्ति के अनुसार, उपवासम् अपि— उपवास भी, कृत्वा— करके, सर्वयत्नेन— व्रत, संयम, चारित्र, ध्यान, धारण आदि में यत्नपूर्वक, पञ्चनमस्कारमनाः— पंचनमस्कार मन्त्र में चित्त लगाकर, तनुः शरीर को त्यजेत्— छोड़े।

सल्लेखना के अतिचार

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः।।१२९।।

अन्वयार्थ— जीवितमरणाशंसे— अधिक जीने की आकांक्षा, जल्दी मरने की आकांक्षा, भयमित्रस्मृतिदाननामानः— भय क्षुधा प्यास आदि पीड़ा विषयक् इहलोक और इस प्रकार के कठिन अनुष्टान करने से विशेष फल परलोक में होगा या नहीं इत्यादि परलोकभय, बाल्ययुवा अवस्था में मित्रों के साथ खेलने का स्मरण, भावी भोगादिक की आकांक्षा करना, पंच ये पाच, जिनेन्द्रैः— जिनेन्द्र भगवान ने, सल्लेखनातिचाराः— सल्लेखना के अतिचार, समादिष्टाः— कहे हैं।

सल्लेखना धारण करने का फल

निः श्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निः पिवति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः।।१३०।।

अन्वयार्थ– पीतधर्मा– उत्तमक्षमादि रूप धर्म का पान करने वाला, सर्वैः– सब, दुखैः– शारीरिक, मानसिक दुखों से, अनालीढः– सम्बन्ध न रख, निस्तीरं– अपार, दुस्तरं– कठिनता से पार प्राप्त करने योग्य, अभ्युदयम्– अहमिन्द्रादि सुख परम्परारूप, निःश्रेयसम्– और निर्वाणमय, सुखाम्बुनिधिम्– सुख-रूपी जल के समुद्र का, निःपिवति– सम्पूर्णतया पान करता है।

सारांश– यह है कि सल्लेखना काल में शान्ति भाव करने से धर्म के श्रवण से सब दुःख दूर हो जाते हैं और अहमिन्द्रादि बन कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

मोक्ष का स्वरूप

जन्मजरामयमरणैः शोकैःर्दुखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्ध सुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्।।१३१।।

अन्वयार्थ– नित्यं– अविनश्वर स्वरूप, जन्मजरामयमरणैः– अन्य पर्याय का प्रादुर्भाव, बुढ़ापा, रोग से और मरण से, शोकै– शोक से, दुखैः– दुःखों से, च– और, भयैः– इहलोकादि सात भय से, परिमुक्तम्– रहित, शुद्धसुखम्– शुद्ध सुख-रूप तथा निः श्रेयसम्– कल्याण स्वरूप, निर्वाणम्– निर्वाण, इष्यते– कहा जाता है।

मुक्त जीवों की विशेषता

विद्यादर्शनशक्ति स्वास्थ्य प्रह्लाद तृप्ति शुद्धियुजः।
निरतिशया निरवधयो निः श्रेयसमावसन्ति सुखम्।।१३२।।

अन्वयार्थ– निरतिशया:– विद्या आदि की हीनाधिकता रहित, निरवधय:– नियतकाल की अवधि रहित, विद्या, दर्शन, शक्ति, स्वास्थ्य प्रह्लाद, तृप्ति शुद्धि युज:– केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, परम उदासीनता, अनन्त सौख्य, विषयो की अनाकांक्षा, द्रव्य और भाव कर्म-रूप मल रहित इनका आत्मा से सम्बन्ध करने वाले– इनका भोग करने वाले, नि:श्रेयसं– मोक्ष सम्बन्धी, सुखं– सुख में, आवसन्ति– रहते हैं।

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसम्भ्रांति करणपटु:।।१३३।।

अन्वयार्थ– च– और, त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटु:– तीन लोकों के पलटाने में समर्थ, उत्पात: अपि– उपद्रव भी, यदिस्यात्– अगर हो तो भी, कल्पशते काले– सैंकड़ों कल्प काल के, गति अपि- बीतने पर भी, शिवानां- सिद्ध जीवों की, विक्रिया- स्वरूप से अन्यथा प्रवृत्ति, न लक्ष्या– नहीं होती है।

नि:श्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्य शिखामणिश्रियंदधते।
निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मान:।।१३४।।

अन्वयार्थ– नि:श्रेयसम् अधिपन्ना:– मोक्ष प्राप्त करने वाले जीव, निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मान:– कीट और कालिका रहित स्वर्ण की प्रभा के समान प्रकाशमान निर्मल आत्मा के धारक, त्रैलोक्यशिखामणिश्रियम्– तीन लोक की शिखा के मणि को लक्ष्मी को, दधते– धारण करते हैं। अर्थात् मोक्षगत जीव १०० सौं टंची सोने के समान अत्यन्त निर्मल और लोकाग्रभाग– सिद्धशिला में रहते हैं।

सल्लेखना से अभ्युदय फल

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकाम भोग भूयिष्ठैः।
अतिशयित भुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः।।१३५।।

अन्वयार्थ— सद्धर्मः— सल्लेखना के करने से संचित विशेषपुण्य पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः— प्रतिष्ठा, धन और आज्ञा के ऐश्वर्य सहित, बल परिजन काम भोग भूयिष्ठैः— बल परिजन काम भोग की अधिकता से, अतिशयितभुवनम्— तीन लोक में उत्कृष्ट, अद्भुतम्— आश्चर्यजनक, अभ्युदयम्— इन्द्रादि एवं मुक्तिपद स्वरूप फल को, फलति— फलता है।

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने गुणव्रतवर्णनं नाम षष्ठः परिच्छेदः समाप्त।

सप्तमः परिच्छेदः

सद्धर्म का अनुष्ठान करने वाले श्रावक की प्रतिमायें

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः।।१३६।।

अन्वयार्थ— देवैः— तीर्थंकरों ने, श्रावकपदानि— श्रावक की प्रतिमा-पद, एकादश— ग्यारह, देशितानि— कहे हैं, येषु खलु— जिनमें निश्चय से, स्वगुणाः— अपने गुण, पूर्वगुणैः सह— पूर्व गुणों के साथ, क्रमविवृद्धाः— क्रम से बढ़ते हुए, सन्तिष्ठन्ते— रहते हैं। जैसे पांचवीं प्रतिमाधारी को पूर्व चार प्रतिमाओं का पालना अत्यावश्यक होता है।

दर्शन प्रतिमा का स्वरूप

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीर भोगनिर्विण्णः।
पञ्च गुरु चरण शरणः दार्शनिकस्तत्त्व पथगृह्यः।।१३७।।

अन्वयार्थ– संसारशरीरभोगनिर्विण्णः– संसार के स्वरूप शरीर और इन्द्रिय विषय भोगों से विरक्त, सम्यग्दर्शनशुद्ध– अतीचार रहित सम्यग्दृष्टि, पञ्च गुरु चरण शरणः– पंच परमेष्ठी के चरणों की शरण में रहने वाला तथा, तत्त्वपथगृह्यः– व्रतों के मार्ग मद्यादि निवृत्तिस्वरूप अष्टमूल गुण का धारण करने वाला, दार्शनिकः– दर्शन प्रतिमाधारी है।

व्रतप्रतिमाधारी का स्वरूप

निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः।।१३८।।

अन्वयार्थ– यः–जो, निशल्यः– माया आदि शल्य रहित होकर, निरतिक्रमणं–अतीचार रहित, अणुव्रत पञ्चकम्– पांच अहिंसादि अणुव्रतों को, अपि– तथा, शीलसप्तकं च अपि– सात शीलों, ३ गुणव्रत ४ शिक्षाव्रत– को भी, धारयते– धारण करता है, असौ– यह, व्रतिनाम्– व्रतधारियों में, व्रतिकः– व्रत प्रतिमाधारी, मतः– माना गया है।

सामायिक प्रतिमाधारी का स्वरूप

चतुरावर्त्त त्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी।।१३९।।

अन्वयार्थ– चतुरावर्त्तत्रितयः– चारों दिशाओं में तीन तीन

आवर्त्त करने वाला, चतुः प्रणामः— चार शिरोनति नमस्कारसहित, द्विनिषद्यः— पद्मासन अथवा खड्गासन लगाकर, त्रियोगशुद्धः— मन, वचन, काय, योग से सावद्य व्यापार रहित, त्रिसंध्यं अभिवन्दी— प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल में सामायिक नमस्कार करने वाला, सामायिकः— सामायिक प्रतिमाधारी है।

प्रोषधप्रतिमाधारी का स्वरूप

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः।।१४०।।

अन्वयार्थ— मासेमासे— प्रत्येक महीने के, चतुर्षुअपि— दो अष्टमी और दो चतुर्दशी के दिनों में, स्वशक्तिम्— अपनी शक्ति को, अनिगुह्य- न छिपाकर, प्रणधिपरः— एकाग्रता से शुभध्यान में लीन, प्रोषधनियमविधायी— प्रोषध का नियम करने वाला, प्रोषधानशनः— प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी कहलाता है।

सचित्तत्याग प्रतिमा का स्वरूप

मूलफल शाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि।
नामानि योत्ति सोयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः।।१४१।।

अन्वयार्थ— यः— जो, आमानि— अपक्व, मूलफलशाकशाखा करीरकन्दप्रसूनबीजानि— मूली, गाजर, फल, शाक, कोंपल, शाखा— खैर या बंसकिरण वगैरा कन्द, मूल और बीज— न, अत्ति— नहीं खाता है, सः— वह, दयामूर्तिः— दयास्वरूप है और, अयं — यह सचित्तविरतः— सचित्तत्याग प्रतिमाधारी कहलाता है।

रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा का स्वरूप

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः।।१४२।।

अन्वयार्थ– यः– जो, सत्त्वेषु– प्राणियों में, अनुकम्पमानमनाः– करुणा सहित हृदयवाला, विभावर्यां– रात्रि में, अन्नं– दाल, भात, वगैरा, पानं– पानी, दूध, छाछ, अंगूर वगैरा के रसादि, खाद्यं– मोदक वगैरा और, लेह्यं– रबड़ी, आमरस आदि, न अश्नाति– नहीं खाता है, सः– वह, रात्रिभुक्ति विरतः– रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमाधारी है।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा का स्वरूप

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धं बीभत्सं।
पश्यनङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः।।१४३।।

अन्वयार्थ–यः–जो, मलबीजं–शुक्रशोणित से उत्पन्न, मलयोनिम्–शुक्र शोणित को उत्पन्न करने वाला, गलन्मलम्– मूत्र, विष्टा आदि बहाने वाले, पूतिगन्धं– दुर्गन्ध सहित, बीभत्सं– सब तरह देखने वालों अर्थात् सूक्ष्म विचार करने वालों को कि यह मांस पिंड है, खून की थैली है, इत्यादि भय उत्पन्न करने वाला, अङ्गं- अङ्ग, पश्यन्– देखता हुआ, अनंगात्– काम सेवन से, विरमति– विरक्त होता है, सः– वह, ब्रह्मचारी– ब्रह्मचारी है अर्थात् ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी है।

आरम्भत्याग प्रतिमा का स्वरूप

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपात हेतोर्योसावारम्भविनिवृत्तः।।१४४।।

अन्वयार्थ– यः– जो, प्राणातिपातहेतोः– प्राणों के घात के कारण, सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्– सेवा, खेती, व्यापार आदि,

आरम्भतः— आरम्भ क्रियाओं से, व्युपारमति— विरक्त होता है, असौ— यह, आरम्भविनिवृत्तः— आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारी है।

परिग्रहत्याग प्रतिमा का स्वरूप

वाह्येषुदशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः।।१४५।।

अन्वयार्थ— बाह्येषु— बाह्य, दशसु वस्तुषु— दस प्रकार के परिग्रहों में, ममत्वं उत्सृज्य— मूर्छा छोड़कर, निर्ममत्वरतः— निर्मोहत्व में लीन, स्वस्थः— मर्यादा रहित और, सन्तोषपरः— परिग्रह की आकांक्षाओं से निवृत्त होकर, परिचित्त परिग्रहात्— चारों ओर के, चित्त में स्थित परिग्रह से, विरतः— विरक्त अर्थात् परिग्रहत्याग प्रतिमा धारक कहलाता है।

अनुमतित्याग प्रतिमा का स्वरूप

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः सः मन्तव्यः।।१४६।।

अन्वयार्थ— यस्य— जिसकी, आरम्भे— कृष्यादि आरम्भ में, व— अथवा, परिग्रहे— धन धान्यदासीदासादि परिग्रह में, वा— तथा, ऐहिकेषु कर्मसु— लौकिक विवाहादि कार्यों में वा— और अन्य सांसारिक विषयों में, अनुमतिः— स्वीकारता, न अस्ति— नहीं है, सः— वह, समधीः— रागादि अथवा ममत्वबुद्धि रहित, खलु— निश्चय, अनुमतिः विरतः— अनुमति त्याग प्रतिमा का धारक, मन्तव्यः— मानना चाहिए।

उद्दिष्टत्याग प्रतिमा का स्वरूप

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानिपरिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टपूचेलखण्डधरः।।१४७।।

अन्वयार्थ– गृहतः– घर से, मुनिवनं– मुनिवन को, इत्वा– जाकर, गुरूपकण्ठे– गुरु के समीप, व्रतानि– व्रत, परिगृह्य– ग्रहण कर, तपस्यन्– तप करता हुआ, भैक्ष्याशनः– भिक्षा लेकर भोजन करता है, वह चेलखण्डधरः– केवल लंगोटी और खण्ड वस्त्र धारण करने वाला, उत्कृष्टः– उत्कृष्ट श्रावक, उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है अर्थात् ऐलक और क्षुल्लक ये दो भेद ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के होते हैं।

विशेष– इससे बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर मुनिव्रत धारण करना उचित है।

श्रेष्ट ज्ञाता का स्वरूप

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति।।१४८।।

अन्वयार्थ– जीवस्य– जीव के, पापं– पाप, अरातिः– शत्रु है, च– और, धर्मः– धर्म, बन्धुः– बन्धु है, इति– इस प्रकार, ध्रुवम्– ही, निश्चिन्वन्– निश्चित विचार करता हुआ, यदि– अगर, समयं– आगम को, जानीते– जानता है वही, श्रेयो– उत्तम, ज्ञाता–ज्ञाता, भवति– होता है।

उपसंहार

येन स्वयं वीतकलंकविद्या दृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम्।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव, सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु।।१४९।।

अन्वयार्थ– येन– जिस भव्यने, स्वयं – आत्मा को, वीतकलङ्कविद्यादृष्टि– क्रियारत्नकरण्डभावं– निकल गई है, मिथ्या–रूपी अविद्या जिसकी ऐसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी

रत्नों का कोष, नीतः– बना लिया है। तम्– उसे, त्रिषु– तीन, विष्टपेषु– लोक में, पतीच्छया– स्वयम्बर विधान करने की इच्छा से मानो, सर्वार्थसिद्धि– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कारण रूप पदार्थों की सिद्धि, आयाति:– प्राप्त होती है।

ग्रन्थकर्त्ता की अन्तिम कामना

सुखयुत सुखभूमि: कामिनं कामिनीव-
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु।।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता,
ज्जिनपतिपदपद्म प्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मी:।।१५०।।

अन्वयार्थ– जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी– तीर्थंकरों के चरणकमलों का अवलोकन करने वाली, शुद्ध शीला– पवित्र अर्थात् गुणव्रत, शिक्षाव्रत रूपशीलवाली, सुखभूमि:– सुख को उत्पन्न करने का स्थान स्वरूप, दृष्टिलक्ष्मी:– सम्यग्दर्शन-रूप सम्पत्ति, कामिनम्– कामी पुरुष को, सुखभूमि:– सुख की भूमि, कामिनी इव– कामिनी के समान, मां सुखयतु– मुझे सुखी करो। तथा, सुतं– पुत्र को, जननी इव– शुद्ध शीला माता के समान, मां भुनक्तु– मेरी रक्षा करो और, कुलं–कुल को, गुणभूषा कन्यका इव– शीलगुण अलङ्कारभूषित कन्या के समान, संपुनीतात्– पवित्र करो।

सारांश– यह है कि जैसे शील आदि गुण अलंकार युक्त कन्या कुल को पवित्र करती है, उसी प्रकार मुझे सम्यग्दर्शन-रूप लक्ष्मी भी पवित्र करे।

जैसे लक्ष्मी कमल को अवलोकन किया करती है, वैसे ही सम्यग्दर्शन रूप लक्ष्मी श्री तीर्थङ्कर भगवान के चरण कमलों का अवलोकन करती है अर्थात् तीर्थङ्कर भगवान सम्यग्दृष्टि होते हैं।

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के पश्चात् सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होने से मुक्तिपद प्राप्त होता है। यही ध्येय अथवा इष्ट रहता है।

इति श्री समन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने एकादशप्रतिमा वर्णनम् नाम सप्तमः परिच्छेदः समाप्त।

●

द्रव्य संग्रह

श्री नेमिचन्द्र आचार्य विरचित

जीवाजीव जिनेश ने, किया द्रव्य व्याख्यान।
मन वच तन से नित नमूं, होय विश्व कल्यान।।

मङ्गलाचरण

प्राकृत गाथा

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविन्दविन्दवन्दं वन्दे तं सव्वदा सिरसा।।१।।

अन्वयार्थ– येन जिस, जिणवरवसहेण – जिनवरवृषभेण जिनवर ऋषभ देव ने, जीवमजीवं– जीवम् अजीवम् जीव और अजीव, दव्वं– द्रव्यम् द्रव्य का, णिद्दिट्ठं– निर्दिष्टम् वर्णन किया है, ऐसे, देविन्दविन्दवन्दं– देवेन्द्रवृन्दवन्द्यम् देवों और इन्द्रसमूह से वन्दनीय, तं– तम् उन प्रथम तीर्थंकर श्रीआदिनाथ को, अहं मैं नेमिचन्द्र आचार्य, सव्वदा– सर्वदा सदा, सिरसा– शिरसा शिर नमा कर, वन्दे– वन्दे नमस्कार करता हूं।

सारांश– जीव और अजीव द्रव्य में पञ्चास्तिकाय, छः द्रव्य, सप्त तत्त्व और नव पदार्थ गर्भित हैं।

जिन– असंयतसम्यग्दृष्टि आदि में वर अर्थात् श्रेष्ठ–

जिनवर– गणधरदेवों में वृषभ अर्थात् प्रधान–

जिनवरवृषभ– गणधरदेवों के प्रधान वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकर। इसलिए इस गाथा में चौबीस तीर्थकरों को नमस्कार समझना चाहिए।

जीवद्रव्य के नव अधिकारों के नाम

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।।२।।

अन्वयार्थ– जीव:– जो इन्द्रिय आदि प्राणों से जीवे, उवओगमओ– उपयोगमय: ज्ञान-दर्शन रूपी, अमुत्ति– अमूर्ति: वर्णादि मूर्तिरहित, कत्ता– कर्त्ता शुभ अशुभ कर्मों का कर्त्ता, सदेहपरिमाणो– स्वदेहपरिमाण: नाम-कर्म के उदय से प्राप्त अपने छोटे-बड़े शरीर के बराबर रहने वाला, भोत्ता– भोक्ता शुभ अशुभ कर्मों का फल भोगने वाला, संसारत्थो– संसारस्थ: नरकगति आदि रूप संसार में रहने वाला है, और, सो– स: वह जीव, सिद्धो– सिद्ध:– अष्ट कर्मों का नाश करने वाला तथा, विस्ससोड्ढगई– विस्रसा ऊर्ध्वगति: स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करने वाला है।

जीव अधिकार

तिक्काले चदुपाणा इंदिय बलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स।।३।।

अन्वयार्थ– जस्स– यस्य जिसके, ववहारा– व्यवहारात् व्यवहारनय से, तिक्काले– त्रिकाले भूत, भविष्यत और वर्तमानकाल में, इन्दिय- इन्द्रियम् १ इन्द्रिय, बलं- बलम् २ बल, आउ- आयु:

३ आयु, य– च और, आणपाणो– आनप्राण: ४ श्वासोच्छ्वास, एते– एते ये, चदुपाणा– चतु: प्राणा: चार प्राण होते हैं, दु:– तु और, णिच्चयणयदो– निश्चयनयत: निश्चयनय से जिसमें, चेदणा– चेतना हो, सो– स: वह, जीवो– जीव: जीव है।

विशेष– तत्त्वार्थ निश्चयो बक्ति व्यवहारो जयोदितम्।

अर्थ– ग्रन्थ विषय को स्पष्ट करने के लिए निश्चयनय और व्यवहारनय की अपेक्षा लिखा गया है। पदार्थ के, वास्तविक स्वरूप को निश्चय और लोक द्वारा कहा हुआ व्यवहारनय कहा जाता है। जैसे– निश्चयनयसे जिसमें चेतना हो वह जीव है और व्यवहारनय से जिसमें इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास अथवा दस प्राणों में से यथायोग्य प्राप्त हों, उन्हें जीव कहते हैं। ऐसा ही सर्वत्र समझना चाहिए।

उपयोग अधिकार और दर्शनोपयोग के भेद

उवओगो दुवियप्पो दंसण णाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खु ओही दंसणमघ केवलं णेयं।।४।।

अन्वयार्थ– उवओगो– उपयोग: उपयोग, दुवियप्पो– द्विविकल्प: दो प्रकार का, "होदि"– भवति होता है, दंसणं– दर्शनम् एक दर्शनोपयोग, च–च और णाणं– ज्ञानम् दूसरा ज्ञानोपयोग, दंसणं– दर्शनम् दर्शनोपयोग, चक्खु अचक्खु– चक्षु: अचक्षु: अवधि: चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन, अध– अथ और, केवलं दंसणं– केवलम् दर्शनम् केवलदर्शन, "इदि"– 'इति' इस प्रकार, चदुधा– चतुर्द्धा चार प्रकार का, णेयं– ज्ञेयम् जानना चाहिए।

ज्ञानोपयोग के भेद

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च।।५।।

अन्वयार्थ— णाणं– ज्ञानम् ज्ञानोपयोग, मदिसुदओही अणाणणाणाणि– मति श्रुतावधयः अज्ञानज्ञानानि, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान, अवध्यज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, अवि– अपि और, मणपज्जय– मनः पर्यय मनः पर्ययज्ञान तथा (केवलं) केवलज्ञान, इदि– इति इस तरह, अट्ठवियप्पं– अष्टविकल्पं आठ प्रकार का, होदि– भवति होता है, च– च और, पच्चक्खपरोक्खभेयं– प्रत्यक्षपरोक्षभेदम् प्रत्यक्ष तथा परोक्ष इस प्रकार दो भेद-रूप भी होता है।

उपयोग ही जीवद्रव्य का लक्षण है।

अट्ठचदुणाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं।।६।।

अन्वयार्थ— ववहारा– व्यवहारनय से, अट्ठचदुणाणदंसण– अष्टचतुर्ज्ञानदर्शने आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन, सामण्णं– सामान्यम् सामान्य-रूप से, जीवलक्खणं– जीवलक्षणम् जीव का स्वरूप, भणियं– भणितम् कहा गया है, पुण– पुनः और, सुद्धणया– शुद्धनयात् शुद्धनिश्चयनय से, सुद्धं- शुद्धम् शुद्ध, दंसणं– दर्शनम् दर्शन और, णाणं– ज्ञानम् शुद्ध ज्ञान ही जीव का स्वरूप है।

अमूर्तित्व अधिकार

वण्ण रस पंच गन्धा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।।७।।

अन्वयार्थ– णिच्चया– निश्चयात् शुद्ध निश्चयनय से, जीव– जीवे जीवद्रव्य में, वण्ण रस पंच– वर्णाः रसाः पञ्च रक्त, कृष्ण, श्वेत पीत और नील ये पांच वर्ण, तिक्त कटु, कषाय, अम्ल और मिष्ट ये पांच रस, दो गन्धा– द्वौ गन्धौ सुगन्ध और दुर्गन्ध तथा, अट्ठ फासा– अष्ठौ स्पर्शाः गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष ये आठ स्पर्श, णो– नो नहीं, संति– सन्ति होते हैं, तदो– ततः इसलिए जीव, अमुत्ति– अमूर्त्तिः मूर्तिरहित है और, ववहारा– व्यवहारात् व्यवहारनय से, बंधादो– बन्धतः कर्मबन्ध की अपेक्षा, मुत्ति– मूर्तिः मूर्तिक है।

कर्त्ता अधिकार

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणां।।८।।

अन्वयार्थ– ववहारदो– व्यवहारात व्यवहारनयसे, आदा– आत्मा जीव, पुग्गलकम्मादीणं– पुद्‌गलकर्मादीनाम् ज्ञानावरणादि पुद्‌गल-कर्म और शरीरादि नो-कर्म का कत्ता– कर्त्ता है और, णिच्चयदो– निश्चयतः अशुद्ध निश्चयनय से, चेदणकम्माणं– चेतनकर्म्मणाम् रागादि भाव-कर्मों का और, सुद्धणया– शुद्धनयात् शुद्ध निश्चयनय से, शुद्धभावाणं– शुद्धभावानाम् अपने शुद्ध चैतन्य ज्ञान दर्शन स्वरूप भावों का कर्त्ता है।

भोक्ता अधिकार

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।।९।।

अन्वयार्थ– आदा– आत्मा जीव, ववहारा– व्यवहारात्

व्यवहारनय से, पुग्गलकम्मप्फलं— पुद्गलकर्म्मफलम् ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों के फल स्वरूप, सुहदुक्खं— सुख-दुःखम् सुख दुःख को, पभुंजेदि— प्रभुङ्क्ते भोगता है और, णिच्चयणयदो— निश्चयनयात् निश्चयनय से, आदस्स— आत्मनः आत्मा के, चेदणभावं- चेतनभावम् शुद्धदर्शन और शुद्धज्ञान स्वरूप भावों का, खु— खलु ही, भोक्ता है।

स्वदेहपरिमाण अधिकार

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्चयणयदो असंखदेसो वा।।१०।।

अन्वयार्थ— ववहारा— व्यवहारात् व्यवहारनयसे, चेदा— चेताः चिदात्मा चेतनात्मक जीव, उवसंहारप्पसप्पदो— उवसंहारप्रसर्पतः संकोच और विस्तार गुण के कारण, असमुहदो— असमुद्घातात् समुद्घात अवस्था के अतिरिक्त, अणुगुरुदेहपमाणो अणुगुरुदेहप्रमाणः नाम-कर्म द्वारा प्राप्त अपने छोटे बड़े शरीर के बराबर रहता है, वा— वा और, णिच्चयणयदो— निश्चयनयतः निश्चयनय से, असंखदेसो— असङ्ख्यात प्रदेशः असङ्ख्यात प्रदेशवाले लोकाकाश के प्रमाण हैं।

संसारी अधिकार

पुढविजलतेउवाऊवणप्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी।।११।।

अन्वयार्थ— पुढविजलतेउवाऊवणप्फदी— पृथिव्यप्तेजोवायु वनस्पतयः पृथ्वीकाय अपकाय, तेजकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये, विविहथावरेइन्दी— विविधस्थावरैकेन्द्रियाः— अनेक प्रकार के स्थावर जीव एकेन्द्रिय हैं और, संखादी- शङ्खादयः शंख, चींटी, भौंरा

तथा मनुष्य आदि क्रम से, विगतिगचदुपंचक्खा– द्विकत्रिकचतु: पंचाक्षा: द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये, तसजीवा– त्रसजीवा: त्रसजीव, होंति– भवन्ति होते हैं।

विशेष– संसारी जीव के त्रस और स्थावर ये दो भेद होते हैं, शेष सब इन्हीं के भेद होते हैं।

त्रसस्थावरों के 14 जीवसमास होते हैं

समणा अमणा णेया पंचेन्दिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादर सुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य।।१२।।

अन्वयार्थ– पंचेन्दिय– पंचेन्द्रिया: पंचेन्द्रियजीव, समणा– समनस्का: समनस्क-संज्ञी तथा, अमणा– अमनस्का: अमनस्क-असंज्ञी तथा, परे सव्वे– परेसर्व्वे शेष सब चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीव, णिम्मणा– निर्मनस्का: मन रहित अमनस्क, असंज्ञी अथवा असैनी जीव, णेया– ज्ञेया: जानने चाहिए, एइंदी– एकेन्द्रिया: एकेन्द्रिय जीव, बादरसुहमा– बादरसूक्ष्मा: बादर (स्थूल) तथा सूक्ष्म इस तरह दो प्रकार के होते हैं और, सव्वे– सर्व्वे १ संज्ञी, २ असंज्ञी ३. चतुरिन्द्रिय ४. त्रीन्द्रिय ५. द्वीन्द्रिय ६. सूक्ष्मैकेन्द्रिय और ७. बादरैकेन्द्रिय ये ७ प्रकार के सब जीव, पज्जत्त– पर्याप्ता: पर्याप्त, य– च और, इदरा– इतरे अपर्याप्त इस तरह १४ चौदह जीव समास होते हैं। क्रम से संज्ञी पर्याप्त और असंज्ञी अपर्याप्त इसी तरह सब समझने चाहिए।

द्वितीय तथा तृतीय प्रकार से 14 जीव समास का वर्णन

मग्गणगुणठाणेहिंय चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।।१३।।

अन्वयार्थ– तह– तथा: तथा, संसारी– संसारिण: संसारीजीव, असुद्धणया– अशुद्धनयात् व्यवहारनय से, चउदसहिं – चतुर्दशभि: चौदह, मग्गणागुणठाणेहिं– मार्गणागुणस्थानैः १४ मार्गणा और १४ गुणस्थानों के भेद वाले, हवंति– भवन्ति होते हैं, य–च और, सुद्धणया– शुद्धनयात् निश्चयनय से, सव्वे– सर्वे सब जीव, हु– खलु निश्चयपूर्वक, सुद्धा– शुद्धा: विकल्प रहित शुद्ध, विण्णेया– विज्ञेया: जानने चाहिए।

8 व 9 सिद्धत्व और विस्रसा ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता।।१४।।

अन्वयार्थ– णिक्कम्मा– निष्कर्माण: ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रहित, अट्ठगुणा- अष्टगुणा: सम्यक्त्वादि अष्ट गुण सहित, चरमदेहदो– चरमदेहत: अन्तिम शरीर से, किंचूणा– किंचिदूना: कुछ कम, णिच्चा– नित्या: ध्रौव्य, उप्पादवयेहिं – उत्पादव्ययाभ्याम् उत्पाद और व्यय से, संजुत्ता– संयुक्ता: सहित जीव, सिद्धा– सिद्ध हैं तथा, लोयग्गठिदा– लोकाग्रस्थिता: स्वभाव से ऊर्ध्वगमन के कारण जीवलोक के अग्रभाग सिद्धशिला में रहते हैं।

विशेष– गाथा के पूर्वार्ध में सिद्धत्व अधिकार तथा उत्तरार्ध में स्वभाव से ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार का वर्णन है।

जीवद्रव्य का कथन समाप्त हुआ

अजीवद्रव्यों के नाम

अज्जीवो पुण णेयो पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसादु।।१५।।

अन्वयार्थ– पुण– पुन: फिर, पुग्गल– पुद्गल, धम्मो– धर्म्म:

धर्म, अधम्म– अधर्म्म: अधर्म्म, आयासं– आकाशम् आकाश और, कालो– काल: काल, णेओ– ज्ञेय: जानना चाहिए, पुग्गल– पुद्गल: पुद्गल, रूवादिगुणो– रूपादिगुण: रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शवाला, मुत्तो– मूर्त्त: मूर्तिक है, दु और, सेसा– शेषा: शेष चारों द्रव्य, अमुत्ति– अमूर्त्तय: अमूर्तिक अर्थात् रूपादिमान नहीं हैं।

पुद्गलद्रव्य की विभाव व्यञ्जन पर्यायें

सद्दो बंघो सुहमो थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया।।१६।।

अन्वयार्थ– सद्दो– शब्द शब्द, बंघो– बन्ध: मृत्पिण्डादि का, पुद्गल का बन्ध और कर्म नोकर्म-रूप बंध जीव पुद्गल संयोग सम्बन्ध, सुहमो– सूक्ष्म: सूक्ष्म बेल आदि से बेर आदि छोटे हैं, थूलो– स्थूल बेर आदि से बेल आदि बड़े हैं, संठाणभेदतमछाया– संस्थान भेदतमश्छाया आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, उज्जोदादवसहिया– उद्योतातप सहिता: उद्योत और आतप ये सब, पुग्गलदव्वस्स– पुद्गलद्रव्य की, पज्जाया– पर्याया: पर्यायें हैं।

धर्मद्रव्य का स्वरूप

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई।।१७।।

अन्वयार्थ– जह– यथा जैसे, गइपरिणयाण– गतिपरिणतानाम् गति में परिणत, मच्छाणं– मत्स्यानाम् मछलियों को, तोयं– तोयम् जल, गमणसहयारी– गमन सहकारी चलने-तैरने में सहायता करे है, 'तह'- तथा उसी प्रकार, गइपरिणयाण– गतिपरिणतानाम् गमन में परिणत, पुद्गलजीवाण– पुद्गलजीवानाम् पुद्गल और जीवों के,

गमणसहयारी– गमनसहकारी चलने में सहायक, धम्मो– धर्मः धर्मद्रव्य है, सो– सः वह धर्मद्रव्य तथा जल, अच्छंता– अगच्छताम् गमनक्रिया में अपरिणत जीव पुद्‌गल तथा मत्स्यादि को, णेव– नैव बलात्कार नहीं, णेई– नयति चलाता है।

अधर्मद्रव्य का स्वरूप

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई।।१८।।

अन्वयार्थ– जह– यथा जैसे, छाया– छाया छाया, पहियाणं– पथिकानाम् पथिकों को ठहरने में सहायक है, उसी प्रकार, ठाणजुदाण– स्थानयुत्तानाम् ठहरने वाले, पुग्गल जीवाण– पुद्‌गलजीवानाम् पुद्‌गल जीवों को, ठाणसहयारी– स्थान सहकारी ठहरने में सहायक, अधम्मो– अधर्म्मः अधर्मद्रव्य है, सो– सः वह अधर्मद्रव्य, गच्छंता– गच्छताम् चलने वाले जीव पुद्‌गलों तथा पथिकों को, णेव– नैव बलात्मार नहीं, धरई– धरति ठहराता है।

आकाश द्रव्य का लक्षण

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं।।१९।।

अन्वयार्थ– जीवादीणं– जीवादीनाम् जीवादि द्रव्यों को, अवगासदाणजोग्गं– अवकाश दानयोग्यम् अवकाश देने के योग्य, जेण्हं– जैनम् जिन भगवान का कहा हुआ, आयासं– आकाशम् आकाश द्रव्य, वियाण– विजानीहि जानो, लोगागासं– लोकाकाशम् लोकाकाश और, अल्लोगागास– अलोकाकाशम् अलोकाकाश, इति– इस प्रकार आकाश द्रव्य, दुविहं– द्विविधम् दो प्रकार का होता है।

लोकाकाश का विशेष स्वरूप

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य सन्ति जावदिये।
आयासे सो लोगोतत्तो परदो अलोगुत्तो।।२०।।

अन्वयार्थ– जावदिये– यावतिके जितने, आयासे– आकाशे आकाश में, धम्माधम्मा– धर्म्माधर्म्मो धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालो– काल: कालद्रव्य, य– च और, पुग्गलजीवा– पुद्गलजीवा: पुद्गल तथा जीव द्रव्य, संति– सन्ति रहते हैं, सो– स: वह, लोगो– लोक: लोकाकाश है, तत्तो- तत: उससे, परदो– परत: आगे, अलोगुत्तो– अलोक: उक्त: अलोकाकाश कहा गया है।

व्यवहार और निश्चय काल का स्वरूप

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो।।२१।।

अन्वयार्थ– जो– य: जो, दव्वपरिवट्टरूवो– द्रव्यपरिवर्तनरूप: द्रव्यों के परिवर्तन में कारण रूप है तथा, परिणामादिलक्खो– परिणामादि लक्ष्य: परिणमन आदि लक्षणों से जाना जाता है, सो– स: वह, ववहारो– व्यवहार: व्यवहार, कालो- काल: काल, हवेइ– भवेत् होता है, य– च और, वट्टणलक्खो– वर्तनलक्ष्य: वर्त्तनालक्षणवाला परमट्ठो–परमार्थ: परमार्थ– निश्चयकाल है।

निश्चयकाल का स्थान और द्रव्य गणना

लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि।।२२।।

अन्वयार्थ– इक्केक्के– एकैकस्मिन एक एक, लोयायासपदेसे– लोकाकाशप्रदेशे लोकाकाश के प्रदेश में, जे– ये जो, इक्केक्का–

एकैका: एक एक काल के अणु, रयणाणं– रत्नानाम् रत्नों की, रासीमिव– राशिम् इव राशि के समान, हू– हि स्फुट रूप से, पृथक् पृथक्, ठिया– स्थिता: स्थित हैं और, ते– ते वे, कालाणू– कालाणव: काल के अणु लोकाकाश के प्रदेशों के समान, असंखदव्वाणि– असंख्यातद्रव्याणि असंख्यात द्रव्य हैं।

षड्द्रव्यों का उपसंहार और पञ्चास्तिकाय

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु।।२३।।

अन्वयार्थ– एवं– एवम् इस प्रकार, जीवाजीवप्पभेददो– जीवाजीवप्रभेद: जीव और अजीव के प्रभेद से, इदं– इदम् यह, दव्वं– द्रव्यम् द्रव्य, छब्भेयं– षड्भेदम् छ: प्रकार का, उत्तं– उक्तम् कहा गया है, दु– तु और कालविजुत्तं– कालवियुक्तम् कालद्रव्य को छोड़ कर, पञ्च – पंच पांच, अत्थिकाया– अस्तिकाया: अस्तिकाय, णादव्वा– ज्ञातव्या: जानने चाहिए।

अस्ति और काय का लक्षण

संति जदो तेणेदे अत्थीत्ति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य।।२४।।

अन्वयार्थ– जदो– यत: क्योंकि, एदे– एते जीवादि पांच द्रव्य, संति– सन्ति हैं, तेण– तेन इसलिए इनको, जिणवरा– जिनवरा: जिनेन्द्र भगवान, अत्थीत्ति– अस्ति इति 'अस्ति' इस प्रकार, भणंति– भणन्ति कहते हैं और, जम्हा– यस्मात् क्योंकि, कायाइव– काया: इव काय के समान, बहुदेशा:– बहुदेशा: बहुत प्रदेश होते हैं, तम्हा– तस्मात् इसलिए, काया– काया: 'काय' कहते हैं। य– च और इस

तरह दोनों, अत्थिकाया– अस्तिकाया: मिला कर 'अस्तिकाय' कहलाते हैं।

द्रव्यों की प्रदेशसंख्या

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेशा कालस्सेगो ण तेण सो काओ।।२५।।

अन्वयार्थ– जीवे– जीवे एक जीव में, धम्माधम्मे– धर्माधर्मयो: धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य में, असंखा– असंख्या: असंख्यात, पदेशा– प्रदेशा: प्रदेश, होंति– भवन्ति होते हैं, आयासे– आकाश आकाशद्रव्य में, अणंत– अनन्ता: अनन्त प्रदेश, मुत्ते- मूर्ते पुद्गल द्रव्य में, तिविह– त्रिविधा संख्यात्, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं और, कालस्स– कालस्य कालद्रव्य के, एगो– एक: एक प्रदेश होता है, तेण– तेन इसलिए, सो– स: वह कालद्रव्य, काओ- काय: कायवान, ण– न नहीं है।

विशेष– एक जीव समस्त लोकाकाश में व्याप्त हो सकता है, इसलिए जीव असंख्यात प्रदेशी है। काल एक प्रदेशी होने के कारण कायवान नहीं है।

एक प्रदेशी पुद्गल परमाणु की कायवान है।

एयपदेसो वि अणु णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु।।२६।।

अन्वयार्थ– एयपदेशो वि– एक प्रदेश: अपि एक प्रदेशी भी, अणु– अणु: अणु, णाणाखंधप्पदेसदो– नानास्कन्धप्रदेशत: नाना स्कन्ध रूप प्रदेशों की अपेक्षा, बहुदेसो– बहुदेश: बहुत प्रदेशवाला, होदि- भवति होता है, य- च और, तेणतेन इसलिए, सव्वण्हु– सर्वज्ञ:

सर्वज्ञ भगवान्, उवयारा- उपचारात् व्यवहारनय से अणु को, काओ- काय: कायवान् भणंति- भणन्ति कहते हैं।

विशेष- द्रव्य-रूप पुद्‌गल परमाणु भी द्वयाणुकादि स्कंध-रूप से बहुप्रदेश रूप कायवान हो जाता है। स्निग्धरुक्षता पुद्‌गल का ही धर्म है और यही बन्ध का कारण है। कालाणु में बन्ध के कारण भूत स्निग्ध-रुक्ष गुण नहीं होते, इसलिए वह कायवान् नहीं हो सकता।

प्रदेश का लक्षण

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्ठद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाण रिहं।।२७।।

अन्वयार्थ- जावदियं- यावन्मात्रम् जितना, आयासं- आकाशम् आकाश, अविभागीपुग्गलाणुवट्ठद्धं- अविभागीपुद्‌गलाण्ववष्टब्धम् जिसका भाग न हो सके, ऐसे पुद्‌गलपरमाणु से रोका जाय, तं- तम् उसे, खु- खलु ही, सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं- सर्वाणुस्थानदानार्हम् समस्त परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ, पदेसं- प्रदेशम्, प्रदेश, जाणे- जानीहि जानो।

विशेष- एक परमाणु- जितने आकाश में रह सके, उसे प्रदेश कहते हैं, और उसी प्रदेश में कालाणु, धर्म, अधर्म के प्रदेश और पुद्‌गल के एक, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण भी एक क्षेत्र में अवगाहन कर रह सकते हैं। इसी प्रकार एक निगोद के शरीर में द्रव्यपरमाणु से सब भूतकाल के सिद्धों से अनन्त गुणे जीव पाये जाते हैं।

परिणामि, जीव, मुत्तं, सपदेशं, एय, खेत्त, किरियाय।
णिच्चं, कारण, कत्ता, सव्वगद, मिदरं हि चपवेसे।।१।।

दुण्णिय, एवं एयं, पंच त्तिय, एय, दुण्णि, चपरो, य।
पंच, य एय, एयं, एदेसं एय उत्तरं णेयं।।२।।

अब छः द्रव्यों का विशेष रूप से वर्णन करते हैं।

अर्थ– जीव और पुद्गल द्रव्य परिणामी हैं। चेतन जीव द्रव्य एक है। काल को छोड़ कर सब द्रव्य सप्रदेशी– मूर्तीक कायवान हैं। द्रव्यार्थिकनय से धर्म, अधर्म और आकाश ये एक द्रव्य हैं, जीव पुद्गल और काल अनेक हैं। समस्त द्रव्यों को अवकाश देने के सामर्थ्य के कारण क्षेत्र अर्थात् आकाश एक है, शेष पांच द्रव्य अक्षेत्र हैं। जीव और पुद्गल ये दो सक्रिय हैं, शेष चार द्रव्य निष्क्रिय हैं। धर्म, अधर्म आकाश और काल ये चार द्रव्य नित्य हैं। पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल ये पांच कारण हैं। कर्त्ता एक जीव द्रव्य है। सर्वगत एक आकाश द्रव्य है। शेष सब द्रव्य अपने चेतनादि स्वभाव को न छोड़ने के कारण एक एक हैं, किन्तु व्यवहार से एक क्षेत्रावगाही होकर रहते हैं।

इति षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादक प्रथमोऽधिकार समाप्तः।

आस्रवादि निरुपण करने की प्रतिज्ञा

आसवबंधण संवरणिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे।
जीवाजीव विसेसा ते वि समासेण पभणामो।।२८।।

अन्वयार्थ– जे– ये जो, सपुण्णपावा– सपुण्यपापाः पुण्य और पाप सहित, आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खा– आस्रवबन्धनसंवरनिर्जरा मोक्षाः आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हैं ये, जीवाजीवविसेसा– जीवाजीवविशेषाः जीव और अजीव के भेद हैं, ते वि– तान् अपि उनको भी, समासेण– समासेन संक्षेप रूप में, पभणामो– प्रभणामः कहते हैं।

विशेष— जीव और अजीव ये दो मुख्य द्रव्य हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह दिये गये हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। पुण्य एवं पाप और सात तत्त्व ये नव पदार्थ हैं।

भावास्रव और द्रव्यास्रव का स्वरूप

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि।।२९।।

अन्वयार्थ— अप्पणो— आत्मन: आत्मा के, जेण— येन जिस, परिणामेन परिणाम से, कम्मं— कर्म, आसवदि— आस्रवति आता है, सो— स: वह, जिणुत्तो— जिनोक्त: जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहा हुआ, भावासवो— भावास्रव: भावास्रव, विण्णेओ— विज्ञेय: जानना चाहिए और, कम्मासवणं— कर्मास्रवणम् ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म का आना, परो— पर: द्रव्यास्रव, होदि— भवति होता है।

भावास्रव का विशेष स्वरूप और भेद

मिच्छत्ताविरदिपमाद जोगकोहादओऽथ विण्णेया।
पणपणपणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स।।३०।।

अथ— अथ और, पुव्वस्स— पूर्वस्य प्रथम भावास्रव के, मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओ— मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादय: मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोध आदि भेद हैं, दु— तु और उनके, कमसो— क्रमश: क्रमसे, पणपणपणदह तियचदु— पञ्च पंच पंच पंचदश त्रय: चत्वार: पांच, पांच, पन्द्रह, तीन और चार, भेदा भेदा: ये ३२ भेद, विण्णेया— विज्ञेया: जानने चाहिए।

द्रव्यास्रव का स्वरूप

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो।।३१।।

अन्वयार्थ– णाणावरणादीणं– ज्ञानावरणादिनाम् ज्ञानावरण आदि के, जोग्गं– योग्यम् योग्य, जं– यत् जो, पुग्गलं– पुद्गलम् पुद्गलद्रव्य, समासवदि– समास्रवति आता है, सो– स: वह, जिणक्खादो– जिनाख्यात: श्रीजिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ, अणेयभेओ– अनेकभेद: अनेक भेदवाला, दव्वासवो– द्रव्यास्रव: द्रव्यास्रव, णेओ– ज्ञेय: जानना चाहिए।

भावबन्ध और द्रव्यबन्ध का लक्षण

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणंअण्णोण्णपवेसणं इदरो।।३२।।

अन्वयार्थ– जेण– येन जिस, चेदणभावेण– चेतनभावेन चैतन्य परिणामसे, कम्मं-कर्म्म कर्म, बज्झदि– बध्यते बंधता है, सो– स: वह, भावबंधो– भावबंध: भावबंध है, दु– तु और, कम्मादपदेसाणं– कर्म्मात्मप्रदेशानाम् कर्म और आत्मा के प्रदेशों का, अण्णोण्णपवेसणं– अन्योन्यप्रवेशनम् एक दूसरे में मिल जाना– एकक्षेत्रावगाही हो जाना, इदरो– इतर: द्रव्यास्रव है।

प्रकृति बन्धादि और उनके कारण

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेस भेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागाकसायदो होंति।।३३।।

अन्वयार्थ– बंधो– बन्ध: बन्ध, पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा– प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेशभेदात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश

के भेद से, चदुविधो– चतुर्विध: चार प्रकार का होता है। इनमें, पयडिपदेसा– प्रकृतिप्रदेशो प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध, जोगा– योगात् मन, वचन और काययोग से, दु– तु और, ठिदिअणुभागा– स्थित्यनुभागौ स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध, कसायदो कषायत: क्रोधादि कषायों से, होंति– भवत: होते हैं।

भावसंवर और द्रव्यसंवर का स्वरूप

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो।।३४।।

अन्वयार्थ– जो– य: जो, चेदणपरिणामो– चेतनपरिणाम: चैतन्य परिणाम, कम्मस्सासवणिरोहणे– कर्मण: आस्रव निरोधने कर्मों के आस्रव रोकने में, हेऊ– हेतु: कारण, सो– स: वह, खलु– खलु ही, भावसंवरो– भाव संवर: भावसंवर है और दव्वासवरोहने द्रव्यास्रवरोधने द्रव्यास्रव के रोकने में, अण्णो– अन्य. दूसरा द्रव्य संवर, 'हेऊ'' हेतु: कारण है।

भावसंवर के भेद

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपिहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेयं णायव्वा भावसंवरविसेसा।।३५।।

अन्वयार्थ– वदसमिदीगुत्तीओ– व्रतसमितिगुप्तय: व्रत, समिति, गुप्ति, धम्माणुपिहा– धर्म्मानुप्रेक्षा: धर्म और अनुप्रेक्षायें, परीसहजओ– परीषहजय: परीषहजय, य– च और, बहुभेयं– बहुभेदम् बहुत भेदवाले, चारित्तं– चारित्रम् चारित्र को, भावसंवरविसेसा– भावसंवरविशेषा: भावसंवर के भेद, णायव्वा– ज्ञातव्या: जानने चाहिए।

निर्जरा का लक्षण और उसके भेद

जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा।।३६।।

अन्वयार्थ– जहकालेण– यथाकालेन कर्मों की स्थिति पूर्ण होने पर, भुत्तरसं– भुक्तरसम् जिसका फल भोगा जा चुका है, ऐसा, कम्मपुग्गलं– कर्म्मपुद्गलम् कर्म पुद्गल, जेण भावेण– येन भावेन जिस भाव से, सडदि–सडति छूटता है, इसे सविपाक भाव निर्जरा कहते हैं। य– च तथा, तवेण– तपसा तप के द्वारा कर्म छूटने को अविपाक भावनिर्जरा कहते हैं। च– च और, तस्सडणं– तत्सडनम् ज्ञानावरणादि कर्मों का छूट जाना द्रव्य निर्जरा है, इदि- इति इस प्रकार भाव और द्रव्य के भेद से णिज्जरा- निर्जरा निर्जरा, दुविहा– द्विविधा दो प्रकार की, णेया– ज्ञेया जाननी चाहिए।

मोक्ष का स्वरुप और भेद

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो।।३७।।

अन्वयार्थ– जो– यः अप्पणो– आत्मनः आत्मा का, परिणामो– परिणामः परिणाम, सव्वस्स– सर्वस्य सब, कम्मणो– कर्म्मणः कर्मों के, खयहेदू– क्षयहेतू क्षय होने का कारण है, स हु– सः हि वही, भावमाक्खो– भावमोक्षः भावमोक्ष है, य– च और, कम्मपुधभावो– कर्म्मपृथग्भावः द्रव्यकर्मों का छूट जाना, दव्वविमोक्खः– द्रव्यविमोक्षः द्रव्यमोक्ष है।

पुण्य और पाप का वर्णन

सुह असुह भावजुत्ता पुण्णंपावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च।।३८।।

अन्वयार्थ– जीवा– जीवा: जीव, सुहअसुहभावजुत्ता– शुभाशुभभावयुक्ता: शुभ और अशुभ भाव सहित, खलु– खलु ही, पुण्णं– पुण्यम् पुण्य रूप और, पावं– पापम् पापरूप, हवंति– भवन्ति होते हैं, सादं– सातं सातावेदनीय, सुहाउ– शुभायु: शुभ आयु, णाम– नाम शुभनाम, गोदं– गोत्रम् और शुभ गोत्र ये, पुण्णं– पुण्यम् पुण्य रूप होते हैं, च– च तथा, पराणि– पराणि असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र ये पाप-रूप होते हैं।

इति सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादको द्वितीयोऽधिकार: समाप्त:।

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग

सम्मद्दंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्चयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा।।३९।।

अन्वयार्थ– ववहारा– व्यवहारात् व्यवहारनय से, सम्मद्दसणणाणं चरणं–सम्यग्दर्शनम् ज्ञानम् चरणम् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को, मोक्खस्स– मोक्षस्य मोक्ष का, कारणं– कारणम् कारण, जाणे– जानीहि जानो और, णिच्चयदो– निश्चयदो– निश्चयत: निश्चयनयसे, तत्तियमइयो– तत्त्रितयमय: सम्यग्दर्शनादि स्वरूप, णिओ– निज: अपना, अप्पा– आत्मा आत्मा ही मोक्ष का कारण समझना चाहिए।

निश्चयमोक्ष मार्ग का प्रकारान्तर से वर्णन

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा।।४०।।

अन्वयार्थ– अप्पाणं– आत्मानम् आत्मा को, मुयत्तु– मुक्त्वा छोड़ कर, अण्णदवियम्हि– अन्यद्रव्ये अन्य पुद्गलादि द्रव्यों में, रयणत्तयं– रत्नत्रयम् रत्नत्रय– रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

सम्यक्चारित्र, ण- न नहीं, वट्टइ- वर्त्तति रहता है, तम्हा- तस्मात् इसलिए, तत्तियमइयो- तत्त्रितयमयः सम्यग्दर्शनादि स्वरूप, आदा- आत्मा आत्मा, हु- खलु ही मोक्खस्स- मोक्षस्य मोक्ष का, कारणं-कारणम् कारण, होदि- भवति- होता है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण

जीवादी-सद्-दहणं, सम्मत्तं रूव-मप्पणो तं तु।
दुरभि-णिवेस-विमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि।।४१।।

अन्वयार्थ- जम्हि सदि- जिसके होने पर, खु- ही, णाणं- ज्ञान, दुरभिणिवेसविमुक्कं- संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित, सम्मं- सत्यार्थ, होदि- होता है, जीवादीसद्दहणं- जीवदिक सात तत्त्वों का श्रद्धान, सम्मत्तं- सम्यग्दर्शन है, तं- वह सम्यग्दर्शन, अप्पणो- आत्मा का, रूवं- स्वरूप है।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयभेयं च।।४२।।

अन्वयार्थ- संसयविमोहविब्भमविवज्जियं- संशयविमोहविभ्रम विवर्जितम् संशय अनध्यवसाय और विपर्यय रहित, सायारं- साकारम् आकार सहित- विकल्प सहित, अप्पपरसरूवस्स- आत्मापरस्वरूपस्य स्वपर के स्वरूप का, गहणं- ग्रहणम् ग्रहण करना, सम्मं णाणं- सम्यग्ज्ञानम् सम्यग्ज्ञान है, च- च और यह, अणेयभेयं- अनेकभेदम् अनेक भेदवाला है।

निर्विकल्पसत्ता के ग्राहक और दर्शन का स्वरूप

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु मायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णये समये।।४३।।

अन्वयार्थ– अट्ठ– अर्थात् पदार्थों की, अविसेसिदूण– अविशेषयित्वा विशेषता न कर 'यह काला है' घड़ा है'' इत्यादि, आयारं– आकारम् आकार को, णेव– नैव नहीं, कटटुं– कृत्वा कर, जं– यत जो, भावाणं– भावानाम् पदार्थों का, सामण्णं– सामान्यम् सामान्य-रूप से, गहणं– ग्रहणम् ग्रहण करना है, वह, दंसणं– दर्शनम् दर्शन है, इदि– इति इस प्रकार, समये– समये शास्त्र में, भण्णये– भण्यते कहा जाता है।

दर्शनपूर्वक छद्मस्थों को ज्ञान होता है

दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि।।४४।।

अन्वयार्थ– छदुमत्थाणं– छद्मस्थानाम् क्षायोपशमिक ज्ञानवालों को, दंसणपुव्वं– दर्शन पूर्वम् दर्शनपूर्वक, णाणं– ज्ञानम् ज्ञान होता है, जम्हा– यस्मात् क्योंकि, दुण्णि उवओगा– द्वौ उपयोगो दोनों उपयोग दर्शन तथा ज्ञान, जुगवं– युगपत् एक साथ, ण– न नहीं होते, तु– तु किन्तु, केवलिणाहे– केवलिनाथे केवलज्ञानी के, ते दो वि– तौ द्वौ अपि वे दोनों ही उपयोग, जुगवं– युगपत् एक साथ होते हैं।

विशेष– सत्ताअवलोकन पूर्वक मतिज्ञान, मतिज्ञानपर्वूक धूम से अग्नि का ज्ञान आदि और घटादि शब्द श्रवण-रूप शब्दजन्य श्रुतज्ञान होता है। अवधि दर्शनपूर्वक अवधिज्ञान और ईहामतिज्ञान पूर्वक मन: पर्ययज्ञान होता है। श्रुतज्ञान और मन: पर्ययज्ञान का जनक

अवग्रहादि रूप मतिज्ञान कहा गया है। वह मतिज्ञान भी दर्शनपूर्वक होता है, इसलिए श्रुतज्ञान और मन: पर्ययज्ञान को उपचार से दर्शनपूर्वक कहते हैं।

सराग चारित्र का स्वरूप और भेद

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिण भणियं।।४५।।

अन्वयार्थ— असुहादो— अशुभत: अशुभ क्रिया से, विणिवित्ती— विनिवृत्ति: विरक्त रहने, य— च और, सुहे— शुभे शुभकर्म में, पवित्ती— प्रवृत्ति करने को, चारित्तं— चारित्रम् चारित्र, जाण— जानीहि समझो, दु— तु और, ववहारणया— व्यवहारनयात् व्यवहारनयसे, वदसमिदिगुत्तिरूवम्— व्रतसमिति- गुप्तिरूपम् व्रत ५, समिति ५ और ३ गुप्ति स्वरूप इस तरह १३ प्रकार का चारित्र, जिणभणियं— जिनभणितम् जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया है।

व्यवहार चारित्र से निश्चय चारित्र का निरूपण

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं।।४६।।

अन्वयार्थ— भवकारणप्पणासट्टं— भवकारणप्रणाशार्थम् संसार के कारणों का नाश करने के लिए, जं— यत् जो, णाणिस्स— ज्ञानिन: ज्ञानी का, बहिरब्भंतरकिरियारोहो— बहिरभ्यन्तरक्रियारोध: बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं का रोकना, तं— तत् वह जिणुत्तं— जिनोक्तम् जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ, सम्मचारित्तं— सम्यक्चारित्रम् सम्यक्चारित्र है।

ध्यानाभ्यास करने की हेतुपूर्वक प्रेरणा

दुविहं पि मोक्खहेऊं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह।।४७।।

अन्वयार्थ— जं— यत् क्योंकि, मुणी— मुनिः मुनि, णियमा— नियमात् नियमपूर्वक, दुविहं पि— द्विविधम् अपि निश्चय और व्यवहार दोनों ही प्रकार के, मोक्खहेऊं— मोक्षहेतुम् मोक्ष के कारणों को, झाणे— ध्यानेन ध्यान द्वारा, पाउणदि— प्राप्नोति प्राप्त करता है, तम्हा— तस्मात् इसलिए, जूयं— यूयम् तुम लोग, पयत्तचित्ता— प्रयत्नचित्ताः सावधान चित्त होकर, झाणं— ध्यानम् ध्यान का, समब्भसह— समभ्यसवम् सम्यक् प्रकार अभ्यास करो।

ध्यान करने का उपाय

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठ अत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए।।४८।।

अन्वयार्थ— जइ— यदि अगर, विचित्तझाणप्पसिद्धीए— विचित्रध्यान प्रसिद्धयै शुभ व अशुभ विकल्प रहित अथवा पदस्थ आदि नाना प्रकार के ध्यानों की प्राप्ति के लिए, चित्तं— चित्तम् हृदय, थिरं— स्थिरम् स्थिर-निश्चल करना, इच्छह- इच्छथ चाहते हो तो, इट्ठणिट्ठअत्थेसु— इष्टानिष्टार्थेषु प्रिय एवं अप्रिय पदार्थों में, मा मुज्झह— मा मुह्यत मोह मत करो, मा रज्जह— मा रज्यत राग मत करो और, मा दुस्सह— मा दुष्यत द्वेष मत करो।

विशेष— गुप्तेन्द्रियमना ध्याता, ध्येयं वस्तु यथास्थितम्।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं, फलं संवरनिर्जरे।।

अर्थ— शुद्ध मन, वचन और काय ध्याता, वस्तुस्वरूप ध्येय,

एकाग्रता से चिन्तवन करना ध्यान और संवर तथा निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त करना ध्यान का फल है।

ध्यान के भेद

पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं, पिंडस्थं स्वात्मचिन्तनम्।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं, रूपातीतं निरञ्जनम्।।

अर्थ– पदस्थ मन्त्रवाक्यों में रहने वाला, पिंडस्थ स्वीय आत्मा का चिन्तवन, रूपस्थ– समस्त आत्माओं का चिंतवन और नित्य निरञ्जनाकार का चिन्तवन रूपातीत कहलाता है। इस प्रकार विचित्त अथवा विचित्र ध्यान की प्राप्ति होती है।

ध्यान करने योग्य मंत्रें का उपदेश

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण।।४९।।

अन्वयार्थ– परमेट्ठिवाचयाणं– परमेष्ठिवाचकानाम् परमेष्ठीवाचक, पणतीस– पञ्चत्रिंशत् पैंतीस, सोल– षोडश सोलह, छप्पण– षट, पंचं छः पांच और छः, चदु– चत्वारि चार, दुगं– द्विकम् दो, च– और, एगं– एकम् तथा गुरुवएसेण– गुरुपदेशेन गुरुओं के उपदेश से, अण्णं– अन्यत् अन्य मंत्र भी, जवह– जपत जपो और, झाएह– ध्यायेत ध्यान करो।

अरिहन्त परमेष्टी का स्वरूप

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो।।५०।।

अन्वयार्थ– णट्ठचदुघाइकम्मो– नष्टचतुर्घातिकर्म्मा ज्ञानावरण,

दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का नाश करने वाला, दंसणसुहणाणवीरियमईओ- दर्शन सुख ज्ञान वीर्य्यमय: अनन्त दर्शन ज्ञान, सुख और वीर्य का धारक, सुहदेहत्थो- शुभ देहस्थ: परमौदारिक शरीरधारी, सुद्धो- शुद्ध: जन्मादि अठारह दोष रहित, अप्पाआत्मा आत्मा, अरिहो- अर्हन् अरहंत परमेष्ठी, विचिंतिज्जो- विचिन्तनीय: सम्यक् प्रकार ध्यान करने योग्य है।

सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो।।५१।।

अन्वयार्थ- णट्ठट्ठकम्मदेहो- नष्टाष्टकर्म्मदेह: ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरूप तथा औदारिकादि शरीर नष्ट करने वाला, लोयालोयस्स- लोकालोकस्य लोकाकाश तथा अलोकाकाश का, जाणओ- ज्ञायक: जानने वाला और , दट्ठा- द्रष्टा देखने वाला, पुरिसायारो- पुरुषाकार: मनुष्याकार- चरम शरीर से कुछ कम शरीर वाला, लोयसिहरत्थो- लोकशिखरस्थ: लोकाग्रभाग- सिद्धशिला में रहने वाला, अप्पा- आतम आत्मा, सिद्धो- सिद्ध: सिद्ध परमेष्ठी है उसका, झाएह- ध्यायेत ध्यान किया करो।

आचार्य परमेष्ठीका स्वरूप

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजई सो आयरिओ मुणी झेओ।।५२।।

अन्वयार्थ- जो- 'य:' जो, दंसणणाणपहाणे- दर्शनज्ञानप्रधाने दर्शनाचार और ज्ञानाचार प्रधान जिनमें हैं ऐसे, वीरियचारित्त-वरतवायारे - वीर्य्यचारित्रवरतपाचारे वीर्याचार, चारित्राचार और

उत्तम तपाचार में, अप्पं– आत्मानम् अपने को, च– च और, परं– परम् दूसरे को, जुंजई– युनक्ति नियुक्त करता है, सो– सः वह, मुणी– मुनिः आयरिओ– आचार्य आचार्य परमेष्ठी, झेओ– ध्येयः ध्यान करने योग्य है।

उपाध्याय का स्वरूप

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो।
सो उवझाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स।।५३।।

अन्वयार्थ– जो– यः जो, रयणत्तयजुत्तो– रत्नत्रय युक्तः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित है, णिच्चं– नित्यम् सदा, धम्मोवएसणे– धर्म्मोपदेशने धर्मोपदेश करने में, णिरदो– निरतः लवलीन है, सो– सः वह, जदिवरवसहो– यतिवर वृषभः पंचेन्द्रिय विषयों पर विजय प्राप्त करने वाला प्रधान साधु स्वरूप, अप्पा– आत्मा आत्मा, उवझाओ– उपाध्यायः उपाध्याय परमेष्ठी है, तस्स– तस्मै उसको, णमो– नमः नमस्कार हो।

साधु का स्वरूप

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स।।५४।।

अन्वयार्थ– जो– यः जो, मुणी– मुनिः मुनि, दंसणणाणसमग्गं– दर्शनज्ञानसमग्रम् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित, मोक्खस्स– मोक्षस्य मोक्ष के, मग्गं– मार्गम् मार्ग स्वरूप, णिच्चसुद्धं– नित्यशुद्धम् नित्य रागादि रहित, चारित्तं– चारित्रम् चारित्र का, हू– हि भली-भांति, साधयदि साधयति साधन करता है, सो– सः वह, साहू– साधुः साधु परमेष्ठी है, तस्स– तस्मै उसको, णमो– नमः नमस्कार हो।

विशेष– पञ्च परमेष्ठी का स्वरूप भिन्न-भिन्न गाथाओं में कहा गया है। इसमें "णमो अरिहंताणं" आदि द्रव्य नमस्कार है और सहज शुद्ध सदा आनन्दस्वरूप भाव नमस्कार है।

निश्चय ध्यान का वर्णन

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं।५५।।

अन्वयार्थ– जदा–यदा जब, साहू– साधुः साधु, एयत्तं– एकत्वम् एकता को, लद्धूणय– लब्ध्वा प्राप्त कर, जं किंचि वि– यत् किंचित् अपि जो कुछ भी, चिंतंतो– चिन्तयन् चिन्तवन करता हुआ, णिरीहवित्ती– निरीहवृत्तिः इच्छा रहित, हवे– भवति होता है, तदा– तदा उस समय, तस्स– तस्य उस साधु का, तं– तत् वह, णिच्चयं– निश्चयम् निश्चय, झाणं– ध्यानम् ध्यान है ऐसा आचार्य, आहु– आहुः कहते हैं।

विशेष– पदस्थ ध्यान में कथित अरहन्त आदि ध्येय हैं। गुप्ति सहित अर्थात् शुद्ध मन, वचन, काय ध्याता है। "णमो अरिहंताणं' आदि का उच्चारण पदस्थ ध्यान है। इस सब ध्यानों से कर्मों का संवर और निर्जरा होती है, यह ध्यान का फल है। निर्जरा के पश्चात् मुक्ति अवश्य प्राप्त होती है।

परम ध्यान का स्वरूप

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं।।५६।।

अन्वयार्थ– किंवि– किमपि कुछ भी, मा चिट्ठह– मा चेष्ठध्वम् चेष्टा मत करो, मा जंपह– मा जल्पत वचन मत बोलो, मा चिंतह– मा चिन्तयत् चिन्तन मत करो, जेण– येन जिससे, अप्पा– आत्मा आत्मा, अप्पम्मि– आत्मनि आत्मा में, रओ– रतः लीन होकर,

थिरो– स्थिरः स्थिर, होइ– भवति होता है, इणमेव– इदमेव यही, परं– परम् उत्कृष्ट, झाणं– ध्यानम् ध्यान, हवे– भवति है।

ध्यान का उपाय

तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होइ।।५७।।

अन्वयार्थ– जम्हा– यस्मात् क्योंकि, तवसुदवदवं– तपः श्रुतव्रतवान् तप, श्रुत और व्रतवान, चेदा– चेतास आत्मा, झाणरहधुरंधरो– ध्यानरथधुरन्धरः ध्यान-रूपी रथ का धुराधारी, हवे– भवति होता है, तम्हा– तस्मात् इसलिए, तल्लद्धीए– तल्लब्ध्यै उस ध्यान की प्राप्ति के लिए, सदा-सदा सदा, तत्तियणिरदा– तत्त्रितयनिरतः सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में लीन, होइ– भवतु होओ।

विशेष– वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रन्थता, समचित्तता और परीषहजय ये पांच ध्यान के कारण हैं, इसलिए इनमें सदा उपयोग रखना चाहिए।

ग्रन्थकर्ता की प्रार्थना

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा, दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण, णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं।।५८।।

अन्वयार्थ– तणुसुत्तधरेण– तनुसूत्रधरेण अल्पज्ञानी, णेमिचन्दमुणिणा– नेमिचन्द्रमुनिना नेमिचन्द्रमुनिने, जं– यत् जो, इणं– इदम् यह, दव्वसंगहं– द्रव्यसंग्रहम् द्रव्यसंग्रह, भणियं– भणितम् कहा है इसका, दोससंचयचुदा– दोषसंचयच्युताः रागादि तथा संशय आदि दोष रहित, सुदपुण्णा– श्रुतपूर्णाः वर्तमान परमागम नामक

द्रव्यश्रुत तथा स्वसंवेदनरूप भावश्रुत के ज्ञाता, मुणिणाह्य– मुनिनाथा: प्रधान मुनि, सोधयन्तु– शोधयंतु संशोधन करें।

इति मोक्षमार्गप्रतिपादकस्तृतीयोऽधिकार: समाप्त:।

–●–

इष्टोपदेश

आचार्य पूज्यपाद देवनंदी विरचित:

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मण:।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोस्तु परमात्मने।।१।।

(यस्य) जिसको (कृत्स्न कर्मण:) मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय चार तथा वेदनीयादि घाति अघाति कर्मों का (अभावे) नाश हो जाने से (स्वयं) बिना गुरु के उपदेश के (स्वभावाप्ति) आत्मा की प्राप्ति हुई है। (तस्मै) उस परमात्मा के लिए (संज्ञान रूपाय) अनंतज्ञान स्वरूप (परमात्मने) परमात्मा तथा सिद्धात्मा के लिए (नमोस्तु) नमस्कार हो।

योग्योपादानयोगेन दृषद: स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मतामता।।२।।

(योग्योपादान योगेन) अपने आत्मा की उपादान शक्ति की योग्यता के द्वारा (दृषद:) सोनामिश्रित पत्थर का (स्वर्णता) स्वर्ण निकालने से स्वर्ण (मता) माना गया है। (तथा) उसी प्रकार (द्रव्यादि स्वादि संपत्तौ) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव की प्राप्ति होने पर (आत्मनोऽपि) संसारी आत्मा को भी (आत्मता) शुद्ध सिद्धात्म स्वरूप का प्राप्त होना (मता) माना गया है।

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम्।
छाया तपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्।।३।।

(अव्रतैर्वत नारकं) जिन हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप अव्रतों के द्वारा जीव को नरक गति के दुःखों की प्राप्ति हो (न वरं) वह अव्रत अच्छा नहीं है। अव्रत की अपेक्षा (वरं व्रतैः पदं दैवं) अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह कि जिससे देव गति के सुखों की प्राप्ति होती है (वरं) वह ही श्रेष्ठ है (छाया तपस्थयोर्भेदः) जिस प्रकार कोई शीतल छाया में सुख पूर्वक बैठा है दूसरा नीचे से संतप्त और ऊपर से धूप की गर्मी में दुःख पाता है। धूप की अपेक्षा शीतलता अच्छी है क्योंकि ताप की वेदना रहित है यह दोनों में अन्तर है। इसी प्रकार (प्रतिपालयतोः) व्रत और अव्रतों को पालन कर स्वर्ग एवं नरक के क्रमशः सुख व दुःख में (महान्) बहुत बड़ा (भेदः) अन्तर है।

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति?।।४।।

(यत्र भावः शिवं दत्ते) जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तथा तप, भाव मोक्ष को प्राप्त कराते हैं। (स) वह भाव (किं) क्या (द्यौः) स्वर्ग के (कियत्) कितनी (दूरवर्तिनी) दूर है? अतः स्वर्ग की प्राप्ति सुलभ है। (यः) जो मनुष्य (गव्यूतिं) दो कोश तक (आशु) भार को शीघ्र (नयति) ले जा सकता है। (क्रोशार्धे किं सः) क्या वह मनुष्य उस भार को आधा कोश ले जाने में (सीदति) दुःखी होता है? अर्थात् दुःखी नहीं होता है। आगे स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति जो व्रताचरण से कही थी। उसको भी निषेध रूप का कहते है।

हृषीकजमनातङ्कं दीर्घकालोऽपलालितं।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव।।५।।

(नाके) स्वर्ग में (नाकौकसां) रहने वाले देव और देवियों को (हृषीकजं) पचेन्द्रिय विषय भोग संबंधी (सुखं) सुखों का (अनातङ्कं) निर्बाध रूप से अनुभव करते हैं। (दीर्घकालोऽपलालितं) सागर व पल्यों की आयु बीत जाती है। (नाके) स्वर्ग में (नाकौ कसां) देवों के समान (इव) अर्थात् देवों की तरह देवियों को सुख होता है। इस श्लोक में 'इव' इस शब्द से ज्ञान होता है कि देवों को भी अन्त समय में दु:ख होता है क्योंकि देव आर्त ध्यान से मरने के कारण मरणोपरान्त एकेन्द्रिय स्थावर और पंचेद्रिय तिर्यंच एवं मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। ऐसा संस्कृत टीका का तात्पर्य है।

शिष्य मोक्ष सुख के विषय में पूछता है कि स्वर्ग समान ही मोक्ष में सुख है या विशेष है? सो कहते हैं।

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दु:खं च देहिनां।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि।।६।।

(देहिनां) संसारी जीवों का (एतत्) यह देव गति, मनुष्य गति का (सुखं) इन्द्रिय जन्य सुख और (दु:खम्) दुख केवल (वासनामात्र) इच्छा मात्र ही है। (तथाहि) तो भी निश्चय से (एते भोगा:) पंचेन्द्रियों के भोग (आपदि) विपदा काल में (रोगा इव) रोग की तरह (उद्वेजयन्ति) दु:ख देने वाले हैं।

ज्ञान आत्म स्वभाव को क्यों अनुभव नहीं करता? इसका कारण बताते हैं?

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्त: पुमान्पदार्थानां यथा मदनको-द्रवै:।।७।।

(हि) निश्चय से (मोहेन) दर्शन व चारित्र मोह के द्वारा (ज्ञानं) ज्ञान को (संवृतं) ढक दिया। इस कारण (स्वभावं) अपने आत्म

स्वभाव को (न) नहीं (लभते) प्राप्त होता है। (यथा) जिस प्रकार (मदनको द्रवै:) नशे के उत्पन्न करने वाले कोदों को खा लेने से (मत्त:) पागल (पुमान्) मनुष्य (पदार्थानां) पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ (न) नहीं (लभते) जान पाता है।

वपुर्गृहं धनं दारा: पुत्रा: मित्राणि शत्रव:।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढ़: स्वानि प्रपद्यते।।८।।

(मूढ़:) बहिरात्मा मोही जीव (वपु:) शरीर (गृहं) मकान, दुकान, खेत (धनं) गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा इत्यादि (दारा:) स्त्री, माता, पुत्री (पुत्रा:) भाई, बेटा, काका (मित्राणि) सेवक, दास और प्रेमीजन तथा (शत्रव:) वैरी (सर्वथा) सब प्रकार से (अन्य स्वभावानि) अपने स्वभाव से भिन्न पदार्थों को (स्वानि) अपने (प्रपद्यते) मानता है।

संसार वृक्ष

दिग्देशेभ्य: खगा एत्य संवसन्ति नगे-नगे।
स्व-स्व कार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे-प्रगे।।९।।

(नगे-नगे) वृक्ष वृक्ष पर (दिग्देशेभ्य:) दिशा विदिशाओं देश अथवा देशान्तर से (एत्य) आकर (खगा:) पक्षी (संवसन्ति) ठहर जाते हैं प्रभात में सूर्योदय होने पर (प्रगे-प्रगे) कहीं कहीं (स्वकार्यवशात्) अपने अपने पेट को भरने के कार्य वश (देशे) देश में (दिक्षु) दिशाओं में (यान्ति) उड़कर चले जाते हैं। इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि जिनको आप अपने मानते हो वे प्राणी अपने अपने पूर्वोपार्जित कर्म के आधीन स्त्री, पुत्र, पति, माता, पुत्री व पिता के रूप में कुल रूपी वृक्ष पर आकर आयु रूपी रात्रि को बिताते हैं। जब आयु रूपी रात्रि बीत जाती है तब नवीन आयु जहां की बाँधी है उस योनी अथवा गति में चले जाते हैं। इनसे प्रेम क्या और क्या द्वेष?।

विराधक: कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति।
त्र्यंगुलं पातयत्पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते।।१०।।

(विराधक:) विराधना करने वाला मानव (कथं) किस प्रकार (जनाय) मानव (हंत्रे) मरने के लिए (परिकुप्यति) सन्मुख होता है। (त्र्यंगुलं) तीन अंगुले फावड़ादि को भूमि पर (पातयत्) खोदने को गिरता हुआ मनुष्य (पद्भ्यां) दोनों पैरों के द्वारा (स्वयं) अपने आप को (दण्डेन) दण्ड के द्वारा (पात्यते) गिराता है झुकाता है।

भावार्थ– जगत के प्राणी एक दूसरे को दोष देते हैं कि अमुक ने मुझे बिना प्रयोजन दु:ख दिया। वह हमारे को मारने को सम्मुख खड़ा है। इत्यादि ! आचार्य कहते हैं कि यह सब विचारधारायें गलत हैं क्योंकि सुख-दुख, मारना और रक्षा करना यह सब जीव का पूर्वोपार्जित कर्म का ही फल है। जैसा जिसने कर्म किया वैसा ही उसको फल प्राप्त होता है जिस प्रकार कोई किसान फावड़ा लेकर खेत को खोदने को जाता है और खेत की माटी को खोदने के लिए फावड़े को संभालता है तब आप स्वयं ही डण्डे को लेकर झुक जाता है उसको वहां झुकाने वाला कोई दूसरा मनुष्य नहीं कि जिसके द्वारा वह झुकाया गया हो।

रागद्वेष की परंपरा के कारण ही जीव संसार में अनादि काल से भ्रम रहा है।

राग द्वेष द्वयीदीर्घ नेत्राकर्षण कर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीव: संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ।।११।।

(असौ) यह संसारी (जीव:) जीव (संसाराब्धौ) जन्म, मरण जरा रूपी संसार समुद्र में (अज्ञानात्) अज्ञानता के कारण मिथ्याज्ञान से (सुचिरं) अनादिकाल से (राग द्वेष द्वयी:) राग और द्वेष दोनों (दीर्घ)

बड़े (नेत्राकर्षण कर्मणा) कर्मों के आश्रव और बंध को काम करने के विषय में आकर्षक (बुलाने में) नेत्रों के समान है। इन दोनों को करके यह जीव संसार में (भ्रमति) भ्रमण करता है। जिस प्रकार स्त्री नेत्रों के इशारे से कामुक पति को बुलाती है इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवाति वाह्यते।
यावत्तावद् भवत्यन्याः प्रचुराः विपत्तयः पुरः।।१२।।

(भव पदावर्ते) संसार रूपी पद से चलने वाले (पदि का इव) रहट के आरे के समान (यावत्) जब तक (विपद्) विपत्ति (अतिवाह्यते) दुःख सहन नहीं कर पाता (तावत्) इतने में (अन्याः) दूसरी (प्रचुराः) बड़ी भारी (विपत्तयः) आपत्तियां (पुरः) सामने (भवन्ति) आकर उपस्थित हो जाती हैं।

धन, पुत्र, स्त्री आदि की प्राप्ति होने पर भी जीव को सुख नहीं मिल सकता है।

दुरर्ज्येनसुरक्षेण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थं मन्योजनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा।।१३।।

(दुरर्ज्येनसुरक्षेण) धन, धान्य, मकान, स्त्री आदि की रक्षा कष्ट पूर्वक भी नहीं की जा सकती है (नश्वरेण) नष्ट होने वाले ऐसे (धनादिना) धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, आदि के द्वारा (स्वस्थं) अपने आपको सुखी निरोगी (मन्यः) मानने वाला (कोऽपिजनः) कोई भी मनुष्य जन (सर्पिषा) घी को खाकर (ज्वरवानिव) जिस प्रकार ज्वर आ जाने पर दुःखी होता है उसी प्रकार क्या पेट में दर्द होने से दुख नहीं होता है?

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।
दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत्।।१४।।

(मूढ:) बहिरात्मा मोही जीव (दह्यमान मृगाकीर्ण वनान्तर तरुस्थवत्) जिस जंगल में आग लग जाने से उसमें विचरने वाले मृग, बाघ, हरिण, सिंह नीलादि जीव जल रहे हैं उस ही जंगल में कोई व्यक्ति पेड़ पर बैठा हुआ (परेषां) दूसरे जीवों की (विपत्तिं) आपत्ति को देखता है क्या उसी (इव) तरह (आत्मन:) अपने ऊपर आयी हुई विपत्ति को (किं) (न ईक्षते) नहीं देखता है? अवश्य देखता है।

आयुर्वृद्धि क्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम्।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम्।।१५।।

(कालस्य निर्गमम्) अपने काल के निकल जाने को (आयुर्वृद्धि क्षयोत्कर्ष हेतुं) आयु की वृद्धि, क्षय और वृद्धि का कारण (वांछतां धनिनामिष्टं) जिनको धन ही इष्ट प्रिय है उनको धन का होना सो आयु का होना है। धन की वृद्धि का होना, आयु की वृद्धि और धन के क्षय को आयु का क्षय, धन नाश होकर फिर से वृद्धि का होना आयु का उत्कर्षण (सुतरां) अच्छी तरह (जीवितात्) जीवन से भी जीविका क्या इष्ट नहीं है? अवश्य ही है। इस प्रकार अपने जीवन को आयु को पूर्ण कर मरण को प्राप्त हो जाता है।

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलम्पति।।१६।।

(यः अवित्तः) यह निर्धन मनुष्य (त्यागाय) दान देने के लिए (श्रेयसे) अपने कल्याण के लिए (वित्तम्) धन को (संचिनोति) एकत्र करने के लिए आरंभादि बहुत हिंसादि कार्यों को कर पाप उपार्जन

करता है। (स्नास्यामि) स्नान करूँगा ऐसे विचार से (स्वशरीरं) अपने अंग को (पंकेन) कीचड़ से (विलम्पति) लीपता है जिस प्रकार कोई कीचड़ मिश्रित पानी में कूद कर नहाता है तब उसके सब शरीर के ऊपर कीचड़ लग जाती है यह उसका स्नान करना किस काम का है?

आरम्भे तापकान् प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्याज्यान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः।।१७।।

(आरम्भे) प्रथम में (तापकान्) दुःख देने वाले ज्वर की (प्राप्तौ) प्राप्ति हो जाने पर (अतृप्तिप्रतिपादकान्) तृष्णा के बढ़ाने वाले (अन्ते) अन्त समय में (सुदुस्त्याज्यान्) जो व्यसन बड़ी कठिनाई से छूटने वाले (कामान्) द्यूत, मद्य, मांस, वेश्या, पर स्त्री चोरी का सेवन करना और शिकार का खेलना, इन पंचेन्द्रियों के विषय भोगों को (कः सुधीः) कौन ऐसा बुद्धिमान पुरुष होगा जो (कामं) विषय भोग को (सेवते) सेवन करेगा? कोई नहीं करेगा।

मनुष्य की अपवित्रता के विषय को कहते हैं

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा।।१८।।

(कायः) (यत्संगं प्राप्य) शरीर का संयोग पाकर (शुचीनि) चन्दन, केशर, पुष्प, कपूर इत्यादि (अपि) भी (अशुचीनि) अपवित्र दुर्गन्धमय (भवन्ति) हो जाते हैं। (सः) वह शरीर (संततापाय) सदा विनाशीक बना रहता है और मल झरते रहते हैं। (तदर्थं) उस शरीर को पुष्ट बनाने के लिए (प्रार्थना) याचना करना (वृथा) निरर्थक है।

जो जीव का उपकारी है वह शरीर का अपकारक है। इससे विपरीत भी है।

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्।।१९।।

(यज्जीवस्योपकाराय) जो वस्तु जीव का उपकार करती है, (तत्) वह (देहस्य) शरीर का (अपकारकम्) अपकार करने वाली है। (यत्) जो (देहस्य) शरीर को (उपकाराय) हृष्ट पुष्ट करने वाले दूध, दही, घी, खाण्ड, नामक, तैलादि और भोग उपभोग हैं (तत्) वे कहे गये रसादि व काम भोगादि (जीवस्य) आत्मा का (अपकारकम्) अपकार करने वाले हैं। जीव के उपकारी तो व्रत, नियम, शील, संयम, दान और तप हैं। तथा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान हैं। ये शरीर के अपकारी हैं क्योंकि इनके करने से शरीर शुष्क होता है क्षीण व दुर्बल हो जाता है।

ध्यान से काय का उपकार नहीं होता है

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखंडकम्।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियतां विवेकिनः।।२०।।

(इत ध्यानेन) इधर धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के करने से (दिव्यः) देवों पुनीत देवों के द्वारा पूज्य (चिन्तामणि) इच्छित पदार्थों के देने वाला रत्न और (इतः ध्यायेन) उधर ध्यान से अथवा आर्त्त रौद्र ध्यान से (पिण्याक खण्डकम्) निः सार पीना का टुकड़ा (लभ्ये) प्राप्त होता है। (चेत्) यदि (उभे) दोनों में इतना ही अन्तर है कि जितना चिंतामणि रत्न और पीना के टुकड़े में (विवेकिनः) विद्वान जन (क्व) किसके पाने को (आद्रियताम्) उनका आदर करें? अर्थात् किसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें।

आगे ध्यान का स्वरूप कहते हैं

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः।।२१।।

(आत्मा) अपना आत्मा (स्वसंवेदन सुव्यक्तः) अपने ज्ञान से आप स्वयं प्रकाशमान भली प्रकार से जाना जाता है। (तनुमात्र) शरीर के बराबर (निरत्ययः) अविनाशी (अत्यंत सौख्यवान) अनंत सुख वाला (लोकालोक विलोकनः) लोकालोक को जानने वाला है।

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितः।।२२।।

(आत्मवान्) योगियों को चाहिए कि वे ध्यान करने के पहले (संयम्य करण ग्रामं) स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्णेन्द्रिय को इनके इष्ट विषय वासनाओं से रोक कर अपने आधीन बनावें। (चेतसः) मन वचन काय की (एकाग्रत्वेन) एकाग्रता के द्वारा (आत्मनि) अपने आत्मा में (एव) ही (स्थितम्) स्थित रहकर (आत्मना) अपने आत्मा के द्वारा (आत्मानम्) आत्मा का (ध्यायेत्) ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार करने से अपना आत्मा अनुभव गोचर हो जावेगा।

ध्यान की विशेषता को कहते हैं

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः।।२३।।

(अज्ञानोपास्तिः) अज्ञानी के द्वारा की गई उपासना (अज्ञानं) अज्ञान को (च) और (ज्ञानि समाश्रयः) ज्ञानियों के द्वारा की गयी सेवा वैयावृत्ति (ज्ञानं) ज्ञान को (ददाति) देती है (यस्य) जिसके पास

जो कुछ (अस्ति) होता है उसको (यत्तु) वही देता है। ऐसा वचन प्रसिद्ध है।

परीषहों को जानकर सहना करना चाहिए जिससे कर्मों की निर्जरा होती है।

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा।।२४।।

(अध्यात्मयोगेन) आत्मा का ध्यान आत्मा के द्वारा आत्मा में करने पर आत्म स्वभाव में स्थित होने पर (परिषहादि अविज्ञानाद्) परीषह और उपसर्गों के आने पर भी उनका ज्ञान नहीं होता है कि कब आई और कब निकल गई। (आस्रवस्य निरोधिनी) वही सब आस्रवों को रोकने वाली (कर्मणां) पूर्व में बांधे गये कर्मों की (निर्जरा, आशु) निर्जरा-शीघ्र ही (जायते) होने लगती है।

आत्म ध्यान करते समय कर्त्ता व कर्म का भेद नहीं रहता है।

कटस्य कर्त्ताहमिति संबंधः स्याद्द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा।।२५।।

(कटस्य) चटाई का (अहंकर्त्ता) मैं निर्माण करने वाला हूं। (इति) इस प्रकार (सम्बन्धः) कर्त्ता और कर्म का सम्बन्ध (द्वयोर्द्वयोः) दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थों में (स्यात्) होता है। (यदा) जिस काल में (ध्यानं) ध्यान (ध्येयं) जिस वस्तु का ध्यान किया जाता है वह (आत्मा एव) आत्मा ही (तदा) उस समय (कीदृशः) कैसा (संबंध) कर्त्ता और कर्म का संबंध? क्योंकि यहां पर ध्याता और ध्येय एक ही वस्तु है। चटाई और चटाई का बनाने वाला दोनों भिन्न जाति के होने से कर्त्ता व कर्म का भेद कहा।

कौन कर्म को बांधता है कौन काटता है यह बतलाते हैं–

बद्ध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ।।२६।।

(सममः) यह मेरी वस्तु है। अतः चेतन, अचेतन, और चेतनाचेतन मिश्र वस्तुओं को अपनी मानकर उनमें मूर्च्छा करता हुआ (बद्धयते) पाप कर्मों को बांधता है। (निर्ममः) जो व्यक्ति पर पदार्थों के संयोग वियोग में हर्ष विषाद को प्राप्त होने वाले भाव से रहित है (जीवः) वह जीव (मुच्यते) कर्म बंध को नाशकर डालता है, (क्रमात्) क्रम से। (तस्मात्) इस कारण (सर्व प्रयत्नेन) सब प्रकार के प्रयत्न करने से (निर्ममत्वं) ममता को छोड़ने का भली प्रकार (विचिन्तयेत्) विचार करना चाहिए।

पर पदार्थों से ममता भाव को दूर करने का उपदेश देते हैं।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्यसंयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ।।२७।।

(एकोऽहम्) मैं एक चेतन आत्मा हूँ (निर्मम) परद्रव्य जितने हैं वे मेरे नहीं (शुद्धः) ज्ञानावरणादि आठ द्रव्य कर्म रागद्वेषादि भाव कर्म औदारिक शरीर नोकर्म इन सबसे रहित शुद्ध हूँ। (ज्ञानी) अनंत दर्शन ज्ञानोपयोग मय हूँ (योगीन्द्र गोचरः) मैं केवलज्ञानी के द्वारा जाना जाता हूँ (सर्वेऽपि) सभी (वाह्य संयोगजाभावाः) इससे भिन्न जितने भाव हैं वे सब शरीर और कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं और आत्मा से भिन्न हैं (मत्तः) ऐसा मैं मानता हूँ।

बाह्य संयोग ही संसारी जीवों को दुःख का कारण है।

दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम् ।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ।।२८।।

(इह) इस लोक में (देहिनाम्) देहधारियों को (संयोगात) द्रव्यकर्म और शरीर के संयोग से (दु:खसंदोहभागित्वम्) इष्ट वियोग (स्त्री पुत्रादिक का मरण) अनिष्ट संयोग (वैरी चोर हिंसक जीवों का संयोग तथा शारीरिक मानसिक आगंतुक पीड़ा शोक आदि व्याधि रूप दु:ख के समूह का भागीदार बनना पड़ता है (तत:) इस कारण (एनं) सर्वम्) इन सब कर्म और नोकर्म के संयोग सम्बन्ध को (मनोवाक्कायकर्मभि:) मन वचन काय और क्रिया के द्वारा (त्यजामि) छोड़ता हूँ।

पुन: योगी मुनि विचार करता है कि–

न मे मृत्यु: कुतो भीतिर्न: मे व्याधि: कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले।।२९।।

ध्यालनस्थ मुनि विचार करता है कि (मे) मेरा (मृत्यु:) मरण (न:) नहीं (कुत: भीति) शरीर के विनाश रूप जब मेरा मरण नहीं तब मुझ को भय किस बात का क्योंकि मेरा आत्मा शाश्वत (अविनाशी) है (मे) मेरा आत्मा अरूपी है (व्याधि:) रोग (न) नहीं (कुत: व्यथा) फिर वेदना किसके और कैसी (नाहंबाल:) मैं बालक नहीं हूँ (न वृद्धोऽहं) मैं वृद्ध नहीं (न युवैतानि) मेरे आत्मा में यौवनादि की अवस्था नहीं है। (पुद्गले) ऊपर कही गयीं अवस्थायें शरीर से मात्र सम्बन्ध रखती हैं। अथवा शरीर में हैं।

आत्मध्यानी मुनि भोजन से भी नि:स्पृह रहता है।

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गला:।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा।।३०।।

(मया) मेरे द्वारा (सर्वेऽपि) सभी (पुद्गल:) जितने लोक में

पुद्‌गल परमाणु हैं उन सब पुद्‌गल द्रव्य को (मोहात्) भोजन के राग से शरीर को अपना मानकर उसको पुष्ट बनाने की इच्छा से (मुहु) बहुतबार (भुक्तोज्झिता) भोगकर छोड़ दिये (उच्छिष्टेषु इव) जूठन के समान (तेषु) उन पुद्‌गल स्कन्धों के विषयों में (विज्ञस्य) मुझ जानने वाले की (का) क्या (स्पृहा) इच्छा है।

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति।।३१।।

(कर्म) ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, अंतराय आयु नाम और गोत्र ये मूल प्रकृतियां (कर्महिताबन्धि) ही नवीन २ कर्मों की हितकारी थी जो कर्मों के बन्ध में कारण हैं इनसे ही पुन: कर्म का बंध होता है। (जीव:) चेतन आत्मा (जीवहित स्पृह:) अपने हित की इच्छा करता है (स्व-स्व प्रभाव भूयस्त्वे) अपनी-अपनी शक्ति शाली प्रभाव के होने पर (को वा) अथवा कौन व्यक्ति (स्वार्थ) अपने हित को (न) नहीं (वाञ्छति) चाहता है? अर्थात् सभी अपना हित चाहते हैं।

परोपकार करना एक प्रकार की अज्ञानता है।

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्।।३२।।

हे भव्यात्मन् (परोपकृति) क्या तू पर द्रव्य रूप शरीर का पोषण कर रहा है इसको तू (उत्सृज्य) शीघ्र ही छोड़ दे। (स्वोपकारपरो भव) अपने हित को करने में तत्पर हो (दृश्यमानस्य लोकवत्) दिखाई देने वाले लोक के समान (अज्ञ:) मोही राग द्वेष में स्थित अज्ञानी जीव (परस्य) पर पदार्थ (उपकुर्वन्) शरीर को मोटा ताजा हृष्ट पुष्ट बनाने रूप उपकार करता हुआ देखा जाता है।

गुरु के उपदेश से या स्वात्मानुभव से स्वपर का भेद विज्ञान करना चाहिए।

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्ते: स्व-परांतरं।
जानाति य: स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरं।।३३।।

(य:) जो अध्यात्म योगी (गुरुपदेशात्) गुरु के मुखारविन्द से तत्त्व और अतत्त्वों के स्वरूप को जानकर (अभ्यासात्) तथा आत्म अनुभूति के द्वारा स्वपर भेद विज्ञान से (संवित्त:) आत्म ज्ञान से (स्वपरान्तर) अपने चेतन आत्म को अन्य चेतन स्त्री, पुत्रादि अचेतन शरीर इन्द्रिय, मकान, धनादि चेतनाचेतन नगर ग्रामादि अन्य पदार्थों के अन्तर को (जानाति) जानता है (स) वह जीव (निरंतरं) हमेशा ही (मोक्ष सौख्यम्) मोक्ष सुख को जानता है।

आत्मा का गुरु आत्मा ही है सो कहते हैं।

स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वत:।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मन:।।३४।।

(स्वस्मिन्) अपने आत्मा में (अभिलाषित्वात्) अपने आत्मा की प्राप्ति करने का इच्छुक योगी (अभीष्ट ज्ञापकत्वत:) अपने को अपना आत्म सुख प्राप्त करना ही इष्ट होने से (स्वयं) अपने द्वारा आप (प्रयोक्तृत्वात्) प्रेरक होने से अथवा उपयोग के लगने से (आत्मा एव) अपना आत्मा ही (आत्मन:) आत्मा का (गुरु) शिक्षक (अस्ति) है ऐसा मानता है।

शिष्य पूछता है कि यदि आत्मा का गुरु आत्मा ही है, तब उपाध्याय के पास अध्ययन क्यों किया जाये ?

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति ।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ।।३५।।

(अज्ञ:) अज्ञानी प्राणी (विज्ञत्वमायाति) दूसरे के द्वारा पढ़ाये जाने पर भी अनेक प्रयत्न करने पर भी ज्ञानी नहीं बनाया जा सकता है। (विज्ञ) जो ज्ञानी है (नाज्ञत्वमृच्छति) उसको कोई लाख प्रयत्न करके भी अज्ञानी नहीं बना सकता है। (निमित्तमात्र मन्यस्तु) उपाध्याय, शिक्षक, पढ़ाने वाले गुरु और पुस्तक, कलम, पाटी इत्यादि सब ही बाह्य निमित्त मात्र ही है। (गतेर्धर्मास्ति कायवत्) जीव और पुद्गल जब एक स्थान को छोड़कर गमन करते हैं तब धर्मद्रव्य उदासीन रूप से गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को सहायक हैं।

आगे ध्यान की योग्यता और ध्यान के योग्य क्षेत्र का कथन करते हैं।

अभवच्चित्तविक्षेप एकान्ते तत्त्व संस्थितिः ।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः ।।३६।।

(एकान्ते) एकान्त स्थान जहाँ पर स्त्री, पुरुष व बालकों का, नपुंसक स्त्रियों का आवागमन न हो, ऐसे एकान्त स्थान में (अभवच्चित विक्षेप) जहां पर बैठने पर मन में किसी प्रकार से आकुलता या रागद्वेष का क्षोभ न हो। (तत्त्वसंस्थिति:) शंकादिक दोषों से रहित तत्त्व आत्मा स्वभाव का अनुभवी निडोल चित्त वाला विवेकी (योगी) योगी को (अभियोगेन) प्रमाद निद्रा का त्यागकर सावधानी से (तत्त्वं निजात्मन:) अपने आत्म तत्त्व का (अभ्यस्येद्) ध्यान करना चाहिए एवं अभ्यास करें।

यथा यथा समायाति सम्वित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।।३७।।

(यथा-यथा) जैसे जैसे (संवित्तौ) ज्ञान में (उत्तम् तत्त्वं) श्रेष्ठ आत्म तत्त्व (समायाति) का अनुभव हो जाता है (तथा-तथा) वैसे-वैसे (विषया सुलभा अपि) पंचेन्द्रियों के विषय के योग्य सब वस्तुयें सरलता पूर्वक मिलने पर भी (न रोचन्ते) अच्छी नहीं लगती हैं।

यथा यथा न रोचन्ते विषया: सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।३८।।

(यथा-यथा) जैसे जैसे (विषया: सुलभा अपि) पंचेन्द्रियों के भोगने योग्य पदार्थ सरलता पूर्वक जीव को प्राप्त होने पर भी (न रोचन्ते) रुचिकर नहीं लगते। वह उनसे विरक्त होता है। (तथा-तथा) वैसे-वैसे (संवित्तौ वैराग्य) भाव दृढ़ धारा में (उत्तम) श्रेष्ठ (तत्त्वं) आत्मा का स्वरूप (समायति) अनुभव गोचर हो जाता है।

निशामयति नि:शेषमिंद्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते।।३९।।

(नि: शेषम्) सम्पूर्ण (जगत्) संसार (इन्द्र जालोपमम्) इन्द्र जाल के समान बनावटी नि:सार (निशामयति) रात्रि के अंधेरे के समान जानकर जो छोड़ देते हैं। (आत्मलाभाय) शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए (स्पृहयति) इच्छा होती है। (अन्यत्र) आत्म ध्यानी यदि दूसरी जगह कहीं भी जावे वहां उसको (अनुतप्यते) दु:ख की प्राप्ति नहीं होती है।

ध्यान करने वाले साधु की कैसी क्रिया और भाव होना चाहिए।

इच्छत्येकान्तसंवासं निर्जनं जनितादर:।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम्।।४०।।

(जनितादर:) जिस साधु को आत्म ध्यान करना ही प्रिय है (स)

वह (निर्जनं) जहां पर भिखारी व स्त्री, नपुंसक व बालकों को आवागमन न हो ऐसे निर्जन स्थान (एकान्तसंवासं) एकान्त में उठने बैठने को (इच्छति) चाहता है। (निजकार्यवशात्) अपने कुछ भी कार्य वश (किंचित्) थोड़ा सा (उक्त्वा) कहकर उसको वहीं (द्रुतम्) शीघ्र ही (विस्मरति) भूल जाता है।

ध्यान का स्वरूप व उपयोग की दशा का कथन

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति।।४१।।

(स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु) जिसने इन्द्रिय व्यापार को संकुचित कर दिया और सब बाह्य व अंतरंग की क्रिया व वचन का त्याग करके अपने आत्मा को आत्मा में स्थिर कर लिया ऐसा मुनि (ब्रुवन्नपि) बोलता भी (न ब्रूते) नहीं बोलता है। (गच्छन्नपि) गमन करता हुए भी (न गच्छति) नहीं विहार करता है। (पश्यन्नपि) बाह्य वस्तुओं को देखता हुआ भी (न पश्यति) नहीं देखता है। इसका कारण यह है कि बाह्य वस्तु से जिसका उपयोग हटकर अपने आत्मध्यान व आत्म स्वभाव की अनुभूति में मगन है, तत्काल में ही उसको एक आत्मा का ही रस अनुभव में आता है।

पुनः ध्यान का ही स्पष्टीकरण करते हैं।

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात् क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः।।४२।।

(योगपरायणः) अपने आत्म ध्यान में लीन हुआ सर्व बाह्य विकल्पों से रहित (योगी) मुनि (इदं) यह (किम्) क्या है? (कीदृशम्) कैसा है? (कस्य) किसका है (कस्मात्) किससे किस कारण से (चैव)

और निश्चय से (क्व) कहाँ है? (इति) इसी प्रकार (अविशेषयन्) विशेष विचार न करता हुआ (स्वदेहमपि) अपने शरीर को भी (नावैति) नहीं जानता है।

आत्मध्यानी मुनि को ऐसी चेष्टा क्यों?

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम्।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति।।४३।।

(यः) जो मुनि (यत्र) जहाँ पर रहता है। (स) वह (तत्र) उसी स्थान से (रतिम्) राग (कुरुते) करता है (यः) जैसे जो मानव (यत्र) जिस स्थान में (रमते) क्रीडा करता है (सः तस्मात्) वह उस स्थान से (अन्यत्र) दूसरे स्थान को (न) नहीं (गच्छति) जाता है क्योंकि उसको वही स्थान रमणीक लगता है उसी प्रकार उस आत्मध्यानी को भी आत्म ध्यान में लीन रहना प्रिय लगता है और आत्मा में ही निवास करना अच्छा लगता है।

आत्मध्यानी मुनि के कर्मबंध नहीं होता है

आगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्धयते न विमुच्यते।।४४।।

(तद्विशेषाणां) शरीर और शरीर से सम्बन्ध रखने वाले इन्द्रियों के इष्ट और अनिष्ट विषयों की (आगच्छन्) प्राप्ति होने पर (अनभिज्ञः) मानो जानता ही नहीं (जायते) ऐसा बन जाता है। (च) और (अज्ञात तद्विशेषस्तु) जिस आत्मा को बहिरात्मा अवस्था में नहीं जाना था उस आत्मा की विशेषताओं को समझने वाला योगी (न बद्धयते) ज्ञानावरणादिक कर्मों का बंध नहीं करता अथवा कर्मों से नहीं बंधता है। (विमुच्यते) और पूर्व में जिन कर्मों को बांधा था

उनकी निर्जरा करता है अथवा कर्मों से मुक्त हो जाता है।

पर पदार्थों को जब तक अपना मानता है तभी तक जीव दुखी होता है

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।।४५।।

(परः) शिष्य, प्रति, शिष्य, पीछी कमंडल संस्थारादि पर पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। (परः) स्त्री, पुत्र, शरीर, मकान, धन, धान्य, दास-दासी, सोना, चांदी, ताँबा, लोहा और रसायनादि अपने आत्मा से भिन्न हैं अथवा पराश्रित हैं। (ततः) उन बाह्य पदार्थों को अपने मानने से (दुःखं) दुख होता है। (आत्मा एव) निश्चय से आत्मा ही (आत्मा) आत्मा के लिए (सुखम्) सुख का कारण है। जब आत्मा परभाव से मुक्त हो जाता है तब सब बाह्य के राग द्वेष मत्सर जिन दुर्भावों के कारण दुख होता था जब ये आत्मा से भिन्न हो गये तब आत्मा ही आत्मा के लिए सुख देता है। (अत एव) इसी कारण (महात्मानः) हे महात्मा पुरुषों ! (तन्निमित्तम्) उस आत्मा की प्राप्ति के लिए (कृतोद्यमः) प्रयत्न करो अर्थात् अन्य सब व्यापारों को छोड़कर आत्मा की प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नशील होवो।

पर द्रव्यों में राग द्वेष करने वाला व्यक्ति संसार में भ्रमण करता है।

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योऽभिनंदति तस्य तत्।
न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति।।४६।।

(अविद्वान् पुद्गल द्रव्यं) अपने को दिखाई देने वाला पुद्गल द्रव्य जो अपने को स्कंध रूप में दिखाई देता है वह जड़ और अचेतन है। (यः) जो प्राणी, (तस्य) उस पुद्गल द्रव्य को (अभिनंदति) प्राप्त

करने का उद्योग करता है। (तद्) वह (जन्तोः) बहिरात्मा (चतुर्गतिषु) देव, नरक तिर्यंच और मनुष्य इन चारों गतियों में (जातु) उत्पन्न होता है और मरता है। (सामीप्यं) उन चारों गति में रत (न मुञ्चति) उन चारों गतियों के कारण राग और द्वेष को नहीं छोड़ता है। इस कारण से संसार में भ्रमण करता है।

आत्म ध्यान का फल बताते हैं

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिः स्थितेः।
जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः।।४७।।

(व्यवहार बहिः स्थितेः) व्यवहार चारित्र से बाहर ठहरे हुए (आत्मानुष्ठान निष्ठस्य) आत्म ध्यान में मगन (योगिनः) मुनि के (योगेन) आत्म-ध्यान के द्वारा (परमानंद) उत्कृष्ट सुख जो सुख इन्द्र, महेन्द्र चक्रवर्ती आदि को कभी भी प्राप्त नहीं हुआ, (जायते) ऐसा अनुपम सुख प्राप्त होता है।

आत्म ध्यान से प्राप्त हुआ सुख योगी मुनि को क्या लाभ पहुंचाता है? इसका उत्तर

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः।।४८।।

(आनंदः) आत्म ध्यान का आनन्द लेने वाला (योगी) मुनि (अनारतम्) पंचेन्द्रियों से होने वाले सुखों को दुःख रूप जानकर उनमें रत नहीं होता है (उद्धं) निरन्तर बहुत से (कर्मेन्धनम्) कर्म रूपी ईंधन को (दहति) जला देता है। (बहिर्दुःखेष्वचेतनः) बाह्य में उपसर्ग या परीषहजन्य दुःख के आ जाने पर उसको उनका भान नहीं होता है। (असौ) वह ध्यानी योगी मुनि (न खिद्यते) खेद खिन्न

नहीं होता है।

मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक मुमुक्षुकों को क्या करना चाहिए?

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।।४९।।

(ज्योतिः) जिस प्रकाश को (अविद्याभिदुरं) मिथ्यात्व अज्ञान रूपी अंधकार जिसका नाश नहीं कर सकता है। (परं) उत्कृष्ट (महत्) महान (ज्ञानमयं) केवलज्ञान स्वरूप है (तत् प्रष्टव्यं) उस आत्मा की केवल ज्ञान ज्योति के विषय में उसके जानने वाले विद्वान से पूछना चाहिए। (मुमुक्षुभिः) मुमुक्षुमुनियों के द्वारा उस आत्मज्ञान ज्योति की (तदेष्टव्यं) खोज प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिए। (तदद्रष्टव्यं) उसके ही दर्शन करना चाहिए अथवा उसी को अनुभव में लाना चाहिए। यही योगियों का कर्तव्य है।

अब सब ग्रन्थों का सार जो है उसे कहते हैं।

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।५०।।

(जीवः) आत्मा (अन्यः) भिन्न है (च) और (पुद्गल) यह शरीर पुद्गल द्रव्य (अन्यः) जीव से भिन्न है। (इति) इस प्रकार (असौ) यह (तत्त्व संग्रहः) आत्मतत्त्वों का संक्षिप्त सार है। (यत्) जो (अन्यत्) कुछ अन्य बातें उसके विषय में (उच्यते) कही जाती है। (सः) वह (तस्यैव) उस संक्षिप्त सार का ही (विस्तरः अस्तु) विशेष कथन है।

शास्त्राध्ययन का फल साक्षात् एवं परंपरा से मोक्ष को देने वाला है।

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्
मानापमानसमतां स्वमताद् वितन्य।।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा,
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः।।५१।।

(भव्यः) जो भव्य जीव (इष्टोपदेशं) इस इष्टोपदेश शास्त्र का (सम्यग्) भली प्रकार से (अधीत्य) मनन और अध्ययन करेगा (धीमान्) वह बुद्धिमान (स्वमताद्) अपने मन्तव्य से (मानापमानसमतां) सम्मान और अपमान के भाव को छोड़कर समता भाव को (वितन्य) फैलाकर (मुक्ताग्रहः) एकान्त हठग्रह रूप मान्यता को छोड़कर (सजने) ग्राम नगरादिक में (वा) अथवा (वने) जंगल में (विनिवसन्) निवास करता हुआ (निरुपमाम्) उपमारहित (मुक्तिश्रियं) मोक्ष रूपी लक्ष्मी को (उपयाति) प्राप्त करता है।

आचार्य पूज्यपाद देवनंदी महाराज ने इस ग्रन्थ में मुमुक्षु जीवों को, मोक्ष की प्राप्ति होना इष्ट है, उस इष्ट वस्तु की प्राप्ति के विषय का उपदेश दिया है। इस ग्रन्थ में आत्म तत्त्व और आत्म तत्त्व से भिन्न शरीर और ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म तथा रागद्वेष आदि भाव कर्म है। इन दोनों को भिन्न जानकर जो भव्य अपने आत्मा को अपना इष्ट मानकर अपने आत्मा में आत्मा के द्वारा अपने आत्मा को ध्यान में स्थिर करता है, उसका ही इस ग्रन्थ में उपदेश है। इसलिए इस ग्रन्थ का नाम इष्टोपदेश सार्थक है। इस इष्टोपदेश ग्रन्थ को जो भव्य जीव भली प्रकार से पढ़कर उसका मनन और उसका आचरण करता है और उसकी भावना करता है वह भव्य जीव शीघ्र ही मुक्ति के धाम मोक्ष का अनंतसुख प्राप्त करता है।

इति भगवत् श्री पूज्यपाद देवनंदी विरचित इष्टोपदेशः

●

समाधि तन्त्र

श्री पूज्यपाद आचार्य विरचित

येनात्माऽबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ।।१।।

(येन) जिसके द्वारा (आत्मा) अपना आत्मा (आत्मैव) अपना आत्मा ही (च) और (अपरं) आत्मा से भिन्न चेतन, अचेतन और चेतनाचेतन पदार्थ (परत्वेनैव) पर होने से ही जाने गये थे। (तस्मै) उसके लिए (अक्षयानंतबोधाय) जिनका ज्ञान तेज अविनाशी है। उस सिद्धात्मा को (नमः) नमस्कार करता हूँ।

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती,
विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः ।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे,
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ।।२।।

(यस्य) जिसकी (अनीहितुः) इच्छा रहित (अपि) होने पर (अवदतोऽपि) नहीं बोलते हुए भी (तीर्थकृतः) तीर्थ के प्रवर्तक अथवा तीर्थंकर की (भारती) दिव्य ध्वनि व समवशरणादि (विभूतयः) वैभव (जयंति) जयवंत हैं। (तस्मै शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे सकलात्मने) जिनके पांच विशेषण पाये जाते हैं। उस परमात्मा (जिनाय) जिनेन्द्र भगवान के लिए (नमः) नमस्कार हो।

विशेष यह है कि जिन्होंने अक्षय अविनाशी पद को प्राप्त किया है वे ही शिव हैं। धात्रे कहने का कारण यह है कि जिनके चार दिशाओं में चार मुख दिखाई देते हैं, लोकालोक के स्वरूप का कथन करने वाले हैं वे ही धात्रे कहे जाते हैं। जो जन्ममरणादिक अठारह दोषों

को क्षय कर मोक्ष सुख को प्राप्त हैं, उनको सुगत कहते हैं। जिनके निर्मल ज्ञान में लोकालोक के ज्ञेय पदार्थ विद्यमान हैं अथवा तीन लोक के पदार्थों को युगपत जानते हैं, उन्हीं को वैष्णव कहते हैं। जो बहिरात्मा और अंतरात्मा भाव को छोड़कर सकलात्मा हो गये हैं, जिन्होंने अपने पूर्ण गुणों का विकास कर अरहंत अवस्था को प्राप्त किया है उन जिनेन्द्र भगवान को मन, वचन और काय से नमस्कार करता हूँ। पूर्व कथित विशेषण जो हैं वे अरहंतों के सिद्धों के ही पाये जाते हैं। इसीलिए ग्रन्थकार ने अरहंत व सिद्धों को ही नमस्कार किया है।

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां, विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये।।३।।

(अथ) इस प्रकार अरहंत सिद्ध परमेष्ठियों को नमस्कार करने के अनंतर (श्रुतलिंगेन) श्रुत लिंग के द्वारा (समाहितान्तः करणेन) अपने चित्त को एकाग्र करके (यथात्मशक्ति) अपनी आत्म शक्ति के अनुसार (सम्यक्) भली प्रकार (समीक्ष्य) जानकर (कैवल्य सुखस्पृहाणां) शुद्धात्म सुख का अनुभव प्राप्त करने के इच्छुक प्राणियों को (विविक्तं आत्मानं) प्रकाशमान शुद्धात्म तत्त्व को (अभिधास्ये) दिखलाऊंगा।

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत्।।४।।

आत्मा संसारावस्था में तीन प्रकार की होती है (बहिरन्तःपरः) बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा (त्रिधात्मा सर्व देहिषु) ये तीनों ही प्रकार की आत्मा सब देह धारियों के विद्यमान है। (वहिस्त्यजेत्) बहिरात्मा भाव को छोड़ना चाहिए। (मध्योपायात्) अंतरात्म भाव

को प्राप्त करना चाहिए। (परमम्) अन्तरात्म भाव के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना चाहिए।

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरन्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः।।५।।

(शरीरादौ) जो शरीर व शरीर से संबंधित स्त्री पुत्रादि (जातात्मभ्रान्ति) भ्रम से उन पर पदार्थों चेतन अचेतन और चेतनाचेतन को स्वीकीय पदार्थ मानता है। (बहिरात्मा) वह बहिरात्माजीव (अस्ति) है। (चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः) मन से, तत्त्वों के विषय में भ्रम दूर हो गया है और पर पदार्थों को भिन्न जानकर मूर्छा को छोड़कर जो भाव हुआ है (अन्तरः) वह अंतरात्मा (अस्ति) है। (परमात्मातिनिर्मलः) ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म, और द्वेष-रागादि भावकर्म, और शरीर नौ कर्म से रहित परमात्मा अत्यन्त निर्मल है।

उस परमात्मा के पर्यायवाची नामों को कहते हैं।

निर्मलः केवल सिद्धो विविक्तः प्रभुरक्षयः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः।।६।।

पूर्व में वर्णित परमात्मा (निर्मलः) राग द्वेषादि अठारह दोषों से रहित तथा अष्ट कर्मों से रहित होने के कारण अत्यंत निर्मल हैं। (केवल) पर पदार्थों के सम्बन्ध का अभाव होने से एक प्रकाशमान आप ही हैं। (शुद्धः) सब पाप मल पुञ्ज से रहित होने से शुद्ध हैं। (विविक्तः) आवरण के अभाव होने से प्रकाशमान हैं तथा अन्य सबसे भिन्न हैं। (प्रभुः) तीन लोकों का स्वामी व अर्चनीय होने से प्रभु हैं। (परमेष्ठी) सर्व प्राणियों को इष्ट होने से परमेष्ठी हैं अथवा श्रेष्ठ पूजनीय होने से (परात्मा) सब विभाव भावों से रहित (परमात्मा) संसार के बन्धन से मुक्त होने के कारण उत्कृष्टात्मा है। (ईश्वरः)

अनंत स्वचतुष्टय से सहित एवं पर चतुष्टय से रहित होने से ईश्वर हैं। (जिनः) मोहनीय, दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अंतरायादि सर्व घातिया और देशघाति कर्मों को जीत लेने से जिन हैं। (अक्षयः) अक्षय अविनाशी शाश्वत पद को प्राप्त कर लेने से अक्षय हैं।

बहिरात्मा जो देहादि में अपनत्व भाव प्रगट करता है उसे कहते हैं–

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुख।
स्फुरितश्चात्मनोदेहमात्मत्वेनाध्यवस्यति।।७।।

(बहिरात्मा) मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव (इन्द्रियद्वारैः) पांचों इन्द्रिय रूपी दरवाजों से (स्फुरितः) विषयों को प्राप्तकर परमानन्द मानता है। (आत्मज्ञानपराङ्मुख) तथा वह आत्मज्ञान से पराङ्मुख होता हुआ (देह) शरीर को (आत्मत्वेन) आत्मा रूप से (अध्यवस्यति) अनुभव करता है।

वह चारों गतियों में भ्रम से जिस शरीर को प्राप्त करता है वहां स्वयं को वैसा ही अनुभव करता है। सो दिखाते हैं–

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान्मन्यते नरम्।
तिर्यञ्चं तिर्यङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा।।८।।
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः।।९।।

(अविद्वान्) अज्ञानी बहिरात्मा (नरदेहस्थं) मनुष्य शरीर को प्राप्त कर (आत्मानं) आत्मा को (नर) मनुष्य (मन्यते) मानता है। (तिर्यञ्च तिर्यङ्गस्थं) तिर्यंच शरीर को पाकर स्वयं को तिर्यंच मानता है। (सुराङ्गस्थं सुरं तथा) देव गति में दिव्य शरीर को पाकर अपने को देवानुभव करता है। (नारक नारकाङ्गस्थं) नारकी शरीर को

प्राप्त कर अपने को नारकी मानता है। (तत्वत:) वास्तव में यदि विचार किया जाय तो आत्मा (स्वयं) स्वभाव से (तथा) मनुष्य, देव, नारकी या तिर्यंच (न) नहीं है। (अनंतानंतधीशक्ति:) वह तो अनंतानंत पदार्थों को जानने वाली अनंतानंत ज्ञान से युक्त अनंत शक्ति वाली है। (स्वसंवेद्य) अपने को आप ही जानने वाला होने से (अचलस्थिति:) अपने चैतन्य स्वभाव से चलायमान नहीं है। शरीर से परिवर्तन कर अचेतन नहीं होता है।

देह में आत्मा का एकत्वपना दर्शाते हैं।

स्वदेहसदृशं दृष्टवा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढ़: परत्वेनाध्यवस्यति।।१०।।

(मूढ:) मोही अज्ञानी जीव (परात्माधिष्ठितं) पर पदार्थ में स्थित होता हुआ (अचेतनं) अचेतन पुद्गल (परदेहं) से निर्मित शरीर को (स्वसदृशं) अपने आत्मस्वरूप (दृष्टवा) देख व जानकर (परत्वेन) अन्य आत्म रूप से (अध्यवस्यति) अनुभव करता है व जानता है।

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्त्तते विभ्रम: पुंसां पुत्रभार्यादिगोचर:।।११।।

(अविदितात्मनां) अज्ञानी मूढ, आत्मा को न जानने वाले बहिरात्मा (पुंसां) मनुष्यों के (देहेषु) शरीरों में (स्वपराध्यवसायेन) स्वपर के विवेक से शून्य (मुत्वा) होता हुआ (पुत्रभार्यादिगोचर:) पुत्र स्त्री आदि के सम्बन्ध को (विभ्रम:) भ्रम से (वर्तति) अपने आप रूप मानता है।

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढ:।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते।।१२।।

(तस्मात्) उस भ्रम बुद्धि के कारण (अविद्यासंज्ञिता) अविद्या का संस्कार होने के कारण (संस्कार:) भावना (दृढ:) मजबूत (जायते) हो जाती है। (येन) जिसके द्वारा (लोक:) संसारी प्राणी (अंगं एव) शरीर को ही (पुन: अपि) कालान्तर अथवा भवांतर में (स्वं) अपना (अभिमन्यते) मानता है।

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम्।।१३।।

(एतेन) मिथ्यात्व के संस्कार से ही जीव (देहे) शरीर में (स्वबुद्धि:) अपनापन की बुद्धि अथवा आत्मबुद्धि रखता है। (निश्चयात्) निश्चय से (आत्मानं) आत्मा को (युनक्ति) जोड़ता है। वह एक रूप मानता है। (स्वात्मनि एव) अपने आत्मा में ही (आत्मधी:) अन्तरात्मा पुन: शरीर से (देहिनं) आत्मा को (तस्मात्) इसी कारण (वियोजयति) भिन्न करके दिखता है।

देहेष्वात्मधिया जाता: पुत्रभार्यादिकल्पना:।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत्।।१४।।

(जाता:) प्रवृत होते हैं। किसमें? (पुत्रभार्यादिकल्पना:) स्त्री, पुत्र, बहिन आदि (देहषु) शरीरों में। क्यों? (आत्मधिया) आत्मबुद्धि रखने वाले बहिरात्मा (ताभि:) उन कल्पनाओं के द्वारा (आत्मन:) आत्मा की (सम्पतिं) स्त्री पुत्रादि को संपत्ति (मन्यते) मानता है। (हा) खेद है कि (जगत्) संसारी प्राणी (हतं) ठगे जा रहे हैं।

मूलं संसारदु:खस्य देह एवात्मधीस्तत:।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रिय:।।१५।।

(संसार दु:खस्य) संसार में जीवों के दु:खों का (मूल) मूल कारण

(देहे एव) शरीर में ही है (आत्मधी:) आत्मबुद्धि रखने वाला, (एनां) इनसे आत्म बुद्धि को (त्यक्त्वा) छोड़कर (बहिरव्यापृतेन्द्रिय:) बाह्य में पंचेन्द्रिय और उनसे सम्बन्धित पदार्थों से भिन्न (अन्त:) अन्तरात्मा में (प्रवेशित्) प्रवेश करना चाहिए।

अन्तरात्मा आत्मा में ही आत्मबुद्धि करता है

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारै: पतितो विषयेष्वहम्।
तान्प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वत:।।१६।।

(मत्त:) पागल शराब पिये हुए के समान (च्युत्वा) स्वस्वरूप से च्युत होकर (अहं) मैं (विषयेषु) पंचेन्द्रियों की विषय वासनाओं में (इन्द्रिय द्वारै:) पंचेन्द्रिय रूपी दरवाजों से (पतित:) गिर गया (तान्) उन पंचेन्द्रिय के विषयों को (प्रपद्य) पाकर (अहम्) मैंने (पुरा) अनादिकाल से (माम्) स्वस्वरूप को कि मैं आत्मा हूँ। (इति) इस प्रकार (तत्त्वत:) यथार्थ (न) नहीं (विद) जाना था। इसलिए बहिरात्मा हो रहा।

अब आत्मा के जानने के उपाय को कहते हैं।

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषत:।
एष योग: समासेन प्रदीप: परमात्मन:।।१७।।

(एवं) इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा (वहिर्वाचं) लौकिक वार्तालाप को (त्यक्त्वा) छोड़कर (अशेषत:) सम्पूर्ण रूप से (अन्त:) अन्तर जल्प को भी (त्यजेत्) छोड़ देना चाहिए। (एष:) यह (समासेन) संक्षेप रूप से (योग:) आत्मयोग जो सब इन्द्रियों के विषयों को निराश करने वाला (परमात्मन:) परमात्मा को (प्रदीप:) दिखाने वाले दीपक के समान है।

अन्तरंग व बहिरंग वचनालाप का कहाँ त्याग करें?

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्।।१८।।

(यत्) जो (मया) मेरे द्वारा (रूपंदृश्यते) शरीरादि एवं वर्ण विशेष देखे जाते हैं (तत्) वह (न जानातिसर्वथा) रूपादि रहित अन्तरात्मा को नहीं जानते। क्योंकि वे जड़ हैं। (जानन्) जानता हुआ (रूपं) जड़ पुद्गल द्रव्य (न दृश्यते) नहीं दिखायी देता है। (अतः) इसलिए (अहं) मैं, (केन) किसके साथ (ब्रवीमि) बातचीत करूँ।

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान्प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः।।१९।।

(यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं) मैं जो दूसरे गुरु शिष्यादि के द्वारा प्रतिपादन योग्य हूँ (यत्परान् प्रतिपादये) जो मैं मेरे से भिन्न गुरु शिष्यादि का पालन पोषण करता हूं। (तत्) यह बात (मे) मेरी (उन्मत्त चेष्ठितं) पागल पन की चेष्टा के समान है। (अहं) मैं (निर्विकल्पकः) गुरु शिष्य के विकल्प से रहित (यत्) एक आत्म चैतन्य स्वरूप हूँ।

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्।।२०।।

(अहं) मैं (तत्) वह (स्वसंवेद्यमस्मि) अपने को आप अपने द्वारा जानने वाला हूँ (यत्) जो (अग्राह्यं न गृह्णति) ग्रहण करने योग्य नहीं हैं उन राग द्वेषादि विकारी, विभाव भावों को ग्रहण नहीं करता हूँ। (गृहीतं न मुञ्चति) जो भाव को ग्रहण किया है उसको छोड़ता नहीं हूं। (अपि) फिर भी (सर्वथा) त्रिकालवर्ती (सर्वः) समस्त

लोकालोक पदार्थों को (जानाति) जानता है।

आत्मा अपनी पुरानी भूल पर विचार करता है।

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम्।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात्।।२१।।

(स्थाणौ) वृक्ष के सूखे ठूँठ में (उत्पन्नपुरुषभ्रान्ते) यह कोई आदमी खड़ा है ऐसा संशय उत्पन्न हो जाता है। भ्रम से ठूंठ में पुरुष की (चेष्टितम्) कल्पना करता है। (तद्वत) उसी प्रकार (पूर्वं) पहले मिथ्यात्व कर्म के उदय में रहने के कारण (देहादिषु) शरीर स्त्री पुत्रादि में (आत्मविभ्रमात्) अपने आत्मा के भ्रम से (मे) मेरी है। ऐसी (चेष्टितं) चेष्टा थी।

इस समय इसका परिज्ञान कैसे होता है कि मेरी चेष्टा कैसी है? सो कहते हैं–

यथासौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः।।२२।।

(यथा) जिस प्रकार (असौ) यह (स्थाणौ) सूखे ठूँठ के विषय में (पुरुषाग्रहे) पुरुष रूप भ्रम से (निवृत्ते) निवृत्त हो जाता है (चेष्टते) उस समय जो समझता है (तथा) उसी प्रकार जब (देहादौ) शरीर एवं शरीर से संबंधित स्त्री, पुत्र, मकान, धन आदि के विषय में (विनिवृत्तात्मविभ्रमः) जो आत्म बुद्धि रूप भ्रम था वह छूट जाता है तब (चेष्टोस्मि) मैं स्वयं को पर द्रव्य चेतन, अचेतन और चेतनाचेतन से भिन्न समझता हूँ।

येनात्मनानुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः।।२३।।

(येनात्मा) जिस आत्मा द्वारा (आत्मनि) आत्मा में (आत्मना एव) अपने आत्मा के द्वारा ही (आत्मनानुभूयते) आप अपने आत्मा का अनुभव करता है। (सोऽहं) वह मैं ही हूँ (तन्न) वह नपुंसक नहीं, (न सा) वह स्त्री नहीं, (न असौ) वह पुरुष भी नहीं, (न एक:) एक भी नहीं, (न द्वौ) दो भी नहीं, (न बहु:) और बहरूपिया भी नहीं हूँ।

यद्भावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थित: पुन: ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ।।२४ ।।

(यद्भावे सुषुप्तोऽहं) मैं जिस आत्मा को न जानने के कारण भूला हुआ था अथवा सोया हुआ था। (पुन:) फिर (यद्भावे) जिस भाव के होने पर (व्युस्थित) सचेत होकर जागकर उठ बैठा। (तत्) वह (अतीन्द्रियम्) जो इन्द्रिय द्वारा गोचर न होने वाले (अनिर्देश्य) वचन द्वारा कथन न किये जाने वाले (स्वसंवेद्य) अपने द्वारा अपने में अपने को अनुभव में आने योग्य है वह (अहमस्मि) मैं ही हूँ।

आत्मानुभूति होने पर वह शत्रु मित्र के भाव का त्याग करता है

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यत: ।
बोधात्मानं तत: कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रिय: ।।२५ ।।

(तत्त्वत:) यथार्थ वस्तु का विचार करने पर (बोधात्मानं) ज्ञान व दर्शनोपयोग रूप चैतन्य (माम्) मुझ आत्मा को (प्रपश्यत:) सम्यक्त्व पूर्वक देखता है (अत्रैव रागाद्या:) उसके यहां इस भव में राग द्वेषादि विकारी भाव (क्षीयन्ते) नष्ट हो जाते हैं। (तत:) इस कारण से (मे) मेरा (कश्चित्) कोई भी प्राणी या अचेतन द्रव्य (शत्रु: न) वैरी नहीं है। (न प्रिय:) और नहीं कोई मेरा प्रिय मित्र (अस्ति) है।

आत्मा विचार करता है कि यह जगत मेरा शत्रु व मित्र नहीं है।

मामपश्यन्नयं लोका न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोका न मे शत्रुर्न न प्रियः।।२६।।

सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि (माम्) मुझको अथवा मेरे स्वभाव को (अपश्यन्) न देखता हुआ (अयं लोकः) यह लोक जो छह द्रव्यों के रहने का स्थान है (न मे) वह न मेरा (शत्रुः) बैरी (न च प्रियः) और न वह मेरा प्यारा मित्र (अस्ति) है। (माम्) मुझे मेरे शुद्धात्म स्वरूप को (प्रपश्यन्) देखने जानने वाला (अयं लोकः) ये सब प्राणी (न मे शत्रुः) मेरे बैरी नहीं हैं। (न च प्रियः) और मेरे प्यारे मित्र भी नहीं हैं।

आगे परमात्मा का ध्यान करने का उपाय बताते हैं।

त्यक्त्वैव बहिरात्मानमंतरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्प वर्जितम्।।२७।।

(बहिरात्मनं) मिथ्यात्व रूप अज्ञान भाव रूप से जो मिथ्यादृष्टि पर में आत्मबुद्धि को (त्यक्त्वा) छोड़कर (एव) ही (अंतरात्म व्यवस्थितः) सम्यग्दृष्टि होकर अंतरात्मा में अच्छी तरह स्थित होकर (सर्व संकल्प वर्जितम्) सब संकल्प विकल्प रूपी जाल को छोड़कर ही (परमात्मानं) परमात्मा का (भावयेत्) ध्यान करना चाहिए, जिससे अक्षय अलभ्य सुख की प्राप्ति हो सके।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्।।२८।।

(पुन:) फिर (तस्मिन्) उस परमात्मा में (सोहं) वह परमात्मा मैं ही हूं। (इति) इस प्रकार (भावनया) ध्यान करने से (आत्तसंस्कार:) परमात्म स्वरूप की ध्यान के संस्कार से अपनी धारणा बना लेता है। (तत्रैव) उसी समय में ही (दृढ़संस्कारात्) अटल ध्यान के बल से (आत्मनि) आत्मा में (स्थितिम्) स्थिरता को (लभते) प्राप्त होता है और परमात्मा बन जाता है।

भय का कारण पर बुद्धि है

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मन:।।२९।।

(यत्रमूढात्मा) जहां पर मोही प्राणी (विश्वस्त:) विश्वास करता है कि ये माता-पिता, पुत्र-पुत्री (तत:) उससे (अन्यत्) भिन्न अन्य कोई (भयास्पदम) दूसरा विशेष भय का कारण (न) नहीं दिखायी देता है। (यत:) जिससे (भीत:) भयभीत होता है। (तत:) उस शुद्धात्मभाव से (अन्यत) भिन्न स्त्री पुत्र-पिता, मातादि (अभयस्थानं) अभय के कारण (आत्मन:) आत्मा के (न) नहीं (भवति) हो सकते हैं।

परमात्म तत्त्व का बोध कब होता है सो कहते हैं

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मन:।।३०।।

(सर्वोन्द्रियाणि संयम्य:) स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण तथा अन्त: कर्ण मन के विषय विकारों को रोककर (स्तिमितेन) एकाग्रचित्त होकर (अन्तरात्मना) अंतरात्मा के द्वारा (यत्क्षणं) जिस क्षण में (पश्यत:) अपने आपको अनुभव करने वाले व्यक्ति के (परमात्मन:) परमात्मा का (तत्तत्वं) वह तत्त्व स्वरूप (भाति) उगते

हुए सूर्य की तरह प्रकाशमान होता है।

अब कहते हैं कि मैं ही उपास्य परमात्मा हूँ।

यः परमात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।।३१।।

सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा विचार करता है कि (यः) जो (परमात्मा) परमशुद्ध सकल निकल परमात्मा (सः एव) वह ही (अहम्) मैं हूँ। (यः) जो (अहं) मैं हूँ (सः परमः) वह परमात्मा (अस्ति) है। (अतः) इस कारण (मया) मेरे द्वारा (अहम् एव उपास्यः) मैं ही उपासना करने योग्य हूँ। (इति) इस प्रकार (स्थितिः) वस्तु की व्यवस्था (अस्ति) है।

आत्म चिन्तन की विधि को कहते हैं

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानंदनिर्वृतम्।।३२।।

(विषयेभ्यो) जिन पंचेन्द्रियों को विषय वासनाओं से (माम्) मुझको (प्रच्याव्यः) छुड़ाकर (मया एव) मेरे द्वारा ही (मयि) मुझ में (स्थितम्) विद्यमान (परमानंदनिर्वृत्तम्) परमानंद से परिपूर्ण (बोधात्मनं) केवलज्ञानमय शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा को (अहं) मैं (प्रपन्नः अस्मि) प्राप्त हुआ हूँ।

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः।।३३।।

(एवं) इस प्रकार (यः) जो व्यक्ति (देहात्) अपने शरीर से (परम्) भिन्न (अव्ययं) जिसका कभी नाश न हो (आत्मानं) अपने

आत्मा को (न वेत्ति) नहीं जानता है (सः) वह योगी (परमं) उत्कृष्ट (तपः) बहिरंग तप (तप्त्वापि) तपते हुए भी (निर्वाणं) मोक्ष को नहीं (लभते) प्राप्त होता है।

अब आगे बताते हैं कि आत्मध्यानी को अपने ऊपर आये उपसर्गों का अनुभव नहीं होता है।

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हाद निर्वृत्तः।
तपसा दुष्कृतं घोर भुञ्जानोऽपि न खिद्यते।।३४।।

(देहान्तर) शरीर से भिन्न (आत्मज्ञानजनिताल्हाद निवृत्तः) भेद विज्ञान से उत्पन्न हुए परम आल्हाद रूप सुख का अनुभव करता हुआ साधु (तपसा) तपस्या के द्वारा (घोरं) भयानक (दुष्कृतं) शारीरिक कष्टों को (भुञ्जानोपोऽपि) भोगता हुआ भी (न खिद्यते) खेद को प्राप्त नहीं होता है।

मन से आत्मा का अनुभव कब होता है? यह बताते हैं–

रागद्वेषाविकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
सः पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः।।३५।।

(यत्) जिस पुरुष का (मनोजलम्) चित्त रूपी पानी (रागद्वेषाविकल्लोलै) राग, द्वेष, मद, माया, क्रोध, लोभ और मोह रूपी हवा के द्वारा जिसमें चंचल लहरें उठने से (अलोलं) अचल (अस्ति) है (सः) उस योगी को (आत्मनः) अपने आत्मा का (तत्त्वं) यथार्थ श्रद्धान व ज्ञान चारित्र रूप में (पश्यति) अपने आत्मा का दर्शन होता (अस्ति) है। (इतरः) इससे भिन्न राग द्वेषादि से युक्त (जनः) मानव (तत्तत्त्वं) उस आत्मा के स्वरूप को (न) नहीं (पश्यन्ति) देख सकते हैं।

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः।।३६।।

(अविक्षिप्तं) दर्शन व चारित्र मोहनीय के प्रभाव से रहित होना (आत्मनः) आत्मा का (तत्त्वं) शुद्ध स्वभाव है। (विक्षिप्तं) रागद्वेषादि विकारी भाव और शरीर में (भ्रान्तिः) आत्म बुद्धि करना भ्रम है। (ततः) उस (अविक्षिप्तं) रागद्वेष मोह से रहित भाव (धारयेत्) धारण करना चाहिए। (विक्षिप्तं) राग द्वेषादि से मलिन (मनः) मन को (न) नहीं (आश्रयेत) आश्रय देना चाहिए।

भावार्थ– संसारी आत्मा निरन्तर रागद्वेष मोह से शरीरादि के विषय में भ्रम से उनको अपने आत्म रूप से समझता चला आ रहा है। यही मान्यता उसके दिल में बैठी हुई है। उस धारणा को मन से निकाल देना चाहिए। अथवा उस अतत्त्व (अयथार्थ) धारणा को मन में स्थान नहीं देना चाहिए। जिससे पर पदार्थों में होने वाली आत्म भ्रान्ति दूर हो जायेगी तब मन शुद्ध हो जायेगा कि जिससे शुद्ध आत्म स्वभाव का अनुभव मन में होगा।

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते।।३७।।

(मनः) आत्मा (अविद्याभ्याससंस्कारैः) अनादि काल से मिथ्यात्व अज्ञान के अभ्यास के संस्कारों के द्वारा (अवशं) अपने आधीन नहीं रहता है। (क्षिप्यते) पंचेन्द्रियों के विषय भोगों में आसक्त हो जाता है। (तत् एव) वह ही मन (ज्ञानसंस्कारैः) सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र के संस्कारों के द्वारा भेद विज्ञान से (स्वतत्त्वे) अपने आत्म-स्वरूप में (अवतिष्ठते) ठहर जाता है अथवा आत्म गुणों में मगन हो जाता है।

अब बतलाते हैं कि शुद्ध जीव के अपमान क्यों नहीं होते हैं?

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः।।३८।।

(यस्य) जिस (चेतसः) आत्मा के अथवा योगी के (विक्षेप) मिथ्यात्वरागद्वेष मोहादि विकारी भाव (अस्ति) हैं। (तस्य) उस योगी को (अपमानादयः) अपमान, अवज्ञा व अहंकार, ईर्षा, मद और क्रोधादि के भाव (अस्ति) होते हैं। (यस्य) जिस (चेतसः) अंतरात्मायोगी के अथवा परमात्म योगी के (मनः) मन में (क्षेप) मिथ्यात्व रागद्वेषादि विकारी भाव (न) नहीं है। (तस्य) उस अंतरात्मा योगी के (अपमानादयः) अपमान, अवज्ञा, अहंकार, ईर्ष्या, क्रोध, क्षोभ, लोभादि कुभाव (न) नहीं होते हैं। यहां पर कारण के अभाव में कार्य का अभाव दर्शाया गया है।

रागद्वेष को शान्त करने का उपाय बतलाते हैं–

यदामोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्।।३९।।

(यदा) जब (तपस्विनः) तपस्वी साधुओं के (मोहात्) दर्शन व चारित्र मोहनीय के उदय से शरीर व अन्य बन्धु व शिष्य तथा परिवार के मोह से (राग द्वेषौ) राग द्वेष (प्रजायते) उत्पन्न हो जाते हैं। (तदा एव) उसी समय (आत्मानं) अपने आत्मा को (स्वस्थ) अपने स्वभाव में स्थित करके (भावयेत) अपने आत्मा का चिन्तन करे तो (क्षणात्) क्षण भर में राग द्वेषादि विकारी भाव (शाम्यतः) शान्त हो जाते हैं।

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्धया तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति।।४०।।

(यत्र काये) जहां जिस समय में शरीर पर (मुनेः प्रेम) मुनी का प्रेम हो जाये तो (तत्) उस शरीर के राग भाव से (देहिनम्) आत्मा को (प्रच्याव्य) हटाना चाहिए। (बुद्ध्या) शरीर और आत्मा को भिन्न भिन्न जानने वाली भेद विज्ञान छैनी से (उत्तमे काय) उस चरम शरीर में स्थित आत्मा में (योजयेत्) जोड़ देना चाहिए। अर्थात् अपनी आत्मा में ध्यान को लगा देना चाहिए। (तत्) उससे (प्रेम) पर पदार्थों से राग द्वेषादि भाव (नश्यति) नाम हो जाता है।

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नापतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः।।४१।।

(आत्मविभ्रमजं) शरीर और शरीर से संबंध रखने वाले स्त्री-पुत्रादि से राग द्वेषादि कारण को पाकर आत्म विभ्रम होने से (दुःखं) मनुष्य दुःख को प्राप्त होता है। जब (आत्मज्ञानात्) योगी वाह्य पर पदार्थों को दुःख रूप जानता है तो वह आत्मा के स्वसंवेदन ज्ञान को प्राप्त कर (प्रशाम्यति) अनंत दुःखों का नाश करता है। (तत्र) उस भेद ज्ञान प्राप्त करने में (न आपताः) तत्पर न रहने वाले मुनि (परमं तपः) उत्कृष्ट तप (कृत्वापि) करने पर भी (न निर्वान्ति) मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं होते हैं।

विशेष– जब तक जीव के मोह भाव विद्यमान है तब तक घोर तप चाहे कितना ही किया जाये निष्फल ही है।

यहां पर भी यही उपदेश दिया है कि राग भाव का त्याग करने से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

बहिरात्मा और अंतरात्मा की भावना

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्।।४२।।

(देहे) शरीर में (उत्पन्नात्ममति) आत्म बुद्धि जिसकी उत्पन्न हुई है ऐसा बहिरात्मा जीव (शुभं) सुन्दर निरोग (शरीरं) शरीर को और (दिव्यांश्च) दिव्य स्वर्ग लोक के सुखों को (विषयात्) अथवा पंचेन्द्रिय के विषय वासनाओं की (अभिवांछति) इच्छा करता है। (तत्त्वज्ञानी) किन्तु सम्यग्दृष्टि व सम्यग्ज्ञानी आत्मा (ततः) उस बहिरात्म भाव से (च्युतिम्) भिन्न ही मुक्ति धाम को चाहता है।

परत्राहंमतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः।।४३।।

(स्वस्मात्) अपने आत्मा के श्रद्धान से (च्युतः) गिरा हुआ (परत्र) अपने आत्मा से भिन्न शरीरादि पर द्रव्यों में (अहं मति) मैं शरीर हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूं, मैं नवयुवक हूँ। ऐसी श्रद्धा वाला जीव (असंशयं) निस्संदेह (बध्नाति) आठों कर्मों के बन्धन को प्राप्त होता है। (परस्मात्) पर के श्रद्धान से (च्युत्वा) छूटकर (स्वस्मिन्) अपने आत्मा में (अहंमति) यह आत्मा ही मैं हूँ, ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और आचरण करने वाला (बुधः) सम्यग्ज्ञानी (मुच्यते) कर्म बंध का छेदने वाला होता है और कालांतर में कर्म बंध से मुक्त हो जाता है।

आत्मा के विषय में बहिरात्मा और अंतरात्मा क्या विचार करते हैं? सो बतलाते हैं–

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम्।।४४।।

(मूढः) अज्ञानी बहिरात्मा (दृश्यमानं) दिखलाई देने वाले (इदं) इन (त्रिलिंगं) पुरुष, स्त्री और नपुंसक लिंग में ही आत्म बुद्धि करता

है अथवा ऐसा मानता है कि मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूं और नपुंसक हूँ। (तु) और (इदं) जो (निंष्पन्नं) अनादि काल से विद्यमान है। किन्तु (शब्द वर्जितम्) आत्मा को शब्दों के द्वारा नहीं कहा जा सकता है। (अवबुद्धः) वह तो अनुभव गम्य है तथा अंतरात्मा और शरीर के भीतर प्रकाशमान केवल ज्ञान ज्योति से जाना गया आत्म तत्त्व ही आत्मा है। ऐसा बुद्धिमान जानता है।

बहिरात्मा का पुराना संस्कार

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद्भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति।।४५।।

(आत्मन: तत्त्वं) आत्म तत्त्व को (जानन् अपि) जानता हुआ भी (विविक्त) शरीर से भिन्न (आत्मतत्त्वं) आत्म तत्त्व को (भावयन्) भावना करता हुआ (अपि) भी (भूय: अपि) बारम्बार भी (पूर्वविभ्रम संस्कारात्) पुराने मिथ्यात्व के संस्कार के प्रभाव से (भ्रान्तिं) भ्रम के कारण शरीर को ही आत्मा (गच्छति) जान लेता है। वर्तमान में मोही मिथ्यादृष्टि अपने आत्म स्वरूप को शरीर और स्त्री पुत्रादि से भिन्न जानता है किन्तु फिर भी पूर्व के संस्कार के कारण शरीर को ही आत्मा रूप मानकर गमन करने लगता है।

पूर्वभ्रम हो जाने पर अन्तरात्मा विचार करता है

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रूष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः।।४६।।

(इदम्) यह (दृश्यम्) दिखाई देने वाला शरीर (अचेतनम्) अचेतन जड़ है और (चेतनं) मेरा चेतन आत्म ज्ञान दर्शनोपयोग वाला (अदृश्यम्) शरीर के भीतर (दूध के भीतर रहने वाले घी की

तरह) रहने वाला दिखाई नहीं देता (ततः) इस कारण से (क्व) किसके ऊपर (रूष्यामि) क्रोध करूं (क्व) किस पर (तुष्यामि) संतोष करूं (अतः) इसलिए (मध्यस्थ) मेरे अनुकूल या प्रतिकूल चलने वालों के प्रति राग द्वेष को त्याग कर माध्यस्थ भाव को (भवामि) प्राप्त होता हूँ।

अब आगे कहते हैं कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा क्या छोड़ते हैं? क्या ग्रहण करें?

त्यागादाने बहिर्मूढ़ करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः।।४७।।

(मूढः) मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा मोही जीव (बहिः) बाहरी वस्तु जो अपने को अप्रिय लगने वाली हैं (त्याग) उनका त्याग करता है (आदानम्) और जो अपने पंचेन्द्रिय विषयों के योग्य प्रिय वस्तु लगती हैं उनको ग्रहण (करोति) करता है और (आत्मवित्) आत्मा के वैभव को जानने वाला अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टी शरीर भोग और संसार से विरक्त (अध्यात्मम्) आत्मतत्व के विषय में (त्यागादाने) राग द्वेष को अहितकारी समझ कर छोड़ता हुआ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप आत्मिक गुणों को ग्रहण करता है (निष्ठितात्मनः) कृतकृत्य सिद्धात्मा में स्थिर होकर (अन्तः) अंतरंग अनंत दर्शन ज्ञान सुख और वीर्य का (न त्यागः) त्याग नहीं करता है (बहिः) आत्मा से भिन्न शरीर और भाव कर्मों को (नउपादानम्) ग्रहण नहीं करता।

आत्महित के लिए मन वचन काय की प्रवृत्ति कैसी होनी चाहिए?

युञ्जीत मनसात्मानं वाक्कायाभ्यां बियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम्।।४८।।

हे योगियों ! तुम (मनसा) मनके साथ (आत्मानं) अपने आत्मा

को (युञ्जीत) जोड़ दो (वाक्कायाभ्यां) वचन और शरीर के द्वारा आत्मा को (वियोजयेत्) भिन्न कर देना चाहिए (तु) और (वाक्काययोजितम्) वचन और काय को किसके साथ? मन के साथ मिला दो (व्यवहार) लोकाचार को (मनसा) मन के द्वारा (त्यजेत्) छोड़ देना चाहिए। (पुन: उसका स्मरण नहीं करना चाहिए)

संसार में बहिरात्मा किस वस्तु को अच्छा और किस वस्तु को बुरा मानता है।

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्म दृष्टीनां क्व विश्वास: क्व वा रति: ।।४९।।

(देहात्मदृष्टीनाम्) शरीर को आत्मा मानने वाले बहिरात्मा जीव का (जगत्) स्त्री, पुत्र, पिता, माता, पुत्री, मकान धन इत्यादि का (विश्वास्यम्) विश्वास (प्रतीति) करता है कि ये सब मेरे हितैषी हैं (च) और ये सब पदार्थ (रम्यं) सुन्दर रमणीक ही हैं। (च) और (स्वात्मनि) अन्तरात्मा योगियों के अपने आत्मा में (एव) ही (आत्मदृष्टीनां विश्वास:) आत्मा का विश्वास श्रद्धान ज्ञान और चारित्र रूप से करता है। (क्व) आत्मा से भिन्न किन पर पदार्थों में विश्वास (वा) अथवा (क्व) किन पदार्थों में (रति:) प्रेम करे इस प्रकार अन्तरात्मा को बाह्य पदार्थों में प्रीति नहीं होती न विश्वास ही होता कि ये मेरे हितकारी हैं।

अन्तरात्मा का क्या कर्तव्य है यह बताने के लिए श्लोक कहते हैं।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात् किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्पर: ।।५०।।

(आत्मज्ञानात्) योगी मुनि को अपने आत्मज्ञान से (परं) भिन्न संसारी लौकिक विचार धारा (कार्यम्) और लौकिक कार्यों को (बुद्धौ) हेय जान अपने मन में (चिरं) बहुत काल तक (नं धारयेत्) धारण किये हुए नहीं रहना चाहिए उनको शीघ्र ही निकाल देना चाहिए। (अर्थवशात्) किसी कारण से (किंचित्) कुछ (कुर्यात्) करना पड़े तो (अतत्पर:) उदासीन रूप से (वाक्कायाभ्याम्) वचन और शरीर से करे, मनको उन लौकिक कार्यों के चिन्तवन में न लगावे।

अन्तरात्मा वाह्य और अभ्यन्तर में क्या अनुभव करता है?

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रिय:।
अन्त: पश्यामि सानंदं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्।।५१।।

आत्म ध्यान में स्थित योगी चिन्तवन करता है कि (यत्) जो (इन्द्रियै:) पांचों इन्द्रियों के द्वारा (पश्यामि) अनुभव करता हूं (देखता हूँ) (तत्) वह (मे) मेरा (नास्ति) नहीं है। (नियतेन्द्रिय:) विषय वासनाओं को रोककर (नियंत्रित कर) (अन्त:) इस शरीर के भीतर विद्यमान अपने आत्मा में (सानंदम्) आकुलता के अभाव रूप आनंद को (पश्यामि) अनुभव करने वाला हूँ देखता हूँ वही (उत्तमम्) उत्कृष्ठ (ज्योति:) आत्मज्ञान का प्रकाश है (तत्) वह आत्मा का केवलज्ञान रूपी प्रकाश मेरे में (अस्तु) होवे।

आत्मध्यान करने के पूर्व और उत्तर में आत्मा की क्या अवस्था होती है यह बताते हैं-

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दु:खमथात्मनि।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मन:।।५२।।

(आरब्ध योगस्य) जिस योगी ने योग धारण कर आत्म ध्यान करना प्रारम्भ किया (अथात्मनि) अपने आत्म चिन्तवन में (दु:खम्)

दुख का आभास होता है (बहिः) संसार में (सुखम्) सुख दिखाई देता है और (भावितात्मनः) आत्मा का ध्यान करने पर आत्मा के अनुभव से (अध्यात्मं) अपने ही आत्मा में (सौख्यं) सुख का अनुभव होता है। (बहिः) आत्मा से भिन्न स्त्री पुत्रादि (असुखं) दुःख को (एव) ही प्राप्ति करने में कारण हैं।

आत्म ध्यान की भावना करनी चाहिए

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्।।५३।।

(तत्) उस आध्यात्मिक की (ब्रूयात) चर्चा करनी चाहिए (तत्) उस आत्म संबंधी चर्चा को (परान्) दूसरे विद्वानों से (पृच्छेत्) पूछना चाहिए। (इच्छेत्) उस अध्यात्म विषय की इच्छा करनी चाहिए (तत्परः भवेत्) उस अध्यात्मिक विषय व ध्यान में तत्पर होना चाहिए (येन) कि जिससे (अविद्यामयंरूपं) बहिरात्म अज्ञान भाव को (त्यक्त्वा) नष्टकर छोड़कर (विद्यामयं) ज्ञानस्वरूप को (व्रजेत्) प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान रूप से गमन करना चाहिए।

शरीर पर से राग का त्याग करने का उपदेश

शरीरे वाचि चात्मानं संधत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्वं पृथगेषां निबुध्यते।।५४।।

(शरीरे) इस जड़ शरीर में (च) और (वाचि) वचन में (आत्मानम्) आत्मा का (संधत्ते) ग्रहण करता है (वाक्शरीरयोः) वचन और शरीर के विषय में (भ्रान्तः) भ्रम से मोही अज्ञानी प्राणी (पुनः) फिर (अभ्रान्तः) भ्रम रहित होता हुआ अन्तरात्मा (एषां) इस शरीर वचन और आत्मा को (पृथक्) अलग अलग (निबुध्यते) समझता है।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमंकरमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात्।।५५।।

(यत्) जो (आत्मानम्) आत्मा को (क्षेमकरः) कल्याणकारी मानने वाला अन्तरात्मा योगी (तत्) उन (इन्द्रियार्थेषु) पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय भोगों में (न) नहीं (रमते) आसक्त होकर रमण नहीं करता है (तत्) उन इन्द्रियों के विषय में (बालः) अज्ञानी बहिरात्मा (तत्रैव) उनमें ही (अज्ञान भावात्) अज्ञान भाव के कारण से (अस्ति) रमण करता है।

बहिरात्मा सदा अज्ञान भाव में ही डूबा रहता है।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति।।५६।।

(मूढात्मनः) मोही, अज्ञानी, मूढ, बहिरात्मा (तमसि) मिथ्यादर्शन अज्ञान रूपी अंधकार में अपने स्वरूप को भूलकर (कुयोनिषु) नरक नित्यनिगोद संसार निगोद एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा दो तीन चार असैनी पंचेन्द्रिय सैनी पंचेन्द्रिय त्रिर्यञ्चों तथा कुदेव कुमानवों में (चिरं) अनादि काल से (सुषुप्तः) पड़े हुए मोह रूपी निद्रा ले रहे हैं। (जाग्रति) जब कभी शुभ योग मिलने पर दर्शन मोह का उपशम क्षय सा क्षयोपशम होने पर आत्मा में जाग्रत होता है (अनात्मीयात्मभूतेषु) तब भी चारित्र मोह के उदय में रहने के कारण शरीर, परिवार, धन, धान्य, मकानादि पदार्थों में ममत्व करता है कि (मम) ये मेरे हैं (अहम्) शरीर का अहंकार करता है कि मैं गोरा हूँ धनवान हूँ इत्यादि।

बहिरात्मा अपने आत्म-स्वभाव के विपरीत पदार्थों को अपने मानता है।

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियान्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः।।५७।।

(आत्मतत्त्वे) आत्मतत्त्व में (व्यवस्थितः) क्रिया पूर्वक स्थित हुआ अन्तरात्मा (आत्मनः) अपने आत्मा से भिन्न (देहम्) शरीर को (निरंतरं) हमेशा (अनात्म चेतसा) अपने चेतन आत्म स्वभाव से रहित जड़ रूप (पश्येति) देखता है अनुभव करता है (अन्येषाम्) स्त्री, पुत्र, माता, पितादि सबको (अपरात्मधिया) दूसरे का आत्मा मानता है।

मिथ्यादृष्टि जीव आत्म तत्त्व के स्वरूप को स्वयम् तो जानता ही नहीं परन्तु दूसरे के द्वारा समझाने पर भी वह समझता नहीं यह बताते हैं।

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः।।५८।।

(मूढात्मनः) मोह से मूढ़े गये आत्मा को (अज्ञापितं) बिना बताये (माम्) मेरे स्वरूप को (न जानन्ति) नहीं जानते हैं (यथा) बस उसी प्रकार (ज्ञापितं) आत्मस्वरूप का उपदेश देने पर भी (न जानन्ति) नहीं जानते हैं (ततः) इस कारण से (तेषाम्) उन मूर्ख बहिरात्मा जीवों को (वृथा मे ज्ञापनः श्रमः) आत्म ज्ञान का उपदेश देने का मेरा परिश्रम करना निरर्थक है।

यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राहयं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये।।५९।।

(यत्) जिस आत्मा का स्वरूप (बोधयितुम्) बताने की (इच्छामि) मैं इच्छाकर रहा हूँ (तत्) वह (न अहं) मैं नहीं हूँ (पुनः) फिर

(यत्) जो (अहं) मैं हूँ (तदपि) वह भी (अन्यस्य) दूसरे व्यक्ति के द्वारा (ग्राह्यं न) ग्रहण करने के योग्य नहीं (तत्) इस से वह (अन्यस्य) अन्यप्राणी को (अहं) मैं (किम्) क्या (बोधये) समझाऊं। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि आत्मा का उल्लेख वचन के द्वारा नहीं दिया जा सकता क्योंकि वह अपने ध्यान अनुभव के गोचर ही होता है दूसरे वचनों से नहीं दिखाया जा सकता।

मोही आत्मा पंचेन्द्रियों के विषय भूत पदार्थों का ही पोषण करता है।

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः।।६०।।

(मूढात्मा) बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव (बहिः) शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, दास, दासी और पंचेन्द्रियों के विषय को प्राप्त कर (तुष्यति) अपने को सुखी अनुभव करता है। परन्तु (प्रबुद्धात्मा) सम्यग्दृष्टि ज्ञानी अन्तरात्मा (बहिः) बाह्य शरीर पुत्र स्त्री आदि सबको (व्यावृत्त कौतुकः) (अपने आत्मा को छोड़ कर अन्य की इच्छा न कर) आश्चर्य का एक कौतूहल समझता है (पिहित ज्योतिरंतरे) जो अपने शरीर के भीतर छिपी हुई सूर्य की प्रभा से भी अधिक तेज वाली ज्योति को प्राप्त कर (तुष्यति अन्तः) अन्तरात्मा सुखी होता है। अथवा प्रसन्न होता है।

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते।।६१।।

(शरीराणि) औदारिक वैक्रियक आहारक तैजस और कार्माणि शरीरों को (तथा) इनके सम्बन्ध से होने वाले (सुख दुखानि) सुख

तथा दुःखों को (न जानन्ति) नहीं जानता है (तथापि) तोभी (अबुद्धयः) विपरीत बुद्धि वाले जीव (अत्र एव) इस जड़ शरीर को ही (निग्रहानुग्रहधियम्) दण्ड देकर सुखाते हैं या पोषण (कुर्वन्ति) करते हैं।

भेद विज्ञान की महिमा दिखाते हैं

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयं।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः।।६२।।

(यावत्) जब तक (स्वबुद्धया) अपने भेद विज्ञान के द्वारा (काय वाक् चेतसां त्रयं) मन वचन काय इन तीनों को अपने मानकर (गृह्णीयात्) ग्रहण करे (तावद्) उतने समय तक (एतेषाम्) इन सब जीवों का (संसारः) चारों गतियों में जन्म मरण रूप संसार (अस्ति) है। (भेदाभ्यासे) जिन्होंने अपने आत्मा का और शरीर वचन मन को जान लिया कि ये सब जड़ पुद्गल की पर्यायें हैं मेरे नहीं, मेरा इनका कोई सम्बन्ध भी नहीं ये सब पौद्गलिक कर्म जनित हैं (निर्वृत्ति) और उनसे मुख मोड़ लेता है तब संसार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।

शरीर के मोटे हो जाने पर मेरा आत्मा मोटा नहीं होता

घने वस्त्रे यथात्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः।।६३।।

(यथा) जैसे (बुद्धः) जानने वाला चतुर बुद्धिमान (घने वस्त्रे) मोटे कपड़े को पहनकर (आत्मानं) (आत्मा को) शरीर को (न घनं) मोटा नहीं (मन्यते) मानता है। (तथा) उसी प्रकार (बुद्धिमान योगी) (स्वदेहे) अपने आत्मा को (न) नहीं (घनं) मोटा (मन्यते) मानता है।

जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः।।६४।।

(यथा) जिस प्रकार कोई व्यक्ति (जीर्णे वस्त्रे) अपने पुराने कपड़े हो जाने पर (जीर्णं न मन्यते) पुराने नहीं मानता (तथा) उसी प्रकार (बुधः) ज्ञानी अंतरात्मा योगी (जीर्णे स्वदेहे) अपने शरीर को वृद्ध हो जाने पर (अपि) भी (आत्मानं) अपने आत्मा को (जीर्णं न मन्यते) वृद्ध नहीं मानता है। कमजोर निर्बल नहीं मानता है।

नष्टे वस्त्रे यथात्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः।।६५।।

(यथा) कोई पुरुष (नष्टे वस्त्रे) कपड़ों के नाश हो जाने पर (आत्मानं न) अपने शरीर को (नष्टं) नाश हुआ (न मन्यते) नहीं मानता है (तथा) उसी प्रकार (नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं बुधः) ज्ञानी मुनि अपने शरीर के नष्ट हो जाने पर भी अपने आत्मा को (नष्टं न मन्यते) विनाश हुआ नहीं मानता है।

रक्ते वस्त्रे यथात्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः।६६।।

(रक्ते वस्त्रे) जैसे लाल कपड़ा पहनने वाला व्यक्ति (आत्मानं) अपने शरीर को (न रक्तं मन्यते) लाल नहीं मानता है (तथा) उसी प्रकार (बुधः) बुद्धिमान आत्मध्यानी मुनि (रक्ते स्वदेहे) अपने शरीर को लाल रंग वाला देखकर (अपि) भी (आत्मानं) अपने अन्तरात्मा को (रक्तं) लाल रंग वाला (न मन्यते) नहीं मानता है।

अन्तरात्मा को जगत और शरीर भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं

यस्य सस्पन्दमाभाति निष्पन्देन समंजगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोजं स शमं याति नेतरः।।६७।।

(यस्य) जिस अन्तरात्मा की (सस्पंदम्) हलन चलनादि क्रिया (आभाति) दिखाई देती है (निष्पन्देन) उस आत्मा से विलक्षण हलन चलन क्रिया से रहित के (समं) समान (जगत्) संसार शरीर और पंचेन्द्रियों के भोग (अप्रज्ञं) नहीं जानता हुआ (अक्रिया भोजम्) स्पन्दादि (हलन चलन) क्रिया से रहित मानता है (स शमं याति) वही समभाव को प्राप्त होता है (न इतरः) ऐसे भावना और भाव से रहित व्यक्ति समभाव को नहीं प्राप्त होते हैं। अथवा बहिरात्मा नहीं प्राप्त होता है।

संसारी जीव आत्म स्वरुप को क्यों नहीं जान पाते

शरीर कञ्चुकेनात्मा संवृतो ज्ञानविग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्मात् भ्रमत्यतिचिरंभवे।।६८।।

(शरीर कञ्चुकेन) शरीर रूपी कांचुली के भीतर (संवृतोज्ञान विग्रहः) आत्मा का स्वभाव ज्ञान ज्योति मय होने पर भी दर्शनावरण ज्ञानावरण कर्म रूपी चादर से ढकी हुई होने के कारण (आत्मा) संसारी जीव (आत्मानं) अपने आत्म स्वभाव को (न बुध्यते) नहीं जान पाता है (तस्मात्) इस कारण (अतिचिरं भवे) अनादि काल से संसार में (भ्रमति) जन्म मरण रूप से चारों गति चौरासी लाख योनियां में भ्रमण करता है।

प्रविशत्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः।।६९।।

(अबुद्धय) अज्ञानी बहिरात्मा (देहे) शरीर में (प्रविशत् गलतां) प्रवेश करने वाले और निकलने वाले (अणूनांव्यूहे) परमाणुओं के समूह नौकर्म वर्गणायें (समाकृती) शरीर रूप से परिणत होने पर (स्थिति भ्रान्त्या) स्थिति रहने के भ्रम से (तं आत्मानं) अपने शरीर को और आत्मा को एक रूप (प्रपद्यन्ते) अनुभव करते हैं। आत्मा और शरीर जुदे जुदे हैं ऐसा नहीं मानता है।

गोरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यंगेनाविशेषयन्।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलं ज्ञप्तिविग्रहम्।।७०।।

(नाविशेषयन्) आत्मा और शरीर के विषय में सामान्य मान्यता रखने वाला अबोध प्राणी (अहम्) मैं (गौरः) गोरा हूँ (स्थूलः) मोटा हूँ (कृशो) पतला कमजोर हूं ऐसी (अंगे) शरीर में कल्पना दिन रात करता रहता है (न) इन कल्पनाओं को छोड़कर (आत्मानं) अपने आत्मा को (केवल ज्ञप्ति) केवल ज्ञान ज्योति रूप (विग्रहं) शरीर के भीतर स्थित (नित्यं धारयेत्) को हमेशा धारण करना चाहिए। क्योंकि वह आत्मा गोरा काला लाल स्थूल कृश दुबला नहीं है। ये सब क्रिया शरीर के साथ में हैं।

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः।
तस्य नैकान्तिकीं मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः।।७१।।

(यस्य) जिसके (चित्ते) मन में आत्मा में (अचला) निश्चल (धृतिः) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र विद्यमान हैं। (तस्य) उस योगी की (एकान्तिकी) अवश्य प्राप्ति करने योग्य (मुक्तिः) संसार सम्बन्धी दुःखों से छुटकारा प्राप्त होता है। (यस्य) जिसके हृदय में (अचला) निश्चल (धृति) सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र स्थिर (नास्ति) नहीं है (तस्य) उस योगी को (एकान्तिकीं) अपने प्राप्त करने योग्य निश्चय से

(मुक्तिः) संसार के दुःखों से छुटकारा (न) नहीं मिलता है। कर्मों से मुक्ति नहीं मिलती।

आत्मचिन्तवन करने वाला मुनि लौकिक बातों में चित्त नहीं लगावें।

जनेभ्यो वाक्ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्।।७२।।

(जनेभ्यो) संसारी मिथ्यादृष्टि लौकिक जनों से (वाक्) अनेक प्रकार के वचन सुनने को मिलते हैं (ततः) इन बातों को सुनने से (मनसः) आत्म प्रदेशों में (स्पन्दः) चंचलता परिस्पन्द तथा (चित्त) मन में (विभ्रमः) चञ्चलता (भवन्ति) उत्पन्न हो जाती हैं। (तस्मात्) इस कारण से (योगी) ध्यान करने वाले अन्तरात्मा मुनि (जनैः संसर्गम्) लौकिक मिथ्यादृष्टि विषयासक्त जीवों की संगत को (मनसाः त्यजेत्) मन वचन काय से छोड़ देना चाहिए।

लौकिकजनों की संगत छोड़कर एकान्त जंगल या मन्दिर में निवास करना चाहिए।

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः।।७३।।

(अनात्मदर्शिनाम्) वाह्य लौकिक स्त्री पुत्र पिता मातादि को आत्मा मानने वालों का (ग्रामः) ग्राम या नगर और (अरण्यं) जो ग्राम नगर से दूर जंगल (इति) इस प्रकार (द्विधा) दो प्रकार का (निवास) रहने के स्थान (भवतः) होते हैं। (तु) और (दृष्टात्मनां) जो योगी अपने आत्मा का अनुभव करते हैं (निश्चलः) चंचलता से रहित (विविक्तात्मा एव) सब जगत से भिन्न प्रकाशमान आत्मा में

ही (निवास:) अचल रूप से निवास करते हैं।

आगे श्लोक में संसार के मूल कारणों को दिखाते हैं।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना।।७४।।

(अस्मिन् देहे) इस अचेतन जड़ शरीर तथा शिष्य व पुत्र स्त्री आदि में (आत्म भावना) आत्म श्रद्धा करना कि ये ही मेरी आत्मा है (देहान्तर गते) पहले शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को प्राप्त करने वाला (बीजम्) बीज है। (आत्मनि एव) अपने आत्मा में ही (आत्म भावना) अपने आत्म का श्रद्धान ज्ञान चारित्र रूप भावना के द्वारा (विदेह निष्पत्ते) शरीर से रहित होने का (बीजं) मूल बीज कारण है। संसार में शरीर को और शरीर से सम्बन्ध रखने वाले स्त्री पुत्रादि को अपना मान राग करना यही संसार की वृद्धि का बीज है इससे उलटा मोक्ष कारण है। अथवा शरीर से भिन्न अपने आत्मा को ही अपना द्रव्य मानना पर से संयोग को दूर करना यह मोक्ष का कारण है।

अपना आत्मा ही अपना गुरु है

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव वा।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थत:।।७५।।

(आत्मा एव) अपना अत्माही निश्चय से (आत्मानम्) आत्मा को (जन्म) जन्म मरण रूप संसार में (च) और (निर्वाण एवं) (मोक्ष को) निश्चय से मुक्ति को (नयति) प्राप्त करता है (तस्मात्) इस कारण (परमार्थत:) निश्चय नय से (आत्मन:) आत्मा का (गुरु:) शिक्षा देने वाला गुरु (आत्मा एव) अपना आत्मा ही है अन्य दूसरा

कोई (अन्य) व्यक्ति विशेष (न अस्ति) नहीं है।

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम्।।७६।।

(देहादौ) बहिरात्मा शरीरादिक पर स्त्री पुत्र शिष्यादि पदार्थों में (दृढात्मबुद्धिः) अपनी आत्म बुद्धि करता है कि ये ही मेरा आत्मा है (आत्मनः) पूर्व कथित शरीर के (नाशं) क्षय होने को अपना नाश मानता है कि मेरा मरण हो गया (च) और (मित्रादिभिः वियोगं) मित्र, पुत्र, स्त्री इत्यादि का वियोग (बिछुड़ना) (उत्पश्यन) देखकर (मरणात्) मृत्यु से (भृशम्) बहुत (बिभेति) घबड़ाता है (भयभीत होता है) यह सब विधि व चेष्टा मिथ्यादृष्टि मोही प्राणी की कही गई हैं।

आगे कहते हैं कि अन्तरात्मा मरने से क्यों नहीं भयभीत होता?

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम्।।७७।।

अन्तरात्मा योगी ध्यानी मुनि (आत्मनि एव) अपने दर्शन ज्ञानोपयोग मय आत्मा में ही (आत्मधीः) आत्मबुद्धि व सच्चा श्रद्धान रखने वाला (यथा) जिस प्रकार (वस्त्रं) पुराने वस्त्र को जीर्ण समझकर (त्यक्त्वा) छोड़कर (वस्त्रान्तरम्) नवीन वस्त्र को (ग्रहम्) धारण करता है। (तथा) ठीक उसी प्रकार (शरीरगतिं) शरीर के स्वभाव को (आत्मनः) आत्मा के स्वभाव से (अन्य) भिन्न (मन्यते) मानता है इस कारण शरीर के विनाश व वियोग रूप मरण से (निर्भयं) निर्भय होता है। क्योंकि वह बाल या युवा या वृद्धा अवस्था या मरण के होने पर भी अपने आत्मा का मरण नहीं मानता है इसलिए मरण का भय नहीं।

बहिरात्मा और अन्तरात्मा में भिन्नता दिखाते हैं।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे।।७८।।

(यः) जो अन्तरात्मा (व्यवहारे सुषुप्तः) बाहर भली प्रकार से सोये हुए के समान न बोलता न चालता न खाता हुआ सा दिखाई देता है। (स) वह (आत्मगोचरे) अपने आत्मा के विषय में दत्तचित्त भली प्रकार से (जागर्ति) जाग रहा है वह सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र से चलायमान नहीं होता (यः) जो (व्यवहारे जागर्ति) लोकाचार का परिपालन विधि पूर्वक करता है परन्तु आत्महित की दृष्टि नहीं ऐसा जीव (सुषुप्तः च आत्मगोचरे) आत्मा के हित के विषय में गाढ़ मोह निद्रा में सोया हुआ है श्रद्धान ज्ञान चारित्र के विषय को स्पर्श भी नहीं करता वह बहिरात्मा यथार्थ में सोया हुआ है।

आत्मानमन्तरे दृष्टवा दृष्टवा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत्।।७९।।

(अन्तरे) शरीर के भीतर छिपे हुए (आत्मानाम्) अपने आत्मा को (दृष्टवा) भली प्रकार खोजकर (देखकर) (बहिः) भिन्न (देहादिकम्) शरीर, पुत्र, स्त्री, माता, पिता, दास, दासी आदि को (दृष्टवा) देखकर (तयोः) शरीर और आत्मा के (अन्तर विज्ञानाद्) अन्तर भेद विज्ञान के (अभ्यासाद्) अभ्यास के बल से (अच्युतः) चलायमान नहीं (भवेत्) होना चाहिए। इस प्रकार आत्मा में स्थिर होने का उपदेश है।

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियःपश्चात्काष्ठपाषाणरूपवत्।।८०।।

(पूर्वम्) पहले (दृष्टात्मतत्त्वस्य) आत्मानुभव करने वाले मुमुक्षु को (जगत्) संसारी मोही प्राणी (उन्मत्तवत) पागल के समान (या शराब पिये हुए के समान) (विभाति) प्रतीत होते हैं (पश्चात्) उसके बाद (स्वभ्यस्तात्मधिया:) अपने आत्मध्यान के अच्छे अभ्यासी योगी को (जगत्) संसार (काष्ठ पाषाणवत्) लकड़ी और पत्थरों के ढेर के समान (विभाति) दिखाई देता है।

आत्मा केवल वचन के कहने व सुनने मात्र से मुक्ति को नहीं प्राप्त होता।

शृणवन्नप्यन्यत: कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक्।।८१।।

(अन्यत:) दूसरे व्यक्तियों के द्वारा कहे जाने पढाए जाने पर उन शास्त्रों को (श्रृण्वन्नपि) सुनकर भी (कामम्) पदार्थों के स्वरूप को (वदन्नपि) अपने मुख से उपदेश देते हुए भी (यावत्) जब तक (कलेवरात्) शरीर से (भिन्नं) पृथक (आत्मानम्) अपने आत्मा को (न भावयेत्) अनुभव नहीं करेगा (तावत्) उतने समय तक (मोक्षभाक्) मोक्ष सुख की प्राप्ति (न) नहीं होगी।

तथैव भावयेद् देहाद् व्यवृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्।।८२।।

(तथैव) पहले श्लोक में कहे गये प्रमाण (आत्मानं) अपने आत्मा को (देहात्) शरीर से तथा इन्द्रिय जनित भोगों से (व्यावृत्या) हटाकर (आत्मनि) अपने आत्मा में (आत्मानं) आत्मा का (भावयेत्) निश्चल होकर ध्यान करना चाहिए। अनुभव गोचर बनाना चाहिए। (यथा) जैसे कि (पुन:) फिर (देहे) शरीर में (स्वपनेऽपि) सुपने में भी (न

योजयेत्) शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं करना चाहिए।

अव्रत की अपेक्षाव्रत का धारण करना श्रेष्ठ है।

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्।।८३।।

(अव्रतै) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील सेवन, परिग्रह इन पापों के द्वारा (अपुण्यं) बहुत दुख के स्थान नरक गति निगोद्र तिर्यंचादि दुर्गतियों में ले जाने वाले कर्मों का बंध होता है। (व्रतैः) हिंसादि पापों के त्याग कर देने पर व्रतों के द्वारा (पुण्यं) पुण्य सुख के स्थान देव गति में उत्पन्न होना वहां के सुखों का अनुभव करना व चक्रवर्ती तीर्थंकर नारायण बलभद्र कामदेव आदि उच्च स्थानों में जन्म देने वाले पुण्य का आस्रव और बंध होता है। अथवा प्रशस्त कर्मों का बंध होता है (तयोः) उन पुण्य और पाप दोनों के (व्यय) नाश होने पर (मोक्षः) मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है (ततः) इस कारण (मोक्षार्थी) मोक्ष सुख की इच्छा करने वाले योगियों के लिए (अव्रतानि इव) अव्रतों के समान ही (व्रतानि अपि) व्रतों के विकल्प को ध्यान अवस्था में (निकाल देना) (त्यजेत्) छोड़ देना चाहिए। मैं व्रती श्रावक हूं या मैं महाव्रती साधू हूँ ये विकल्प भी ठीक नहीं।

अव्रतों का त्यागकर व्रती अवश्य बनना चाहिए।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः।।८४।।

(अव्रतानि) हिंसादि पापों को (परित्यज्य) त्यागकर के (व्रतेषु) अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन व्रतों में (परिनिष्ठितः) अपने को स्थापित कर (व्रतों को धारण कर) (आत्मनः) आत्मा के (परमं) उत्कृष्ट (पदं) परमपद (संप्राप्य) मोक्ष

की प्राप्ति हो जाने पर (तानि अपि) उन व्रतों को भी (त्यजेत्) छोड़ देना चाहिए। इसका यह अर्थ है कि जब तक मोक्ष सुख की प्राप्ति नहीं हुई है तब तक महाव्रतों का आचरण करते रहना चाहिए।

अन्तर में जो आर्तध्यान व रौद्र ध्यानों का कारण अन्तर जल्प है।

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टंपरंपदम्।।८५।।

(दुःखस्यमूलम्) दुःखों की जड़ (आत्मनः) आत्मा के (अन्तर्जल्प संपृक्तम्) मन के अन्तरंग में होने वाले वचनालाप से सहित (उत्प्रेक्षाजालं) नाना प्रकार की तरंगों के उठने रूप विकल्प जाल है (तन्नाशे) उसके नष्ट हो जाने पर (शिष्टम्) ऊपर में कहा गया (इष्टम्) अपनी इच्छा के योग्य (परं पदम्) परम पद प्राप्त होता है अथवा मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

आगे सूचना रूप श्लोक है कि अव्रती को व्रत धारण करना चाहिए।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञान परायणः।
परात्मज्ञान संपन्नः स्वयमेव परो भवेत्।।८६।।

(अव्रती) अव्रती को चाहिए कि वह व्रती बने (व्रतमादाय) महाव्रत या अणुव्रतों को धारणकर विधिवत्पालन करे। श्रावक या मुनि बने (व्रती) जिन्होंने मुनिव्रत को धारण किया है (ज्ञान परायण) वे आत्मज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें (परात्मज्ञान संपन्नः) केवल ज्ञान से सहित होते हैं (स्वयमेव) स्वभाव से ही (परः) परमात्मा (भवेत्) हो जाना चाहिए।

लिंगंदेहाश्रितं दृष्टं देहएवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मादेते लिङ्गकृताग्रहाः।।८७।।

(लिङ्ग) मुनिमुद्रा (नग्नमुद्रा) (देहाश्रितम्) शरीर के आधार से (दृष्टम्) देखकर (देह एव) शरीर ही (आत्मन:) आत्मा का (भव) संसार (अस्ति) है। (तस्मात्) इस कारण से (एते) वे मुनिराज (लिङ्गकृताग्रहा) शरीर मात्र से (न मुच्यन्ते) पार नहीं हो सकते हैं। बिना भावलिंगी हुए संसार में ही नित्य निवास करते रहेंगे।

जाति का हट करने वाले भी मुनि संसार से पार नहीं होते

जातिर्देहाश्रिता दृष्टादेह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मादेते जातिकृताग्रहाः।।८८।।

(जाति) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इत्यादि उच्च नीच जाति हैं वे (देहाश्रिता) शरीर के आधीन (दृष्टा) देखी जाती हैं। (देह एव आत्मन:) शरीर ही आत्मा का (भव) संसार है। (एते) वे तपस्वी मुनि (जातिकृत आग्रह) मैं ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुआ हूँ इसलिए मैं ही श्रेष्ठ हूँ, मैं क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुआ हूँ, मैं वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ हूँ इसलिए मैं ही श्रेष्ठ हूँ इस जाति के आग्रह (हठ) को न छोड़ने वाले (तस्मात्) इस कारण (भवात्) संसार के जन्म मृत्यु जरा के दु:ख से (न मुच्यन्ते) छूट नहीं सकते अथवा मोक्ष को नहीं प्राप्त होते।

संयम का आग्रह करने वाले मुनि भी संसार में भटकते हैं।

जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः।।८९।।

(येषां) जिन मुनियों के (जाति लिंग विकल्पेन) मैं दिगम्बर ब्राह्मण जाति का मुनि हूँ मैं वैष्णव जाति का दिगम्बर मुनि हूँ। ऐसे विकल्प होने से (समयाग्रह) शास्त्र ज्ञान के आग्रह और ज्ञान का

मद करने वाले हैं (तेऽपि) वे भी मुनि (आत्मन:) आत्मा के (परमं पदं) परम मोक्ष स्थान को (न) नहीं (प्राप्नुवन्ति एव) निश्चय से नहीं प्राप्त कर सकते हैं वे भी संसार में ही भ्रमण करते रहेंगे।

शरीर से राग करते हैं वे भी मोक्ष सुख को नहीं प्राप्त होते

यत्त्यागाय निवर्त्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः।।९०।।

(यत्) जो बहिरात्मा मुनि (भोगेभ्य:) पंचेन्द्रियों के भोगों को (त्यागाय) छोड़ने के लिए (यत्) तथा जो मुनि (अवाप्तये) वीतराग भाव को प्राप्त करने के लिए (निवर्त्तन्ते) उद्यत होते हैं (मोहिन:) उसी प्रकार मोही बहिरात्मा मुनि (तत्र एव) उन पंचेन्द्रियों के भोग और शरीर में (प्रीति:) राग (कुर्वन्ति) करते हैं (अन्यत्र) इससे विपरीत वीतराग भाव है उससे द्वेष करते हैं जिससे वे भी संसार के दु:खों को प्राप्त होते रहते हैं।

शरीर और आत्मा को एक रूप देखने वाला मुनि मिथ्यादृष्टि है।

अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथान्धके।
संयोगाद्दृष्टिमंगेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः।।९१।।

(अनंतरज्ञ:) जो मुनि शरीर को आत्मा मानने वाला बहिरात्मा (यथा) जैसे (अंधके) अंधे प्राणी में (पङ्गो) लंगड़ा मानव की (दृष्टिं) दृष्टि को (संधत्ते) समझता है (तत् वत्) उनके समान मोही मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा मुनि (संयोगात्) शरीर आत्मा के संयोग के कारण (आत्मन:) आत्मा की (दृष्टिम्) दृष्टि को (अंगेपि) शरीर में (संधत्ते) समझता है कि यह शरीर ही मेरा आत्मा है। वह भी संसार के दु:खों से मुक्त नहीं होता ऐसा आचार्य का उपेदश है।

दृष्टभेदो यथादृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत् ।
तथा न योजयेद् देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ।।९२।।

(यथा) जिस प्रकार (दृष्टि भेदः) अंधे और लंगड़े में भेद को यथार्थ समझ लेवे (पङ्गो) लंगड़ा (दृष्टिम्) देखने को (अन्धे) अन्धे मनुष्य में (नयोजयेत्) नहीं मिलना चाहिए (तथा) ठीक उसी प्रकार (दृष्टात्मा) अपने आत्मा का अनुभव करने वाले योगी को (आत्मनः) आत्मा के (दृष्टिम्) देखने अनुभव करने वाली चेतना शक्ति को (देहे) शरीर में (न) नहीं (योजयेत्) मिलाना चाहिए क्योंकि शरीर तो जड़ है और जानने वाला चेतन आत्मा है अतः ये दोनों स्वभाव से भिन्न जाति वाले हैं। इस कारण शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं करना चाहिए।

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थेव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम् ।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थात्मदर्शिनः ।।९३।।

(अनात्मदर्शिनाम्) शरीर और पंचेद्रिय विषयों के अनुभव करने वाले बहिरात्माओं का (सुप्तोन्मत्तादि) सोते हुए अथवा मद्य पान किए हुए मानव के समानादि की (अवस्थैव) अवस्था ही (विभ्रमः) भ्रम का कारण (अस्ति) होती है (तु) और (आत्म दर्शिनः) आत्म तत्त्व का अनुभव करने वाले योगी के (अक्षीण दोषस्य) मोहनीय कर्म के अभाव न हो जाने से मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव (सर्वावस्था) सभी अवस्थाओं में (विभ्रमः) में पड़ा रहता है।

कौन से जीव मुक्ति को नहीं पाते कौन से जीव मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ।।९४।।

(देहात्मदृष्टि:) जड़ शरीर को ही आत्मा मानता व देखता है ऐसा बहिरात्मा (विदिताशेषशास्त्रोऽपि) सम्पूर्ण शास्त्र और शास्त्रों के रहस्य को जानता हुआ भी (जाग्रदपि) आत्मा और जड़ शरीर इन दोनों का यथार्थ स्वरूप जानता हुआ भी (न मुच्यते) बहिरात्म भाव को नहीं छोड़ता है वह निरन्तर कर्म बंध करता रहता है तथा (ज्ञानात्मा) उससे भिन्न ज्ञानी अंतरात्मा आत्मा का अनुभव करने वाला (सुप्तोन्मत्तोऽपि) सोता हुआ या पागल के समान दिखाई देता हुआ भी योगी (मुच्यते) कर्मों की निर्जरा करने वाला होता है वह कर्मों के बन्ध नहीं करता।

यत्रैवाहितधी: पुन्स: श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते।।९५।।

(यत्रैव) जिस किसी विषय में (आहित धी: पुंस:) मनुष्य की बुद्धि लगी रहती है (तत्रैव) उस ही विषय में (श्रद्धा) रुचि (विश्वास) (जायते) उत्पन्न होता है (यत्रैव) जहां पर ही (श्रद्धा जायते) विश्वास (रुचि) उत्पन्न हो जाता है (तत्रैव) वहां उस विषय में (चित्तम्) मन (लीयते) मगन तल्लीन हो जाता है अथवा रम जाता है।

यत्रानाहितधी: पुंस: श्रद्धा तस्मान् निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लय:।।९६।।

(यत्र पुंस) जहां मानव की (अनाहित धी) बुद्धि नहीं लगती (तस्मात्) उस विषय से (श्रद्धा) रुचि (निवर्तते) हट जाती है (यस्मात्) जिस वस्तु से (श्रद्धा) रुचि (निवर्तते) हट जाती है (चित्तस्य) उस योगी के मन की (तल्लय) उस विषय में रमण करने लगता है (कुत:) यह बात कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती।

अपना आत्मा ही अपने उपासना करने योग्य है शरीर नहीं।

भिन्नात्मानं मुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिंदीपं यथोपास्य भिन्नामवति तादृशी।।९७।।

(भिन्नात्मानम्) आत्मा को जड़ शरीर और शरीर से सम्बन्धित द्रव्यकर्म भाव कर्म से व स्त्री पुत्रादि से जुदाकर (उपास्य) आराधना करना चाहिए अथवा सिद्ध परमात्मा की आराधना ध्यान करने योग्य हैं (आत्मा) सिद्धात्मा का ध्यान करने से (तादृशः) अपना आत्मा सिद्धों के समान (परः) परमात्मा (भवति) बन जाता है (यथा) जैसे (भिन्नावर्ती दीपं) दीपक से वर्ती भिन्न होने पर भी (दीपः) दीपक की (उपास्य) संगत करने से (तादृशी) दीपक के समान प्रज्वलित (भवति) हो जाती है। यह आचार्य ने दृष्टान्त दिया है कि दीपक जल रहा है और अलग से बत्ती डालने पर वह भी दीपक के समान जलने लगती है और प्रकाश होने लगता है।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।९८।।

(आत्मा) अपना आत्मा (एव) ही निश्चय से (उपास्य) अपने आराधना करने योग्य है। (आत्मानम्) आत्मा को (परमः) परमात्मापद (जायते) प्राप्त होता है (अथवा) अथवा अपना आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। (यथा तरु) जैसे सूखे हुए वृक्ष की शाखायें (मथित्वात्मानमात्मैव) एक दूसरी ,शाखा से रगड़ने पर (अग्नि) अग्नि (जायते) उत्पन्न हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा से ध्यान करने के लिए उपस्थित हुए योगी को वही सिद्ध समान अपनी आत्मा का अनुभव होता है।

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचां गोचरं पदं।
स्वतः एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः।।९९।।

(इति) इस प्रकार (इदं) यह परमात्म पद (अवाचा गोचरम्) वाणी के गोचर नहीं किया जा सकता (अथवा वचन से नहीं कहा जा सकता) (पदं) सिद्धात्मा का स्थान (तत्) उस सिद्धात्म पद को (भावयेत्) धारण करना चाहिए, (भावना करना चाहिए) (ततः) उससे (स्वतः एव) स्वभाव से ही (तत्) उस परमात्म पद को (प्राप्नोति) प्राप्त करता है। (यतः) जिससे (पुनः) फिर से संसारी (नावर्तते) नहीं बनता है फिर जन्म मरण नहीं करता है।

अन्य मतों की अपेक्षा करते हुए श्लोक कहते हैं।

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिना क्वचित्।।१००।।

(यदि) यदि (चित्तत्त्वं भूतजं) चेतन आत्मा पंचभूतों को परस्पर मिलने पर उत्पन्न हुआ (अयत्न साध्यं निर्वाणं) तब तो बिना तपस्या किये ही आत्मा को निर्वाण पद प्राप्त हो जायेगा? क्योंकि जब पांचों भूत एकत्र हुए तब चेतनात्मा बन गये जब उनकी इच्छा हुई अलग-अलग होने की तब अलग अलग होकर अपने अपने में मिल गये जीव को भी निर्वाण बिना पुरुषार्थ के ही हो गया। (अन्यथा) यदि चेतन तत्त्व पृथ्वी आदि भूतों से नहीं उत्पन्न होता है तो (योगतः) योगों के धारण करने से अथवा मन वचन काय की क्रियाओं को रोककर अन्तर आत्म योग के धारण करने व ध्यान के बल से मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है (तस्मात्) इस कारण (योगिनः) आत्मध्यान में स्थित योगियों को (क्वचित्) कहीं पर (दुःखं न) भी दुःख नहीं होता है।

आगे कहते हैं कि यह चेतन आत्मा भूतों से नहीं बना है।

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः।।१०१।।

(यथा) जिस प्रकार (स्वप्ने दृष्टे) रात्रि में स्वप्न दिखाई देने पर (नष्टे) और विनाश हो जाने पर (अपि) भी (आत्मनः) आत्मतत्त्व का (नाशम्) नाश (न) नहीं होता (तथा) उसी प्रकार (जागरदृष्टे) जाग्रत अवस्था प्राप्त होने पर शरीर की उत्पत्ति विनाश व मौजूद रहते देखते हुए आत्मा का विनाश या उत्पत्ति नहीं होती। (विपर्यासाविशेषतः) जिस प्रकार सोते हुए स्वप्न देखने पर भ्रम से भय उत्पन्न होता है। ठीक उसी प्रकार विशेष रूप से शरीर के रहते हुए या विनाश होने पर भय और भ्रम उत्पन्न होते हैं यह अज्ञान दशा है।

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथावलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः।।१०२।।

(अदुःख भावितंज्ञानं) जो आत्म तत्त्व ज्ञान है वह सब प्रकार के दुःखों से रहित है (दुःख सन्निधौ) शारीरिक और मानसिक कष्ट होने पर (क्षीयते) नष्ट हो जाता है (तस्मात्) इस कारण से (मुनिः) मुनियों को चाहिए कि वे (यथावलम्) अपनी शारीरिक शक्ति के अनुसार (आत्मानं) अपने आत्मा को (दुःखैः) उपसर्ग और परीषह के दुःखों से न डरकर (भावयेत्) अपने आत्मा का ध्यान कर ध्येय बना लेना चाहिए। क्योंकि ध्याता ध्यान ध्येय तीनों रूप अपना आत्मा ही है। कोई विकल्प नहीं।

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात्।
वायोः शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु।।१०३।।

(आत्मनः) संसारी आत्मा के (इच्छाद्वेष प्रवर्तितात्) नाना पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगों की इच्छायें उत्पन्न होती है और उनके न मिलने या विघ्न प्राप्त होने पर द्वेष उत्पन्न होता है (प्रयत्नात्) पुरुषार्थ करने से (वायुः) हवा (वायोः) वायु से अथवा राग द्वेष रूपी वायु के चलने पर (शरीर यंत्राणि) पांचों इन्द्रियाँ मन वचन काय अपने अपने कर्मों में प्रवर्तन करने (स्वेषु कर्मषु) अपने अपने कार्यों में (वर्तन्ते) लग जाते हैं।

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम्।।१०४।।

(जडः) अचेतन शरीर को ही अपना आत्मा समझने वाला मोही प्राणी (साक्षाणि तानि) साक्षात रूप से उन यंत्रों को (आत्मनि) अपने आत्मा में (समारोप्य) आरोपण करके (असुखम्) दुःखों को (आस्ते) प्राप्त होता है (पुनः) फिर (विद्वान) आत्मतत्त्व का जानने वाला योगी (आरोपम्) शरीर से ममता रूप अज्ञान को (त्यक्त्वा) दूर कर (परमंपदम्) उत्कृष्ट मोक्ष पद अथवा सिद्धावस्था को (प्राप्नोति) प्राप्त होता है।

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहं धियंच।
संसार दुःखजननीं जननाद्विमुक्तः।।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परमात्मनिष्ठ
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रं।।१०५।।

(परबुद्धिं) पर के सम्बन्ध से होने वाले राग द्वेष मिथ्यात्वज्ञान (अहम्) मुझ (यत्) जो (संसार दुःख जननी) संसारी अवस्था में जीवों को नाना प्रकार के दुःखों को जन्म देने वाले इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग राग द्वेष मिथ्यात्व अज्ञान भाव जीव के हैं (त्यक्त्वा) उन सब

को छोड़कर (परमात्मनिष्ठः) सिद्ध परमात्मा की भावना में स्थित अथवा जिनको सिद्ध पद प्राप्त करना ही इष्ट है (तन्मार्गम्) उस परमात्म पद तक जाने वाले मार्ग को (समाधि तंत्रम्) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और चारित्र तथा तप रूप समाधि तंत्र को अथवा इन गुणों वाले आत्मा को (उपैति) प्राप्त होता है। उस समाधि तंत्र ग्रन्थ को (अधिगम्य) भली प्रकार जानकर अध्ययन करके (धियंच) बुद्धि को प्रकाश कर (ज्योतिर्मयं) अनन्त ज्ञान सुख वीर्य और अनंत दर्शन रूप (सुखं) सुख को प्राप्त होता है।

●

छहढाला

सान्वयार्थ

मंगलाचरण

दोहा—मनवचतन से मैं नमूं, श्रीजिनवर गुण खान।
भव बाधा मेरी हरो, करो 'विश्व कल्यान'' ।।१।।
गति दर्शन जीवादिका, व्रत का सब व्याख्यान।
''छहढाला'' के पठन से, होगा निर्मल ज्ञान।।२।।

ग्रन्थकार का मंगलाचरण

प्रथम ढाल

सोरठा— तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुं त्रियोग सम्हारिके।।

वीतराग– राग, द्वेष, आदि अठारह दोष रहित वीतराग, विज्ञानता– केवल ज्ञान धारण करने वाले सर्वज्ञ, शिवस्वरूप– कल्याण स्वरूप, शिवकार– मोक्ष करने वाले अर्थात् मोक्ष के मार्ग का उपदेश करने वाले देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान को, त्रियोग- मन, वचन और काय को, सम्हारिके– सावधान कर, नमहुं– मैं (पं. दौलतराम) नमस्कार करता हूं क्योंकि ये ही, तीन भुवन में– अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक में, सार– उत्तम हैं– पूजनीय हैं।

विशेष– यहां वीतराग सर्वज्ञ तथा हितोपदेशी इन तीनों लक्षणवाले सत्य आप्त को नमस्कार किया है।

चौपाई

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चा हैं दुःखतें भयवन्त।
तातें दुःखहारी सुखकार, कहें सीख गुरु करुणाधार।।१।।

त्रिभुवन में– ऊर्ध्व मध्य और अधोलोक में, जे– जो, अनन्त– संख्यात तथा असंख्यात से भी अधिक अनन्त, जीव– एकेन्द्रिय जीव से पंचेन्द्रिय तक प्राणी हैं, ते'– वे सब, सुख– आनन्द, चाहैं– चाहते हैं और, दुःखतैं- दुःख से, भयवन्त– डरते हैं, तातैं– इसलिए, गुरु– धर्मगुरु अर्थात् आचार्य, करुणा– दया, धार– धारण कर, दुःखहारी– संसार में भ्रमण करने के दुःख को दूर करने वाली और, सुखकार– सुख करने वाली, सीख– शिक्षा– उपदेश, कहें– कहते हैं।

ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्यान।
मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपको भरमत वादि।।२।।

भवि– हे भव्यों! सम्यग्दृष्टियों! जो– अमर, अपनी– अपनी आत्मा का, कल्यान– सुख-आनन्द-मोक्ष, चाहो– चाहते हो तो, ताहि– उस शिक्षा को, मन– चित्त, स्थिर आन– एकाग्र करके,

सुनो– सुनो। तुम, मोह महामद– दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म–रूपी गहरी शराब को, अनादि– अनादिकाल से, पियो– पिये हुए हो इसलिए, आपको– आत्मा के स्वरूप को, भूलि– भूल कर, वादि– बिना प्रयोजन दुःखमय संसार में, भरमत– भ्रमण कर रहे हो– चारों गतियों के दुःख उठा रहे हो।

सारांश– शराब पीकर मनुष्य जैसे पागल हो जाता है, भले बुरे का ज्ञान नहीं रहता है, मां को बहिन, बहिन को लड़की और स्त्री को माता समझता है तथा ऊंचा–नीचा, कांटे, गड्ढा, ठोकर आदि का ज्ञान न रखकर, गिरता, पड़ता और ठोकरें खाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के वश में यह जीव अपना निर्विकार निरञ्जन कर्मरहित स्वभाव भूल कर चारों गतियों के दुःख सहन करता फिरता है।

तास भ्रमन की है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा।

तास– उस, भ्रमन की– चारों गतियों में भटकने की, बहु– बहुत बड़ी, कथा– कहानी है, पे– लेकिन, मुनि– आचार्यों ने, जथा– जैसे, कही– वर्णन की है उसमें से, कुछ– संक्षेप से, कहूँ– वर्णन करता हूं।

निगोद पर्याय में

एक श्वास में अठदश बार, जन्म्यो मर्‌यो भर्‌यो दुःखभार।।३।।
काल अनन्त निगोद मंझार, बीत्यो एकेन्द्री तन धार।

अनन्तकाल– अनन्तकाल तक, निगोद– निगोद पर्याय, मंझार– में, एकेन्द्री तन– स्पर्शनेन्द्रिय, धार– धारण कर, बीत्यो–व्यतीत हुआ। उसमें, एक-एक, श्वास में– श्वास में, अठदश बार– अठारह बार, जन्म्यो– उत्पन्न होकर और, मर्‌यो– मर कर, दुःख भार–

दु:ख का बोझा, भर्यो– उठाया सहन किया।

स्थावर पर्याय में

निकसि भूमिजल पावक भयो, पवन प्रत्येक वनस्पतिथयो।।४।।

निकसि– निगोद से निकल कर, भूमि– पृथ्वी, जल– जल, पावक– अग्निकाय का जीव, भयो– हुआ और, पवन– वायुकाय तथा, प्रत्येक वनस्पति– प्रत्येक वनस्पति व साधारण वनस्पति, थयो– हुआ।

त्रस पर्याय में

दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणी, त्यों पर्याय लही त्रसतणी।
लट पिपील अलि आदि शरीर, धरि-धरि मर्योसही बहुपीर।।५।।

ज्यों– जिस प्रकार, चिन्तामणी– चिन्तामणि रत्न, दुर्लभ– कठिनता से, लहि– प्राप्त होता है, त्यों– उसी प्रकार, त्रसतणी– त्रस शरीर को, पर्याय– पर्याय, लही– प्राप्त की है। लट– लट, पिपील– चिऊंटी, आदि– भौंरा, आदि– आदि, शरीर– देह, धरि-धरि– बार बार धारण कर, मर्यो– और मर कर, बहु– बहुत, पीर– कष्ट, सही– सहन किया।

कबहूं पंचेन्द्रिय पशुभयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो।
सिंहादिक सैनी है क्रूर, निबल पशू हति खाये भूर।।६।।

कबहूँ– काललब्धि से चतुरिन्द्रिय के बाद पंचेन्द्रिय- पशु हुआ और, मन बिन– बिना मन के, निपट– कोरा, अज्ञानी– मूर्ख, थयो– हुआ। सैनी– मन सहित, सिंहादिक– सिंह वगैरह, क्रूर– दुष्ट-हिंसक जीव, है– होकर, निर्बल– कमजोर पशू-पशुओं को, हति– मार कर, भूर– बहुत, खाये– खाया।

कबहूं आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अतिदीन।
छेदन भेदन भूख पियास, भार वहन हिम आतप त्रास।।७।।

कबहूं– कभी, आप– स्वयं, बलहीन– बल रहित, भयो– हुआ तो, अतिदीन– बहुत निर्बल समझा जाकर, सबलनि करि– अपने से अधिक बलवानों द्वारा, खायो– खाया गया। छेदन– कान, नाक आदि छेदन, भेदन– कान, नाक और पूंछ आदि काटने, भूख-भूख, पियास– प्यास, भार वहन– बोझा लादने, हिम- ठण्ड और, आतप – गर्मी के, त्रास– दुःख तथा–

बध बन्धन आदिक दुःख घने, कोटि, जीभतैं जात न भने।
अति संक्लेश भावतें मर्‌यो, घोर श्वभ्र सागर में पर्‌यो।।८।।

बध– मारने और, बंधन– बांधे जाने, आदिक– इत्यादि, घने– बहुत, दुःख– दुःख हैं जो, कोटि जीभतैं– करोडों जिह्वाओं से भी, न भने– नहिं कहे, जात– जा सकते। इसलिए, अति– बहुत, संक्लेशभाव तें– दुःख सहित परिणामों से, मर्‌यो– मरा तो, घोर– भयानक, श्वभ्रसागर– नरक-रूपी समुद्र में, पर्‌यो– जा पड़ा अर्थात् नरक में उत्पन्न हुआ।

नरक में

तहां भूमिपरसत दुःख इसो, बीछू सहस डसै नहि तिसो।
तहां राधशोणित वाहिनी, कृमिकुल कलित देह दाहिनी।।९।।

तहां– उस नरक में, भूमि– पृथ्वी के, परसत– छूने से, इसी– ऐसा, दुःख– दुःख होता है कि, तिसो– वैसा दुःख, सहस बिछू– हजारों बिच्छुओं के, डसै– काटने से, नहिं– नहीं होता है और, तहां– वहां,

कृमिकुलकलित– कीडों के समुदाय से सहित अर्थात् भरी हुई। देहदाहिनी– शरीर को जलाने वाली, राध– पीप और, शोणित– खून की, वाहिनी– नदी बहती है।

सेमर तरु जुत दल असिपत्र, असि ज्यों देह विदारें तत्र।
मेरु समान लोह गल जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय।।१०।।

तत्र– नरक में, ज्यों– जैसे, असि– तलवार, देह– शरीर को, विदारै– काटती है– टुकड़े– टुकड़े कर देती है, "त्यों"– तैसे, सेमर तरु– सेमल वृक्ष के, दल– पत्ते, असिपत्र– तलवार रूप पत्तों से, जुत– सहित हैं अर्थात् तलवार जैसी धार वाले पैने हैं और, ऐसी– ऐसी, शीतल– ठण्ड व, उष्णता- गर्मी, थाय– होती है जिससे, मेरु समान– मेरु पर्वत के समान बड़ा, लोह– लोहा, गलजाय– बर्फ के समान गल जम जाता है तथा भट्टी में तपने से पानी की तरह पिघल जाता है।

तिल–तिल करैं देहके खण्ड, असुर भिड़ावै दुष्ट प्रचण्ड।
सिन्धुनीरतें प्यास न जाय, तो पण एक न बून्द लहाय।।११।।

असुर– अम्बावरीष नामक भवनवासी देव, भिडावै– एक दूसरे नारकी को स्मरण करा कर तीतर मुर्गा की तरह लड़वा देते हैं जिनसे नारकी, प्रचण्ड– बहुत, दुष्ट– द्वेष भाव धारण कर, देह के– एक दूसरे नारकी के शरीर के, तिल-तिल– तिल के बराबर छोटे-छोटे, खण्ड– टुकड़े, कर– कर देते हैं। सिन्धु नीर तें– समुद्र के बराबर पानी पीने से, प्यास– प्यास, न जाय– दूर नहीं हो सकती, तो– लेकिन, एक पण– एक भी, बून्द– बून्द पानी, न लहाय– नहीं मिलता है।

विशेष– नारकियों के शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े होने पर पारे के समान मिल जाता है।

तीन लोक का नाज जु खाय, मिटे न भूख कणा न लहाय।
ये दुःख बहु सागर लौं सहे।

जु– अगर, तीन लोक को– तीन लोक का, नाज– अन्न, खाय– खा जावे तो भी, भूख– भूख, न मिटै– नहीं मिट सकती है लेकिन कणा– एक दाना भी, न लहाय– नहीं प्राप्त होता है, ये– ये, दुःख– दुःख, बहु सागरलौं– बहुत सागर पर्यन्त, सहे– सहन किये।

मनुष्य पर्याय

करम योग तैं नर तन लहै।।१२।।

करम– पुण्य-कर्म के योग, तैं– उदय से, नर तन– मनुष्य पर्याय, लहे– प्राप्ति की।

जननी उदर वस्यो नव मास, अंग संकुच तैं पाई त्रास।
निकसत जे दुःख पाये घोर, तिनको कहत न आवे छोर।।१३।।

जननी– माता के, उदर– पेट में, नव– नौ, मास– महीने, वस्यो– रहा और, अङ्गसंकुच तैं– देह के सङ्कोच– सिकुड़ने से, त्रास– दुःख, पाई– पाया। निकसत– गर्भ से निकलने पर, जे– जो, घोर– बहुत, दुःख– दुःख, पाये– प्राप्त किये हैं, तिनको– उनका, कहत– वर्णन करने पर, छोर– अन्त, न आवे– नहीं आ सकता।

बालपनै में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी रत रह्यो।
अर्ध मृतक सम बूढा पनो, कैसे रूप लखै आपनो।।१४।।

बालपने में– बालक पन में, ज्ञान– विद्या, न लह्यो– नहीं प्राप्त

की और, तरुण समय– यौवन अवस्था में, तरुणी रत– स्त्री में आसक्त, रह्यो– रहा। बूढ़ापनों– वृद्ध अवस्था, अर्धमृतक सम– आधे मरे हुए के समान (इन्द्रियों के निर्बल जो जाने पर धर्म कर्म कुछ भी नहीं कर सकते, इसलिए मृतक:) कहा है फिर, आप नो– आत्मा का स्वरूप, कैसे– किस प्रकार, लखै– पहिचान सकता है।

देवगति में

कभी अकाम निर्जरा करै, भवनत्रिक में सुरतन धरै।
विषय चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दु:ख सह्यो।।१५।।

कभी– भावों के निर्मल होने पर, अकाम निर्जरा– समता से दु:ख सहन कर कर्म की निर्जरा, करै– करता है तो, भवनत्रिक में– भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क में, सुरतन– देव का देह, धरै– धारण करता है। यह, विषय-चाह दावानल– स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों की चाह रूपी सूखे जंगल की आग के समान भयंकर आग में, दह्यो– जला और, मरत– मरण समय, विलाप करत– रोदन करते हुए, दु:ख सह्यो– दु:ख सहन किया।

जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन बिन दु:खपाय।
तंह ते चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै।।१६।।

जो– यदि, विमानवासी– कल्पवासी देव, हु– भी, थाय– होता है लेकिन, सम्यग्दर्शन बिन– सम्यग्दर्शन के बिना, दु:ख पाय– दु:ख पाता है। तंहते– कल्पवासीदेव पर्याय से, चय– संक्लेश परिणामों से मर कर, थावर तन– स्थावर एकेन्द्रिय का शरीर, धरै– धारण करता है और, यों– इस तरह, परिवर्तन– द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पांच परिवर्तन, पूरे करै– पूर्ण करता है।

दूसरी ढाल

पद्धड़ी छन्द

ऐसे मिथ्यादृग ज्ञान चरण, वश भ्रमत भरत दुःख जनम मरण।
तातें इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूं बखान।।१।।

ऐसे– इस प्रकार, मिथ्यादृगज्ञान चरण– मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र के, वश– आधीन होकर, भ्रमत– चारों गतियों में भ्रमण करता है और, जनममरण– जन्म मरण आदि के, दुःख– दुःख, भरत– सहन करता है। तातैं– इसलिए, सुजान– हे भव्यों! इनको– इन मिथ्यादर्शन आदि को, तजिये– छोड़ दो, तिन– उन मिथ्यादर्शन आदि का, संक्षेप– थोड़ा सा, बखान– व्याख्यान वर्णन, कहूं– कहता हूं सो, सुन– सुनो।

अगृहीत मिथ्यादर्शन

जीवादि प्रयोजन भूत तत्त्व, सरधै तिनमांहि विपर्ययत्व।

जीव आदि तत्त्व– जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व, प्रयोजन भूत– मोक्षमार्ग के उपयोगी हैं। तिन मांहि– इन तत्त्वों में मिथ्यादृष्टि जीव, विपर्ययत्व– विपरीत, सरधै– श्रद्धान करता है।

जीव तत्त्व में

चेतनको है उपयोग रूप, बिन मूरति चिन मूरति अनूप।।२।।

चेतनको– जीव का, रूप– स्वरूप, उपयोग– ज्ञान तथा दर्शन उपयोगमय है– होता है तथा, बिन मूरति– रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रहित है, चिन्मूरति– चैतन्य रूप और, अनूप– अनुपम है।

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतें न्यारी है जीव चाल।

पुद्गल– पुद्गल अर्थात् जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाया जावे, नभ– आकाश अर्थात् जीवादि द्रव्यों को स्थान दे, धर्म– धर्म अर्थात् जीव और पुद्गलों को चलने में सहायता दे, अधर्म– अधर्म अर्थात् जीव तथा पुद्गलों को ठहरने में सहायता दे और, काल– अर्थात् द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक हो, इनतैं– इन पुद्गल आदि पांचों द्रव्यों से, जीव चाल– जीव का स्वरूप, न्यारी– भिन्न, है– होता है।

ताको न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान।३।।

ताको– उक्त कहे हुए लक्षण को, न जान– नहीं समझ कर और, विपरीत– विरुद्ध, मान कर– जान कर, देह में– शरीर में, निज– आत्मा को, पिछान– पहिचान, करै– करता है अर्थात् शरीर को आत्मा समझता है।

विशेष– ग्रन्थकर्ता ने यहां मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का भाव प्रगट किया है।

अजीव तत्त्व में

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरो सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।।४।।

मैं सुखी– मैं सुख सहित हूं, दुखी– दुःख सहित हूं, मैं-मैं, रङ्क– धनहीन हूं, राव– राजा हूं, मेरा– मेरा, धन– सोना चांदी है, गृह– मकान है, गोधन– गाय आदि हैं, प्रभाव– प्रभुत्व है, मेरे– मेरा, सुत– पुत्र है, तिय– मेरी स्त्री है, मैं– मैं, सबल– बलवान हूं, दीन– निर्बल हूं, बेरूप– मैं सुन्दर नहीं हूं, सुभग– मैं सुन्दर हूं, मूरख– मैं बुद्धिहीन

हूं और, प्रवीन– मैं बुद्धिमान हूं इत्यादिक कल्पना करता है।

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।

तन– शरीर के, उपज– उत्पन्न होने पर, अपनी– अपना, उपज– जन्म, जान– जानता है और, तन– शरीर के, नशत– नष्ट होने पर, आपको– अपना, नाश– मरण, मान– मानता है।

आस्रव तत्त्व में

रागादि प्रगट जे दुःख दैन, तिनही को सेवत गिनत चैन।।५।।

जे– जो, रागादि– रागद्वेष आदि भाव हैं वे, प्रगट– स्पष्ट रूप से, दुःख दैन– कष्ट देने वाले हैं लेकिन जीव, तिनही को– उन रागादि के ही, सेवत– सेवन अर्थात् रागद्वेष करने से, चैन– आनन्द, गिनत– समझता है। इसलिए पुण्य और पाप का आस्रव होता है।

बन्ध तत्त्व में

शुभ अशुभ बंध के फल मंझार, रति अरति करे निज पद विसार।

शुभ– पुण्य, अशुभ– पाप, बंध के– कर्मों के बन्ध के, फल मंझार– फल में, निजपद– अपना अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य-रूप स्वरूप को, विसार–भूल कर इष्ट और अनिष्ट विषयों में, रति– प्रेम और, अरति– द्वेष, करे– करता है। इसलिए कर्मों का बन्ध होता है।

संवर तत्त्व में

आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखे आपको कष्ट दान।।६।।

आतम हित– आत्मा के कल्याण का, हेतु– कारण, विराग ज्ञान–

वीतराग भाव राग-द्वेष रहित पन तथा आत्मज्ञान है। मिथ्यादृष्टि जीव, ते– उसे, आपको– अपने लिए, कष्ट दान– दुःख का देने वाला, लखै– समझता है। इसलिए संवर नहीं हो पाता है।

निर्जरा तत्त्व में

रोकी न चाह निज शक्ति खोय।

निज– अपना, शक्ति– बल, खोय– नष्ट कर, चाह– विषयों की अभिलाषा, न रोकी– नहीं रोकी अर्थात् तप न करने के कारण कर्मों की निर्जरा नहीं हुई।

मोक्ष तत्त्व में

शिवरूप निराकुलता न जोय।

शिवरूप– मुक्ति स्वरूप, निराकुलता– आनन्द को, न जोय– नहीं देखता है अर्थात् मोक्ष के आनन्द का अनुभव नहीं करता है।

अगृहीत मिथ्याज्ञान

याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान सो दुःखदायक अज्ञान जान।।७।।

याही– उपर्युक्त, प्रकार के, प्रतीति जुत– श्रद्धान सहित, कछुक– जो कुछ, ज्ञान– ज्ञान है, सो– वह, दुःखदायक– कष्ट दायक, अज्ञान– अज्ञान अर्थात् अगृहीत, मिथ्याज्ञान, जान–समझो।

अगृहीत मिथ्याचारित्र

इनजुत विषयनि मे जो प्रवृत्त, ताको जानहु मिथ्याचरित।
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, जे गृहीत सुनिये सुतेह।।८।।

इन जुत– मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान सहित, विषयनि में–

संसार के विषय भोगों में, जो प्रवृत्त— जो प्रवृत्ति करना है, ताको— उस प्रवृत्ति को, मिथ्याचारित्र— मिथ्याचारित्र, जानहु— समझना चाहिए।

जेह— जो, निसर्ग— अगृहीत, मिथ्यात्वादि— मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं उन्हें, यों— इस प्रकार कह दिया है, अब— आगे, जे— जो, गृहीत— गृहीत मिथ्यादर्शन आदि हैं, सु— सो, तेह— उनको, सुनिये— सुनो।

गृहीत मिथ्यादर्शन

जे कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषैं चिर दर्शन मोह एव।

जे— जो, कुगुरु— मिथ्यागुरु, कुदेव— मिथ्यादेव और, कुधर्म— मिथ्या-धर्म का, सेव— सेवन करते हैं वे, चिर— बहुत काल तक, दर्शनमोह— दर्शन मोहनीय कर्म को, एव— ही, पोषैं— पुष्ट करते हैं।

कुगुरु

अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अम्बर तें सनेह।।९।।
धारैं कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जनम जल उपल नाव।

जेह— जो, अन्तर— अन्तरंग में, रागादिक— रागद्वेष आदि, धरैं— धारण करते हैं और, बाहर— बहिरंग में, धन— धन सम्पत्ति तथा, अम्बर— वस्त्रादि, तें— से, सनेह— अनुराग करते हैं और, महत भाव— महत्व की अभिलाषा, लहि— रख कर, कुलिंग— बुरा वेष, धारें— धारण करते हैं, ते— वे, कुगुरु— कुगुरु हैं और, जन्म जल— जन्म रूप समुद्र से पार कराने के लिए, उपल नाव— पत्थर की नाव के समान हैं, अर्थात् जिस प्रकार समुद्र को पत्थर की नाव से पार

नहीं कर सकते, उसी प्रकार चतुर्गति भ्रमण रूप समुद्र से कुगुरु उद्धार पार नहीं करा सकते।

कुदेव

जे रागद्वेष मल करि मलीन, वनिता गदादि जुत चिह्न चीन।।१०।।
ते हैं कुदेव, तिनकी जु सेव, शठ करत, न तिन भव भ्रमण छेव।

जे– जो, रागद्वेष– राग तथा द्वेष आदि, मल करि– मल से, मलीन– अपवित्र हैं और, वनिता– स्त्री, गदादि– गदा आदि शस्त्र रूप, चिह्न जुत– चिह्न सहित, चीन– पहिचाने जाते हैं, ते– वे, कुदेव– कुदेव कहलाते हैं और, जु– जो, शठ- अज्ञानी, तिनकी– उन कुदेवों की, सेव– सेवा, करत– करते हैं, तिन– उन सेवकों के, भव भ्रमण– संसार के परिभ्रमण का, छेव न– अन्त नहीं आता है।

कुधर्म

रागादि भाव हिंसा समेत, दरवित त्रस थावर मरण खेत।।११।।
जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म।।

रागादि– राग-द्वेष आदि रूप, भाव हिंसा– भाव हिंसा, समेत– सहित हैं और, त्रस– द्वीन्द्रियादि तथा, थावर– पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों की, मरण– मृत्यु का, खेत– क्षेत्र रूप, दरवित– द्रव्य हिंसा है। ऐसे, जे– जो, क्रिया– कर्म है, तिन्हें– उनको, कुधर्म– मिथ्याधर्म कहते हैं। तिन– इस कुधर्म का, सरधै– श्रद्धान करने पर, जीव– प्राणी, अशर्म– दुःख, लहै– प्राप्त करता है।

याको गृहीत मिथ्यात जान, अब सुन गृहीत जे हैं अजान।।१२।।

याको– इस कुगुरु कुदेव और कुधर्म को, गृहीत मिथ्यात– गृहीत मिथ्यादर्शन, जान– जानना चाहिए। जे– जो, गृहीत अजान है–

गृहीत मिथ्याज्ञान है उसे, अब सुन– आगे कहते हैं सो सुनो।

गृहीत मिथ्याज्ञान

एकान्तवाद दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कपिलादि रचित श्रुत को अभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास।।१३।।

एकान्तवाद– एकान्त रूप कथन से, समस्त– सब तरह, दूषित– दोष सहित है, अप्रशस्त– निन्दनीय है और, विषयादिक– विषय भोग आदि का, पोषक– पुष्ट करने वाला है। ऐसे, कपिलादि रचित– कपिल आदि एकान्त वादी तथा नास्तिकों के बनाये हुए, श्रुतको– शास्त्रों का, अभ्यास– पढ़ना और सुनना इत्यादि, कुबोध– गृहीत मिथ्याज्ञान है। सो– वह, बहु– बहुत, त्रास– दु:ख देने वाला है।

गृहीत मिथ्याचारित्र

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करत विविध विध देह दाह।
आतम अनात्मके ज्ञान हीन, जे जे करनी तन करन छीन।।१४।।
ते सब मिथ्याचारित्र त्याग।

जो– जो पाखण्डी साधु, ख्याति– प्रसिद्धि, लाभ– धन की प्राप्ति आदि की, चाह– अभिलाषा से, विविध विध– अनेक प्रकार के, देह– शरीर ढोंग-वेश, धरि– धारण कर, दाह करत– शरीर जलाता है– पञ्चाग्नि तप करता है, कांटों पर लेटता है– त्रिशूल से अंग छेदता इत्यादि। आतमके– जीव और, अनात्माके – पुद्गल अथवा परके, ज्ञान हीन– ज्ञान से रहित, जे जे– जो जो, करनी- क्रियायें हैं वे सब केवल, तन– शरीर को, छीन– क्षीण दुबला, करन– करने वाली हैं, ते सब– वे सब क्रियायें, मिथ्याचारित्र– गृहीत मिथ्याचारित्र हैं, इन्हें, त्याग– छोड़ देना चाहिए।

अब आतम के हित पंथ लाग।
जग जाल भ्रमण को देउ त्याग, अब दौलत निज आतम सुपाग।।१५।।

अब– अब, आतम के– आत्मा के, हित– कल्याण करने वाले, पंथ– मोक्षमार्ग में, लाग– लगना चाहिए,। इसलिए, जग जाल भ्रमण को– चतुर्गति रूप संसार के अथवा पंच परिवर्तन रूप चक्रव्यूह चक्कर में भटकना, त्याग देउ– छोड़ दो और, अब– चारों गतियों के दु:ख अथवा मिथ्यादर्शन आदि का स्वरूप समझकर, दौलत– आत्मिक सुख के भण्डार स्वरूप दौलतराम ! निज आतम– कषाय रहित शुद्ध आत्मा में, सुपाग– अच्छी तरह लवलीन हो जावो अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि धारण करो।

तृतीय ढाल

नरेन्द्र छन्द

आत्मा का हित तथा सुख का लक्षण

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।

आतमको– जीव के लिए, हित– कल्याण स्वरूप, सुख है– सुख है, सो– वह, सुख– हित कल्याण, आकुलता बिन– (निराकुलता जन्ममरण आदि रहित और अनन्त दर्शन आदि सहित) कहिये– कहा जाता है।

आकुलता शिवमांहि न तातैं शिवमग लाग्यो चहिये।।१।।

आकुलता– जन्म आदि का सक्लेश-दु:ख, शिवमांहि न– मोक्ष में नहीं है, तातैं– इसलिए, शिवमग– मोक्ष के मार्ग में, लाग्यो– लगना, चहिये– चाहिए।

मोक्षमार्ग और भेद

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग, सो दुविध विचारो।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता, शिवमग– मोक्ष का मार्ग है। एकमात्र सम्यग्दर्शन से अथवा सिर्फ ज्ञान या चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। जैसे औषधि पर विश्वास रखना, उसकी औषधि तथा अनुपात आदि का ज्ञान करना और विधि अनुसार सेवन करना ये तीनों क्रियायें जब तक नहीं की जावेगी तब तक रोगी निरोग नहीं हो सकता। सो– वह मार्ग, दुविध– दो प्रकार का, विचारो– समझना चाहिए।

जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।।२।।

जो– मुक्तिमार्ग, सत्यारथरूप–यथार्थरूप– यथार्थ स्वरूप है, सो– वह, निश्चय– निश्चय– परमार्थ मोक्षमार्ग है और जो, कारण– निश्चय मोक्षमार्ग का कारण है– जिससे निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, सो– वह, व्यवहारो– व्यवहार– अयथार्थ असत्यार्थ मोक्षमार्ग है।

निश्चय सम्यग्दर्शन

पर द्रव्यन तैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त भला है।

परद्रव्यन तैं– देह आदि अन्य पदार्थों से, भिन्न– पृथक रूप, आप में– शुद्ध आत्म स्वरूप में, रुचि– श्रद्धान करना सो, भला सम्यक्त है– निश्चय सम्यग्दर्शन है।

निश्चय सम्यग्ज्ञान

आप रूपको जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है।।३।।

आप रूप में– अनन्त चतुष्टय स्वरूप आत्मा में, थिर– इन्द्रियादि

के विषय भोगों में चलायमान न होकर, लीन रहैं– लवलीन रहना, सोई– यही, सम्यक्चारित्र– निश्चय सम्यक्चारित्र है।

अब व्यवहार मोक्ष मग सुनिये हेतु नियत को होई।

अब– निश्चय मोक्षमार्ग का वर्णन करने के बाद, व्यवहार मोख मग– व्यवहार मोक्ष का मार्ग, कहिये– कहते हैं जो, नियतको– निश्चय मोक्षमार्ग को, हेतु– कारण, होई– होता है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन

जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव बन्ध रु संवर जानो।।४।।
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको ज्यों को त्यों सरधानी।
है सोई समकित व्यवहारी,

जिन कहे– जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए, जीव अजीव अरु आस्रव– जीव, अजीव और आस्रव, बंध रु संवर– बन्ध और संवर, निर्जर मोक्ष– निर्जरा और मोक्ष ये सात, तत्त्व– तत्त्व, जानो– जानना चाहिए, तिनको– इन तत्त्वों का, ज्यों का त्यों– जैसा का तैसा अर्थात् इनके यथार्थ स्वरूप का, सरधानौ– श्रद्धान करना चाहिए, सोई– यही, व्यवहारी समकित है– व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

अब इन रूप बखानी।।५।।
तिनको सुन सामान्य विशेषै, दृढ प्रतीत उर आनी।

अब इन रूप– जीवादि सात तत्त्वों का स्वरूप, सामान्य विशेषै– सामान्य और विशेष इन दो भेदों से, बखानौ– व्याख्यान करता हूं, तिनको सुन– इनको सुन कर, उर– आत्मा में, दृढ़ प्रतीत– अचल श्रद्धान, आनौ– लाओ अर्थात् जीवादि सात तत्त्वों का निश्चय श्रद्धान करो।

जीवतत्त्व

जीव के भेद और उनके लक्षण

बहिरातम, अन्तर आतम परमातम जीव त्रिधा है।।६।।

जीव— आत्मा, बहिरातम— बहिरात्मा, अन्तर आतम— अन्तरात्मा और, परमातम— परमात्मा इस तरह, त्रिधा है— तीन प्रकार का है।

बहिरात्मा जीव

देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है।

जो, देह— शरीर और, जीव को— आत्मा का स्वरूप, एक गिने— एक समझता है वह, तत्त्वमुधा बहिरातम है— तत्त्व को न समझने वाला बहिरात्मा जीव अथवा, मुधा— मोही मिथ्यादृष्टि, बहिरातम तत्त्व है— बहिरात्मा जीव तत्त्व है।

अन्तरात्मा जीव

उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के अन्तर आतम ज्ञानी।।७।।

उत्तम मध्यम जघन— उत्तम मध्यम और जघन्य इस प्रकार, अन्तर आतम ज्ञानी— अन्तरामा आत्मा के स्वरूप को जानने वाले अर्थात् अन्तरात्मा जीव, त्रिविध के— तीन प्रकार के होते हैं।

उत्तम अन्तरात्मा जीव

द्विविधसंग बिन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निज ध्यानी।

द्विविध— अन्तरंग कषायादि और बहिरंग धनादि दोनों प्रकार के, संग बिन— परिग्रह रहित, शुध उपयोगी— शुद्ध उपयोग वाले अर्थात् सात से बारहवें गुणस्थान वाले, जिन ध्यानी— आत्मा का

चिन्तवन करने वाले, मुनि– साधु, उत्तम– अन्तरात्मा जीव है।

मध्यम अन्तरात्मा जीव

मध्यम अन्तर आतम हैं जे देशव्रती, अनगारी।।८।।

जे–जो, देशव्रती– अणुव्रत धारण करने वाले पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और, अनगारी– महाव्रत धारण करने वाले छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि हैं वे, मध्यम अन्तर आतम– मध्यम अन्तरात्मा जीव हैं।

जघन्य अन्तरात्मा जीव

जघन कहे अविरत समदृष्टि, तीनों शिवमग चारी।

अविरत समदृष्टि– व्रत हीन सम्यग्दृष्टि अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव, जघन– जघन्य अन्तरात्मा, कहे– कहे जाते हैं। और तीनों– उत्तम मध्यम तथा जघन्य अन्तरात्मा तीनों ही, शिवमग चारी– मोक्ष मार्ग में चलने वाले हैं।

परमात्म जीव के भेद

सकल निकल परमातम द्वैविधि,

परमातम-परमात्मा जीव, सकल– कर्म मल सहित और, निकल– समस्त कर्ममल रहित इस तरह, द्वैविधि -दो प्रकार के हैं।

सकल परमात्मा जीव

तिनमें घाति निवारी।

श्री अरहन्त सकल परमातम लोकालोक निहारी।।९।।

तिनमें– उनमें, घाति निवारी– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और, अन्तराय इन चार घातिया कर्मों को दूर करने वाले

और, लोकालोक निहारी— लोकाकाश और अलोकाकाश को देखने जानने वाले तथा, श्री अरहन्त— अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य यह अनन्त चतुष्टय रूप अन्तरंग श्री अर्थात् लक्ष्मी और, समवशरणादि रूप बहिरंग लक्ष्मी के धारण करने वाले श्री अरहन्त देव, सकल परमातम— सकल परमात्मा जीव हैं।

निकल परमात्मा जीव

ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्ममल वर्जित, सिद्ध महन्ता।
ते हैं अमल निकल परमातम भोगैं शर्म अनन्ता।।१०।।

जो, ज्ञान शरीरी— अनन्त ज्ञान के साथ में होने वाले अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप शरीर धारण करने वाले तथा, त्रिविध— तीन प्रकार के, कर्ममल वर्जित— द्रव्य-कर्म, नो-कर्म और भाव-कर्म रूप मल से रहित हैं, ते- वे, महन्ता— पूजनीय, सिद्ध- अष्ट कर्म रहित सिद्ध भगवान, अमल— निर्विकार एवं निरंजन, निकल परमातम हैं— निकल परमात्मा जीव हैं और, अनन्ता— अनन्तकाल तक, शर्म— मोक्ष का बाधा रहित सुख, भोगैं भोगते हैं।

बहिरातमता हेय जान तजि, अन्तर आतम हूजै।
परमातम को ध्याय निरन्तर जो नित आनन्द पूजे।।११।।

बहिरातमता— ऊपर बहिरात्मा का जो लक्षण बताया है, उसको, हेय— त्यागने योग्य, जान— समझ और, तजि— उसे छोड़ कर, अन्तर आतम— अन्तरात्मा, निरन्तर— हमेशा, ध्याय— ध्यान करता है वह,, नित— अनन्तकाल तक, आनन्द— सुख, पूजे— को पूजा करता है अर्थात् सुख प्राप्त करता है।

अजीव तत्त्व

अजीव के भेद और उनके लक्षण

चेतनता बिन सो अजीव हैं, पञ्च भेद ताके हैं।

जो चेतनता– ज्ञान और दर्शन से, बिन– रहित हैं, सो– वह, अजीव– अजीव हैं और, ताके– उस अजीव के, पंचभेद हैं– पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच भेद है।

पुद्गल द्रव्य

पुद्गल पञ्च वरन रस (पन) गन्ध दु, फरस वसू जाके हैं।।१२।।

उनमें से– जाके– जिसमें, पञ्च वरन– पांच वर्ण-रूप, पन रस–पांच रस, दुगंध– दो गन्ध और, वसू फरस हैं– आठ स्पर्श ये बीस गुण हैं उसे, पुद्गल– पुद्गल कहते हैं।

धर्म द्रव्य

जिय पुद्गल को चलन सहाई धर्म द्रव्य अनरूपी।

जो जिय– जीव और, पुद्गल को– पुद्गलों को, चलन– चलने, एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचने में, सहाई– सहायता करने वाला और, अनरूपी– रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्श रहित अर्थात् अमूर्तिक है वह, धर्म द्रव्य– धर्म द्रव्य है। जैसे– मछली को तैरने-चलने फिरने में जल सहायता करता है। उसी प्रकार जीव और पुद्गलों को चलने में धर्म द्रव्य सहायता करता है।

अधर्म द्रव्य

तिष्ठत होय अधर्म सहाई, जिन बिन मूर्ति निरूपी।।१३।।

तिष्ठत– जीव और पुद्गलों को ठहरने में, अधर्म– अधर्म द्रव्य,

सहाई– सहायक, होय– होता है। यह द्रव्य भी, जिन– जिनेन्द्र देव ने, बिन मूर्ति– रूपादि रहित, निरूपी– कहा है। जैसे धूप की गर्मी से दु:खी पथिक को वृक्ष की छाया ठहरने में सहायता करती है। उसी प्रकार ठहरते हुए जीव और पुद्गलों के ठहरने में अधर्म द्रव्य सहायता करता है।

आकाश द्रव्य

सकल द्रव्य को वास जासमें सो आकाश पिछानो।

जास में– जिस द्रव्य में, सकल द्रव्य को– जीवादि समस्त द्रव्यों को, वास– स्थान अवकाश मिलता है, सो– वह, आकाश– आकाश द्रव्य, पिछानो– जानना चाहिए। इसके लोकाकाश और अलोकाकाश ये दो भेद होते हैं। अलोकाकाश में आकाश के सिवाय कोई द्रव्य नहीं रहता और इसी के आधार पर तीन लोक हैं।

काल द्रव्य

नियत वरतना निशदिन सो व्यवहारकाल परिमाणो।।१४।।

जो, वरतना– द्रव्यों के परिणमन में अन्तरंग कारण है वह, नियत– निश्चल काल है और जो, निश दिन– रात-दिन, घड़ी, घण्टा आदि रूप है, सो– वह, व्यवहारकाल– व्यवहारकाल, परिमाणो– जानना चाहिए।

यों अजीव अब आस्रव सुनिये।

यों– इस प्रकार, अजीव– तत्त्व का वर्णन कर दिया है, अब– इससे आगे, आस्रव- आस्रव तत्व का वर्णन, सुनिये– सुनना चाहिए।

आस्रव तत्त्व

मन वच काय त्रियोगा।

मिथ्या अविरति अरु कषाय परमाद सहित उपयोगा।।१५।।

मिथ्या– एकान्त आदि मिथ्यात्व, अविरत– हिंसादि पापों में प्रवृत्ति, कषाय– क्रोधादि कषाय, अरु– और, परमाद सहित– स्त्री कथा आदि पन्द्रह प्रमाद सहित, मन, वच, काय– मन, वचन और काय इन, त्रियोगा– तीनों योगों को, उपयोग– प्रवृत्ति को आस्रव कहते हैं। अथवा मिथ्यात्व आदि के कारण आस्रव होता है।

ये ही आतम को दुःख कारण तातैं इनको तजिये।

येही– मिथ्यात्व आदि ही, आतम को– संसारी आत्मा के लिए, दुःख कारन– दुःख के कारण हैं, तातैं– इसलिए, इनको– इन मिथ्यात्व आदि को, तजिये– छोड़ दीजिये।

बन्ध तत्त्व

जीव प्रदेश बंधे विधि सौं सो बन्धन, कबहुँ न सजिये।।१६।।

जो जीव प्रदेश– आत्मा के प्रदेशों का, विधि सौं– कर्म के प्रदेशों से, बंधे– बंधना– एक क्षेत्रावगाही होना है, सो– वह, बन्धन– बन्ध तत्त्व है यह, कबहुँ न– कभी नहीं, सजिये– सजना– बांधना चाहिए।

संवर तत्त्व

शम दम तैं जो कर्म न आवें सो संवर आदरिये।

जो– यदि, शम– क्रोधादि कषायों के शान्त और, दम– स्पर्शनादि इन्द्रियों के दमन– वश में करने से, कर्म न आवे– कर्मों का आस्रव नहीं होता है तो, सो– वह, संवर– संवर तत्त्व, आदरिये– आदर करने योग्य है अर्थात् पुण्य-पाप रूप कर्मों का न आना संवर कहलाता है।

निर्जरा तत्त्व

तपबल तैं विधि झरन निर्जरा ताहि सदा आचरिये।।१७।।

तप बल तैं– तप रूप शक्ति अर्थात् तप से, विधि– कर्मों का झरना– झड़ना छूटना, निर्जरा– निर्जरा– निर्जरा तत्त्व है, ताहि– उस निर्जरा का, सदा– सब समय, आचरिये– आचरण करना चाहिए अर्थात् सदा तपश्चरण कर निर्जरा करनी चाहिए।

मोक्ष तत्त्व

सकल कर्म तैं रहित अवस्था सो शिव थिर सुखकारी।

सकल– घातिया और अघातिया सब, कर्म तैं– कर्मों से, रहित अवस्था– रहित पर्याय, शिव– मोक्ष है और, सो– वह, थिर– अविनाशी, सुखकारी– सुख देने वाला है।

इह विधि जो सरधा तत्त्वन की सो समकित व्यवहारी।।१८।।

इह विधि– इस प्रकार, जो– जो, तत्त्वन की– जीवादि सात तत्त्वों का, सरधा– श्रद्धान करना है, सो– वह, व्यवहारी समकित– व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण

देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन धर्मदया युत सारो।
येहू मान समकित को कारण, अष्ट अंग युत धारो।।१९।।

जिनेन्द्रदेव– जिनेन्द्र भगवान, परिग्रह बिन– परिग्रह रहित, गुरु- साधु और, दया युत– दया सहित, धर्म- धर्म, सार– उत्तम है। येहू– इन जिनेन्द्र आदि ही को, समकित को कारण– सम्यग्दर्शन का कारण, मान– समझकर, अष्ट अंग युत– अष्ट अंग सहित, धारो– धारण करो।

सम्यग्दर्शन के दोष और गुण

वसुमद टारि निवारि त्रिशठता षट् अनायतन त्यागो।
शङ्कादिक वसु दोष बिना संवेगादिक चित पागो।।२०।।

वसु मद– ज्ञान, पूजा आदि आठ मदों को, टारि– दूर कर, षट् अनायतन– कुगुरु आदि तीन और कुगुरु सेवक आदि तीन इन धर्म के अस्थानभूत छः अनायतनों को, त्यागो– त्याग दो तथा, शंकादिक वसु दोष– शंका आदि आठ दोष, बिना– रहित होकर, संवेगादिक– सम्यक्त्व के लक्षण स्वरूप संवेग और अनुकम्पा आदि में, चित्त– हृदय, पागो– लगाओ।

अष्ट अङ्ग अरु दोष पचीसों तिन संक्षेपहुँ कहिये।
बिन जाने तें दोष गुनन को, कैसे तजिये गहिये।।२१।।

अष्ट अंग– सम्यक्त्व के आठ अंग, अरु– और, पचीसों दोष– सम्यक्त्व के पचीस दोष हैं, तिन– उनको, संक्षेपहु– संक्षेप से, कहिये– कहते हैं क्योंकि, दोष गुनन को– दोषों और गुणों का, बिन जाने– बिना ज्ञान किये, कैसे– किस प्रकार, तजिये– दोषों का त्याग किया जा सकता है? और, गहिये– गुणों का ग्रहण किया जा सकता है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

निःशंकित अंग

जिन वचमें शङ्का न,

जिन– जिनेद्र भगवान के, वच में– वचनों में, शंका न– सन्देह नहीं करना चाहिए।

निष्कांक्षित अंग

धारि वृष भव सुख वांछा भानै।।

वृष धारि– जैन धर्म धारण कर, भव सुख– संसार के सुखों की, वांछा– अभिलाषा-चाह, न भानै– नहीं करना चाहिए।

निर्विचिकित्सक अंग

मुनि तन देख मलिन न देख घिनावै,

मुनि तन– गुणी तपस्वी आदि मुनियों के शरीर को, मलिन– मैला देख कर, घिनावै न – घृणा नहीं करनी चाहिए।

अमूढदृष्टि अंग

तत्त्व कुतत्त्व पिछानै।।२२।।

तत्त्व– पदार्थ का वास्तविक स्वरूप और, कुतत्त्व– पदार्थ का मिथ्या स्वरूप, पिछानै– जानना चाहिए और जान कर तत्त्व में श्रद्धान करें।

उपगूहन अंग

निज गुन अरु पर औगुन ढांकै, वा जिन धर्म बढ़ावै।

निज– अपने, गुन– गुण अरु– और, पर– दूसरे के, औगुन– अवगुण दोष, ढांकै– छिपाना, वा– अथवा, निज– अपने, जैन धर्म– शासन की, बढ़ावै– उन्नति करना चाहिए।

स्थिति करण अंग

कामादिक कर वृषतें चिगते निज परको सु दिढावै।।२३।।

कामादिक कर– काम, क्रोध आदि के द्वारा, निज परकों– अपने को और दूसरे को, वृष तैं चिगते– जैन धर्म से डिगने– डांवाडोल होने पर, सु– अच्छी तरह, दिढ़ावै– उसमें स्थिर करना चाहिए।

वात्सल्य अंग

धर्मी सों गउवच्छ प्रीति सम कर,

धर्मी सों– सहधर्मियों के साथ, गउवच्छ सम– गाय का बछड़े के समान, प्रीत कर– प्रेम करना चाहिए।

प्रभावना अंग

जिन धर्म दिपावैं।

जिन– आत्मा के, धर्म– रत्नत्रय-रूप धर्म को तथा स्वर्ग आदि में पहुँचाने वाले जैन धर्म को, दिपावैं– प्रकाशित करना चाहिए अर्थात् जैन धर्म की उन्नति के लिए, विद्यालय, औषधालय, ब्रह्मचर्याश्रम आदि खोल कर जैन धर्म की सच्ची प्रभावना करनी चाहिए।

सम्यग्दर्शन के आठ दोष

इन गुण तैं विपरीत दोष वसु, तिनकों सतत खिपावै।।२४।।

इन– निःशंकितादि, गुण तैं– गुणों से, विपरीत– विरुद्ध शंका आदि, वसु– आठ, दोष– दोष होते हैं, तिनको– इनका, सतत– निरन्तर, खिपावै– क्षय-नाश करना चाहिए।

आठ मद

पिता भूप वा मातुल नृप जो होय, न तो मद ठानै।
मद न रूपको, मद न ज्ञानको धन बलको मद भानै।।२५।।
तपको मद न मद जु प्रभुताको करै न सो निज जानै।

पिता– १ पिता या पिता के वंश में; भूप– राजा हो यह, कुलमद वा– और, जो– अगर, मातुल– २ मामा या मामा के वंश कर, नृप– राजा, होय– होवे, तो– तब, मद– मान अभिमान-गर्व, न ठानै– नहीं करे, अगर करे तो यह, जातिमद है। रूप को – ३ अपनी सुन्दरता का मद, मद न– अभिमान न करे, यदि करे तो, रूपमद है। ज्ञान को– ४ अपनी विद्वत्ता का, मद न– मद नहीं करें, यदि करें तो, ज्ञानमद है। धन बल– मैं धनवान हूं मैं बलवान हूं, मदको– इन दोनों प्रकार के मद को, भानै– नष्ट करे, यदि नष्ट नहीं किया तो क्रम से ५ धनमद और ६ बलमद होगा। तपको ... ७. मैं तपस्वी हूं, इस तरह का मद न– मद नहीं करे। यदि मद करे तो, तपमद होगा, जु– जो ८ प्रभुता को– अपने अधिकार का, मद– मान, न करै– नहीं करता है, यदि करे तो, प्रभुतामद होगा सो– वह मद न करने वाला पुरुष, निज– आत्मा के स्वरूप को, जानै– जानता है।

मद धारै तो यही दोष वसु, समकित को मल ठानै ।२६।।

यदि: मद– मद, धारै– धारण करै, तो– तो, यही– ज्ञानमद आदि, वसु दोष– आठ दोष, समकित को मल– सम्यक्त्व में दोष को, ठानै– स्थान देते हैं अर्थात् सम्यक्त्व को मलिन-दूषित करते हैं।

षट् अनायतन

कुगुरु कुदेव कुवृष सेवक की नहिं प्रशंस उचरै है।

कुगुरु– १ मिथ्या गुरु, कुदेव २. मिथ्यादेव और, कुवृष– ३. मिथ्या धर्म तथा, सेवक की– इन तीनों के सेवकों अर्थात् ४ कुगुरु सेवक ५ कुदेव सेवक और ६. कुवृष सेवक इन अधर्म स्थान रूप छः अनायतनों की, प्रशंस-प्रशंसा का, न उचरै है– उच्चारण नहीं करता है।

तीन मूढ़ता

जिन, मुनि, जिनश्रुत बिन कुगुरुआदिक तिन्हें न नमन करे हैं।२७।।

सम्यग्दर्शनधारी पुरुष, जिन– जिनेन्द्रदेव, मुनि– समस्त परिग्रह रहित साधु और, जिनश्रुत– जैन शास्त्र को, बिना– छोड़ कर, कुगुरुआदिक– कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र को, नमन– नमस्कार-आदर सत्कार आदि, न करैं हैं– नहीं करते हैं। यदि करते हैं तो देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और शास्त्रमूढ़ता हो जावेगी।

इस प्रकार ८ शंकादिक दोष, ८ मद, ६ अनायतन और ३ मूढ़ता ये २५ सम्यक्त्व के दोष होते हैं।

सम्यक्त्व का महत्व

दोष रहित गुण सहित सुधी जे सम्यक् दरश सजे हैं।
चरित मोहवश लेश न संयम पै सुरनाथ जजे हैं।।२८।।
गेही पै गृह में न रचे ज्यों जल तैं भिन्न कमल है।
नगर नारि को प्यार तथा कांदे में हेम अमल है।।२९।।

जे–जो, सुधी– बुद्धिमान पुरुष, दोष रहित– सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों से रहित और, गुण सहित– नि:शंकितादि आठ गुणों से सहित हैं वे, सम्यक् दरश– सम्यग्दर्शन से, सजे हैं– भूषित हैं अर्थात् वे बुद्धिमान सम्यग्दृष्टि हैं। उनमें, चरित मोहवश– चारित्र मोहनीय के उदय के कारण, लेश– थोड़ा भी, संयम न– चारित्र नहीं होता है, पै– तो भी, सुरनाथ– देवों के स्वामी इन्द्र, जजे हैं– उनकी पूजा करते हैं। सम्यग्दृष्टि, गेही– गृहस्थ हैं, पै– तो भी, गृह में– स्त्री पुत्रादि में, रचे न– राग नहीं करता है। ज्यों– जिस प्रकार, जलमें– पानी में पैदा होने और सदा रहने पर भी, कमल-कमल, भिन्न है– जल से भिन्न रहता है। सम्यग्दृष्टि निर्मोही

गृहस्थ की, नगर नारि को– गांव तथा स्त्री आदि के प्रति, प्यार– प्रीति ऐसी होती है; यथा– जैसे, कादे में– कीचड़ में पड़ा हुआ, हेम– सुवर्ण, अमल है– निर्मल रहता है। कीचड़ में पड़ जाने से सोने में कीचड़ नहीं मिल सकती। तथा वैसे मोह रहित गृहस्थ गृह और कुटुम्ब में रह कर भी निर्मोह है। यह सब सम्यग्दर्शन की महिमा है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्राचार्यजी ने कहा है:....

गृहस्थां मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो, नैव मोहवान्।
अनगारो, गृही श्रेयान् निर्मोहो, मोहिनो मुने:।।

नोट– "नगरनारि" से वेश्या का अर्थ भी लिया जा सकता है। वह सबसे ऊपरी प्रेम केवल रुपये के लोभ से करती है।

सम्यग्दृष्टि कहां-कहां नहीं जाता

प्रथम नरक बिन षट् भू, ज्योतिष वान भवन षंढ नारी।
थावर विकलत्रय पशु में नहिं उपजत सम्यक् धारी।।३०।।

सम्यक् धारी– सम्यग्दृष्टि जीव, प्रथम नरक बिन– प्रथम नरक के बिना, षट्भू– छः नरकों, ज्योतिष देव, वान– व्यन्तर देव, भवन– भवनवासी, देव षंढ– नपुंसक, नारी–स्त्री पर्याय, स्थावर– स्थावर एकेन्द्रिय, विकलत्रय– द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और, पशु में– तिर्यंच पर्याय में, नहिं उपजत– नहीं उत्पन्न होता है। प्रथम नरक में भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने से पहले ही नरकायु का बन्ध कर लेने वाला ही जाता है।

सम्यग्दर्शन की महिमा का उपसंहार

तीन लोक तिहुँकाल माँहि नहिं दर्शन सो सुखकारी।
सकल धर्म को मूल यही, इस बिन करनी दुःखकारी।।३१।।

मोख महल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यकता न लहै सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।।३२।।

दर्शन सो– सम्यग्दर्शन के समान, सुखकारी– आत्मिक सुख देने वाला, तीन लोक– तीन लोक और, तिहुँकाल मांहि– तीन काल में, नाहिं– और कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। सकल– सम्पूर्ण, धर्म को– धर्म का, यही– यह सम्यग्दर्शन ही, मूल– कारण है, इस बिन– इसके बिना, करनी– समस्त क्रियायें, दुःखकारी– संसार में घुमाने वाली होने के कारण दुःख देने वाली हैं। तथा सम्यग्दर्शन, मोखमहल की -मोक्षरूपी महल में पहुंचने के लिए, परथम सीढ़ी– पहली सीढ़ी है क्योंकि, या बिन– इस सम्यग्दर्शन के बिना, ज्ञानचरित्रा– ज्ञान और चारित्र, सम्यकता– सम्यक्त्व, न लहै– नहीं प्राप्त कर सकते। सो– इसलिए, भव्य– हे भव्य जीवों! पवित्रा– निर्मल सम्यक्, दर्शन–दर्शन, धारो– ग्रहण करो।

"दौल" समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है जो सम्यक् नहिं होवै।।३३।।

सयाने 'दौल'– हे चतुर दौलतराम! समझ– तत्त्वार्थ को समझ अर्थात् तत्त्वार्थ का श्रद्धान कर, सुन– शास्त्रादि श्रवण कर अर्थात् तत्त्वार्थ का ज्ञान कर और, चेत– सावधान हो अर्थात् तत्त्वार्थ का श्रद्धान तथा ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार सम्यक् आचरण कर। विशेष– मोक्षमार्ग का पथिक बन जा... पथिक को भी इन तीन मार्गों (विश्वास, ज्ञान और अनुसरण) की आवश्यकता होती है इसलिए, काल– समय को, वृथा– व्यर्थ, मत खोवे– मत खो क्योंकि, जो– यदि, सम्यक्-सम्यग्दर्शन, नहिं होवै– नहीं हुआ हो तो, फिर– पंच परिवर्तन में भ्रमण करने-फिरने से, यह नरभव– इस मनुष्य पर्याय

का, मिलन– संयोग मिलना, कठिन है– बहुत कठिन है।

विशेष– कर्त्ता ने समझ, सुन और चेत शब्दों से इनमें क्रम से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारण करने का उपदेश दिया है। इनका पूर्ण धारण 'नरभव में ही हो सकता है, अन्य गतियों में नहीं।

चतुर्थ ढाल

दोहा

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान।
स्वपर अर्थ बहु धर्म जुत, ज्यों प्रकटावन भान।।१।।

सम्यक् श्रद्धा– सम्यग्दर्शन, धारि– धारण कर, पुन– फिर, सम्यग्ज्ञान– सम्यग्ज्ञान, सेवहु– सेवन– धारण करो। जो– क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान, बहुधर्मजुत– अनेक धर्म अथवा गुण सहित, स्वपर अर्थ- आत्मा जीवतत्त्व और पर– पुद्गल तत्त्व को, भान ज्यों– सूर्य के समान, प्रकटावन– प्रकाशित करने वाला है जीव और अजीव तत्त्व में समस्त तत्त्व गर्भित हैं।

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान में अन्तर

रोला छन्द

सम्यक साथै ज्ञान होय पै भिन्न अराधो।
लक्षण 'श्रद्धा' 'जान' दुहू में भेद अवाधो।।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होते हू प्रकाश दीपक तैं होई।।२।।

सम्यक्– सम्यग्दर्शन के, साथै– साथ ही एक समय में, ज्ञान–

सम्यग्ज्ञान, होय– होता है, पै– किन्तु दोनों, भिन्न– पृथक् पृथक, अराधो– विचारना चाहिए। सम्यग्दर्शन का, श्रद्धा– तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना और सम्यग्ज्ञान का, जान– तत्त्वार्थ का ज्ञान करना, लक्षण– स्वरूप है इसलिए, दुहू में– सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनों में, अवाधो– प्रत्यक्ष प्रमाण तथा परोक्ष प्रमाण से बाधा रहित, भेद– भेद है। इनमें, सम्यक्– सम्यग्दर्शन को, कारण जान– सम्यग्ज्ञान का कारण समझना चाहिए और, सोई ज्ञान कारज– वहीं सम्यग्ज्ञान कार्य है, दोनों के, युगपत्– एक साथ, होते हू– उत्पन्न होने पर भी, प्रकाश– उजाला, दीपकतें– दीपक से, होई– होता है, अगर कारण स्वरूप दीपक न हो तो प्रकाश स्वरूप कार्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन न हो तो सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

सम्यग्ज्ञान के भेद

तासु भेद दो हैं परोक्ष परतछ, तिनमाहीं।
मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मन तैं उपजाहीं।।
अवधि ज्ञान मनपर्यय दो हैं देश प्रतच्छा।
द्रव्य क्षेत्र परमान लिये जानें जिय स्वच्छा।।३।।
सकल द्रव्य के गुण अनन्त परजाय अनन्ता।
जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।।

तासु– उस सम्यग्दर्शन के, परोक्ष– परोक्ष और, परतक्ष– प्रत्यक्ष इस तरह, दो भेद हैं– दो भेद हैं, तिनमाहीं– उनमें से, मतिश्रुत– मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये, दोय– दोनों ही, परोक्ष– परोक्ष ज्ञान हैं तथा ये दोनों अक्ष मन तैं– इन्द्रियों और मन से, उपजाही– उत्पन्न होते हैं। अवधि मनपर्यय ज्ञान– अवधिज्ञान और मन: पर्यय ज्ञान

ये, दो -दो ज्ञान, देश प्रतच्छा– देश प्रत्यक्ष हैं इन दोनों ज्ञानों का धारक, जिय– जीव, द्रव्य क्षेत्र परमान लिये– द्रव्य और क्षेत्र के प्रमाण को लेकर, पदार्थों को, स्वच्छा– निर्मल स्पष्ट, जानै– जानता है। सकल द्रव्य के अनन्त– छहों द्रव्यों के अनन्त, गुन– गुण और, अनन्ता– अनन्त ही, परजाय– पर्यायें होती हैं। इन समस्त द्रव्यों और पर्यायों को, केवलिभगवन्ता– केवली भगवान, प्रगट– स्पष्ट रूप से, एकै काल– एक ही समय में, जानै– जानते हैं। यह केवलज्ञान सर्वदेश प्रत्यक्ष अथवा सकल प्रत्यक्ष कहलाता है।

विशेष– मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष'' तथा अवधिज्ञान और मन: पर्यय ज्ञान को 'विकलप्रत्यक्ष' भी कहते हैं।

ज्ञान का महत्व

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
यह परमामृत जन्म- जरामृत रोग निवारण।।

जगत में– चतुर्गति रूप संसार में, ज्ञान समान– ज्ञान के बराबर, आन– दूसरा कोई, सुख को– सुख के उत्पन्न करने का, कारन न– कारण नहीं है और, यह– सम्यग्ज्ञान, जन्म जरामृत रोग निवारन– जन्म बुढ़ापा मृत्यु आदि रूप रोग को दूर करने के लिए, परमामृत- प्रधान-प्रकृष्ट उत्तम अमृत के समान है।

विशेष– यह के स्थान में 'इह' भी हो सकता है, जिसका अर्थ इस लोक में होगा।

कोटि जन्म तप तपे ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिन मांहि, त्रिगुप्ति तै सहज टरैं ते।।

अज्ञानी के, ज्ञान बिन– ज्ञान के बिना, कोटि जन्म– करोड़ों जन्मों में, तप तपे– तप करने पर, जे कर्म – जो कर्म, झरैं– निर्जरा को प्राप्त होते हैं, ते– वे कर्म, ज्ञानी के– ज्ञानवान के, छिन मांहि– क्षण भर में, त्रिगुप्ति तैं– मन, वचन और काय गुप्तियों के द्वारा, सहज– स्वयं बिना प्रयत्न किये, टरै– दूर हो जाते हैं अर्थात् ज्ञानी तप कर शीघ्र कर्मों की निर्जरा कर लेता है।

मुनि व्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम-ज्ञान-बिना सुख लेश न पायो।।५।।

मुनिव्रत– मुनियों के महाव्रतों को, धार– धारण कर, अनन्त बार– अनन्त बार, ग्रीवक– नव ग्रैवेयक में, उपजायों– उत्पन्न हुआ, पै– लेकिन, निज– अपने, आतम ज्ञान बिना– शुद्ध आत्मा के ज्ञान बिना, सुख लेश– थोड़ा भी सुख, न पायो– नहीं प्राप्त किया।

तातैं जिनवर कथित तत्त्व अभ्यास करीजे।
संशय विभ्रम मोह त्यागि आपो लखि लीजे।।
इह मानुष परजाय, सुकुल सुनिवो जिनवाणी।
यह विधि गये, न मिले सुमनि ज्यों उदधि समानी।।६।।

तातें– इसलिए, जिनवर कथित– जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए, तत्त्व– यथार्थ तत्त्व का, अभ्यास– अध्ययन- पठन पाठन, करीजे– करना चाहिए और, संशय– संशय, विभ्रम– विपरीत, मोह– विमोह: अनध्यवसाय का, त्यागि– त्याग कर, आपो– आत्मा का स्वरूप, लखि– लक्ष्य में ध्यान में रख, लीजे– लीजिये। क्योंकि, इह– इस भव में, मानुष परजाय– मनुष्य पर्याय, सुकुल– उत्तम कुल और जिनवाणी सुनिवो– जिनेन्द्र भगवान के वचन सुनना अर्थात् जैन

शास्त्रों का स्वाध्याय व मनन कर इत्यादि, यह– सब, विधि– कर्म संयोगवश, गये– चले जाने– अवसर निकल जाने पर, उदधि समानी– समुद्र में समाये– समुद्र की थाल में पहुँचे हुए, सुमनि– उत्तम चिन्तामणि रत्न के, ज्यों– समान, न मिलें– सरलता से नहीं मिलेंगे।

धन समाज गज बाज राज तो काज न आवे।
ज्ञान आप को रूप भये फिर अचल रहावे।।
तास ज्ञान को, कारण, स्वपर विवेक बखानो।
कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनो।।७।।

धन– सुवर्ण धन धान्य आदि, समाज– माता-पिता कुटुम्ब आदि, गज– हाथी, बाज– घोड़े, राज– राज्य, तो– और यह सब, काज– आत्मा के हित के प्रयोजन में, न आवै– नहीं आता है। आप को रूप– आत्मा के स्वरूप का, ज्ञान भये– ज्ञान हो जाने के, फिर– बाद, अचल रहावै– आत्मा का ज्ञान स्थिर रहता है। तास– उस, ज्ञान को– ज्ञान का, कारन– हेतु, स्वपर विवेक– स्व तथा पर का ज्ञान, बखानो– कह दिया गया है। भव्य– हे भव्य जीवों! कोटि उपाय बनाय- करोड़ों प्रयत्न कर, ताको– उस ज्ञान को, उर– हृदय में, आनो– धारण करो।

जे पूरब शिव गये जांहि अरु आगे जैहैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी मुनिनाथ कहे हैं।।
विषय-चाह दवदाह जगत जन अरनि दझावे।
तास उपाय न आन, ज्ञान घन घान बुझावे।।८।।

जे– जो, पूरब–अतीत काल में, शिव– मोक्ष, गये– पधारे,

जांहि– वर्तमान काल में जा रहे हैं, अरु– और, आगे– भविष्यकाल में, जैहैं– मोक्ष पधारेंगे, मुनिनाथ– जिनेन्द्र भगवान, कहे हैं– कहते हैं कि, सो सब– यह सब, ज्ञानतनी– ज्ञान की, महिमा– महिमा है। अथवा, सो सब ज्ञानतनी मुनिनाथ महिमा कहे हैं– यह सब ज्ञान ही जिनका शरीर है, ऐसे ज्ञान शरीरी- केवल ज्ञानी, मुनिनाथ-जिनेन्द्र देव ने ज्ञान की महिमा कही है यह अर्थ भी संगत हो सकता है। विषय चाह दवदाह– पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय भोगों की अभिलाषा रूपी भयंकर अग्नि, जगत-जन अरनि– संसार में जन्म लेने वाले प्राणी स्वरूप वन को, दझावे– जलाती है अर्थात् प्राणीमात्र विषयों की अभिलाषा से दुःखित रहता है। तासु– उस आग को, ज्ञान घन घान– ज्ञान रूप घन मेघ समूह ही, बुझावै– बुझा सकता है, आन उपाय न– दूसरा उपाय नहीं है अर्थात् ज्ञान से ही विषयों की अभिलाषायें शांत हो सकती हैं।

पुण्य- पाप फल मांहि हरष बिलखो मत भाई।
यह पुद्गल परजाय उपजि, विनसै थिरताई।।
लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल-जग-दंद-फन्द निज आतम ध्यावो।।९।।

भाई– धर्म-बन्धु ! पुण्य-पाप फल मांहि– पुण्य और पाप के फल में, हरष– आनन्द राग और, बिलखो– खेद-द्वेष, मत–करो क्योंकि, यह-पुण्य पाप-रूप फल, पुद्गल परजाय– पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। क्योंकि द्रव्यों की पर्यायें, उपजि– उत्पन्न होती है, विनसै–नष्ट होती हैं और, थिरताई– किसी अंश में स्थिर रहती हैं।

विशेष– प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण पाये जाते हैं, अन्य द्रव्यों में प्रकट रूप से उत्पाद और व्यय, पुद्गल के समान

स्पष्ट नहीं दीखते इसलिए यह संसार पौद्गलिक पदार्थों के उत्पाद तथा विनाश से अधिक रागद्वेष करता है। कर्म भी पुद्गल है। पुण्य और पाप इसी के फल हैं इसलिए इनमें रागद्वेष नहीं करना चाहिए।

यही– यही, लाख बात की बात– लाखों बातों में से एक बात अर्थात् अत्यन्त लाभदायी बात है कि, निश्चय– निश्चयनय को, उर– हृदय-अन्तरंग में, लायो– धारण करो। इसका उपाय यह है कि, सकल-कर्म रहित समस्त, जग– चतुर्गति-रूप संसार की, दंद-फंद– पुण्य-पाप रूपी गाठों को, तोरि– तोड़ कर– खोल कर अर्थात् व्यवहारनय से, सम्बन्ध छोड़कर, निज– चिदानन्द स्वरूप आतम– आत्मा को ध्याओ– ध्यान करो। यही निश्चयनय का हृदय से धारण करना है।

चारित्र के भेद

सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दृढ़ चारित लीजै।
एक देश अरु सकल देश तसु भेद कहीजे।।

सम्यग्ज्ञानी– सम्यग्ज्ञान सहित, होय– होकर, बहुरि– फिर, दृढ़– स्थिर, सम्यक्, चारित– चारित्र, लीजै– ग्रहण करना चाहिए, तसु– उस चारित्र के, एकदेश– अणुव्रत, अरु– और, सकलदेश– महाव्रत ये दो, भेद– भेद, कहीजै– कहना चाहिए।

पांच अणुव्रत

त्रस हिंसा को त्यागि वृथा थावर न संघारै।

अहिंसाणुव्रत

त्रसहिंसा को– द्वीन्द्रियादि के प्राण नाश का, त्यागि– त्याग कर,

वृथा– प्रयोजन बिना, थावर– पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों का भी, संघारै न– घात न करे।

सत्याणुव्रत

पर वधकार कठोर निन्द्य नहिं वयन उचारै।।१०।।

पर वधकार– दूसरे प्राणियों के नाश करने वाले, कठोर– कड़वे और, निन्द्य– निन्दा करने योग्य, वयन– वचन, नहिं– नहीं, उचारै– बोले।

अचौर्याणुव्रत

जल मृतिका बिन और नांहि कछु गहै अदत्ता।

जल मृतिका बिन– पानी, मिट्टी, ऐसे ही पदार्थ जिनके लेने से किसी को, हानि न हो, दिल न दुःखें ऐसे तिनके बिना, और कछु– दूसरा कुछ, अदत्ता– नहीं दिया हुआ पदार्थ, नांहि गहै– ग्रहण नहीं करे।

विशेष– खेती के लिए नहरों का पानी और जहां मिट्टी मोल बिकती है, वहां मिट्टी भी लेना चोरी समझा जावेगा, क्योंकि ऐसा करने से अपने और उनके स्वामियों के परिणाम दुःखी होते हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत

निज वनिता बिन सकल नारि सौं रहे विरत्ता।।

निज वनिता– अपनी विवाहिता पत्नी के सिवाय, सकल– सम्पूर्ण नारि सो– स्त्री जाति से, विरत्ता रहे– राग रहित रहे अर्थात् अपनी उम्र से छोटी लड़की, बराबर उम्र वाली को बहिन और बड़ी उम्र

वाली को माता के समान समझे। स्वदार सन्तोष कुशील त्याग और मैथुन त्याग ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के नामान्तर हैं।

परिग्रह परिमाण

अपनी शक्ति विचार परिग्रह थोरो राखै।

अपनी शक्ति– अपनी योग्यता, अपने सामर्थ्य को, विचार– समझ कर, परिग्रह– धन धान्यादि, थोरो– कम, राखै– रखे। यदि अपना, एक मोटर, दस नौकर पांच मकानों से निर्वाह हो सकता है तो इससे अधिक का, परिमाण कर ले और दिन प्रतिदिन परिग्रह कम करने का ध्यान रखे।

तीन गुणव्रत

दिग्व्रत

दश दिशि गमन प्रमाण ठानि तसु सीम न नाखै।।

दश दिशि– ऊपर, नीचे चार दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण) और विदिशाओं (ईशान, नैऋत्य, वायव्य और आग्नेय) में, गमन– जाने के, प्रमान– प्रमाण– मर्यादा का, ठानि– निश्चय कर, तसु– उस प्रमाण की, सीम– मर्यादा का, नाखै न– उल्लंघन न करे।

देशव्रत

ताहू में फिर ग्राम गली गृह बाग बजारा।
गमना गमन प्रमाण ठानि अन सकल निवारा।।

फिर– आत्म संयम के लिए, ताहू में– दिग्व्रत में ली हुई मर्यादा में, ग्राम– गांव, गली– गली, गृह– घर, बाग– बगीचों और, बजारा–

बाजार आदि में, गमनागमन प्रमान – जाने आने के प्रमाण का, ठानि– निश्चय कर, अन– अन्य मर्यादा से बाहर के, सकल– समस्त पदार्थों व क्षेत्रों का, निवारा– त्याग कर देना चाहिए।

अनर्थ दण्डविरति

अपध्यान

काहू की धन हानि किसी जय हार न चिन्तै।

काहू की– किसी के, धन हानि– धन का नुकसान, किसी– किसी के, जय– विजय और, हार– पराजय का, चिंतै न– चिन्तवन-विचार नहीं करे। यह अपध्यान नामक अनर्थदण्डविरतिव्रत है।

पापोपदेश

देय न सो उपदेश होय अघ बनिज कृषीतैं।१२।।

बनिज– व्यापार और, कृषी तैं– खेती से, अघ- पाप हिसा नामक, होय– होता है इसलिए, सो– ऐसा उपदेश, न देय– नहीं देवे। यह पापोपदेश नामक अनर्थ दण्डविरतिव्रत है।

प्रमादचर्या

करि प्रमाद जल भूमि वृक्ष पावक न विराधै।

प्रमाद करि– स्त्री कथा आदि पन्द्रह प्रकार के प्रमादों में से किसी के आधीन होकर, जल- पानी, भूमि– पृथ्वी, वृक्ष– वनस्पति और पावक– अग्नि का, विराधै न– नाश नहीं करे। यह प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड विरति व्रत है।

हिंसादान

असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधे।

असि– तलवार, धनु– धनुष और, हल– हल आदि, हिंसोपकरण– हिंसा के शस्त्र, दे – देकर, यश– अपने ऊपर प्रशंसा, नहिं लाधै– नहीं लादे। अर्थात् अपनी प्रशंसा के लोभ से हिंसा के उपकरण किसी को न दे। यह हिंसादान नामक अनर्थदण्डविरतिव्रत है।

दुःश्रुति

राग द्वेष करतार कथा कबहूं न सुनीजे।

राग–द्वेष– प्रेम और द्वेष, करतार– उत्पन्न करने वाली, कथा– कथा आदि, कबहूं– कभी, न सुनीजे– नहीं सुननी चाहिए। यह दुःश्रुति नामक अनर्थदण्डविरतिव्रत है।

औरहु अनरथ दण्ड हेतु अघ तिन्हैं न कीजै।

इस प्रकार, औरहु– दूसरे भी जो, अघ हेतु– पाप के कारण रूप, अनरथदण्ड हैं– अनर्थ दण्ड हैं, तिन्हैं– उनको, न कीजे– नहीं करना चाहिए।

चार शिक्षा व्रत

सामायिक

धर उर समता भाव सदा सामायिक करिये।

उर– आत्मा में, समता भाव– राग द्वेष रहित परिणाम, धर– धारण कर, सदा– प्रतिदिन प्रातः, मध्यान्ह और सन्ध्या समय में, सामायिक– सामायिक, करिये– करना चाहिए।

प्रोषधोपवास

परव चतुष्टय मांहि पाप तजि प्रोषध धरिये।

परव चतुष्टय– प्रति मास की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी, मांहि– में, पाप तजि– हिंसा आरम्भ तथा विषय कषाय छोड़ कर, प्रोषध– प्रोषधोपवास, धरिये– धारण करना चाहिए।

भोगोपभोग परिमाण

भोग और उपभोग नियम कर ममत निवारै।

भोग– अन्नादि जिनका एक बार सेवन किया जाता है, और– और, उपभोग– स्त्री वस्त्रादि जिनका बार-बार सेवन किया जाता है इसका, नियम कर– प्रमाण कर, ममत– अन्य पदार्थों से मोह, निवारै– छोड़ दें।

अतिथि संविभाग

मुनि को भोजन देय फेर निज करहिं अहारै।।१४।।

मुनि को– सकलव्रत धारण करने वाले साधु को, भोजन देय– आहार कराने के, फेर– बाद, निज– स्वयं, आहारै– आहार, करहिं– करना चाहिए।

बारह व्रत के अतीचार पन पन न लगावै।
मरण समय सन्यास धारि तसु दोष नशावै।।
यों श्रावक व्रत पाल स्वर्ग सोलम उपजावै।
तँहते चय नर जन्म पाय मुनि है शिव जावै।।१५।।

बारह व्रत के– पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत– इन बारह व्रतों के, पन पन– पांच पांच, अतिचार– अतिचार, न लगावे– नहीं

लगावे और, मरण समय– मृत्यु के समय में, सन्यास– समाधि, धारि– धारण कर, तसु– उन व्रतों के, दोष– दोषों को, नशावै– नष्ट कर दे। यों– इस प्रकार श्रावक के, व्रतों को, पाल– पालन कर, सोलम् स्वर्ग– सोलहवें स्वर्ग में, उपजावै– उत्पन्न तथा, तहंते– सोलहवें स्वर्ग से, चय– मर कर, नर जन्म पाय– मनुष्य की पर्याय पाकर तथा, मुनिहै– साधु मुनि होकर, शिव– मोक्ष, जावे– प्राप्त करे।

पाँचवीं ढाल

सखी छन्द

मुनि सकल व्रती बड़भागी, भव भोगन तैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई चिन्तो अनुप्रेक्षा भाई।।१।।

मुनि– साधु, सकलव्रती– महाव्रत धारण करने वाले, बड़भागी– बहुत भाग्यवान और, भव भोगन तैं वैरागी– संसार के विषय भोगों से रागद्वेष रहित होते हैं। भाई– धर्म-बन्धु! वैराग्य उपावन माई– वैराग्य को उत्पन्न करने वाली माता के समान, अनुप्रेक्षा– अनित्य आदि बारह भावनाओं का, चिन्तो– चिन्तवन करो। अर्थात् भावनाओं के चिन्तवन करने से वैराग्य उत्पन्न होता है।

इन चिन्तत शमसुख जागे, जिमि ज्वलन पवनके लागे।
जबही जिय आतम जाने, तबही जिय शिव सुख ठाने।।२।।

इन चिन्तन– इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करने पर, शमसुख– इन्द्रिय विषय कषायों का उपशमरूपी सुख, पवन के लागे– हवा लगने पर, ज्वलन जिमि– अग्नि के समान, जागे– जागृत अर्थात् प्रकट होता है। तथा, जिय– जीव, जबही– जिस समय, आत्मा जाने– आत्मा का स्वभाव पहिचानता है, वह– आत्म स्वभाव का ज्ञाताजीव,

तबही– उसी समय, शिवसुख– मोक्ष रूपी सुख को, ठानै– निश्चय पूर्वक प्राप्त करता है।

बारह भावनायें

अनित्य भावना

जोवन, गृह, गोधन, नारी, हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रिय भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई।।३।।

सुर धनु– इन्द्र धनुष तथा, चपला– चंचल, जोवन– युवावस्था, गृह– मकान, हवेली, गोधन– गाय भैंस आदि, नारी– स्त्री, हय– घोड़ा, गज– हाथी, आज्ञाकारी जन– आज्ञा पालन करने वाले सेवक तथा इन्द्रिय भोग– स्पर्शन आदि पांचों इन्द्रियों के विषय, छिन थाई– क्षण भर स्थिर रहने वाले अर्थात् यौवन आदि अनित्य हैं।

अशरण भावना

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दलेते।
मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई, मरते न बचावे कोई।।४।।

जेते– जितने, सुर– सौधर्म आदि वैमानिक, असुर– भवनवासी असुर और, खगाधिप– विद्याधर आदि हैं, ते– सबको, काल– काल, हरि मृग ज्यों– सिंह, हरिण के समान, दले– नष्ट कर देता है। जैसे हरिण को सिंह मार डालता है, वैसे ही काल वैमानिक, देव आदि सभी को प्राणान्त कर देता है। मणि मन्त्र तन्त्र– मणि, मन्त्र और तन्त्र आदि, बहु होई– बहुत होते हैं लेकिन, मरते कोई बचावै न– मरते समय कोई रक्षा नहीं करता अर्थात् धर्म के सिवाय कोई शरण नहीं है।

संसार भावना

चहुँगति दु:ख जीव भरे हैं, परिवर्तन पञ्च करे हैं।
सब विधि संसार असारा, यामें सुख नाहिं लगारा।।५।।

जीव– जीव, चहुंगति– चारों गतियों में, दु:ख– कष्ट, भरे हैं– प्राप्त करते हैं और सदा, पञ्च परिवर्तन– द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव– ये पांच परिवर्तन, करै हैं– किया करते हैं। संसार– यह संसार, सब विधि– हरेक प्रकार से, असार– सार हीन है इसलिए, यामें– इसमें, सुख लगारा– सुख का अंश भी, नाहिं– नहीं है।

एकत्व भावना

शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एकहि तेते।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी।।६।।

जेते– जितने, शुभ अशुभ– पुण्य और पाप, करम फल– कर्मों के फल हैं, तेते– उन सबको, जिय– जीव, एकहि– अकेले ही, भोगे– भोगता है। सुत– पुत्र, दारा– स्त्री आदि कोई भी, सीरी– भागीदार, न होय– नहीं होता है। ये, सब– सभी, स्वारथ के– अपने मतलब के, भीरी हैं– साथी हैं।

अन्यत्व भावना

जलपय ज्यों जियतन मेला, पै भिन्न भिन्न नहिं भेला।
तो प्रकट जुदे धन धामा, क्यों है इक मिलि सुत रामा।।७।।

जियतन– जीव और शरीर का, मेला– सम्बन्ध, जल पय ज्यौं– पानी और दूध के सम्बन्ध के समान मिला हुआ है, पै– किन्तु, भिन्न-भिन्न– दोनों पृथक्-पृथक् रहते हैं, भेला नहिं– वास्तव में

एक नहीं है। तो– फिर, प्रकट जुदे– स्पष्ट-रूप से अलग दीखने वाले, धन– सोना, चांदी, धामा– मकान, सुत– पुत्र और, रामा– स्त्री आदि, मिल– मिल कर, इक– एक, क्यों है– कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं।

अशुचि भावना

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करै किम यारी।।८।।

शरीर पल– मांस, रुधिर– खून, राध-पीव और, मल– मूत्र आदि के, थैली– रहने की जगह है और, कीकस– हड्डी तथा, वसादि तैं– चर्बी आदि से, मैली– मलिन है। इसमें से, घिनकारी– घृणा पैदा करने वाले, नवद्वार– दो आंखें, दो नाक, दो कान के छिद्र, मल त्यागने का मार्ग और वीर्य निकलने का अथवा स्त्रियों के रज निकलने का मार्ग, नौ प्रकार के मल, बहैं– बहते रहते हैं। अस– ऐसे घृणा जनक, देह– शरीर से, किम– क्या, यारी– मित्रता, करै करता है?

आस्रव भावना

जो जोगन की चपलाई, तातैं है आस्रव भाई।
आस्रव दुःखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे।।९।।

भाई– हे धर्म-बन्धु ! जो– जो, जोगन की– मन, वचन, काय स्वरूप योग की, चपलाई– चपलता है, तातैं– उससे, आस्रव– कर्मों का आस्रव, है– होता है। आस्रव– आस्रव, घनेरे– बहुत, दुःखकार– दुःख देने वाला है। तिन्हें– उन आस्रव के कारणों को, बुद्धिवन्त– विवेक शील पुरुष, निरवेरे– दूर कर देते हैं।

संवर भावना

जिन पुण्य पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके।।१०।।

जिन– जिन्होंने, पुण्य-पाप-पुण्य एवं पाप का, नहिं कीना– आस्रव नहीं किया तथा, आतम अनुभव– निर्मल आत्मा के स्वरूप में, चित्त– मन, दीना– लगाया है, तिनही– उन्होंने ही, आवत विधि– आस्रव होने वाले कर्मों को, रोके– रोका है और इस प्रकार, संवर– कर्मों का संवर, लहि– प्राप्त कर, सुख– आत्मा के आनन्द का, अवलोके – दर्शन किया है अर्थात् उन्हें ही आत्मिक सुख प्राप्त होता है।

निर्जरा भावना

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खपावै, सोई शिव सुख दरसावै।।११।।

निज काल– अपनी स्थिति, पाय– पूरी कर, विधि– कर्मों की, झरना– निर्जरा होना सविपाक निर्जरा है, तासों– इससे, निज– आत्मा का, काज– प्रयोजन, न सरना– नहीं निकलना और, जो– जो, तपकरि– तपकरि तपश्चरण के द्वारा, कर्मखपावै– कर्मों का क्षय करता है– अविपाक निर्जरा करता है सोई वही, शिव सुख– मोक्ष के सुख का, दरसावै– दर्शन करता है अर्थात् अविपाक निर्जरावाला ही मुक्ति की प्राप्ति करता है– उसे ही अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्राप्त होता है।

लोक भावना

किनहू न करै धरै को, षड् द्रव्य मयी न हरै को।
सो लोकमांहि बिना समता, दुःख सहै जीव नित भ्रमता।।१२।।

किनहू– लोक को किसी ने, न करे– नहीं बनाया, को न धरै– और न उसे कोई धारण करता है और, षड् द्रव्यमयी को न हरै– समस्त द्रव्यों को अवकाश देने वाले लोक को, कौन नष्ट कर सकता है? कोई नहीं। जीव– जीव, सो लोक मांहि– ऐसे लोक में, बिन समता– बिना राग द्वेषादि के छोड़े, भ्रमता– भ्रमण करता– पंच परिवर्तन करता हुआ, नित– सदा, दुःख सहै– कष्ट उठाता है।

बोधिदुर्लभ भावना

अन्तिम ग्रीवकलों की हद, पायो अनन्त बिरियां पद।
पर सम्यक् ज्ञान न लाधो, दुर्लभ निजमें मुनि साधो।।१३।।

अन्तिम– नवमें, ग्रीवकलों की– ग्रैवेयक की, हद– सीमा का, पद– स्थान, अनन्त बिरियां– अनन्त बार, पायो– प्राप्त किया, पर– लेकिन, सम्यक्ज्ञान– सम्यग्ज्ञान, लाधो न– प्राप्त नहीं हुआ। इसे, मुनि– मुनियों ने, दुर्लभ– कठिनता से प्राप्त होने योग्य ज्ञान का, निजमें– अपनी शुद्ध आत्मा में, साधो– साधन किया है अर्थात् मुनिवर सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

धर्म भावना

जे भाव मोह तैं न्यारे–दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै।।१४।।

जे– जो आत्मा के भाव– परिणाम, मोह तैं– दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय से, न्यारे– अर्थात् पृथक हैं, मिथ्यात्वरहित एवं सम्यक्त्व स्वरूप, सारे– समस्त सारभूत, दृग ज्ञान व्रतादिक– दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आदि हैं, सो धर्म– उसे धर्म कहते हैं उसे, जिय–

यह जीव, जबै– जब, धारै– धारण करता है, तबही– तभी अचल सुख– अनन्त सुख का, निहारै– दर्शन करता है अर्थात् सम्यग्दर्शनादि रूप धर्म हैं और इस धर्म को प्राप्त कर अनन्त सुख के साथ अनन्त दर्शन आदि अविनाभावी गुणों को प्राप्त कर लेता है।

सो धर्म मुनिन कर धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताकूं सुनिये भवि प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी।।१५।।

सो धर्म– वह रत्नत्रय धर्म, मुनिन कर– मुनियों द्वारा, धरिये– धारण किया जाता है। आगे, तिनकी– उनका, करतूति– कर्त्तव्य-व्रत, उचरिये– कहते हैं। भवि प्राणी– हे भव्य जीवों! अपनी अनुभूति– अपने आत्मा का स्वभाव, पिछानी– पहिचान कर, राग-द्वेष रहित होकर अर्थात् सावधान होकर, ताकूं– उस मुनि चारित्र को, सुनिये– सुनिये।

छट्ठी ढाल

साधुओं के अट्ठाईस मूलगुण

पांच महाव्रत

अहिंसा (हरिगीता छन्द)

षट्काय जीव न हनन तैं, सब विधि दरव हिंसा टरी।
रागादि भाव निवार तैं, हिंसा न भावित अवतरी।।

षट्काय जीव– पृथ्वी, अप्, तेज, वायु वनस्पतिकाय और त्रसकाय के जीवों की, न हननतें– हिंसा न होने से, सब विधि– सब प्रकार से, दरवहिंसा– द्रव्य हिंसा, टरी– दूर हो जाती है और रागादिभाव– राग-द्वेष आदि के, निवार तैं– निवृत्त दूर होने पर, भावित हिंसा– भाव हिंसा, न अवतरी– नहीं उत्पन्न होती है।

सत्य

जिनके न लेश मृषा

जिनके– जिनके, लेश– कुछ भी, मृषा न– असत्य बोलने के भाव नहीं है।

अचौर्य

न जल मृण (तृण) हू बिना दीयो गहै।

जो, जल– पानी और, मृण– मिट्टी, हू– भी, दियो बिना– दिये बिना, न गहै– नहीं ग्रहण करता है।

विशेष– मृण के बदले तृण भी जिसका अर्थ तिनका होता है, ठीक मालूम पड़ता है।

ब्रह्मचर्य

अठदस सहस विध शील धरि, चिद्ब्रह्ममें नित रमि रहैं।।१।।

अठदस सहस– अठारह हजार, विध– प्रकार के, शील– शीलों को, धरि– धारण कर, चिद्ब्रह्म– चैतन्य स्वरूप आत्मा में, नित– सदा, रमि रहैं– लवलीन रहते हैं।

परिग्रह त्याग

अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर, संग दशधा तें टलैं।

अन्तर चतुर्दश– अन्तरंग परिग्रह के चौदह और, बाहिर संग– बहिरंग परिग्रह के, दशधा– दस प्रकार के, भेदतें– भेदों से, टलै– दूर रहते हैं।

पांच समिति

ईर्या

परमाद तजि चउकर मही लखि समिति ईर्या तैं चलैं।

परमाद– आलस्य, तजि– छोड़ कर, चउ कर– चार हाथ, मही– पृथ्वी, लखि– देख कर, ईर्या समिति तें– ईर्या समिति से, चलैं– चलते हैं।

भाषा

जग सुहितकर सब अहित हर, श्रुति सुखद सब संशय हरें।
भ्रम रोग हर जिनके वचन, मुखचन्द्र तैं अमृत झरे।।२।।

जग– संसार का, सुहित– वास्तविक कल्याण, कर– करने वाले, सब– सब प्रकार से, अहितहर– अकल्याण दूर करने वाले, श्रुति सुखद– सुनने से सुख देने वाले, सब– सब प्रकार से, संशय हरैं– संदेह दूर करने वाले, भ्रम रोग हर– विपरीत तथा अनध्यवसाय अर्थात् मिथ्यात्व रूपी रोग को नष्ट करने वाले, जिनके वचन– जिन मुनियों के वचन, मुख चन्द्र तैं– मुख रूपी चन्द्रमा से, अमृत झरैं– अमृत के समान झरते हैं। जिस प्रकार से अमृत से अनेकों रोग दूर होते हैं, उसी प्रकार मुनियों के सदुपदेश से संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रूप मिथ्यात्व दूर होता है।

ऐषणा

छ्यालीस दोष बिना सुकुल, श्रावक तणै घर अशन को।
ले तप बढ़ावन हेतु, नहिं तन पोषते तजि रसन को।।

छ्यालीस दोष– छ्यालीस दोष, बिना– रहित, तप बढ़ावन हेतु– तप बढ़ाने के लिए, अशन को– आहार, श्रावक तणै– श्रावक के,

घर– घर पर, ले– लेते हैं। इससे, तन शरीर को– (पोषते नहिं) पुष्ट नहीं करते किन्तु, रसन को तजि– रसों का त्याग करते हैं।

आदान निक्षेपण

शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखिकै गहै लखिके धरै।

शुचि ज्ञान संयम– पवित्रता ज्ञान और चारित्र के, उपकरण– साधनों को, लखि कै– देखकर, गहै– ग्रहण करते हैं और, लखिके– देखकर, धरै– रखते हैं।

प्रतिष्टापना

निर्जन्तु थान विलोक तन, मल मूत्र श्लेषम परिहरै।।३।।

निर्जन्तु थान– जीव रहित स्थान, विलोक– देख कर, तन– शरीर के, मल– शौच, मूत्र– पेशाब और, श्लेषम– कफ को, परिहरै– छोड़ते हैं।

तीन गुप्ति

सम्यक् प्रकार निरोध मन, वच काय आतम ध्यावते।
तिन सुथिर मुद्रा देख मृगगण उपल खाज खुजावते।।

मन वच काय– मन वच और शरीर को, सम्यक् प्रकार– अच्छी तरह, निरोध– रोक कर, आतम ध्यावते– अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, मृगगण– हरिण, तिन सुथिर– मुनिराज की अचल, मुद्रा– मूर्ति को, उपल– पत्थर के समान, देख– देखकर, समझ कर, खाज– खाज, खुजावते– खुजाते हैं।

पांच इन्द्रियाँ

रस रूप गन्ध तथा फरस अरु, शब्द शुभ असुहावने।
तिनमें न राग विरोध, पंचेन्द्रिय जयनपद पावने।।४।।

रस रूप गन्ध– रस रूप गन्ध, तथा– और, फरस– स्पर्श, अरु– और, शब्द– शब्द, शुभ– अच्छे और, असुहावने– बुरे होते हैं किन्तु मुनिराज, पंचेन्द्रिय जयनपद– पांच इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का स्थान, पावने– प्राप्त करने के लिए, तिनमें– शुभ और अशुभ विषयों में, राग विरोध न– राग और द्वेष नहीं करते हैं।

छः आवश्यक

समता सम्हारें, थुति उच्चारैं, वन्दना जिनदेव को।
तिन करें श्रुति करें प्रतिक्रम, तजें तन अहमेव को।।

समता– राग-द्वेष भाव छोड़ कर सामायिक में, सम्हारै– सावधान रहते हैं, थुति उचारैं– जिनवाणी तथा जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते हैं, जिन देव को– किसी एक तीर्थंकर या एक परमेष्ठी को, वन्दना– प्रणाम अथवा उनका गुणगान करते हैं नित– सदा, श्रुति– शास्त्र में, रति– अनुराग अर्थात् शास्त्र का स्वाध्याय, करें– करते हैं, प्रतिक्रम करैं– अपने दोषों का प्रतिक्रमण करते हैं और, तन अहमेव को– शरीर से, ममता का, तजें– त्याग करते हैं अर्थात् कायोत्सर्ग करते हैं। सामायिक, स्तुति, वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग इस तरह ये छः प्रकार के आवश्यक हैं।

शेष सात गुण

जिनके न न्हौंन न दन्तधावन, लेश अम्बर आवरण।
भूमांहि पिछली रयनि में, कछु शयन एकासन करण।।५।।

इक बार दिन में ले अहार, खड़े अलप निज पान में।
कचलौंच करत न डरत, परिषह सों लगे निज ध्यान में।।

जिनके– १ जो, न्हौन न– स्नान नहीं करते, दन्तधावन– २ मंजन नहीं करते तथा, अम्बर लेश आवरन न– ३ वस्त्र से कोई भी अंग नहीं ढकते अथवा थोड़ा भी कपड़ा अंग ढकने के लिए नहीं रखते अर्थात् दिगम्बर रहते हैं। पिछली रयनि में – ४ पिछली रात में, एकासन– एक करवट लेकर, भूमांहि– पृथ्वी पर, कछु शयन करन– थोड़ी देर सोते हैं, दिन में– ५ दिन में, खड़े– होकर, निजपान में– अपने हाथ में, इक बार– एक बार, अलप अहार ले– थोड़ा भोजन करते हैं, कचलौंच करत– ६ बिना किसी दवाई आदि के लगाये अपने हाथों से केशलोंच– बाल उखाड़ते हैं और, परिषह सों न डरत– ७. बाईस प्रकार की परीषहों से न डर कर, निज ध्यान में– अपनी शुद्ध आत्मा के एकान्त-चिन्तवन में, लगे– लवलीन रहते हैं।

इस प्रकार ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय विजय, ६ आवश्यक और शेष ७ गुण इस प्रकार ये सर्वसाधु के २८ मूलगुण होते हैं किन्तु इस प्रकरण में पण्डित दौलत राम जी ने तीन गुप्तियों का भी वर्णन किया है क्योंकि मन, वचन और काय को सावधान रखने से ही समस्त आचरण-चारित्र पालन किया जा सकता है।

मुनिचर्या

अरि मित्र महल मसान कंचन कांच निन्दन थुति करण।
अर्घावतारण असिप्रहारण में सदा समता धरण।।६।।

अरि मित्र– शत्रु और मित्र, महल मसान– महल और श्मशान,

कंचनकांच– सोना और कांच, निन्दन थुति करन– निन्दा करना और प्रशंसा करना तथा अर्घावतारण– अर्घ चढ़ाने अर्थात् पूजा करने में और, असिप्रहारण– तलवार मारने में अर्थात् अपमान करने या कष्ट देने के अवसर में, सदा– संसारियों की तरह राग और द्वेष को मन में न लाकर सदा, समता धरण– साम्यभाव धारण करते हैं।

तप तपैं द्वादश धरें वृषदश रतनत्रय सेवैं सदा।
मुनि साथ में वा एक विचरैं चहैं नहिं भवसुख कदा।।
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरण अब।
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृति सब।।७।।

मुनि– मुनिजन, द्वादश तप– अनशनादि बाह्य तप और प्रायश्चित आदि अन्तरंग तप इस तरह बारह प्रकार के तप तपै तपते हैं– करते हैं, दशवृष धरैं– उत्तमक्षमादि दस प्रकार के धर्म धारण करते हैं, सदा– हर समय, रतनत्रय– सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का, सेवें– सेवन करते हैं। साथ में– मुनियों के साथ में, वा– अथवा, एक– अकेले, विचरै– विहार करते हैं। किन्तु, कदा– कभी, भवसुख– संसार के सुखों की, नहिं चहैं– इच्छा नहीं करते। यों– इस प्रकार सकल संयम- सकल चारित्र है, अब– आगे, स्वरूपाचरण– स्वरूपाचरण चारित्र, सुनिये– सुनना चाहिए। जिस होत– जिस स्वरूपाचरण चारित्र के होने पर, अपनी निधि– शुद्ध आत्मा की सम्पत्ति, प्रगटै– प्रगट होती है और, परकी– अन्य सांसारिक पदार्थों से, सब प्रवृत्ति– सब तरह चित्त, मिटै– हट जाता है।

स्वरूपाचरण चारित्र और ध्यान

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं निज भाव को न्यारा किया।।
निज मांहि निजके हेतु निज करि, आपको आपै गह्यो।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मंझार कुछ भेद न रह्यो।।८।।

जिन– जिसने, परम पैनी– बहुत तेज धारवाली, सुबुधि छैनी– सुबुद्धि रूपी अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूपी, टुकड़े-टुकड़े कर देने वाली कटारी को, डारि– डाल कर, अन्तर- हृदय को, आत्मा के स्वरूप को, भेदिया पृथक कर दिया– पहिचान लिया, वरणादि– म्यान आदि से अथवा ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों से, अरु– और, रागादि– जंग वगैरा अथवा राग-द्वेष आदि भाव-कर्मों से, निज-भाव को– अपने स्वरूप को, न्यारा किया– पृथक् पृथक् कर दिया।

सारांश– जिस प्रकार पैनी कटारी या तलवार से हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, इस अवस्था में कटारी को बाह्य आवरण म्यान से और अन्तरंग जंग वगैरा या मोटी धार को सान पर चढ़ा कर पैनी करनी पड़ती है, इससे कटारी का असली स्वरूप दीखने लगता है, बिना दोनों आवरणों को दूर किये स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान होने पर ही वस्तु का अन्तरंग तत्त्व अर्थात् उसके वास्तविक स्वरूप का पदार्थ का ज्ञान हो जाता है तथा ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों और रागादि भाव कर्मों को हेय समझ कर आत्मा इससे अपना सम्बन्ध अलग कर लेता है।

इसलिए, निज मांहि– आत्मा में, निजके हेतु– आत्मा के हित के लिए, निज कर– आत्मा से, आप को– आत्मा को, आपै गह्यो– आत्मा ही ग्रहण करता है। अर्थात् कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान और

अधिकरण स्वरूप आत्मा के ही हो जाने पर, गुण–ज्ञान दर्शन आदि गुण, गुणी– ज्ञानादि का धारण करने वाला, ज्ञाता– गुणों का जानने वाला, ज्ञान– ज्ञान, ज्ञेय–ज्ञान से जानने योग्य, मंझार– इन सब में, कछु– कुछ, भेद– अन्तर, न रह्यो– नहीं रहा।

जहां ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहां।
चिद्भावकर्म, चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहां।।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोग की निश्चल दशा।
प्रकटी जहां दृग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा।।९।।

जहां– ध्यानावस्था में, ध्यान– ध्यान, ध्याता– आत्मा का ध्यान करने वाला और, ध्येय– ध्यान करने योग्य मैं, को न– कोई भेद नहीं होता तथा, जहां– जहां, वचभेद– वचनों से पृथक् किया जावे ऐसा, विकल्प न– भेद भी नहीं है। तहां– ध्यानावस्था में, चिद्भाव कर्म– आत्मा का स्वरूप कर्म, चिदेश कर्त्ता- आत्मा का स्वामी– ज्ञान करने वाला कर्त्ता और, चेतना किरिया– ज्ञान दर्शन रूप होना क्रिया है किन्तु, तीनों– कर्म, कर्त्ता और क्रिया, अभिन्न– म्यान और तलवार की तरह अलग अलग नहीं है। अखिन्न– इनमें से किसी से किसी का एक का भी क्षय नहीं होता है और, शुध उपयोगी– रागादिक रहित आत्मा के ज्ञान दर्शन स्वरूप को ही, निश्चल दशा– अचल, अवस्था– पर्याय है तथा, जहां– इस शुद्ध ध्यानावस्था में, दृग ज्ञान व्रत– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीन धा– ये तीन भेद रूप, एकै लसा– एक सी प्रकाशित होने वाली, प्रकटी– प्रकट होती हैं। अर्थात् शुद्ध ध्यान से ही सम्यग्दर्शनादि उत्पन्न होते हैं और तभी मोक्ष प्राप्त होता है।

परमाण नय निक्षेप को न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग ज्ञान सुख बलमय सदा नहिं आन भाव जुमो विखै।।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चित पिंड चंड अखण्ड सुगुण-करण्ड च्युत पुनि कलनि तैं।।१०।।

अनुभव में– आत्मा के अनुभव काल में, परमाण– प्रमाण नय प्रमाण का अंश और, निक्षेप को– नय अथवा प्रमाण से जानने योग्य पदार्थ का, उद्योत– प्रकाश, न दिखै– नहीं दिखता है। सदा– हर समय, दृग ज्ञान सुख बलमय– अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य सहित मालूम होता है और ऐसा अनुभव होता है कि, मो विखै– मुझ में, जु– जो, आनभाव– उपयोग को नष्ट करने वाले रागादि भाव हैं वे नहीं– हैं। मैं– शुद्ध उपयोगवान् ही, साध्य- साधने योग्य– मुक्ति स्वरूप हूं, साधक– मुक्ति का साधने वाला हूं और, मैं– मैं, कर्म– कर्म, अरु– और, तसु फलनि तैं– कर्म के फलों से, अबाधक– बाधित होने वाला नहीं हूं, चित पिण्ड– चेतना का समुदाय हूं, चण्ड– प्रकाशमान एवं, अखण्ड– अविनाशमान, सगुण करण्ड– अनन्त ज्ञानादि गुणों का पिटारा या भंडार हूं और, पुनि –फिर, कलनितैंच्युत– समस्त कर्म-फल से सर्वथा रहित हूं।

यों चिन्त्य निजमें थिर भये तिन अकथ जो आनन्द लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र को नाहीं कह्यो।।

यों– इस प्रकार, चिन्त्य– विचार कर जो, निज में- शुद्ध आत्मा में, थिरभये– स्थिर हो जाते हैं, तिन– उनको, जो– जो, अकथ– अवर्णनीय अनुपम आनन्द अनुभव रस, लह्यो– प्राप्त होता है, सो– वह, इन्द्र– सुरपति, नाग– भुवनपति, नरेन्द्र- नरपति– चक्रवर्ती, वा– अथवा, अहमिन्द्र को- अहमिन्द्र देवों को भी, नाहीं कह्यो– नहीं कहा गया है।

अर्हन्त पद

तबही शुक्ल ध्यानाग्नि कर, चउ घाति विधि कानन दह्यो।
सब लख्यो केवलज्ञान कर, भवि लोक कूं शिव मग कह्यो।।११।।

तबही– उसी समय, शुक्ल ध्यानाग्नि कर– शुक्लध्यान रूप अग्नि के द्वारा, चउघाति विधि कानन्– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार प्रकार के कर्म रूप वन को, दह्यो– जलाते हैं अर्थात् अर्हन्तपद प्राप्त करते हैं और, सब– तीन लोक के समस्त पदार्थों को, केवलज्ञान कर– केवलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों द्वारा अर्थात् केवलज्ञान से, लख्यो– प्रकाशित करते हैं अर्थात् जानते हैं, भविलोकक्कूं– भव्य प्राणियों के लिए, शिव मग– मोक्ष-मार्ग का, कह्यो– उपदेश देते हैं।

सिद्ध पद

पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिन मांहि अष्टम भू बसे।
वसु कर्म विनशे सुगुण वसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसे।।

पुनि– फिर, शेष– बचे हुए चार, अघाति विधि– अघातिया कर्मों का, घाति– नाश कर, छिन-मांहि– क्षण भर में, अष्टम भू– आठवीं भूमि सिद्धशिला– मोक्ष में, बसे– निवास करते हैं अर्थात् सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार, वसुकर्म– आठ कर्मों का, विनशे– सर्वथा नाश हो जाने पर, सम्यक्त्वादि सब– सम्यक्त्वादि सब, वसु– आठ, सुगुण– सत्गुणों से, लसे– शोभित होते हैं।

संसार खार अपार पारावार तरि तीरहिं गये।
अविकार अकल अरूप शुध चिद्रूप अविनाशी भये।।१२।।

संसार-चतुर्गति मय संसार रूपी, अपार- अनन्त, खार- मिथ्यात्व रूप दुःख देने वाले खारे, पारावार- समुद्र को, तरि- पार कर, तीरहिं- संसार समुद्र के किनारे अर्थात् मोक्ष को, गये- प्राप्त हुए। इस अवस्था में, अविकार- ज्ञानादि गुणों से विकार रहित, अकल- कर्म रूपदेह रहित, अरूप- रूपादि गुण रहित, शुद्ध- सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों से पवित्र, चिद्रूप- ज्ञान तथा दर्शन उपयोग स्वरूप तथा, अविनाशी- नित्य, भये- हो गये।

निज मांहि लोक अलोक गुण पर्याय प्रतिबिम्बित थये।
रहि हैं अनन्तानन्त काल यथा तथा शिव परिणये।।
धनि धन्य हैं जे जीव नर भव पाय कह कारज किया।
तिनही अनादि भ्रमण पञ्च प्रकार तजि वर सुख लिया।।१२।।

निजमाहिं- इस शुद्ध आत्मस्वरूप में, लोक-अलोक- लोकाकाश और अलोकाकाश के समस्त द्रव्यों के, गुण पर्याय- अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें, प्रतिबिम्बित- दर्पण के समान प्रकाशमान, थये- होते हैं और, यथा- जिस प्रकार अष्ट-कर्म रहित होकर, शिव- मोक्ष का, परिणये- परिणमन किया अर्थात् जब से मुक्ति प्राप्त की, तथा- उसी प्रकार कर्म रहित और अनन्त दर्शन आदि सहित, अनन्तानन्तकाल- अनन्तानन्त काल तक, रहि हैं- रहेंगे। जे- जिन, जीव- जीवों ने, नरभव- मनुष्य जन्म, पाय- पाकर, यह कारज- यह मोक्ष की प्राप्ति रूप कार्य, किया- पूर्ण किया, तिनही- उन्होंने ही, अनादि- अनादि कालीन, पञ्च प्रकार भ्रमण- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव-रूप पांच प्रकार के परिवर्तन में भ्रमण करना, तजि- छोड़ कर, वर सुख- अनन्त सुख आदि गुणों को, लिया- प्राप्त किया है।

उपदेश

मुख्योपचार दुभेद यों बड़भागी रत्नत्रय धरें।
अरु धरैंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश जल जगमल हरैं।।
इमि जानि, आलस हानि, साहस ठानि, यह सिख आदरो।
जबलों न रोग जरा गहै तब लौं, झटिति निज हित करो।।१४।।

यों– इस प्रकार जो, बड़भागी– बहु भाग्यवान् मुख्योपचार मुख्यतया उपचार निश्चय और व्यवहार इन, दुभेद– दो प्रकार के, रत्नत्रय– रत्नत्रय को, धरैं– धारण करते हैं, अरु– और जो, धरैंगे– धारण करेंगे, सुयश जल– कीर्ति रूपी पानी से, जगमल– चतुर्गतिमय संसार के कर्म-रूप मल को, हरैं– नष्ट करते हैं। इमिजानि– इस प्रकार समझ कर, आलस हानि– प्रमाद छोड़ कर और, साहस ठानि– उत्साह धारण कर, यह सिख– यह उपदेश आदरों– ग्रहण करो तथा, जबलों– जबतक, जरा रोग– बुढ़ापा रूपी बीमारी, गहै न– ग्रहण नहीं करती अथवा, रोग जरा– बीमारी और बुढ़ापे ने, न गहै– नहीं ग्रहण किया अर्थात् बीमारी और बुढ़ापा नहीं आया, तबलों– तब तक, झटिति– बहुत जल्दी, निज– अपनी आत्मा का, हित– सच्चा कल्याण करो। क्योंकि

यह राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्यागि निजपद बेइये।।
कहा रच्यों परपद में, न तेरो पद यहै, क्यों दु:ख सहै।
अब दौल होहु सुखी स्वपदरचि दावमत चूको यहै।।१५।।

संसारियों को, यह– यह, राग आग– राग-द्वेष रूपी अग्नि, सदा– हर समय, दहै– जलाया करती है। तातैं– इसलिए राग-द्वेष भाव छोड़ कर, समामृत– समतारूपी अमृत का, सेइये– सेवन करना

चाहिए और, अब तो– अब भी, चिर भजे– अनादि काल से, रस्सी के डोरों के समान एक दूसरे में बंधे हुए आत्मा और कर्म का एक-सा सम्बन्ध पाये हुए, विषय कषाय– संसार के विषय कषायों का, त्यागि– त्याग कर, निजपद– अपने सिद्धपद, बेइये– का अनुभव अथवा सिद्धपद प्राप्त करना चाहिए क्योंकि, 'दौल'– हे दौलतराम ! परपद में– संसार के विषयों में, कहा रच्यो– क्यों राग करता है? यहै– यह, तेरो– तेरे योग्य, पद न– पद नहीं है, संसार में राग कर क्यों– क्यों दु:खसहै? – दु:ख उठाता है? स्वपद– अपने आनन्द स्वरूप आत्मा के अनुभव में, रचि– मग्न होकर, सुखी– अनन्त सुख सम्पन्न, होहु– बनो तथा, यहै– यह, दाव– अवसर, मत चूको– मत छोड़ो।

ग्रन्थ का रचना काल

इक वसु नव इक वर्ष की, तीज शुकल वैशाख।
कह्यो तत्त्व उपदेश यह, लखि 'बुधजन' की भाख।।१।।
लघू धी तथा प्रमादतें, शब्द अर्थ की भूल।
सुधी सुधार पढ़ो सदा, ज्यों पावो भव कूल।।२।।

अर्थ– विक्रम सम्वत् १८९१ की अक्षय तृतीया बैसाख शुक्ला तृतीया को पण्डित बुधजन जी की रचना के आधार पर यह तत्त्वों का उपदेश किया गया है। अल्पज्ञान अथवा आलस्य के कारण शब्द एवं अर्थ में जो त्रुटि रह गई हो तो, विद्वानों से निवेदन है कि संसार-सागर से पार होने के लिए स्वाध्याय करें, पढ़ें तथा पढ़ावें।

●

ऋषि मंडल स्तोत्र एवं यंत्र मंत्र

आद्यंताऽक्षर संलक्ष्यमक्षरं व्याप्य यत्स्थितं।
अग्नि ज्वाला समं नादं बिंदु रेखा समन्वितं।।१।।

अग्नि ज्वाला समाक्रांतं मनोमल विशोधनं।
दैदीप्यमानं हृत्पद्मे तत्पदं नौमि निर्मलं।।२।।

स्वर व्यंजनों के आदि के अक्षर अ और अंत का अक्षर ह को अग्निज्वाला (र) और इसके मस्तक पर बिन्दु और अर्धचन्द्र रेखा सहित करना अर्थात् अर्हं ऐसा बनाना यह अर्हं बीज अग्नि की ज्वाला के समान प्रकाश वाला है। मन के मैल पाप को धोने वाला निर्मल है और अर्हंत पद का कहने वाला, प्रकाश मान अर्हं पद को हृदय के अष्टदल कमल में स्थापित करके उसको मन वचन काय से नमस्कार करता हूँ।

ॐ नमोः ऽर्हद्भ्यः इशेभ्यः ॐ सिद्धेभ्योः नमो नमः।
ॐ नमः सर्व सूरिभ्यः उपाध्यायेभ्यः ॐ नमः।।३।।
ॐ नमः सर्व साधुभ्यः तत्त्व दृष्टिभ्यः ॐ नमः।
ॐ नमः शुद्ध बोधेभ्यश्चारित्रेभ्योः नमो नमः।।४।।

अर्हंत भगवान को जो ईश अर्थात तीन लोक के स्वामी हैं। अठारह दोष रहित हैं। चौंतीस अतिशय आठ प्रतिहार्य, अनन्त चतुष्टय और छ्यालीस गुण सहित हैं। उनको नमस्कार हो। सूरि अर्थात् आचार्य छत्तीस गुण सहित, सर्व ऋद्धि के धारक, तद्भव मुक्तिगामी हैं। उनको नमस्कार हो। उपाध्याय परमेष्ठी जो संपूर्ण द्वादशांग के ज्ञाता पच्चीस गुण सहित तद्भव मोक्ष गामी हैं। उनको

मेरा नमस्कार हो। सर्व साधु जो अट्ठाइस मूल गुण धारक तद्भव मोक्षगामी हैं तथा आठ अंग सहित सर्वोत्कृष्टज्ञान के धारक सर्व साधु परमेष्ठी को नमस्कार हो। सम्यकज्ञान तथा तत्त्वदृष्टि अर्थात् सम्यक् दर्शन को नमस्कार हो। तेरह प्रकार के चारित्र को नमस्कार हो।

श्रेयसेऽस्तु श्रियै स्त्वेतऽर्हदाद्यष्टकं शुभं।
स्थानेष्वष्टसु संन्यस्तं पृथग् बीज समन्वितं।।५।।

श्रेयसे अर्थात कल्याण के कर्ता हैं, श्रेय लक्ष्मी के कर्त्ता हैं अर्हंत भगवान से आरंभ करके अर्थात अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय सर्वसाधु, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र आठों पद एवं कल्याण स्वरूप ॐ बीजाक्षर सहित अलग अलग आठ दिशाओं में स्थापन किये गये सुख देवे और लक्ष्मी को देवें।

आद्यं पदं शिरो रक्षेत् परं रक्षेतु मस्तकं।
तृतीयं रक्षेन्नेत्रे द्वे तुर्यं रक्षेच्च नासिकां।।६।।
पंचमं तु मुखं रक्षेत् षष्ठं रक्षेतु घटिकां।
सप्तमं रक्षेन्नाभ्यंतं पादांतं चाष्टमं पुनः।।७।।

अर्हंतादि आठ पदों में क्रम से पहला अरहंत पद शिर की रक्षा करो। दूसरा सिद्ध पद मस्तक की रक्षा करो। तीसरा आचार्य पद दोनों नत्रों की रक्षा करो। चौथा उपाध्याय पद नासिका (नाक) की रक्षा करो। पाँचवा सर्व साधु पद मुख की रक्षा करो। छटा सम्यकदर्शन पद गले की रक्षा करो। सातवाँ सम्यक ज्ञान पद नाभि की रक्षा करो। और आठवां सम्यकचारित्र पद पैरों की रक्षा करो।

पूर्वं प्रणवतः सांतः सरेफो द्वित्रि पंचषान्
सप्ताष्टदश सूर्यांकान् श्रितो बिन्दु स्वरान् पृथक्।।८।।

पूज्यनामाक्षराद्यास्तु पंच दर्शन बोधकं
चारित्रेभ्यो नमो मध्ये ह्रीं सांत समलंकृतं।।९।।

पहले तो प्रणव अर्थात् ॐ को लिखें, बाद में सकारांत अर्थात् ह में रकार मिलाकर उसमें दूसरी कला आ मिलावे। अर्थात् ह्रां हुआ। फिर हकार और रकार में तीसरी कला इ पांचवी कला उ छट्ठी कला ऊ सांतवीं कला (स्वर) ए आठवी ऐ नवमी मात्रा औ की मात्रा बिन्दु अनुस्वार सहित लगावे। अर्थात् ॐ ह्रां ह्रीं ह्रुं ह्रूं ह्रें ह्रैं ह्रौं ह्रः इस तरह लिखें। इसके बाद पूज्य पंच परमेष्ठियों के आदि के पांच अक्षर लेवे अर्थात् असि आउसा लिखे, फिर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रेभ्यो लिखकर अंत के नमः पद से पहले शोभायमान ह्रीं को लिखे तब मंत्र मिलकर

मंत्रः- ॐ ह्रां ह्रीं ह्रुं ह्रूं ह्रें ह्रैं ह्रौं ह्रः असि आउसा
सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रेभ्यो ह्रीं नमः।

ऐसा २७ अक्षर का मंत्र है।

आराधकस्य शुभनव बीजाक्षरः अष्टादश शुद्धाक्षरः एव मेकतर सप्तविंशत्यक्षर रूपं

इस ऋषि मंडल यंत्र का मूल मंत्र सत्ताईस अक्षर का है। जिसमें ९ (नौ) बीज अक्षर हैं और अठारह शुद्ध अक्षर है यह मंत्र आराधना करने वाले की सब मनोकामना पूर्ण कर देने के कारण शुभ है। इस मंत्र में जो ॐ अक्षर पहले लगता वह गिनती में नहीं आता है। परन्तु उसके लगने से ही मंत्र शक्ति प्रगट होती है।

जंबू वृक्ष धरो द्वीपः क्षीरोदधि समावृतः।
अर्हदाद्यष्टकैरष्ट काष्टाधिष्टै रलंकृतः।।१०।।

तन्मध्ये संगतोमेरु: कूट लक्षैरलंकृत: ।
उच्चैरुच्चैस्तरस्तारस्तारामंडल मंडित: । ।११ । ।

तस्योपरि सकारांतं बीजमध्यास्य सर्वगं ।
नमामि बिंबमार्हंत्यं ललाटस्थं निरंजनं । ।१२ । ।

जंबू वृक्ष को धारण करने वाला द्वीप जंबू द्वीप है। उसके चारों तरफ से लवण समुद्र ने घेर रखा है। वह द्वीप आठ दिशाओं के स्वामी अर्हंत आदि पदों से शोभायमान है। अर्थात् अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्व साधु सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान सम्यकचारित्र यह आठ दिशाओं के अधिष्ठाता हैं, तो आठों दिशाओं में स्थापित करें।

इन आठों दिशाओं के मध्य में सुमेरु पर्वत है जो निन्यानवे हजार योजन ऊँचा है। एक हजार योजन भूमि में गड़ा हुआ है। चौड़ाई लम्बाई दस हजार योजन है। गोलमेरु है जो सौ कूट शिखरों से शोभायमान एक लाख योजन ऊँचे सुवर्ण का है। ७९० योजन की ऊँचाई पर तारामंडल है। दस योजन पर सूर्य का विमान है। ८० योजन ऊपर चन्द्रमा है इससे ४ योजन ऊपर नक्षत्र है नक्षत्रों से ऊपर ४ योजन ऊपर बुध है इससे ३ योजन ऊपर शुक्र है शुक्र से ३ योजन ऊपर बृहस्पति है जिससे ३ योजन ऊपर मंगल है इससे ३ योजन ऊपर शुक्र है शुक्र से ३ योजन ऊपर बृहस्पति है जिससे ३ योजन ऊपर मंगल है इससे ३ योजन ऊपर शनिश्चर का विमान है शेष नक्षत्र चित्राभूमि से ऊपर बुध और शनिश्चर के बीच में स्थित हैं इसे ज्योतिषचक्र कहते हैं।

यह सब सुमेरु पर्वत के चारों तरफ परिक्रमा देने से बहुत रमणीक मालूम होते हैं। ऐसे सुमेरु पर्वत के ऊपर सकारांत बीज ह्रीं को विराजमान करके उसमें बैठे हुए घातिकर्म अंजन से रहित अर्हंत

भगवान को अपने ललाट (मस्तक) में स्थापन करके नमस्कार पूर्वक ध्यान करें।

अक्षयं निर्मलं शांतं बहुलं जाड्यतोज्झितं।
निरीहं निरहंकार सारं सार तरं घनं।।१३।।

अनुद्धुतं शुभं स्फीतं सात्विकं राजसं मतं।
तामसं विरसं बुद्धं तैजसं शर्वरी समं।।१४।।

साकारं च निराकारं सरसं विरसं परं।
परापरं परातीतं परं पर परापरं।।१५।।

एकवर्णं द्विवर्णं च त्रिवर्णं तुर्य वर्णकं।
पंच वर्णं महावर्णं सपरं च परापरं।।१६।।

सकलं निष्कलं तुष्टं निभृतं भ्रांति वर्जितं।
निंरजनं निराकांक्षं निर्लेपं वीत संशयं।।१७।।

ब्रह्माणमीश्वरं बुद्धं शुद्धं सिद्धमभंगुरं।
ज्योति रूपं महादेवं लोकालोक प्रकाशकं।।१८।।

अब अर्हंत के बिंब के ध्यान का स्वरूप बतलाते हैं। अर्हंत भगवान का बिंब अक्षय शाश्वत जन्म मरण रूप से रहित है। कर्मरूपी मल से रहित है। शांतमूर्ति शांतमुद्रा वाले हैं। अत्यंत श्रेष्ठ हैं। अज्ञानता से रहित हैं। मद से रहित हैं। अभिलाषा से रहित हैं। अहंकार से रहित हैं। श्रेष्ठ श्रेष्ठों से भी अत्यंत श्रेष्ठ हैं।

मद रहित हैं (उद्धतपने से रहित हैं) शुभ हैं, स्वच्छ हैं, शांत गुण होने से सात्विक हैं। तीन लोक में मालिक होने से राजस गुणवाले मतं अर्थात् कहा है। अष्ट कर्मों के नाश करने के लिए तामस गुण

युक्त हैं। शृंगार आदि रसों से रहित हैं। ज्ञानवान हैं। ज्योतिरूप सहित हैं। पूनम की रात के समान उज्ज्वल व आनन्द कारी हैं।

अर्हंत की अपेक्षा शरीर सहित होने से साकार अर्थात् आकार सहित हैं। सिद्ध की अवस्था में शरीर रहित होने से निराकार आकार रहित हैं। ज्ञान रस से भरे होने के कारण सरस हैं। परन्तु रसादि विषय से रहित हैं।

रम अर्थात उत्कृष्ट हैं। क्रम से उत्कृष्ट हैं। परातीतं अर्थात् शत्रुता से रहित हैं। परांपरं अनुक्रम से अतीत हैं। परात्परं आदि से भी परे अर्थात् अनादि हैं।

सपर अर्थात् स से परे आगे का वर्ण हकार अक्षर जो अरहंत का वाचक है वह एक वर्ण का सफेद है, दो वर्ण का श्याम है, तीन वर्ण का लाल है। तूर्यवर्ण अर्थात् ४ चार रंग का अर्थात् नीले वर्ण का है। पांच वर्ण का पीला वर्णमाला है। महावर्ण अर्थात् उत्कृष्ट वर्ण का है। उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट पांच वर्ण का हकार है।

सकलं अर्थात् कला सहित है। अर्हंत की अपेक्षा सकल है सिद्धों की अपेक्षा शरीर रहित है। तुष्टं अर्थात उनको देखने से संतोष उपजाने वाला है। निर्भृत्तं अर्थात् भ्रमण रहित होने से कल्याण के हेतू हैं। भ्रांति भ्रमण रहित हैं। कर्मांजन से रहित हैं। इच्छा से रहित हैं। कर्मरूपी लेप से रहित हैं। संशय रहित हैं। ब्रह्म स्वरूप हैं सब भव्यजीवों को हित की शिक्षा देने से ईश्वर तीन लोक के स्वामी हैं ज्ञानवान हैं। अठारह दोषों के न होने से शुद्ध हैं। सिद्ध स्वरूप हैं। संसार में आवागमन न होने से क्षण भंगुरता से रहित हैं। ज्योति स्वरूप हैं। देवों से पूजनीय होने से महादेव है तीन लोक और अलोकाकाश को अपने ज्ञान से प्रकाशने वाले हैं।

अर्हदाख्य सवर्णांत: सरेफो बिंदु मंडित: ।
तुर्यस्वर समायुक्तो बहुध्यानादि मासित: ।।१९।।

अर्हंत का आख्य वाचक सवर्णांत (स अक्षर के आगे का अक्षर) हकार है। वह रकार और बिन्दु अनुस्वार सहित है रेफ और बिन्दु से शोभायमान है। तथा चौथा स्वर ईकार सहित है। सो सब मिलाकर ह्रीं हुआ यह ह्रीं बीज बहुत प्रकार से ध्यान करने योग्य हैं।

अस्मिन् बीजे स्थिता: सर्वे ऋषभाद्या जिनोत्तमा: ।
वर्णै र्निजैर्निजैर्युक्ता ध्यातव्यास्तत्र संगता: ।।२०।।

इस ह्रींकार बीजाक्षर में ऋषभनाथ जी लेकर चौबीस जिनेश्वर वर्द्धमान जी पर्यंत विराजमान हैं। उनका अपने अपने रंगों सहित ध्यान करना योग्य है।

नादश्चद्र समाकारो बिन्दुर्नील समप्रभ: ।
कलारुण समाक्रान्त: स्वर्णाभ: सर्वतोमुख: ।।२१।।

शिर: संलीन ईकारो विनीलो वर्णत: स्मृत: ।
वर्णानुसारि सं लीनं तीर्थकृन्मडंलं नम: ।।२२।।

ह्रीं बीजाक्षर की नाद कला ओध चन्द्रमा के आकार की है। वह सफेद रंगवाली है। नाद पर जो बिन्दु है वह श्याम रंग का गोल है। मस्तक रूप कला लाल रंग की प्रभावशाली है। सांत अर्थात् सकार के आगे अक्षर हकार चारों तरफ से सोने के समान पीले रंग का है।

सिर से मिला हुआ ईकार नीले रंग का है। उस ह्रीं में अपने रंग के अनुसार तीर्थंकर समूह का स्थापन किया जाये उनको

नमस्कार हो। अब आगे इन पांचों भागों में जो तीर्थंकर स्थित हैं वह अलग अलग रंग सहित बताते हैं।

चन्द्रप्रभ पुष्पदंतौ नाद स्थिति समाश्रितौ।
बिन्दु मध्य गतौ नेमि सुव्रतौ जिन सत्तमो।।२३।।

चंद्रप्रभजी और पुष्पदंतजी यह दोनों तीर्थंकर जो श्वेत वर्ण के हैं अर्ध चन्द्रमा के आकार की जो ह्रींकार की नाद हैं उसमें स्थापन करने चाहिए। ह्रींकार की बिन्दु गोल श्याम वर्ण की है। उसमें नेमिनाथजी मुनिसुव्रतनाथ जी जिनकी शरीर की कांति श्याम वर्ण है वह दोनों जिनेन्द्र देव बिन्दी में विराजमान महाउत्तम हैं।

पद्मप्रभ वासु पूज्यौ कला पद मधिश्रितौ।
शिर: ईस्थित संलीनौ सुपार्श्व पार्श्वौ जिनोत्तमौ।२४।।

पद्म प्रभ, वासुपूज्य ये दोनों तीर्थंकर लाल वर्ण के हैं। ह्रींकार की कला भी लाल वर्ण की है उसमें तिष्ठित हैं। मस्तक में ईकार की मात्रा जिसका रंग नीला उसमें श्री पार्श्वनाथजी और सुपार्श्वनाथ जी जिनके शरीर की कांति नीले वर्ण की है। उसमें तिष्ठित हैं।

शेषा स्तीर्थंकरा: सर्वेरह: स्थाने नियोजिता:।
मायाबीजाक्षरं प्राप्ताश्चतुर्विंशतिरर्हतां।।२५।।

बाकी शेष रहे सोलह तीर्थंकर वह सब हकार और रकार में तिष्ठित हैं। इस हकार और रकार का रंग सुवर्ण जैसा पीला है। इस प्रकार श्री ऋषभनाथजी, अजितनाथजी, संभवनाथजी, अभिनंदनजी,

सुमतिनाथ जी, शीतलनाथ जी, श्रेयांस नाथ जी, विमलनाथ जी, अनंत नाथ जी, धर्मनाथजी, शांतिनाथजी, कुंथुनाथजी, अरनाथजी, मल्लिनाथ जी नमिनाथजी, महावीर स्वामीजी, यह सोलह तीर्थंकर माया बीज अक्षर ह्रींकार के हकार और रकार अक्षर में ही तिष्ठित हैं। इस प्रकार चौबीस तीर्थंकर ह्रीं बीजाक्षर में स्थित हैं।

गतराग द्वेष मोहाः सर्वपाप विवर्जिताः।
सर्वदा सर्वलोकेषु ते भवंतु जिनोत्तमाः।।२६।।

वह जिनेन्द्रदेव राग द्वेष मोह से रहित हैं। सब पाप कर्मों से रहित हैं। सर्वकाल विषय अतीत अनागत वर्तमान तथा सर्वलोक विषय पाताल पृथ्वी आकाश में अर्थात् तीनों काल व तीनों लोक में जिन भगवान उत्तम से उत्तम महा उत्तम हैं इनके बराबर और कोई नहीं हैं।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु पन्नगाः।।२७।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकर के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को सर्प जाति के जीव पीड़ा नहीं दे मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु नागिनी।।२८।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को सर्पनी जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु गोहरा।।२९।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को गोहरा जाति के जीव पीड़ा नहीं दे मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु वृश्चिका।।३०।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के सूमह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को बिच्छू जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांग मां मा हिंसतु काकिनी।।३१।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकर के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को काकनी जाति के जीव पीड़ा नहीं दे मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांग मां मा हिंसतु डाकिनी।।३२।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को डाकिनी जाति के जीव पीड़ा नहीं दे मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु याकिनी।।३३।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढके हुए मेरे शरीर के सब अंगों को याकिनी जाति के जीव पीड़ा नहीं दे मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु राकिनी।।३४।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढके हुए मेरे शरीर के सब अंगों को राकिनी जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु लाकिनी।।३५।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढके हुए मेरे शरीर के सब अंगों को लाकिनी जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु शाकिनी।।३६।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढके हुए मेरे शरीर के सब अंगों को शाकिनी जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु हाकिनी।।३७।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढके हुए मेरे शरीर के सब अंगों को हाकिनी जाति के जीव पीड़ा नहीं दे मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांग मां मा हिंसतु राक्षसा:।।३८।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को राक्षस जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु भैरवा।।३९।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को भैरव जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिसंतु भेषसा।।४०।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को भेषसा जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु कीनसा।।४१।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को कीनसा जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु व्यंतरा।।४२।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को व्यंतर जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु वन्हय।।४३।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को वन्हय जाति के जीव पीड़ा नहीं दे मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु शृंगिण:।।४४।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को शृंगिन जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु दंष्ट्रिण:।।४५।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को दंष्ट्रिण जाति के जीव पीड़ा नहीं दे मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु रेलपा।।४६।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को रेलपा जाति के जीव पीड़ा नहीं दे मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु पक्षिण:।।४७।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को पक्षिण जाति के जीव पीड़ा नहीं दे मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु भजका:।।४८।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को भजका जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु जृंभिका:।।४९।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को जृंभिका जाति के जीव पीड़ा नहीं दे मुझे न सतावे।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु तोयदा:।।५०।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को तोयदा जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावें।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु सिंहका:।।५१।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को सिंह का जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावें।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु शूकराः।।५२।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को शूकर जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावें।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु चित्रकाः।।५३।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को चित्रक जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावें।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु हस्तिनः।।५४।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को हस्तिन जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावें।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु भूमिपाः।।५५।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को भूमिपा जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावें।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु शात्रव:।।५६।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को शत्रु जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावें।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु ग्रामिण:।।५७।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को ग्रामिण जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावें।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु दुर्जना:।।५८।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को दुर्जन जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावें।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु व्याधय:।।५९।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढ़के हुए मेरे शरीर के सब अंगों को व्याधि जाति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावें।

देवदेवस्य यच्चक्रं तस्य चक्रस्य या विभा।
तयाच्छादित सर्वांगं मां मा हिंसतु सर्वत:।।६०।।

देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरों के समूह रूपी चक्र की प्रभा से ढके हुए मेरे शरीर के सब अंगों को सर्वत: आति के जीव पीड़ा नहीं दें मुझे न सतावें।

श्री गौतमस्य या मुद्रा तस्या या भुविलब्धय:।
ताभिरभ्यधिकं ज्योतिरर्ह: सर्व निधीश्वर:।।६१।।

श्री गौतम स्वामी गणधर का स्वरूप जो मुनिराज से वन्दनीय है जिनकी ज्योति पृथ्वी पर फैल रही है। उस ज्योति से भी अधिक ज्योति प्रकाश अर्हंत भगवान की है। वह भगवान सब विद्याओं का खजाना है।

पातालवासिनो देवा: देवा: भूपीठ वासिन:।
स्व स्वर्गवासिनो देवा: सर्वे रक्षंतु मामित:।।६२।।

पाताल में रहने वाले दस प्रकार के भवनवासी देव पृथ्वी पर रहने वाले व्यंतर ज्योतिष देव कल्पवासी देव स्वर्गवासी देव यह सब देव मेरी रक्षा करें।

येऽवधि लब्धयो ये तु परमावधि लब्धय:।
ते सर्वे मुनयो दिव्या मां संरक्षन्तु सर्वत:।।६३।।

जितने मुनिराज अवधिज्ञान की लब्धि सहित छठ्ठे गुणस्थान के धारी और परम अवधिज्ञान के धारण करने वाले बारहवें गुण स्थान वाले जिनको अन्तर मुहूर्त में केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। सो सब मुनिराज छठ्ठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के मेरी रक्षा करें।

भवन व्यंतर ज्योतिष्कल्पेंद्रेभ्यो नमो नम:।
ये श्रुतावधयो देशावधयो योगि नामका:।।६४।।

परमाद्ययस्य य विद्ययो ये दिगंबरा: ।
बुद्धि ऋद्धि युतास्सर्वौषधि ऋद्धि श्रिताश्च ये । ।६५ । ।

अनंत बल वृद्धयाप्ता ये तप्त तपोन्नता: ।
रसर्द्धि यु जो विक्रयर्द्धि भाज: क्षेत्रर्द्धि संगता: । ।६६ । ।

तप: सामर्थ्य संप्राप्ता क्षीण सद्म महानसा: ।
एतेभ्यो यतिनाथेभ्यो नूतेभ्यो पास्त वादिभि: । ।६७ । ।

भावेन्द्र व्यंतरेन्द्र ज्योतिष्केन्द्र कल्पेन्द्रेभ्यो नम: श्रुतावधि देशावधि परमावधि सर्वावधि बुद्धिऋद्धि प्राप्ता सर्वोषधि ऋद्धि प्राप्ता अनन्त बल ऋद्धि प्राप्त तप ऋद्धि प्राप्त रस ऋद्धि प्राप्त विक्रिया ऋद्धि प्राप्त क्षेत्र ऋद्धि प्राप्त अक्षीण महानसऋद्धि प्राप्तेभ्योनम: ।

भवनवासियों के इन्द्र २०, व्यंतरों के इंद्र १६, ज्योतिषों के इन्द्र २, कल्पवासी १२, भवनवासी २०, चामरेन्द्र-वैरोचन-भूतानद-धरणानन्द- वेणु-बेणधारी-पूरण-अवशिष्ट-जलप्रभ- हरिषेण-हरिकांत- अग्नि शिखि-अग्निवाहन-अमितगति- अमितवाहन- घोष- महाघोष बेलांजन-प्रभंजन व्यंतरेन्द्र १६ किन्नर-किंपुरुष-सांतपुरुष- महापुरुष अतिकाय महाकाय- गतिरति-मतिकीर्ति- मानभद्र-पूर्णभद्र भीम-महाभीम-सरूप -प्रतिरूप-काल-महाकाल । ज्योतिष्केन्द्र सूर्य- चंद्रमा । कल्पवासी १२ सौधर्म-ईशान- सनतकुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म- लांतव-शुक्र-सतार-श्रीमत- प्राणत-आरण अच्युत ।

यह भेद देश अवधि के हैं।

अनुगामी- भवांतर तक जाय जैसे सूरज के साथ ज्योति जाय। अनानुगामी- साथ नहीं जाय। वर्धमान- असंख्यात लोक बढ़े। हीयमान- घटता जाय। अवस्थित- घटे बढ़े नहीं। अनवस्थित- जितना बढ़े उतना घटे। परमावधि- विशिष्ट संयमधारी मुनिश्वर के होती है। १४ राजू उत्तंग ३४३ राजू घनाकार में सूक्ष्म स्थूल-रूप अविभागी परमाणु पर्यंत जानते हैं। सर्वावधि ऋद्धिधारी तीनों लोक के पदार्थ जुदा जुदा जानता है।

ॐ श्रीं ह्रीं श्च धृति लक्ष्मी गौरी चंडी सरस्वती।
जयाअंबा विजया क्लिन्ना ऽजिता नित्या मदद्रवा।।६८।।

कामांगी काम वाणा च सानन्दा नंदमालिनी।
माया मायाविनी रौद्री कला काली कलि प्रिया।।६९।।

एता: सर्वा महादेव्या वर्तंति या जगत् त्रये।
ममसर्वा: प्रयच्छंतु कांति लक्ष्मीं धृतिं मतिं।।७०।।

हिमवत पर्वत पर पद्म द्रह १००० का योजन का है। उसमें १ योजन का कमल है। एक कोस की कर्णिका है। उस वज्र मयी कर्णिका में श्री देवी का मंदिर है।

महाहिमवत् पर्वत पर महापद्म द्रह २०० योजन का है। २ योजन का कमल है। दो कोस की कर्णिका है। उस वज्रमयी कर्णिका में ह्री देवी का मंदिर है।

निषध पर्वत पर ४००० योजन का तिगिच्छ द्रह है। चार योजन का कमल है। चार कोस की कर्णिका है। उसमें लक्ष्मी देवी का मंदिर है।

गौरी- चंडी-सरस्वती-जय- अंबिके-विजया-क्लिन्ना-अजिता-नित्या- मदद्रवा-कामांगा-कामबाण- सानन्दा- नन्दमालिनी माया मायाबिनी- रौद्री-कला काली कलिप्रिया।

यह चौबीस जिनशासन की रक्षा करने वाला महादेवियाँ तीनों लोक पाताल-मध्यलोक-आकाश अथवा स्वर्ग लोक गामिनी है। यह सब महादेवी मुझ को कांति लक्ष्मी धैर्य और बुद्धि देवें।

नील पर्वत पर ४००० योजन का केशरिन नाम का ह्रद उस केशरिन द्रह में कीर्ति देवी का मंदिर है। रुक्मिन पर्वत पर २००० योजन का महापुंडरीक नाम का ह्रद है दो योजन का कमल है दो कोश की कर्णिका है महापुंडरीक ह्रद में बुद्धि देवी का मंदिर है। इन सब मंदिरों के भवन सफेद रंग के बने हुए हैं।

दुर्जनाभूत वेताला: पिशाचा मुद्गला स्तथा।
ते सर्वे उपशाम्यतुं देव देव प्रभावत्:।।७१।।

दुष्टजन भूत वैताल पिशाच मुद्गल दैत्य यह सब मिथ्यात्वी रौद्र परिणामी जीव देवों के देव श्री जिनेन्द्र भगवान के प्रभाव से शांत होवें।

दिव्यो गोप्य: सुदुष्प्राप्य श्री ऋषिमंडल स्तव:।
भाषित स्तीर्थनाथेन जगत्त्राण कृतोऽनघ:।।७२।।

यह ऋषि मंडल स्तोत्र बहुत दैदीप्यमान हर एक को दिखलाने योग्य नहीं है। गुप्त रखने योग्य है यह आसानी से मिलने वाला नहीं होने से दुष्प्राप्य है। श्री ऋषि मंडल स्तोत्र को तीन लोक के स्वामी महावीर भगवान ने जगत की रक्षा करने के वास्ते निर्दोष होने के कारण कहा है।

रणे राजकुले वह्नै जले दुर्गे गजे हरौ।
श्मशाने विपिने घोरे स्मृतो रक्षति मानवं।।७३।।

युद्ध संग्राम में राजदरबार में, अग्नि ज्वाला में, पानी में, गढ़ किले में, हाथी के भय में, सिंह के भय में, श्मशान भूमि के भय में, निर्जन उजाड़ बन में, भयंकर विपत्ति में इस स्तोत्र मंत्र का स्मरण करने पर मनुष्य की रक्षा करता है।

राज्य भ्रष्टा निजं राज्यं पदभ्रष्टा निजं पदं।
लक्ष्मी भ्रष्टां निजां लक्ष्मीं प्राप्नुवंति न संशयः।।७४।।

राज्य से निकले हुए अपने राज्य को, मंत्री वगैरा पद से रहित हुए अपने पद को, लक्ष्मी धन से रहित हुए अपने धन को पाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं करना।

भार्यार्थी लभते भार्यां पुत्रार्थी लभते सुतं।
धनार्थी लभते वितं नरः स्मरण मात्रतः।।७५।।

स्त्री के वास्ते स्मरण करने से स्त्री, पुत्र के इच्छुक को पुत्र, धन की इच्छा वाले मनुष्य को धन की प्राप्ति होती है।

स्वर्णे रूप्येऽथवा कांस्ये लिखित्वा यस्तु पूजयेत्।
तस्यै वेष्ट महासिद्धि गृहे वसति शाश्वती।।७६।।

इस यंत्र को सोने चांदी, या काँसे (अथवा तांबे) के ऊपर लिखकर पूजने से उसके घर में वांछित अर्थ की महासिद्धि रहती है।

भूर्जपत्रे लिखित्वेदं गलके मूर्ध्नि वा भुजे।
धारितः सर्वदा दिव्यं सर्वभीति विनाशनं।।७७।।

इस यंत्र को भोजपत्र पर लिखकर ताबीज में भरकर गले में

या मस्तक में या भुजा में पहनने से हमेशा सर्व अरति चिंता भय से रहित हो जाता है।

भूतैः प्रेतैर्ग्रहैःर्यक्षैः पिशाचैर्मुद्गलै स्तथा।
वातपित्त कफोद्रेकै मुच्यते नात्र संशयः।।७८।।

भूतप्रेत नवग्रह यक्ष पिशाच मुद्गल दैत्य और वात पित्त कफ आदि रोगों के उपद्रव से निस्संदेह छूट जाता है।

भूर्भुवः स्वस्त्रयी पीठ वर्तिनः शाश्वता जिनाः।
तैः स्तुतै वंदितै दृष्टैर्यत्फलं तत्फलं स्मृते।।७९।।

अधो लोक मध्य लोक स्वर्गलोक में जहां अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं जहां हमेशा जिनेन्द्र भगवान के बिम्ब विराजमान हैं। उनके स्तवन वंदना और दर्शन करने से जो फल मिलता है। उतना ही फल इस स्तोत्र के स्मरण करने से प्राप्त होता है।

एतद्गोप्य महास्तोत्रं न देयं यस्य कस्यचित्।
मिथ्यात्व वासिनो देये बाल हत्या पदे पदे।।८०।।

यह महान स्तोत्र गुप्त रखने योग्य है हर किसी को नहीं देना चाहिए। योग्य पात्र ही को बतलाना चाहिए। सम्यक्त रहित पुरुष को देने पर पद पद पर बाल हत्या के समान पाप का बंध होता है।

आचाम्लादि तपः कृत्वा पूजयित्वा जिनावलिं।
अष्ट साहस्रिको जाप्यः कार्यस्तत्सिद्धि हेतवे।।८१।।

आचाम्ल तप अर्थात मांड सहित चावल के भात को और सब रसों का त्याग करके खाने से यंत्र को सामने रखकर पूर्वोक्त ह्रींकार में विराजमान चौबीस भगवान की पूजन करके, इष्ट कार्य की सिद्धि

के लिए स्तोत्र गर्भित मंत्र का ८००० जाप करना चाहिए। (इस कलिकाल में चौगुणा ३२००० जाप करें।)

ऋषि मंडल मंत्र

मंत्रः– ॐ ह्रां ह्रीं ह्रुं ह्रूं ह्रें ह्रैं ह्रौं ह्रः असि आउसा सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रेभ्यो ह्रीं नमः।

शतमष्टोत्तरं प्रातर्ये पठंति दिने दिने।
तेषां न व्याधयो देहे प्रभवंति च संपदः।।८२।।

जो भव्य जीव शुद्ध योग से प्रतिदिन प्रातः काल उठकर एक सौ आठ बार की एक माला फेरते हैं और स्तोत्र का पाठ पढ़ते हैं। उनके शरीर में रोग प्रगट नहीं होते बल्कि संपदायें उनके घर में प्रगट होती हैं।

अष्ट मासाऽवधिं यावत् प्रातस्तु यः पठेत्।
स्तोत्रमेतन् महातेज स्त्वर्हद्बिंबं स पश्यति।।८३।।

मन वचनकाय को शुद्ध करके स्थिर होकर हर रोज आठ महिने की अवधि में प्रभात काल में प्रभात ही पहले कही हुई विधि से यह मंत्र पढ़े। यह स्तोत्र महातेज है सो वह अर्हंत भगवान के बिंब का दर्शन अपने ललाट पर कर लेगा।

दृष्टे सत्यार्हते बिंबे भवे सप्तमके ध्रुवं।
पदं प्राप्नोति विश्रस्तं परमानंद संपदां।८४।।

अर्हंत भगवान के बिंब के दर्शन होने से सातवें भव (जन्म) में निश्चय से परम अतीन्द्रिय स्वाधीन आनन्द का स्थान मोक्ष पद को पाता है।

विश्व बंधोभवे ध्याता कल्याणाऽन्नापि सोक्ष्णते।
गत्वास्थाने परं सोऽपि भुवस्त्वापि निवर्तते।।८५।।
इदं स्तोत्रं महास्तोत्रं स्तवानां मुत्तमं परं।
पठनात्स्मरणाज्जापात् लभते पदमव्ययं।।८६।।

इस ऋषि मंडल स्तोत्र का जो ध्यान करता है वह संसार का प्यारा होता है। उसका महान कल्याण होता है और संसार से मुक्त होकर अंत में मोक्ष में जाता है।

यह स्तोत्र महान स्तोत्र है सब स्तोत्रों से सर्वश्रेष्ठ है। इसको पढ़ने से याद करने से व इसके मंत्र का जाप करने से प्राणी अविनश्वर पद को पाता है।

लेखन प्रकारः

कांचनीयेथवा रौप्ये कांस्ये वाभाजने वरे।
मध्य लेख्य: सकारांतो द्विगुणे यांते वित:।।८७।।
तूर्यस्वर मनोहरी विंदु राजार्धमस्तक:।
जिनेशास्तत्प्रभा लेख्या यथा स्थानं तदंतरेयुग्मं।।८८।।

यंत्र सोने चांदी अथवा कांसे या तांबे का गोल बनवाना चाहिए। उसके बीच में सकार के अंत का अक्षर अर्थात् ह वर्ण में यांत अर्थात् य के आगे क अक्षर रकार मिला हुआ दुहरा लिखना चाहिए। उसमें चौथा स्वर इकार लगाना उसके मस्तक पर आधे चन्द्रमा का आकार चिन्ह को बिन्दु ऊपर रखकर बनाना जैसे ह्रीं उस ह्रीं में चौबीस तीर्थंकरों का नाम लिखना चाहिए।

चंद्रप्रभ पुष्पदंतौ मुनिसुव्रत नेमिकौ।
सुपार्श्व पार्श्वौ पद्मप्रभवासुपूज्यौ तथा क्रमात्।।८९।।
कलाया तदुपरिष्टा द्विकारे मूर्ध्नि च स्फुटं लेख्या शेषा।
जिनागर्भे नमो युक्ताः सुपीतभाः युग्मं।।९०।।

चंद्रप्रभ पुष्पदंताभ्यां नमः ऐसा ह्रीं की अर्द्ध चन्द्रमा की कला में लिखना। मुनि सुव्रत नेमिभ्यां नमः। ऐसा उस कला के ऊपर बिन्दु स्थान में लिखे। सु पार्श्व पार्श्वभ्यां नमः कहे हुए ह्रीं वर्ण के ईकार में लिखें। उस पूर्व कथित वर्ण (ह्रीं) के मस्तक में पद्मप्रभवासुपूज्याभ्यां नमः ऐसा लिखें और शेष १६ तीर्थंकरों को अर्थात् "ऋषभाजित संभवाभिनंदन सुमति शीतल श्रेयांसो विमलांनंत धर्म शांति कुन्थु अर मल्लि नमि वर्धमानेभ्यो नमः'' इस तरह उसके बीच भाग में लिखना चाहिए। यह सब ह्रीं के बीच भाग में सोने के समान पीले रंग के प्रभाव वाले हैं।

ततश्च वलयः कार्यस्तद्बाह्ये कोष्टाऽष्टकं।
तत्रेति लेख्यं विवुधैश्चारू लक्षण लक्षितैः।।९१।।

उसके बाद ह्रीं वर्ण के चारों तरफ आठ कोठों वाला गोला खींचे उन कोठों में सुन्दर लक्षणों वाले विद्वान पुरुषों को यह लिखना चाहिए।

ॐ ह्रीं सूरिभ्यो नमः कालि आदि के नामों के आगे देव्यै नहीं लिखना है। दिग्पाल भी नहीं लिखना है ॐ ह्रीं क्ष्वीं क्षः चारों दिशाओं पृथ्वी मंडल में है।

१. अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः ह्ल्व्यूं
२. क ख ग घ ङ म्ल्व्यूं

३. च छ ज झ ञ म्म्ल्व्यूं
४. ट ठ ड ढ ण रम्ल्व्यूं
५. त थ द ध न घ्म्ल्व्यूं
६. प फ ब भ म झ्म्ल्व्यूं
७. य र ल व स्म्ल्व्यूं
८. श ष स ह ख्म्ल्व्यूं

ततश्च वलय: कार्यो लेख्या स्तत्राष्ट कोष्टका: ।
तत्रेति लेख्यं विबुधैश्चातुर्यान्वित विग्रहै: ।।९२।।

इसके बाद फिर उसके चारों तरफ आठ कोठों वाला गोला खेंचना। उन कोठों में चतुर शरीर धारी बुद्धिमानों को ऐसा लिखना चाहिए।

(१.) ॐ ह्रीं अर्हद्भ्यो नम: । (२.) ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यो नम: ।
(३.) ॐ ह्रीं आचार्येभ्यो नम: (४.) ॐ ह्रीं पाठकेभ्यो नम:
(५.) ॐ ह्रीं सर्वसाधुभ्यो नम: (६.) ॐ ह्रीं तत्त्व दृष्टिभ्यो नम:
(७.) ॐ ह्रीं सम्यक् ज्ञानेभ्यो नम: (८.) ॐ ह्रीं सम्यक् चारित्रेभ्यो नम:

ततश्च वलय: कार्यस्तत्र षोडश कोष्टका: ।
लेख्या स्तत्रेति लेख्यं च विद्वद्भिश्चतुरैर्नरै: ।।९३।।

इसके बाद सोलह कोठों में ऐसा लिखना चाहिए।

(१.) ॐ ह्रीं भावनेंद्राय नम:
(२.) ॐ ह्रीं व्यंतरेन्द्राय नम:
(३.) ॐ ह्रीं ज्योतिष्केन्द्राय नम:
(४.) ॐ ह्रीं कल्पेन्द्राय नम:
(५.) ॐ ह्रीं श्रुतावधिभ्यो नम:

(६.) ॐ ह्रीं देशावधिभ्यो नमः

(७.) ॐ ह्रीं परमावधिभ्यो नमः

(८.) ॐ ह्रीं सर्वावधिभ्यो नमः

(९.) ॐ ह्रीं बुद्धि ऋद्धि प्राप्तेभ्यो नमः

(१०.) ॐ ह्रीं सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्तेभ्यो नमः

(११.) ॐ ह्रीं अनंत बल ऋद्धि प्राप्तेभ्यो नमः

(१२.) ॐ ह्रीं तप ऋद्धि प्राप्तेभ्यो नमः

(१३.) ॐ ह्रीं रस ऋद्धि प्राप्तेभ्यो नमः

(१४.) ॐ ह्रीं विक्रिय ऋद्धि प्राप्तेभ्यो नमः

(१५.) ॐ ह्रीं क्षेत्र ऋद्धि प्राप्तेभ्यो नमः

(१६.) ॐ ह्रीं अक्षीण महानस ऋद्धि प्राप्तेभ्यो नमः

ततश्च वलयः कार्यः चतुर्विंशति कोष्टकः।
तत्र लेख्याश्च कर्तव्याश्चतुर्विंशति देवताः।।९४।।

उसके पीछे चौबीस कोठों वाला गोलाकार बनावे उन कोठों में चौबीस जैन शासन देवताओं को लिखे वह ऐसे हैं।

(१.) ॐ ह्रीं श्री देव्यै नमः (२.) ॐ ह्रीं ह्री देव्यै नमः।
(३.) ॐ ह्रीं धृति देव्यै नमः (४.) ॐ ह्रीं लक्ष्मी देव्यै नमः
(५.) ॐ ह्रीं गौरी देव्यै नमः (६.) ॐ ह्रीं चंडिका देव्यै नमः
(७.) ॐ ह्रीं सरस्वती देव्यै नमः (८.) ॐ ह्रीं जया देव्यै नमः
(९.) ॐ ह्रीं अंबिका देव्यै नमः (१०.) ॐ ह्रीं विजया देव्यै नमः
(११.) ॐ ह्रीं विलजादेव्यै नमः (१२.) ॐ ह्रीं अजितारि देव्यै नमः
(१३.) ॐ ह्रीं नित्या देव्यै नमः (१४.) ॐ ह्रीं मदद्रव्या देव्यै नमः
(१५.) ॐ ह्रीं कामांगादेव्यै नमः (१६.) ॐ ह्रीं कामबाणा देव्यै नमः

(१७.) ॐ ह्रीं सानंदा देव्यै नमः (१८.) ॐ ह्रीं नंदमालि देव्यै नमः
(१९.) ॐ ह्रीं माया देव्यै नमः (२०.) ॐ ह्रीं मायाविन्यै देव्यै नमः
(२१.) ॐ ह्रीं रौद्री देव्यै नमः (२२.) ॐ ह्रीं कला देव्यै नमः
(२३.) ॐ ह्रीं कालि देव्यै नमः (२४.) ॐ ह्रीं कालीप्रिया देव्यै नमः

इसके बाद दश दिक्पालों को दसों दिशाओं में लिखकर ह्रींकार के तीन आवर्त लगाकर क्रों से निरोध करें।

फिर इस मंत्र को विधिपूर्वक पूजन पंचोपचारी अष्टद्रव्य से करके सर्व देवों का आदर पूर्वक विसर्जन करें।

●

श्रीवीतराग स्तोत्रम्

शिवं शुद्धबुद्धं परं विश्वनाथं,
न देवो न बन्धुर्न कर्मं न कर्त्ता।
न अंग न संगं न स्वेच्छा न कायम्।
चिदानन्दरूपम् नमो वीतरागम्।।१।।

न बंधो न मोक्षो न रागादि दोषः,
न योगं न भोगम् न व्याधि र्न शोकम्।
न कोपं न मानं न माया न लोभं,
चिदानन्दरूपम् नमो वीतरागम्।।२।।

न हस्तौ न पादौ न घ्राणं न जिह्वा,
न चक्षुर्न कर्णं न वक्त्रं न निद्रा।
न स्वामी न भृत्यःन देवो न मर्त्यः,
चिदानन्दरूपम् नमो वीतरागम्।।३।।

न जन्म न मृत्यु न मोहो न चिंता,
न क्षुद्रो न भीतो न कार्श्यं न तंद्रा।
न स्वेदं न खेदं न वर्णं न मुद्रा,
चिदानन्दरूपम् नमो वीतरागम्।।४।।

त्रिदंडं त्रिखंडं हरं विश्वनाथं,
हृषीकेश विध्वस्तकर्मादिजालम्।
न पुण्यं न पापं न चाक्षादि गात्रं,
चिदानन्दरूपम् नमो वीतरागम्।।५।।

न बालो न वृद्धो न तुच्छो न मूढो,
न स्वेदं न भेदं न मूर्तिः न स्नेहः।
न कृष्णं न शुक्लं न मोहं न तन्द्रा,
चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम्।।६।।

न आद्यं न मध्यं न अन्तं न चान्यत्
न द्रव्यं न क्षेत्रं न कालो न भावः।
न शिष्यो गुरुर्नापि हीनं न दीनं,
चिदानन्दरूपम् नमो वीतरागम्।।७।।

इदं ज्ञानरूपं स्वयं तत्त्ववेदी।
न पूर्णं न शून्यं न चैत्यं स्वरूपी।।
न चान्यो न भिन्नं न परमार्थमेकम्।
चिदानन्दरूपम् नमो वीतरागम्।।८।।

आत्मारामगुणाकरं गुणनिधिं चैतन्यरत्नाकरं।
सर्वेभूतगतागते सुखदुखे ज्ञाते त्वया सर्वगे।।

त्रैलोक्याधिपते स्वयं स्वमनसा ध्यायन्ति योगीश्वराः।
वंदे तं हरिवंशहर्षहृदयं श्रीमान् हृदाभ्युद्यताम्।।९।।

●

परमानन्द-स्तोत्रम्

परमानन्दसंयुक्तं, निर्विकारं निरामयम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम्।।१।।
अनंतसुखसम्पन्नं, ज्ञानामृतपयोधरम्।
अनन्तवीर्यसम्पन्नं, दर्शनं परमात्मनः।।२।।
निर्विकारं निराबाधं, सर्वसंगविवर्जितम्।
परमानन्दसम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम्।।३।।
उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यात्, मोहचिन्ता च मध्यमा।
अधमा कामचिन्ता स्यात्, परचिन्ताधमाधमा।।४।।
निर्विकल्पसमुत्पन्नं, ज्ञानमेव सुधारसम्।
विवेकमंजुलिं कृत्वा, तं पिबंति तपस्विनः।।५।।
सदानन्दमयं जीवं, यो जानाति स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं, परमानन्दकारणम्।।६।।
नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
सोऽयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः।।७।।
द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तं, भावकर्मविवर्जितम्।
नोमकर्मरहितं सिद्धं, निश्चयेन चिदात्मनः।।८।।

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम्।।९।।

सद्ध्यानं क्रियते भव्यैः, मनो येन विलीयते।
तत्क्षणं दृश्यते शुद्धं, चिच्चमत्कारलक्षणम्।।१०।।

ये ध्यानलीना मुनयः प्रधानाः, ते दुःखहीना नियमाद्भवन्ति।
सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्त्वं, व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव।।११।।

आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं, समस्तसंकल्पविकल्पमुक्तम्।
स्वभावलीना निवसन्ति नित्यं, जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वं।।१२।।

निजानंदमयं शुद्धं, निराकारं निरामयम्।
अनन्तसुखसम्पन्नं, सर्वसंगविवर्जितम्।।१३।।

लोकमात्रप्रमाणोयं, निश्चये न हि संशयः।
व्यवहारे तनुर्मात्रः कथितः परमेश्वरैः।।१४।।

यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं, तत्क्षणं गतविभ्रमः।
स्वस्थचित्तः स्थिरीभूत्वा, निर्विकल्पसमाधितः।।१५।।

स एव परमं ब्रह्म, स एव जिनपुंगवः।
स एव परमं तत्त्वं, स एव परमो गुरुः।।१६।।

स एव परमं ज्योतिः, स एव परमं तपः।
स एव परमं ध्यानं, स एव परमात्मकः।।१७।।

स एव सर्वकल्याणं, स एव सुखभाजनम्।
स एव शुद्धचिद् रूपं, स एव परमं शिवः।।१८।।

स एव परमानन्दः, स एव सुखदायकः।
स एव परमज्ञानं, स एव गुणसागरः।।१९।।
परमाह्लादसम्पन्नं, रागद्वेषविवर्जितम्।
सोहं तं देहमध्येषु, यो जानाति स पण्डितः।।२०।।
आकार रहितं शुद्धं, स्वस्वरूपे व्यवस्थितम्।
सिद्धमष्टगुणोपेतं, निर्विकारं निरंजनम्।।२१।।
तत्सद्दर्शनं निजात्मानं, यो जानाति स पण्डितः।
सहजानन्दचैतन्य-प्रकाशाय महीयसे।।२२।।
पाषाणेषु यथा हेमं, दुग्धमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः।।२३।।
काष्ठमध्ये यथा वह्निः, शक्तिरूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पण्डितः।।२४।।

●

श्री जैन रक्षा स्तोत्रम

श्रीजिनं भक्तितो नत्वा त्रैलोक्याह्लादकारकम्।
जैनरक्षामहं वक्ष्ये देहिनां देहरक्षकम्।।१।।
ॐ ह्रीं आदीश्वरः पातु शिरसि सर्वदा मम।
ॐ ह्रीं श्री अजितो देवी भालं रक्षतु सर्वदा।।२।।
नेत्रयोः रक्षको भूयात् ॐ आं क्रौं सम्भवो जिनाः।
रक्षेद् घ्राणेन्द्रिय ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं अभिनन्दनः।।३।।

सुजिह्वे सुमुखे पातु सुमतिः प्रणवान्वितः।
कर्णयोः पातु ॐ ह्रीं श्रीं रक्तः पद्मप्रभः प्रभु।।४।।
सुपार्श्वः सप्तमः पातु ग्रीवायां ह्रीं श्रियाश्रितः।
पातु चन्द्रप्रभः श्रीं ह्रीं क्रीं (क्रों) पूर्वस्कन्धयोर्मम।।५।।
सुविधिः शीतलो नाथो रक्षको करपंकजे।
ॐ क्षां क्षीं क्षूं युतौ कामं चिदानन्दमयौ शुभौ।।६।।
श्रेयांसो वासुपूज्यश्च हृदये सदयं सदा।
भूयाद् रक्षाकरो वारं वारं श्री प्रणवान्वितः।।७।।
विमलोऽनन्तनाथश्च मायाबीजसमन्वितौ।
उदरे सुन्दरे शश्वद् रक्षायाः कारकौ मातौ।।८।।
श्री धर्मशान्तिनाथौ च नाभिपंकेरुहे सताम्।
ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं हं संयुक्तौ पुनः पातां पुनः पुनः।।९।।
श्री कुन्थु- अरनाथौ तु सुगुरु सुकटीतटे।
भवेतामवकौ भूरि ॐ ह्रीं क्लीं सहितौ जिनौ।।१०।।
मे पातां चारु जंघायां श्री मल्लिमुनिसुव्रतौ।
ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ततो हः ब्लूं क्लीं श्रीं युक्तौ कृपाकरौ।।११।।
यत्नतो रक्षकौ जानू श्री नमिनेमिनाथकौ।
राजराजी मती मुक्तौ प्रणवाक्षर पूर्वकौ।।१२।।
श्री पार्श्वेशमहावीरौ पातां मां ह्रों सुमानदौ।
ॐ ह्रीं श्रीं च तथा भू क्लीं ह्रां हः श्रां श्रः युतौ जिनौ।।१३।।
रक्षाकरा यथास्थाने भवन्तु जिननायकाः।
कर्मक्षयकरा ध्याता भीतानां भयवारकाः।।१४।।

जैनरक्षां लिखित्वेमां मस्तके यस्तु धारयेत्।
रविवद् दीप्यते लोके श्रीमान् विश्वप्रियो भवेत्।।१५।।
तस्योग्ररोगवेताला: शाकिनीभूतराक्षसा:।
एते दोषा न दृष्यन्ते रक्षकाश्च भवन्त्यमी।।१६।।
अग्निसर्पभ्योत्पाता भूपालाश्चोर विग्रहा:।
एते दोषा प्रणयश्यन्ति रक्षकाश्च भवन्त्यमी।।१७।।
जैनरक्षामिमां भक्त्या प्रातरुत्थाय य: पठेत्।
इच्छितान् लभते कामान् प्रातरुत्थाय य: पठेत्।।१८।।
श्रवणे शुक्लगेऽष्टम्यां प्रारभ्य स्तोत्रमुत्तमम्।
अभिषेकं जिनेन्द्राणां कुर्याच्च दिवसाष्टकम्।।१९।।
ब्रह्मचर्यं विधातव्यमेकभुक्तं तथैव च।
शुचिता शुभ्रवस्त्रेण वालंकारेण शोभनम्।।२०।।
नरो वापि तथा नारी शुद्धभावयुतोऽपि सन्।
दिनं दिनं तथा कुर्यात् जाप्यं सर्वार्थसिद्धये।।२१।।
एकायां तु विधातव्यम् उद्यापनमहोत्सवम्।
पूजाविधिसमायुक्तं कर्तव्यं सज्जनैर्जन:।।२२।।

इति जैन रक्षा स्त्रोतम्।

●

श्री ईर्यापथशुद्धि

निः संगोऽहं जिनानां सदन, मनुपमम् त्रिः परीत्येत्य भक्त्या।
स्थित्वा गत्वा निषद्योच्चरण, परिणतोऽन्तः शनैर्हस्तयुग्मम्।।
भाले संस्थाप्य बुद्धया मम, दुरितहरं कीर्तये शक्रवन्द्यम्।
निन्दादूरं सदाप्तं क्षयरहित, ममुं ज्ञानभानुं जिनेन्द्रम्।।१।।

श्रीमत्पवित्रमक- लङ्कमनन्त-कल्पं,
स्वायंभुवं सकल- मङ्गलमादि-तीर्थम्।
नित्योत्सवं मणिमयं निलयं जिनानां,
त्रैलोक्यभूषणमहं शरणं प्रपद्ये।।२।।

श्रीमत्परमगंभीर, स्याद्वादा मोघलाञ्छनम्।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिनशासनम्।।३।।
श्रीमुखालोकनादेव, श्रीमुखालोकनं भवेत्।
आलोकनविहीनस्य, तत्सुखावाप्तयः कुतः।।४।।

अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य,
देव! त्वदीयचरणाम्बुजवीक्षणेन।
अद्य त्रिलोकतिलक प्रतिभासते मे,
संसारवारिधिरयं चुलुकप्रमाणम्।।५।।

अद्य मे क्षालितं गात्रं नेत्रे च विमलीकृते।
स्नातोहं धर्मतीर्थेषु जिनेन्द्र तव दर्शनात्।।६।।
नमो नमः सत्वहितंकराय, वीराय भव्याम्बुजभास्कराय।
अनन्त-लोकाय सुरार्चिताय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय।।७।।

नमो जिनाय त्रिदशार्चिताय विनष्टदोषाय गुणार्णवाय।
विमुक्तिमार्गप्रतिबोधनाय देवाधिदेवाय नमो जिनाय।।८।।

देवाधिदेव! परमेश्वर! वीतराग!
सर्वज्ञ! तीर्थकर! सिद्ध! महानुभाव।
त्रैलाकक्यनाथ! जिनपुंगव! वर्द्धमान!
स्वामिन्! गतोऽस्मि शरणं चरणद्वयं ते।।९।।

जितमदहर्षद्वेषा जितमोहपरीषहा जितकषायाः।
जितजन्ममरणरोगा जितमात्सर्या जयन्तु जिनाः।।१०।।

जयतु जिनवर्द्धमानस्त्रिभुवनहितधर्मचक्रनीरजबन्धुः।
त्रिदशपतिमुकुटभासुरचूडामणि रश्मिरंजितारुणचरणः।।११।।

जय जय जय त्रैलोक्य-काण्ड-शोभि-शिखामणे।
नुद नुद नुद स्वान्त-ध्वान्तं जगत्कमलार्क नः।।
नय नय नय स्वमिन्! शांतिं नितान्त-मनन्तिमाम्।
नहि नहि नहि त्राता, लोकैक-मित्र- भवत्परः।।१२।।

चित्ते मुखे शिरसि पाणि-पयोज-युग्मे।
भक्तिं स्तुतिं विनतिमञ्जलिमञ्जसैव।।
चेक्रीयते चरीकरीति चरीकरीति।
यश्चर्करीति तव देव ! स एव धन्यः।।१३।।

जन्मोन्मार्ज्यं भजतु भवतः पादपद्मं न लभ्यं।
तत्चेत्स्वैरं चरतु न च दुर्देवतां सेवतां सः।।
अश्नात्यन्नं यदिह सुलभं दुर्लभं चेन्मुधास्ते।
क्षुद्व्यावृत्यै कवलयति कः कालकूटं बुभुक्षुः।।१४।।

रूपं ते निरुपाधि सुन्दरमिदं पश्यन् सहस्रेक्षणः।
प्रेक्षाकौतुककारिकोऽत्र भगवन्नोपेत्यवस्थान्तरम्।।
वाणीं गद्गदयन्वपुः पुलकयन्नेत्रद्वयं स्रावयन्।
मूर्धानं नमयन्करौ मुकुलयंश्चेतोऽपि निर्वापयन्।।१५।।
त्रस्तारातिरिति त्रिकालविदिति त्राता त्रिलोक्या इति।
श्रेयः सूतिरिति श्रियां निधिरिति श्रेष्ठः सुराणामिति।।
प्रप्तोऽहं शरणं शरण्यमगतिस्त्वां तत्त्यजोपेक्षणम्।
रक्ष क्षेमपदं प्रसीद जिन किं विज्ञापितैर्गोपितैः।।१६।।
त्रिलोकराजेन्द्रकिरीटकोटि प्रभाभिरालीढपदारविन्दम्।
निर्मूलमुन्मूलितकर्मवृक्षं जिनेन्द्रचन्द्रं प्रणमामि भक्त्या।।१७।।
करचरणतनुविघातादटतो निहतः प्रमादतः प्राणी।
ईर्यापथमिति भीत्या मुंचे तद्दोषहान्यर्थम्।।१८।।

ईर्यापथे प्रचलिताऽद्य मया प्रमादा
देकेन्द्रिय प्रमुख जीव निकाय बाधा।
निर्वर्तिता यदि भवेदयुगांतरेक्षा,
मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे।।१९।।

पडिक्कमामि भन्ते ! इरियावहियाए विराहणाए अणागुत्ते, अइग्गमणे, णिग्गमणे, ठाणे, गमणे, चंकमणे पाणुग्गमणे, बीजुग्गमणे, हरिदुग्गमणे, उच्चारपस्सवणखेल सिंहाणयवियडिय पइट्ठावणियाए, जे जीवा एइन्दिया वा, बेइन्दिया वा, तेइन्दिया वा, चउरिन्दिया वा पंचिन्दिया वा णोल्लिदा वा, पेल्लिदा वा, संघट्टिदा वा, संघादिदा वा, उद्दाविदा वा, परिदाविदा वा, किरिंच्छिदा वा, लेस्सिदा वा, छिंदिदा वा, भिंदिदा वा, ठाणदो वा, ठाणचंकमणदो वा तस्स उत्तरगुणं तस्स पायच्छित्तकरणं

तस्स विसोहिकरणं, जाव अरहंताणं भयवंताणं णमोक्कारं पुज्जुवासं करेमि ताव कालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि। "णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं"।। नौ बार जाप्यानि।।६।।

इच्छामि भंते! इरियावहियस्य आलोचेउं पुव्वुत्तरदिक्खण पच्छिम– चउदिसु विदिसासु विहरमाणेण, जुगंतरदिट्ठिणा, भव्वेण, दट्ठव्वा। पमाददोसेण डवडवचरियाए पाणभूदजीवसत्ताणं एदेसिं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतोवा समणुमण्णिदो वा, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पापिष्ठेन दुरात्मा जडधिया मायाविना लोभिना।
रागद्वेषमलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितम्।।
त्रैलोक्याधिपते! जिनेन्द्र भवतः श्रीपादमूलेऽधुना।
निन्दापूर्वमहं जहामि सततं निर्वर्तये कर्मणाम्।।१।।

जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्धं, प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम्।
अनन्तबोधादिभवंगुणौघं, क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये।।२।।

अथार्हत्पूजारंभक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्म क्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तव समेतं श्रीमत्सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्।

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धामंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा–अरहंता

लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धेसरणं पव्वज्जामि, साहूसरणं पव्वज्जामि। केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। अड्ढाईज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारस—कम्मभूमिसु, जाव अरहंताणं, भयवंताणं, आदियराणं, तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाणं, केवलियाणं, सिद्धाणं, बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसियाणं, धम्मणायगाणं, धम्मवरचाउरंग— चक्कवट्टीणं, देवाहिदेवाणं, णाणाणं, दंसणाणं, चरित्ताणं, सदा करेमि, किरियम्मं। करेमि भंते! सामाइयं सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवं तिविहेण मणसावचसा—कायेण, ण करेमि ण कारेमि अण्णंकरंतं पिण समणु मणामि। तस्स भंते! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि जाव अरहंताणं, भयवंताणं, पज्जुवासं करेमि, तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं, वोस्सरामि।

जीवियमरणे लाहालाहे संजोगविप्पजोगे य
बंधुरिहसुहदु:क्खादो समदा सामाइयं णाम।।
थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पण्णे।।१।।
लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से, चउवीसं चेव केवलिणो।।२।।
उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे।।३।।
सुविहिं च! पुप्फयंतं, सीयल सेयं च वासुपूज्जं च।
विमलमणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि।।४।।

कुन्थुं च जिणवरिन्दं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामिरिट्ठनेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च।।५।।
एवं मए अभित्थुया, विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु।।६।।
कित्तिय वंदिय महिया, एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं दिन्तु समाहिं च मे बोहिं।।७।।
चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियपया संता।
सायरमिव गम्भीरा, सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु।।८।।

•

श्री श्रुतभक्तिः

स्तोष्ये संज्ञानानि, परोक्ष प्रत्यक्षभेदभिन्नानि।
लोकोलोक विलोकन, लोलित सल्लोकलोचनानि सदा।।१।।

अभिमुखनियमितबोधन, माभिनिबोधिकमनिन्द्रियेन्द्रियजम्।
बह्वाद्यवग्रहादिककृत, षट्त्रिंशत्त्रिशतभेदम्।।२।।
विविधर्द्धिबुद्धिकोष्ठ, स्फुटबीजपदानुसारिबुद्ध्यधिकं।
संभिन्नश्रोतृतया, सार्धं श्रुतभाजनं वन्दे।।३।।

श्रुतमपि जिनवरविहितं, गणधररचितं द्व्यनेकभेदस्थम्।
अङ्गाङ्गबाह्यभावित, मनंतविषयं नमस्यामि।।४।।

पर्यायाक्षरपदसंघातप्रतिपत्तिकानुयोगाविधीन्।
प्राभृतकप्राभृतकं, प्राभृतकं वस्तुपूर्वं च।।५।।

तेषां समासतोऽपि च, विंशतिभेदान्समश्नुवानं तत्।
वंदे द्वादशधोक्तं, गंभीरवरशास्त्रपद्धत्या।।६।।
आचारं सूत्रकृतं, स्थानं समवायनामधेयं च।
व्याख्याप्रज्ञप्तिं च, ज्ञातृकथोपासकाध्ययने।।७।।
वंदेऽन्तकृद्दश, मनुत्तरोपपादिकदशं दशावस्थम्।
प्रश्नव्याकरणं हि, विपाकसूत्रं च विनमामि।।८।।
परिकर्म च सूत्रं च, स्तौमि प्रथमानुयोगपूर्वगते।
सार्द्धं चूलिकयापि च, पंचविधं दृष्टिवादं च।।९।।
पूर्वगतं च चतुर्दश, धोदितमुत्पादपूर्वमाद्यमहम्।
आग्रायणीयमीडे, पुरुवीर्यानुप्रवादं च।।१०।।
संततमहमभिवंदे, तथास्तिनास्तिप्रवादपूर्वं च।
ज्ञानप्रवादसत्यप्रवाद, मात्मप्रवादं च।।११।।
कर्म प्रवादमीडेऽथ, प्रत्याख्याननामधेयं च।
दशमं विद्याधारं, पृथुविद्यानुप्रवादं च।।१२।।
कल्याणनामधेयं, प्राणावायं क्रियाविशालं च।
अथ लोकबिन्दुसारं, वन्दे लोकाग्रसारपदं।।१३।।
दश च चतुर्दश चाष्टावष्टा दश च द्वयोर्द्विषट्कंच।
षोडश च विंशतिं च, त्रिंशतमपि पंचदश च तथा।।१४।।
वस्तूनि दश दशान्ये, ष्वनुपूर्वं भाषितानि पूर्वाणाम्।
प्रतिवस्तु प्राभृतकानि, विंशतिं विंशतिं नौमि।।१५।।
पूर्वांतं ह्मपरान्तं ध्रुवमध्रुवच्यवनलब्धिनामानि।
अध्रुवसंप्रणिधिं, चाप्यर्थं भौमावयाद्यं च।।१६।।
सर्वार्थकल्पनीयं, ज्ञानमतीतं त्वनागतं कालम्।
सिद्धिमुपाध्यं च तथा, चतुर्दशवस्तूनि द्वितीयस्य।।१७।।

पंचमवस्तुचतुर्थ, प्राभृतकस्यानुयोगनामानि ।
कृतिवेदने तथैव, स्पर्शनकर्मप्रकृतिमेव ।।१८।।
बंधननिबंधनप्रक्रमानुप, क्रममथाभ्युदयमोक्षौ ।
संक्रमलेश्ये च तथा, लेश्यायाः कर्मपरिणामौ ।।१९।।
सातमसातं दीर्घं, ह्रस्वं भवधारणीयसंज्ञं च ।
पुरुपुद्गलात्मनाम च, निधत्तमनिधत्तमभिनौमि ।।२०।।
सनिकाचितमनिकाचित मथ, कर्म स्थितिकपश्चिमश् कंधौ ।
अल्पबहुत्वं च यजे, तद्द्वाराणां चतुर्विंशम् ।।२१।।
कोटीनां द्वादशशत, मष्टापंचाशतं सहस्राणाम् ।
लक्षत्र्यशीतिमेव च, पंच च वंदे श्रुतपदानि ।।२२।।
षोडशशतं चतुस्त्रिंशत्, कोटीनां त्र्यशीतिलक्षाणि ।
शतसंख्याष्टासप्तति, मष्टाशीतिं च पदवर्णान् ।।२३।।
सामायिकं चतुर्विंशति, स्तवं वंदनां प्रतिक्रमणं ।
वैनयिकं कृतिकर्म च, पृथुदशवैकालिकं च तथा ।।२४।।
वरमुत्तराध्ययनमपि, कल्प व्यवहारमेवमभिवंदे ।
कल्पाकल्पं स्तौमि, महाकल्पं पुंडरीकं च ।।२५।।
परिपाट्या प्रणिपतितो, ऽस्म्यहं महापुण्डरीक नामैव ।
निपुणान्यशीतिकं, च प्रकीर्णकान्यंगबाह्यानि ।।२६।।
पुद्गलमर्यादोक्तं, प्रत्यक्षं सप्रभेदमवधिं च ।
देशा- वधि-परमावधि, सर्वावधिभेद- मभिवंदे ।।२७।।
परमनसि स्थितमर्थं, मनसा परिविद्य मंत्रिमहितगुणम् ।
ऋजुविपुलमतिविकल्पं, स्तौमि मनः पर्ययज्ञानम् ।।२८।।
क्षायिकमनन्तमेकं, त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम् ।
सकलसुखधाम सततं, वंदेऽहं केवलज्ञानम् ।।२९।।

एवमभिष्टुवतो मे, ज्ञानानि समस्तलोकचक्षूंषि।
लघु भवताज्ज्ञानर्द्धि, ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनम्।।३०।।

इच्छामि भंते! सुदभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्स आलोचेउं अंगोवंगपइण्णए पाहुडयपरियम्म सुत्तपढमाणुओगपुव्व गयचूलिया चेव सुत्तत्थवथुइ धम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचेमि , पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

●

चारित्र भक्तिः

येनेन्द्रान्भुवनत्रयस्य, विलसत्केयूरहारांगदान्।
भास्वन्मौलिमणिप्रभा, प्रविसरोत्तुंगोत्तमाङ्गान्नतान्।।
स्वेषां पादपयोरुहेषु, मनुयश्चक्रुः प्रकामं सदा।
वंदे पंचतयं तमद्य, निगदन्नाचारमभ्यर्चितम्।।१।।
अर्थव्यंजनतद्द्वया, विकलता कालोपधाप्रश्रयाः।
स्वाचार्याद्यनपह्नवो, बहुमतिश्चेत्यष्टधा व्याहृतम्।।
श्रीमज्ज्ञातिकुलेन्दुना, भगवता तीर्थस्य कर्त्राऽञ्जसा।
ज्ञानाचारमहं त्रिधा, प्रणिपताम्युद्धूतये कर्मणाम्।।२।।
शंकादृष्टिविमोहकांक्षणविधिव्यावृत्तिसन्नद्धतां।
वात्सल्यं विचिकित्सना, दुपरतिं धर्मोपबृंहक्रियाम्।।
शक्त्या शासनदीपनं, हितपथाद्भ्रष्टस्य संस्थापनम्।
वंदे दर्शनगोचरं सुचरितं, मूर्ध्ना नमन्नादरात्।।३।।

एकान्ते शयनोपवेशनकृतिः संतापनं तानवम्।
संख्यावृत्तिनिबन्धनामनशनं, विष्वाणमर्द्धोदरम्।।
त्यागं चेन्द्रियदन्तिनो मदयतः स्वादो रसस्यानिशम्।
षोढा बाह्यमहं स्तुवे शिवगति प्राप्त्यभ्युपायं तपः।।४।।
स्वाध्यायः शुभकर्मणश्च्युतवतः सम्प्रत्यवस्थापनम्।
ध्यानं व्यापृतिरामयाविनि गुरौ, वृद्धे च बाले यतौ।।
कायोत्सर्जनसत्क्रिया, विनय इत्येवं तपः षड्विधं।
वंदेऽभ्यंतरमन्तरंगबलवद्विद्वेषि विध्वंसनम्।।५।।

सम्यग्ज्ञानविलोचनस्य दधतः, श्रद्धानमर्हन्मते।
वीर्यस्याविनिगूहनेन तपसि, स्वस्य प्रयत्नाद्यतेः।।
या वृत्तिस्तरणीव नौरविवरा, लघ्वी भवोदन्वतो।
वीर्याचारमहं तमूर्जितगुणं वंदे सतामर्चितम्।।६।।

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनो भाषानिमित्तोदयाः।
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः, पंचव्रतानीत्यपि।।
चारित्रोपहितं त्रयोदश, तयं पूर्वं न दृष्टं परैः।
आचारं परमेष्ठिनो जिनपते, वीरं नमामो वयम्।।७।।
आचारं सह पंचभेदमुदितं, तीर्थं परं मंगलं।
निर्ग्रन्थानपि सच्चरित्रमहतो, वंदे समग्रान्यतीन्।।
आत्माधीनसुखोदयामनुपमां, लक्ष्मीमविध्वंसिनीम्।
इच्छन् केवलदर्शनावगमन, प्राज्यप्रकाशोज्ज्वलाम्।।८।।
अज्ञानाद्यदवीवृतं नियमिनो, ऽवर्तिष्यहं चान्यथा।
तस्मिन्नर्जितमस्यति, प्रतिनवं चैनोनिराकुर्वति।।

वृत्ते सप्ततयीं निधिं, सुतपसामृद्धिं नयत्यद्भुतं।
तन्मिथ्या गुरु दुष्कृतं भवतु, मे स्वं निंदतो निंदितम्।।९।।
संसारव्यसनाहतिप्रचलिता, नित्योदयप्रार्थिनः।
प्रत्यासन्नविमुक्तयः सुमतयः शांतैनसः प्राणिनः।।
मोक्षस्यैव कृतं विशालमतुलं, सोपानमुच्चैस्तरा।
मारोहन्तु चारित्रमुत्तममिदं, जैनेन्द्रमोजस्विनः।।१०।।

इच्छामि भंते ! चारित्तभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्स आलोचेउं सम्मणाणुज्जोयस्स, सम्मत्ता–हिट्ठियस्स, सव्वपहाणस्स, णिव्वाणमग्गस्स, कम्मणिज्जरफलस्स, खमाहारस्स, पंचमहव्वय–संपुण्णस्स, तिगुत्तिगुत्तस्स, पंचसमिदिजुत्तस्स, णाणज्झाण साहणस्स, समया इव पवेसयस्स सम्मचारित्तस्स, सया णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

•

श्री योगिभक्ति

जातिजरोरुरोगमरणातुर, शोकसहस्रदीपिताः।
दुःसहनरकपतनसन्त्रस्तधियः प्रतिबुद्धचेतसः।।
जीवितमंबुबिंदुचपलं तडिदभ्रसमा विभूतयः।
सकलमिदं विचिन्त्य मुनयः प्रशमाय वनान्तमाश्रिताः।।१।।

व्रतसमितिगुप्तिसंयुताः शिवसुखमाधाय मनसि वीतमोहाः।
ध्यानाध्ययन वशंगताः विशुद्धये कर्मणां तपश्चरन्ति।।२।।

दिनकरकिरण निकरसंतप्त, शिलानिचयेषु निस्पृहाः।
मलपटलावलिप्तनवः, शिथिलीकृतकर्मबंधना:।।
व्यपगतमदनदर्परतिदोष, कषायविरक्तमत्सराः।
गिरिशिखरेषु चंडकिरणाभि, मुखिस्थितयो दिगंबराः।।३।।
सज्ज्ञानामृतपायिभिः क्षान्तिपयः सिंच्यमानपुण्यकायैः।
धृतसंतोषच्छत्रकैस्तापस्तीव्रोऽपि सहृते मुनीन्द्रैः।।४।।
शिखिगलकज्जलालिमलिनै, र्बिबुधाधिपचापचित्रितैः।
भीमरवैर्विसृष्टचण्डाशनि, शीतलवायुवृष्टिभिः।।
गगनतलं विलोक्य जलदैः स्थगितं सहसा तपोधनाः।
पुनरपि तरुतलेषु विषमासु, निशासु विशंकमासते।।५।।
जलधाराशरताडिता, न चलन्ति चरित्रतः सदा नृसिंहाः।
संसारः दुखभीरवः, परीषहारातिघातिनः प्रवीराः।।६।।
अविरतबहलतुहिनकण वारिभिः रंघ्रिपपत्रपातनैः।
अनवरतमुक्तसीत्काररवैः परुषैरथानि लैः शोषितगात्रयष्टयः।।
इह श्रमणा धृतिकंबलावृताः शिशिरनिशां।
तुषारविषमां, गमयन्ति चतुः पथे स्थिताः।।७।।
इति योगत्रयधारिणः, सकलतपः शालिनः प्रवृद्धपुण्यकायाः।
परमानंदसुखैषिणः, समाधिमग्र्यं दिशंतु नो भदन्ताः।।८।।
गिह्मे गिरिसिहरत्था वरिसायाले रुक्खमूलरयणीसु।
सिसिरे बाहिरसयणा ते साहू वंदिमो णिच्चं।।१।।
गिरिकंदरदुर्गेषु ये वसंति दिगंबराः।
पाणिपात्रपुटाहारास्ते यांति परमां गतिम्।।२।।

इच्छामि भंते! योगिभत्ति काउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं, अढ्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु, पण्णारस- कम्मभूमिसु, आवाबण

रुक्खमूल अब्भोवासठाण मोणविरासणेक्कपास कुक्कुडासण चउत्थपक्खखवणादि योगजुत्ताणं, सव्वसाहूणं सया णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

•

श्री आचार्य भक्तिः

सिद्धगुणस्तुतिनिरता, नुद्धूतरुषाग्नि जालबहुलविशेषान्।
गुप्तिभिरभिसंपूर्णान्, मुक्तियुतः सत्यवचनलक्षितभावान्।।१।।
मुनिमाहात्म्यविशेषान्जिन शासनसत्प्रदीपभासुरमूर्तीन।
सिद्धिं प्रपित्सुमनसो बद्धरजोविपुलमूलघातनकुशलान्।।२।।
गुणमणिविरचितवपुषः, षड्द्रव्यविनिश्चितस्य धातॄन्सततम्।
रहितप्रमादचर्यान्दर्शनशुद्धान् गणस्य संतुष्टिकरान्।।३।।
मोहच्छिदुग्रतपसः प्रशस्तपरिशुद्धहृदयशोभनव्यवहारान्।
प्रासुकनिलयाननघा नाशा विध्वंसिचेतसो हतकुपथान्।।४।।
धारितविलसन्मुन्डान् वर्जित बहुदंडपिंडमंडलनिकरान्।
सकलपरीषहजयिनः, क्रियाभिरनिशं प्रमादतः परिरहितान्।।५।।
अचलान्व्यपेतनिद्रान्, स्थान युतान्कष्टदुष्टलेश्याहीनान्।
विधिनानाश्रितवासा, नलिप्त देहान्विनिर्जितेन्द्रियकरिणः।।६।।
अतुलानुत्कुटिकासा, न्विविक्त चित्तानखंडितस्वाध्यायान्।
दक्षिणभावसमग्रान्, व्यपगतमदरागलोभशठमात्सर्यान्।।७।।

भिन्नार्तरौद्रपक्षान् संभावितधर्म शुक्लनिर्मलहृदयान्।
नित्यं पिनद्धकुगतीन्, पुण्यान्गण्योदयान्विलीन गारवचर्यान्।।८।।
तरुमूलयोगयुक्ता, नव काशातापयोगरागसनाथान्।
बहुजनहितकरचर्या, नभयाननघान्महानुभावविधानान्।।९।।
ईदृशगुणसंपन्नान्युष्मान्भक्त्या विशालया स्थिरयोगान्।
विधिनानारतमग्यान्मुकुलीकृतहस्तकमलशोभितशिरसा।।१०।।
अभिनौमि सकलकलुषप्रभवोदय- जन्मजरामरणबंधनमुक्तान्।
शिवमचलमनघमक्षयमव्याहतमुक्तिसौख्यमस्त्विति सततम्।।११।।

इच्छामि भंते! आइरियभत्तिकाउसग्गो कओ, तस्सालोचेउं, सम्मणाण, सम्मदंसण, सम्मचारित्तजुत्ताणं, पंचविहाचाराणं, आयरियाणं, आयारादिसुद णाणोवदेसयाणं, उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालणरयाणं, सव्वसाहूणं, सया णिच्चकालं, अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

।। इति श्री आचार्य भक्ति नमः।।

●

श्री चैत्यभक्तिः

श्रीगौतमादिपदमद्भुतपुण्यबंध-
मुद्योतिताखिलममोघमघप्रणाशम्।
वक्ष्ये जिनेश्वरमहं प्रणिपत्य तथ्यं
निर्वाण कारणमशेषजगद्धितार्थं।।१।।

जयति भगवान् हेमाम्भोज, प्रचारविजृम्भिता-
वमरमुकुटच्छायोद्गीर्ण, प्रभापरिचुंबितौ।।
कलुष हृदया मानोद्भ्रान्ताः, परस्परवैरिणः।
विगतकलुषाः पादौ यस्य, प्रपद्य विशश्वसुः।।२।।
तदनु जयति श्रेयान्धर्मः प्रवृद्धमहोदयः।
कुगतिविपथक्लेशाद्योऽसौ, विपाशयति प्रजाः।।
परिणतनयस्यांगीभावा द्विविक्तविकल्पितम्।
भवतु भवतस्रातृ त्रेधा, जिनेन्द्रवचोऽमृतम्।।३।।

तदनु जयताज्जैनी वित्तिः, प्रभंगतरंगिणी,
प्रभवविगमध्रौव्यद्रव्य, स्वभावविभाविनी।
निरुपमसुखस्येदं द्वारं विघट्य निरर्गलम्,
विगतरजसं मोक्षं देया, न्निरत्ययमव्ययम्।।४।।

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायेभ्य, स्तथा च साधुभ्यः।
सर्वजगद्वंद्येभ्यो, नमोस्तु सर्वत्र सर्वेभ्यः।।५।।
मोहादिसर्वदोषारिघातकेभ्यः सदा हतरजोभ्यः।
विरहितरहस्कृतेभ्यः पूजार्हेभ्यो नमोऽर्हद्भ्यः।।६।।
क्षान्त्यार्जवादिगुणगणसुसाधनं, सकललोकहितहेतुं।
शुभधामनि धातारं, वंदे धर्मं जिनेन्द्रोक्तम्।।७।।
मिथ्याज्ञानतमोवृतलोकैक, ज्योतिरमितगमयोगि।
सांगोपांगमजेयं, जैनं वचनं सदा वंदे।।८।।
भवनविमानज्योतिर्व्यंतर, नरलोकविश्वचैत्यानि।
त्रिजगदभिवंदितानां, वंदे त्रेधा जिनेन्द्राणाम्।।९।।

भुवनत्रयेऽपि भुवनत्रयाधि, पाभ्यर्च्यतीर्थकर्तॄणां।
वंदे भवाग्नि शान्त्यै, विभवानामालयालीस्ता:।।१०।।
इति पंचमहापुरुषा: प्रणुता जिनधर्मवचनचैत्यानि।
चैत्यालयाश्च विमलां दिशन्तु बोधिं बुधजनेष्टाम्।।११।।
अकृतानि कृतानि चाप्रमेय, द्युतिमन्ति द्युतिमत्सु मंदिरेषु।
मनुजामरपूजितानि वंदे प्रतिबिंबानि जगत्त्रये जिनानाम्।।१२।।
द्युतिमंडलभासुरांगयष्टी: प्रतिमा अप्रतिमा जिनोत्तमानाम्।
भुवनेषु विभूतये प्रवृत्ता वपुषा प्राञ्जलिरश्मि वंदमान:।।१३।।
विगतायुधविक्रियाविभूषा: प्रकृतिस्था: कृतिनां जिनेश्वराणाम्।
प्रतिमा: प्रतिमागृहेषु कांत्या प्रतिमा: कल्मषशान्तयेऽभिवंदे।।१४।।
कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं, परया शान्ततया भवान्तकानाम्।
प्रणमाम्यभिरूपमूर्तिमंति प्रतिरूपाणि विशुद्धये जिनानाम्।।१५।।
यदिदं मम सिद्धभक्तिनीतं सुकृतं दुष्कृतवर्त्मरोधि तेन।
पटुना जिनधर्म एव भक्ति भर्वताज्जन्मनि जन्मनि स्थिरा मे।।१६।।
अर्हतां सर्वभावानां, दर्शनज्ञानसंपदाम,
कीर्तयिष्यामिचैत्यानि, यथाबुद्धि विशुद्धये।।१७।।
श्रीमद्भवनवासस्था:, स्वयंभासुरमूर्तय:।
वंदिता नो विधेयासु: प्रतिमा: परमां गतिम्।।१८।।
यावंति संति लोकेऽस्मि, न्नकृतानि कृतानि च।
तानि सर्वाणि चैत्यानि, वंदे भूयांसि भूतये।।१९।।
ये व्यंतरविमानेषु, स्थेयांस: प्रतिमागृहा:।
ते च संख्यामतिक्रान्ता: संतु नो दोषविच्छिदे।।२०।।
ज्योतिषामथ लोकस्य भूतयेऽद्भुतसंपद:।
गृहा: स्वयंभुव: संति, विमानेषु नमामि तान्।।२१।।

वंदे सुरकिरीटाग्र, मणिच्छायाभिषेचनम्।
याः क्रमेणैव सेवन्ते, तदर्चाः सिद्धिलब्धये।।२२।।
इति स्तुतिपथातीतश्रीभृतामर्हतां मम।
चैत्यानामस्तु संकीर्तिः, सर्वास्रवनिरोधिनी।।२३।।
अर्हन्महानदस्य त्रिभुवन भव्यजनतीर्थयात्रिकदुरितम्।
प्रक्षालनैककारणमति लौकिककुहकतीर्थमुत्तमतीर्थम्।।२४।।
लोकालोक सुतत्त्व प्रत्यवबोधन समर्थ दिव्यज्ञान।
प्रत्यहवहत्प्रवाहं व्रतशीला मलविशालकूलद्वितयम्।।२५।।
शुक्लध्यानस्तिमित, स्थित-राजद्राजहंसराजितमसकृत्।
स्वाध्यायमंद्रघोषं, नानागुण समितिगुप्ति, सिकतासुभगम्।।२६।।
क्षांत्यावर्तसहस्रं सर्वदया विकचकुसुम, विलसल्लतिकम्।
दुःसहपरीषहाख्यद्रुततररंगत्तरंगभंगुरनिकरम्।।२७।।
व्यपगतकषायफेनं राग द्वेषादिदोषशैवलरहितम्।
अत्यस्तमोहकर्दममति दूर निरस्तमरणमकरप्रकरम्।।२८।।
ऋषिवृषभस्तुतिमंद्रोद्रेकित, निर्घोषविविधविहगध्वानम्।
विविधतपयोनिधिपुलिनं, सास्रवसंवरणनिर्जरानिः स्रवणम्।।२९।।
गणधरचक्रधरेन्द्रप्रभृति- महाभव्यपुडरीकैः पुरुषैः।
बहुभिः स्नातं भक्त्या, कलि कलुषमलापकर्षणार्थममेयम्।।३०।।
अवतीर्णवतः स्नातु ममापि दुस्तरसमस्तदुरितं दूरम्।
व्यपहरतु परमपावनमनन्य जय्यस्वभावभावगंभीरम्।।३१।।

अताम्रनयनोत्पलं सकलकोपवह्नेर्जयात्
कटाक्षशरमोक्षहीन मविकारतोद्रेकतः।

विषादमदहानितः प्रहसितायमानं सदा,
मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम्।।३२।।
निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदयात्
निरंबरमनोहरं प्रकृतिरूपनिर्दोषतः।
निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमात्,
निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात्।।३३।।
मितस्थितनखांगजं गतरजोमलस्पर्शनम्,
नवांबुरुहचंदन प्रतिमदिव्य गंधोदयम्।
रवीन्दुकुलिशादिदिव्य बहुलक्षणालंकृतम्,
दिवाकरसहस्रभासुरमपीक्षणानां प्रियम्।।३४।।
हितार्थपरिपंथिभिः प्रबलरागमोहादिभिः,
कलंकितमना जनो यदभिवीक्ष्य शोशुध्यते।
सदाभिमुखमेव यज्जगति पश्यतां सर्वतः,
शरद्विमलचंद्रमंडलमिवोत्थितं दृश्यते।।३५।।
तदेतदमरेश्वर, प्रचलमौलिमालामणि-
स्फुरत्किरणचुम्बनीय चरणारविन्दद्वयम्।
पुनातुभगवज्जिनेन्द्र तव रूपमन्धीकृतम्,
जगत्सकलमन्यतीर्थगुरु पदोषोदयैः।।३६।।

मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजल सत्खातिका पुष्पवाटी।
प्राकारो नाट्यशालाद्वितयमुपवनं, वेदिकांतर्ध्वजाद्याः।।
शालः कल्पद्रुमाणां सुपरिवृतवनं, स्तूपहर्म्यावली च।
प्राकारः स्फाटिकोन्तर्नृ सुरमुनिसभा, पीठिकाग्रे स्वयंभूः।।३७।।

वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु, नंदीश्वरे यानि च मंदरेषु।
यावन्ति चैत्यायतनानि लोके सर्वाणि वंदे जिनपुंगवानाम्।।३८।।

अवनितलगतानां कृत्रिमाऽकृत्रिमाणां
वनभवनगतानां दिव्यवैमानिकानाम्।
इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानां,
जिनवरनिलयानां भावतोऽहं स्मरामि।।३९।।

जम्बूधातकिपुष्करार्द्धवसुधाक्षेत्रत्रये ये भवा
चंद्रांभोजशिखंडिकंठकनकप्रावृड्घनाभा:जिना:।
सम्यग्ज्ञानचरित्रलक्षणधरा दग्धाष्टकर्मेन्धना:,
भूतानागतवर्तमानसमये तेभ्यो जिनेभ्यो नम:।।४०।।

श्रीमन्मेरौ कुलाद्रौ रजतगिरिवरे, शाल्मली जंबूवृक्षे।
वक्षारे चैत्यवृक्षे, रतिकररुचके कुंडले मानुषांके।।
इष्वाकारेऽजनाद्रौ दधिमुखशिखरे व्यंतरे स्वर्गलोके।
ज्योतिर्लोकेऽभिवंदे, भुवनमहितले यानि चैत्यालयानि।।४१।।

देवासुरेन्द्र नरनागसमर्चितेभ्य:,
पाप प्रणाशकर भव्य मनोहरेभ्य:।
घंटाध्वजादि परिवारविभूषितेभ्यो,
नित्यं नमो जगति सर्वजिनालयेभ्य:।।४२।।

द्वौकुन्देन्दु तुषार हार धवलौ, द्वाविन्द नील प्रभौ।
द्वौबन्धूकसमप्रभौ जिन, वृषौद्वौच प्रियन्गुप्रभौ।।४३।।
शेषा: षोडश जन्म मृत्युरहिता संतप्त हेमप्रभा।
तेसंज्ञान दिवाकरा सुरनुता सिद्धिप्रयच्छसंतुन:।।४४।।

वरकनक शंख विद्रुम मरकत घनसन्निभं विगतमोहं।
सप्ततिशतं जिनानां सर्वामरवंदितं वन्दे:।।४५।।
कोट्योर्हत्प्रतिमा शतान्नि नवति: पंचोत्तरा विंशति:।
पंचाशत्रियुता जनगत्सु गणिता लक्षा सहस्राणितु।
सप्ताग्रापिच विंशतिर्नवशतिद्व्यूनं शतार्धं मता:।
तनित्या: पुरुतुंग पूर्व मुखसत्वर्यंक बन्धा: स्तुवे।।४६।।
यावन्ति जिन चैत्यानि विद्यंते भुवनत्रये।
तावन्तिसततं भक्त्या त्रिपरीत्य नमाम्यहं।।४७।।

इच्छामि भंते! चेइयभत्तिकाउस्सग्गो कओ। तस्सालोचेउं, अहलोय, तिरियलोय, उड्ढलोयम्मि, किट्टिमाकिट्टिमाणि, जाणि जिणचेइयाणि, ताणि सव्वाणि, तिसुवि लोएसु, भवणवासिय, वाणविंतरजोइसियकप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा, दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण अक्खेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण दीवेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं अच्चंति, पुज्जंति, वंदंति, णमंसंति। अहमवि इह संतो तत्थ संताइं भत्तिए सया णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

●

पंचमहा गुरु भक्तिः

मणुयणाइंदसुरधरियछत्तत्तया,
पंचकल्लाणसोक्खावलीपत्तया।
दंसणं णाणज्झाणं अणंतं बलं,
ते जिणा दिंतु अम्हं वरं मंगलं।।१।।
जेहिं झाणग्गिबाणेहिं अइथद्दयं,
जम्मजरमरणणयरत्तयं दड्ढयं।
जेहिं पत्तं सिवं सासयं ठाणयं,
ते महं दिंतु सिद्धा वरं णाणयं।।२।।

पंचहाचार पंचग्गिसंसाहया,
बारसंगाइंसुयजलहि अवगाहया।
मोक्खलच्छीमहंती महंते सया,
सुरिणो दिंतु मोक्खं गयासंगया।।३।।
घोर संसार भीमाडवीकाणणे,
तिक्खवियरालणहपावपंचाणणे।
णट्ठमग्गाण जीवाण पहदेसया,
वंदिमो ते उवज्झाय अम्हे सया।।४।।
उग्गतवचरणकरणेंहि खीणं गया
धम्मवरझाणसुक्केझाणं गया।
णिब्भरं तवसिरीए समालिंगया,
साहवो ते महं मोक्खपहमग्गया।।५।।

एण थोत्तेण जो पंचगुरुवंदये,
गुरुयसंसारघणवेल्लि सो छिंदये।
लहद सो सिद्धिसोक्खाइं बहुमाणणं,
कुणइ कम्मिंघणंपुंजपज्जालणं।।६।।

अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहू पंच परमेट्ठि।
एदे पंच णमोयारा भवे भवे मम सुहंदिंतु।।७।।

इच्छामि भंते! पंचमहागुरुभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं अट्ठमहापाडिहेरसंजुत्ताणं अरहंताणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं, उड्ढ लोयमत्थयम्मि पइट्ठियाणं सिद्धाणं अट्ठपवयणमाउसंजुत्ताणं आयरियाणं, आयारादिसुद- णाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं, सया णिच्चकालं, अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्तिं होदु मज्झं।

●

श्री प्राकृत निर्वाण भक्तिः

अट्ठवयम्मि उसहो, चंपाए वासुपुज्ज जिणणाहो।
उज्जंते णेमिजिणो, पावाए णिव्वुदो महावीरो।।१।।
वीसं तु जिणवरिंदा, अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।२।।
सत्तेय य बलभद्दा, जदुवणरिंदाण अट्ठकोडीओ।
गजपंथे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं।।३।।

वरदत्तो य वरंगो, सायरदत्तो य तारवरणयरे।
आहुट्ठयकोडीओ, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।४।।
णेमिस्सामि पज्जुण्णो, संबुकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
बाहत्तरकोडीओ उज्जन्ते सत्तसया सिद्धा।।५।।
रामसुआ विण्णि जणा, लाडणरिंदाण पंचकोडीओ।
पावागिरिवरसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।६।।
पंडुसुआतिण्णि जणा, लाडणरिंदाण अट्ठकोडीओ।
संत्तुजयगिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।७।।
रामहणूसुग्गीवो, गवयगवक्खो य णीलमहणीलो।
णवणवदी कोडोओ तुंगीगिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।८।।
णगाणंगकुमारा विक्खा पंचद्धकोडि- रिसि सहिया।
सुवण्ण गिरि मत्थयत्थे, णिव्वाण गया तमो तेसिं।।९।।
दहमुहरायस्स सुआ, कोडी पंचद्धमुणिवरा सहिया।
रेवाउहयतडग्गे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१०।।
रेवाणइए तीरे, पच्छिमभायम्मि सिद्धवरकूटे।
दो चक्की दहकप्पे, आहुट्ठयकोडि णिव्वुदे वंदे।।११।।
वडवाणीवरणयरे, दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे।
इंदजियकुंभकण्णो, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१२।।
पावागिरिवरसिहरे, सुवण्णभद्दाइ मुणिवरा चउरो।
चेलणाणईतडग्गे, णिव्वाणगया णमो तेंसि।।१३।।
फलहोडीवरगामे, पच्छिमभायम्मि दोणगिरिसहिरे।
गुरुदत्ताइमुणिंदा, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१४।।

णायकुमार मुणिंदो, वालिमहावालि चेव अज्झेया।
अट्ठावयगिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१५।।
अच्चलपुरवरणयरे, ईसाणभाए मेंढगिरिसिहरे।
आहुट्ठयकोडीओ, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१६।।
वंसत्थलवरणियडे, पच्छिमभायम्मि कुंथुगिरिसिहरे।
कुलदेसभूषणमुणी, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१७।।
जसहररायस्स सुआ, पंचसया कलिंगदेसम्मि।
कोडिसिलाएकोडिमुणी, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१८।।
पासस्स समवसरणे, सहिया वरदत्तमुणिवरा पंच।
रिस्सिंदे गिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१९।।
जे जिणु जित्थु तत्था, जे दु गया णिव्वुदिं परमं।
ते वन्दामिय णिच्चं, तियरणसुद्धो णमस्सामि।।२०।।
सेसाणं तु रिसीणं, णिव्वाणं जम्मि जम्मि ठाणम्मि।
तेहं वन्दे सव्वे, दुक्खक्खयकारणट्ठाए।।२१।।
पासं तह अहिणंदण, णायद्दहि मंगलाउरे वन्दे।
अस्सारम्भे पट्टणे, मुणिसुव्वओ तहेव वन्दामि।।२२।।
बाहुबलि तह वंदमि, पोदणपुरहत्थिणापुरे वंदे।
संति कुंथुव अरिहो, वाराणसीए सुपास पासं च।।२३।।
महुराये अहिछित्ते, वीरं पासं तदेव वन्दामि।
जंबुमुणिंदो वन्दे, णिव्वुइपत्तोवि जंबुवणगहणे।।२४।।
पंचकल्लाणठाणइ, जाणवि संजादमच्चलोयम्मि।
मणवयणकायसुद्धी, सव्वे सिरसा णमंसामि।।२५।।

अग्गलदेवं वन्दमि, वरणयरे णिवणकुंडली वन्दे।
पासं सिरिपुरि वन्दमि, लोहागिरिसंखदीवम्मि।।२६।।
गोमटदेवं वन्दमि, पंचसयं धणुहदेउच्चं तं।
देवा कुणंति वुट्ठी, केसरकुसुमाण तस्स उवरम्मि।।२७।।

णिव्वाणठाण जाणिवि, अइसयठाणाणि अइसये सहिया।
संजाद मिच्चलोए, सव्वे सिरसा णमंसामि।।२८।।
जो जेण पढइ तियालं, णिव्वुइकंडंपि भावसुद्धीए।
भुंजदि णरसुरसुक्खं, पच्छा सो लहइ णिव्वाणं।।२९।।

इच्छामि, भंते! परिणिव्वाणभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं। इमम्मि अवसप्पिणीये चउत्थसमयस्य पच्छिमे भाय, आउड्ढमासहीणे, वासचउक्कम्मि, सेसकम्मि, पावाए, णयरीए, कत्तियमासस्स किण्हचदुदसिए, रत्तीए सादीए, णक्खत्ते पच्चूसे, भयवदो, महदिमहावीरो, वड्ढमाणो सिद्धिं गदो तिसु विलोएसु, भवणवासियवाणविन्तर– जोइसियकप्पवासिय त्ति चदुव्विहा देवा सपरिवारा, दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण अखखेण, दिव्वेण पुफ्फेण, दिव्वेण दीवेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, सया णिच्चकालं, अंच्चंति, पूजंति, वंदंति, णमंसंति, परिणिव्वाण महाकल्लाणपुज्जं करेंति, अहमवि इह सन्तो तत्थ संताइं भत्तिए सया णिच्चकालं, अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्तिं होउ मज्झं।

•

श्री शान्ति भक्ति

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्पादद्वयं ते प्रजाः।
हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः।।
अत्यंत स्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्ण भूमंडलो।
ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः।।१।।
क्रुद्धाशीर्विषदष्ट दुर्जयविष ज्वालावलीविक्रमो।
विद्याभेषजमंत्रतोयहवनैर्याति प्रशांतिं यथा।।
तद्वत्ते चरणारुणांबुजयुगस्तोत्रोन्मुखानां नृणाम्।
विघ्नाः कायविनायकाश्च सहसाशाम्यन्त्यहो विस्मयः।।२।।
संतप्तोत्तमकांचनक्षितिधरश्रीस्पर्द्धिगौरद्युतेः।
पुंसां त्वच्चरणप्रणामकरणात्पीड़ा प्रयान्ति क्षयं।।
उद्यद्भास्करविस्फुरत्करशतव्याघातनिष्कासिता।
नानादेहिविलोचन द्युतिहरा शीघ्रं यथा शर्वरी।।३।।
त्रैलोक्येश्वरभंगलब्धविजयादत्यंन्तरौद्रात्मकान्।
नानाजन्मशतांतरेषु पुरतो जीवस्य संसारिणः।।
को वा प्रस्खलतीहकेन विधिना कालोग्रदावानलान्।
न स्याच्चेत्तव पादपद्म युगलस्तुत्यापगावारणम्।।४।।
लोकालोक निरंतर प्रवितत ज्ञानैकमूर्ते विभो।
नानारत्नपिनद्धदंड रुचिर श्वेतात पत्रत्रयः।।
त्वत्पादद्वयपूतगीतरवतः शीघ्रं द्रवन्त्यामयाः।
दर्पाध्मातमृगेन्द्रभीमनिनदाद्वन्या यथा कुंजरा।।५।।

दिव्यस्त्रीनयनाभिरामविपुल श्रीमेरुचूडामणे।
भास्वद्बालदिवाकरद्युतिहर प्राणीष्टभामंडल।।
अव्याबाधमचिन्त्यसारमतुलं त्यक्तोपमं शाश्वतं।
सौख्यं त्वच्चरणारविंदयुगलस्तुत्यैव संप्राप्यते।।६।।
यावन्नोदयते प्रभापरिकरः श्रीभास्करो भासयं।
स्तावद्धारयतीहं पंकजवनं निद्रातिभारश्रमम्।।
यावत्त्वच्चरणद्वयस्य भगवन्नस्यात्प्रसादोदय।
स्तावज्जीवनिकाय एष वहति प्रायेण पापं महत्।।७।।
शान्तिं शान्तिजिनेन्द्र शान्तमनसस्त्वत्पादपद्माश्रयात्।
संप्राप्ताः पृथिवीतलेषुबहवः शान्त्यर्थिनः प्राणिनः।।
कारुण्यान्मम भाक्तिकस्य च विभोदृष्टिं प्रसन्नां कुरु।
त्वत्पादद्वयदैवतस्य गदतः शान्त्यष्टकं भक्तितः।।८।।
शान्तिजिनं शशिनिर्मलवक्त्रं शीलगुणव्रतसंयमपात्रम्।
अष्टशतार्चितलक्षणगात्रं नौमि जिनोत्तममंबुजनेत्रम्।।९।।
पंचममीप्सित चक्रधराणां पूजितमिन्द्रनरेन्द्रगणैश्च।
शान्तिकरंगणशान्तिमभीप्सुः षोडशतीर्थकरंप्रणमामि।।१०।।
दिव्यतरु सुरपुष्पवृष्टिः, दुंन्दुभिरासनयोजनघोषौ।
आतपवारणचामरयुग्मे यस्य विभाति च मंडलतेजः।।११।।
तं जगदर्चितशान्तिजिनेन्द्रं शान्तिककरं शिरसा प्रणमामि।
सर्वगणाय तु यच्छतु शान्तिं मह्यमरं पठते परमां च।।१२।।

येऽभ्यर्चिता मुकुटकुंडलहाररत्नैः,
शक्रादिभिः सुरगणैः स्तुतपादपद्माः।

ते मे जिना: प्रवरवंशजगत्प्रदीपा:,
तीर्थंकरा: सततशान्तिकरा भवंतु ।।१३।।

संपूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ: करोतु शान्तिं भगवान्जिनेन्द्र ।।१४।।
क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपाल: ।
काले काले च सम्यक् वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।।
दुर्भिक्षं चौरमारी: क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके ।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ।।१५।।

शन्ति: शिरोधृतजिनेश्वर शासनानां
शान्तिर्निरन्तरतपोऽभव भावितानाम् ।
शान्ति: कषायजयजृंभितवैभवानां
शान्ति: स्वभावमहिमानमुपागतानाम् ।।१६।।

जीवंतु संयमसुधारसपानतृप्ता ।
नंदंतु शुद्धसहसोदयसुप्रसन्ना: ।।
सिद्धयंतु सिद्धिसुखसंगकृताभियोगा: ।
तीव्रं तपंतु जगतां त्रितयेऽर्हदाज्ञा: ।।१७।।
तद्द्रव्यमव्ययमुदेतु शुभ: स देश:
संतन्यतां प्रतपतां सततं स काल: ।
भाव: स नन्दतु सदा यदनुग्रहेण
रत्नत्रयं प्रतपीतह मुमुक्षवर्गे ।।१८।।

शान्ति: शंतनुतां समस्तजगत:, संगच्छतां धार्मिकै: ।
श्रेय: श्री: परिवर्धता नवधुरा धुर्यो धारित्रीपति: ।।

सद्विद्यारसमुद्गिरंतु कवयो नामाप्यघस्यास्तु मां।
प्रार्थ्यं वा कियदेक एव शिवकृद्धर्मो जयत्वर्हताम्।।१९।।
श्रीमत्पंचम सार्वभौम पदवीं प्रद्युम्नरूपश्रीयं।
प्राप्त षोडश तीर्थकृत्वमखिलं, त्रैलोक्य पूजास्पदं।।
यस्तापत्रय शांतित: स्वयमित: शांतिं प्रशांतात्मनां।
शांतिं पच्छति तं नमामि परमं शांतिं जिनं शांतये।।२०।।
प्रध्वस्तघातिकर्माण: केवलज्ञानभास्करा:।
कुर्वन्तु जगतां शान्तिं वृषभाद्या जिनेश्वरा:।।२१।।

इच्छामि भंते! शान्तिभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउंपंच महाकल्लाणसंपण्णाणं, अट्ठमहा पाडिहेर सहियाणं चउतीसातिसय विसेससंजुत्ताणं, बत्तीसदेविंद मणि मउड--मत्थयमहियाणं बलदेव वासुदेव चक्क हर रिसि मुणि जदि– अणगारोवगूढाणं, थुइसयसहस्सणिलयाणं, उसहाइवीर पच्छिममंगल महा– पुरिसाणं सया णिच्चकालं, अंचेमि, पूजेमि, वंदामि णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

अथार्हत्पूजारंभक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तव
समेतं श्रीमत्सामाधि भक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्।

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

●

श्री समाधि भक्तिः

स्वात्माभिमुखसंवित्तिलक्षणम्, श्रुतचक्षुषा।
पश्यन्पश्यामि देव त्वां, केवलज्ञानचक्षुषा।।१।।

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुति, संगतिः सर्वदार्यैः।
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे।
संपद्यंतां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः।।२।।

जैन मार्ग रुचिरन्यमार्ग निर्वेगता, जिनगुण स्तुतौमतिः।
निष्कलंक विमलोक्ति भावनाः, संभवन्तुममजन्मजन्मनि।।३।।

गुरुमूले यतिनिचिते चैत्यसिद्धान्तवार्धिसद्घोषे।
मम भवतु जन्मजन्मनि, सन्यसनसमन्वितं मरणम्।।४।।

जन्म जन्म कृतं पापं जन्म कोटि समार्जितम्।
जन्म मृत्यु जरामूलं हन्यते जिन वंदनात्।।५।।

आबाल्याज्जिनदेवदेव भवतः, श्रीपादयोः सेवया।
सेवासक्तविनेयकल्पलतया, कालोऽद्य यावद्गतः।।
त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना, प्राणप्रयाणक्षणे।
त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने, कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम।।६।।

तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वयेलीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः।।७।।

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं, दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः।।८।।

पंच अरिंजयणामे, पंच य मदिसायरे जिणे वन्दे।
पंच जसोयरणामे, पंच य सीमंदरे वंदे।।९।।
रयणत्तयं च वन्दे, चउवीसजिणे च सव्वदा वंदे।
पंचगुरूणां वंदे, चारणचरणं सदा वंदे।।१०।।
अर्हमित्यक्षरं ब्रह्मवाचकं परमेष्ठिनः।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं, सर्वतः प्रणिदध्महे।।११।।
कर्माष्टकविनिर्मुक्तं, मोक्षलक्ष्मीनिकेतनम्।
सम्यक्त्वादिगुणोपेतं, सिद्धचक्रं नमाम्यहम्।।१२।।
आकृष्टिं सुरसंपदा विदधते, मुक्तिश्रियो वश्यतां।
उच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां, विद्वेषमात्मैनसाम्।।
स्तंभं दुर्गमनं प्रति प्रयततो, मोहस्य सम्मोहनम्।
पायात्पंचनमस्क्रियाक्षरमयी, साराधना देवता।।१३।।
अनंतानंत संसार- संततिच्छेद कारणम्।
जिनराजपदाम्भोज, स्मरणं शरणं मम्।।१४।।
अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम्।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर।।१५।।
नहि त्राता नहि त्राता नहि त्राता जगत्त्रये।
वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति।।१६।।
जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने।
सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भवे भवे।।१७।।
याचेऽहं याचेऽहं जिन तव चरणारविन्दयोर्भक्तिम्।
याचेऽहं याचेऽहं पुनरपि तामेव तामेव।।१८।।

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनीभूतपन्नगाः ।
विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे । ।१९ । ।

इच्छामि भंते! समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं । रयणत्तय सरूव परमप्पज्झाणलक्खणं समाहिभत्तीये सया णिच्चकालं, अंचेमि, पूजेमि, वंदामि णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

●

नंदीश्वर भक्तिः

त्रिदशपति मुकुटतटगतमणिगण,
करनिकरसलिल धारा धौत ।
क्रमकमल युगलजिनपतिरुचिर,
प्रतिबिम्बविलय विरहितनिलयान् । ।१ । ।
निलयानहमिह महसांसहसा
प्रणिपतन पूर्वमवनौम्यवनौ ।
त्रय्यां त्रय्यां शुध्यानिसर्ग
शुद्धान्विशुद्धये घनरजसाम् । ।२ । ।
भावनसुर भवनेषु द्वसप्ततिशत सहस्र संख्याभ्यधिकाः ।
कोट्यः सप्त प्रोक्ता भवनानां भूरितेजसां भुवनानाम् । ।३ । ।
त्रिभुवनभूतविभूनां संख्यातीतान्यसंख्य गुणयुक्तानि ।
त्रिभुवनजननयनमनः प्रियाणिभवनानिभोमविबुधनुतानि । ।४ । ।

यावन्ति सन्ति कान्तज्योतिर्लोकाधिदेवताभिनुतानि ।
कल्पेऽनेकविकल्पे कल्पातीतेऽहमिंद्र कल्पानल्पे । ।५ । ।
विंशति रथत्रिसहिता सहस्रगुणिता च सप्तनवतिः प्रोक्ता ।
चतुरधिकाशीतिरतः पंचकशून्येन विनिहतान्यनघानि । ।६ । ।
अष्टा पंचाशदतश्चतुः शतानीह मानुषे क्षेत्रे ।
लोकालोकविभाग प्रलोकनालोक संयुजां जयभाजाम् । ।७ । ।
नवनव चतुः शतानि च सप्त च नवतिः सहस्र गुणिताषट्च ।
पंचाशत्पंचवियत्प्रहताः पुनरत्र कोट्योष्टौ प्रोक्ताः । ।८ । ।
एतावन्त्येव सतामकृत्रिमाण्यथ जिनेशिनां भवनानि ।
भुवनत्रितयेत्रिभुवन सुरसमिति समर्च्यमानसत्प्रतिमानि । ।९ । ।
वक्षार रुचककुंडलरौप्यनगोत्तर कुलेषु कारनगेषु ।
कुरुषु च जिन भवनानित्रिशतान्यधिकानि तानि षड् विंशत्या । ।१० । ।
नदीश्वर सद्द्वीपे नंदीश्वर जलधि परिवृतेधृतशोभे ।
चंद्रकरनिकर सन्निभरुंद्रयशोवितत दिग्महीमण्डलके । ।११ । ।
तत्रत्यांजन दधिमुखरतिकरपुरुनगवराख्य पर्वतमुख्याः ।
प्रतिदिशमेषामुपरित्रयोदशेन्द्रा र्चितानि जिनभवनानि । ।१२ । ।
आषाढकार्तिकाख्येफाल्गुण मासे च शुक्लपक्षेऽष्टम्याः ।
आरम्भ्याष्टदिनेषु च सौधर्मप्रमुखविबुध पतयो भक्त्या । ।१३ । ।
तेषुमहामहमुचितं प्रचुराक्षत गंधपुष्प धूपैर्दिव्यैः ।
सर्वज्ञ प्रतिमानामप्रतिमानां प्रकुर्वते सर्वहितं । ।१४ । ।
भेदेन वर्णना का सौधर्मः स्नपनकर्तृतामापन्नः ।
परिचारक भावमिताः शेषेन्द्राऽरुन्द्रचन्द्रनिर्मलयशसः । ।१५ । ।
मंगलपात्राणि पुनस्तद् देव्योविभ्रतिस्मशुभ्रगुणाढ्याः ।
अप्सरसो नर्तक्य शेषसुरास्तत्र लोकनाव्यग्रधियः । ।१६ । ।

वाचस्पति वाचामपि गोचरतां संव्यतीत्य यत् क्रममाणम् ।
विबुधपतिर्विहितविभवं मानुष मात्रस्य कस्य शक्तिः स्तोतुम् ।।१७।।
निष्ठापित जिन पूजाश्चूर्ण स्नपनेन दृष्टि विकृतविशेषाः ।
सुरपतयो नंदीश्वर जिनभवनानि प्रदक्षिणी कृत्यपुनः ।।१८।।
पंचसु मंदरगिरिषुश्रीभद्रशाल नंदनसौमनसम् ।
पांडुकवनमितितेषु प्रत्येकं जिनगृहाणि चत्वार्येव ।।१९।।
तान्यथपरीत्य तानि च नमसित्वा कृतसुपूजनास्तत्रापि ।
स्वास्पदमीयुः सर्वेस्वास्पदमूल्यं स्वचेष्टया संगृह्य ।।२०।।
सह तोरणसद्वेदी परीतवनयाग वृक्ष मानस्तंभ ।
ध्वज पंक्तिदशकगोपुर चतुष्टय त्रितय शालमंडप वर्यैः ।।२१।।
अभिषेक प्रेक्षणिका क्रीडनसंगीत नाटका लोकगृहैः ।
शिल्पि विकल्पित कल्पन संकल्पातीत कल्पनैः समुपेतैः ।।२२।।
वापीसत्पुष्करिणी सुदीर्घि काद्यम्बु संसृतै समुपेतैः ।
विकसित जलरुह कुसुमैर्नभस्यमानैः शशिग्रहर्क्षैः शरदि ।।२३।।
भृंगाराब्दककलशाद्युपकरणै रष्टशतक परिसंख्यानैः ।
प्रत्येकं चित्रगुणैः कृत झण झण निनद विततघंटाजालैः ।।२४।।
प्रभ्राजंते नित्यं हिरण्मयानीश्वरेशिनां भवनानि ।
गंधकुटी गत मृगपतिविष्टर रुचिराणि विविधविभव युतानि ।।२५।।
येषु जिनानां प्रतिमाः पंचशतशरासनोच्छ्रिता सत्प्रतिमाः ।
मणिकनकरजत विकृता दिनकर कोटिप्रभाधिकप्रभदेहाः ।।२६।।
तानि सदावंदेहं भानुप्रतिमानि यानि कानि च तानि ।
यशसां महसां प्रतिदिशमतिशयशोभाविभांजिपापाविभंजि ।।२७।।
सप्तत्यधिकशतप्रिय धर्मक्षेत्रगततीर्थंकरवरवृषभान् ।
भूतभविष्यत्संप्रतिकालभवान् भवविहानये विनतोऽस्मि ।।२८।।

अस्या मवसर्पिण्यां वृषभजिनः प्रथमतीर्थकर्ताभर्ता ।
अष्टापदगिरि मस्तकगतस्थितो मुक्ति माप पापोन्मुक्तः ।।२९।।
श्री वासुपूज्यभगवान् शिवासुपूजासु पूजितस्त्रिदशानां ।
चम्पायां दुरित हरः परमपदं प्रापदा पदामन्तगतः ।।३०।।
मुदित मतिबलमुरारि प्रपूजितो जितकषायरिपुरथ जातः ।
वृहदूर्जयन्तशिखरेशिखामणि स्त्रिभुवनस्यनेमिर्भगवान् ।।३१।।
पावापुरवरसरसां मध्यगतः सिद्धिवृद्धितपसां महसां ।
वीरो नीरद नादो भूरिगुणश्चारुशोभमास्पदमगमत् ।।३२।।
सम्मदकरिवनपरिवृत्त सम्मेद गिरीन्द्रमस्तके विस्तीर्णे ।
शेषा ये तीर्थकराः कीर्तिभृतः प्रार्थितार्थसिद्धिमवापन् ।।३३।।
शेषाणां केवलिणां अशेषमतवेदि गणभृतां साधूनां ।
गिरतलविवरदरीसरिदुरुवन तरु विटपिजलधिदहनशिखासु ।।३४।।
मोक्षगतिहेतुभूत स्थानानि सुरेन्द्ररुन्द्रभक्तिनुतानि ।
मंगलभूतान्येतान्यंगी कृतधर्मकर्मणामस्माकम् ।।३५।।
जिनपतयस्तत्प्रतिमास्तदालयास्तन्निषद्यकास्थानानि ।
ते ताश्च ते च तानि च भवन्तु भव घातहेतवोभव्यानां ।।३६।।
संध्यासुतिसृषु नित्यंपठेद्यदिस्तोत्रमेतदुत्तमयशसां ।
सर्वज्ञानां सार्वलघु लभतेश्रुतधरेडितं पदममितम् ।।३७।।
नित्यं निः स्वेदत्वं निर्मलता क्षीर गौर रुधिरत्वं च ।
स्वाद्याकृति संहनने सौरुप्यं सौरभं च सौलक्ष्यम् ।।३८।।
अप्रमितवीर्यता च प्रियहित वादित्वमंयदमित गुणस्य ।
प्रथिता दशसंख्याताः स्वतिशयधर्माः स्वयंभुवो देहस्य ।।३९।।
गव्यूति शत चतुष्टय सुभिक्षतागगनगमनमप्राणिवधः ।
भुक्त्युपसर्गाभावश्चतुरास्य त्वं च सर्व विद्येश्वरता ।।४०।।

अच्छायत्वमपक्ष्मस्पंदश्च समप्रसिद्धनख केशत्वं।
स्वतिशयगुणा भगवतो घातिक्षयजा भवन्ति तेऽपि दशैव।।४१।।
सर्वार्धमागधीयाभाषा मैत्री च सर्व जनता विषया।
सर्वर्तुफल स्तवक प्रवाल कुसुमोप शोभित तरु परिणामा।।४२।।
आदर्शतलप्रतिमा रत्नमयी जायते मही च मनोज्ञा।
विहरणमन्वे त्यनिलः परमानंदश्च भवति सर्व जनस्य।।४३।।
मरुतोऽपि सुरभिगंधव्यामिश्रा योजनान्तरं भूभागं।
व्युपशमितधूलिकंटक तृणकीटकशर्करोपलं प्रकुर्वन्ति।।४४।।
तदनु स्तनित कुमारा विद्युन्माला विलास हासविभूषाः।
प्रकिरन्ति सुरभिगंधिं गंधोदक वृष्टिमाज्ञयात्रिदशपतेः।।४५।।
वरपद्मरागकेशरमतुलसुखस्पर्श हेममय दलनिचयम्।
पादन्यासे पद्मं सप्तपुरः पृष्ठतश्च सप्तभवन्ति।।४६।।
फलभार नम्रशालिब्रीह्यादि समस्त सस्य धृतरोमांचा।
परिहृषितेव च भूमिस्त्रिभुवन नाथस्य वैभवं पश्यन्ती।।४७।।
शरदुदयविमल सलिलं सर इव गगनं विराजते विगतमलम्।
जहति च दिशस्तिमिरिकां विगतरजप्रभृतिजिह्म ताभावंसद्यः।।४८।।
एतैतेति त्वरितं ज्योतिर्व्यन्तर दिवौक साममृतभुजः।
कुलिशभृदाज्ञापनया कुर्वन्त्यन्ये समन्ततोव्याह्वानम्।।४९।।
स्फुरदरसहस्ररुचिरं विमलमहारत्नकिरणनिकरपरीतम्।
प्रहसितकिरण सहस्रद्युतिमण्डलमग्रगामि धर्मसुचक्रम्।।५०।।
इत्यष्टमंगलं च स्वादर्शप्रभृति भक्तिरागपरीतैः।
उपकल्प्यन्तेत्रिदशै रेतेऽपि निरुपमातिविशेषाः।।५१।।
वैडूर्यरुचिर विटपप्रवाल मृदुपल्लवोप शोभितशाखः।
श्रीमानशोकवृक्षो वरमरकतपत्रगहनबहलच्छायः।।५२।।

मंदारकुंद कुवलय नीलोत्पलकमलमालती बकुलाद्यैः।
समदभ्रमरपरीतैर्व्यामिश्रा पतति कुसुम वृष्टि र्नभसः।।५३।।
कटककटिसूत्रकुंडल केयूरप्रभृतिभूषितांगौ स्वांगौ।
यक्षौ कमलदलाक्षौ परिनिक्षिपतः सलिलचामरयुगलम्।।५४।।
आकस्मिकमिव युगपद्दिवस करसहस्रमपगतव्यवधानम्।
भामंडलमविभावितरात्रिं दिवभेद मतितरामाभाति।।५५।।
प्रबलपवनाभिघातप्रक्षुभितसमुद्रघोषमन्द्रध्वानम्।
दंध्वन्यते सुवीणावंशादिसुवाद्य दुन्दुभिस्तालसमम्।।५६।।
त्रिभुवनपतितालांछनमिंदुत्रयतुल्यमतुलमुक्ताजालम्।
छत्रत्रयं च सुबृहद्वैडूर्यविक्लृप्तदंडमधिकमनोज्ञम्।।५७।।
ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्रहृदयहारिगभीरः।
ससलिलजलधरपटलध्वनितमिव प्रविततान्तराशावलयम्।।५८।।
स्फुरितांशुरत्नदीधिति परिविच्छुरितामरेन्द्र चापच्छायम्।
ध्रियतेमृगेंद्रवर्यैः, स्फटिकशिला घटितसिंहविष्टरमतुलम्।।५९।।
यस्येह चतुस्त्रिंशत्प्रवरगुणा प्रातिहार्य लक्ष्म्यश्चाष्टौ।
तस्मै नमो भगवते त्रिभुवन परमेश्वरार्हते गुणमहते।।६०।।

इच्छामि भंते! णंदीसरभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं णंदीसरदीवम्मि, चउदिसि विदिसासु अंजण दधिमुहरदिकर पुरुणगवरेसु जाणि जिण चेइयाणि– ताणि सव्वाणि तिसुवि लोएसुभवण वासिय वाण विंतरजोई सिय कप्प वासि यत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेहि गंधेहि, दिव्वेहि पुप्फेहि दिव्वेहि धूव्वेहि, दिव्वेहि चुण्णेहि दिव्वेहि वासेहि, दिव्वेहि ण्हाणेहि आसाढ़कत्तियफागुणमासाणं अट्ठमिमाइं काऊण जाव पुण्णिमंति णिच्चकालं अंचंति पूजंति वंदंति णमंसंति। णंदीसर

महाकल्लाणं करंति अहमवि इह संतो तत्थ संताइं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि, वंदामि, णमस्सामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमणं समाहि मरणं जिण गुणसंपत्ति होउ मज्झं।

इति नंदीश्वर भक्तिः

•

सर्व दोष प्रायश्चितम्

ये ये पंचमहाव्रतेषु समितिः स्थानेषु गुप्तित्रये।
ये षड् जीवनि कायेकेषु वहुधा पंचास्तिकायेषु च।।
दोषा नव पदार्थकेषु बहुधाप्रमादास्य मे।
तान् हंतुं प्रजेय जिनेश विधिना त्वत्पद्माह्वयम्।।१।

ॐ ह्रीं अर्हं असि आउसा त्रायस्त्रिंशदत्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः।।१।।

ॐ ह्रीं अर्हं अहिंसामहाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः।।२।।

ॐ ह्रीं अर्हं सत्यमहाव्रत स्यात्यासादना त्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः।।३।।

ॐ ह्रीं अर्हं अचौर्यमहाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः।।४।।

ॐ ह्रीं अर्हं ब्रह्मचर्यमहाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः।।५।।

ॐ ह्रीं अर्हं अपरिग्रह महाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।६।।

ॐ ह्रीं अर्हं ईर्यासमितेरत्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।७।।

ॐ ह्रीं अर्हं भाषा समिते रत्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।८।।

ॐ ह्रीं अर्हं एषणा समिति रत्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।९।।

ॐ ह्रीं अर्हं आदाननिक्षेप समितेरत्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।१०।।

ॐ ह्रीं अर्हं उत्सर्ग समिते रत्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।११।।

ॐ ह्रीं अर्हं मनो गुप्ते रत्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।१२।।

ॐ ह्रीं अर्हं वचन गुप्तेरत्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।१३।।

ॐ ह्रीं अर्हं कायगुप्तेरत्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।१४।।

ॐ ह्रीं अर्हं जीवास्तिकायस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।१५।।

ॐ ह्रीं अर्हं पुद्गलास्तिकायस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।१६।।

ॐ ह्रीं अर्हं धर्मास्तिकायस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।१७।।

ॐ ह्रीं अर्हं अधर्मास्तिकाय स्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।१८।।

ॐ ह्रीं अर्हं आकाशस्तिकायस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।१९।।

ॐ ह्रीं अर्हं पृथ्वीकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।२०।।

ॐ ह्रीं अर्हं अप्कायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।२१।।

ॐ ह्रीं अर्हं तेजःकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।२२।।

ॐ ह्रीं अर्हं वायुकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।२३।।

ॐ ह्रीं अर्हं वनस्पतिकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।२४।।

ॐ ह्रीं अर्हं त्रसकायकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।२५।।

ॐ ह्रीं अर्हं जीवपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।२६।।

ॐ ह्रीं अर्हं अजीवपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।२७।।

ॐ ह्रीं अर्हं आस्रवपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।२८।।

ॐ ह्रीं अर्हं बंधपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।२९।।

ॐ ह्रीं अर्हं संवरपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।३०।।

ॐ ह्रीं अर्हं निर्जरापदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।३१।।

ॐ ह्रीं अर्हं मोक्षपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।३२।।

ॐ ह्रीं अर्हं पुण्यपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।३३।।

ॐ ह्रीं अर्हं पापपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ।।३४।।

ॐ ह्रीं अर्हं सम्यग्दर्शनाय नमः ।।३५।।

ॐ ह्रीं अर्हं सम्यग्ज्ञानाय नमः ।।३६।।

ॐ ह्रीं अर्हं सम्यकचारित्राय नमः ।।३७।।

इति सर्व दोषप्रायश्चितम् ।

●

रात्रिक (दैवसिक) प्रतिक्रमण

प्रतिज्ञा सूत्र

जीवे प्रमाद-जनिताः प्रचुराः प्रदोषाः ।
यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति ।
तस्मात्-तदर्थ-ममलं मुनि -बोधनार्थं,
वक्ष्ये विचित्र-भव-कर्म-विशोधनार्थम् ।।१।।

उद्देश्य सूत्र

पापिष्ठेन दुरात्मना जड़धिया माया विना- लोभिना।
रागद्वेष-मलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्-निर्मितम्।
त्रैलोक्याधिपते जिनेन्द्र ! भवत: श्री-पाद मूलेऽधुना।
निन्दा-पूर्वमहं जहामि सततं वर्वर्तिषु: सत्पथे।।२।।

संकल्प सूत्र

खम्मामि सव्व-जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व-भूदेसु वैरं मज्झं ण केण वि।।३।।

राग परित्याग सूत्र

राग-बन्ध-पदोसं च हरिसं दीण- भावयं।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रदि-मरदिं च वोस्सरे।।४।।

पश्चाताप सूत्र

हा ! दुट्ठ- कयं हा! दुट्ठ-चिंतियं भासियं च हा् दुट्ठं।
अंतो -अंतो डज्झमि पच्छुत्तावेण वेदंतो।।५।।
दव्वे खेत्ते काले भावे च कदावराह- सोहणयं।
णिंदण-गरहण-जुत्तो मण-वच-कायेण पडिक्कमणं।।६।।

ए-इन्दिया, बे इन्दिया, ते-इन्दिया, चतुरिंदिया, पंचिंदिया, पुढवि-काइया, आउ-काइया, तेउ-काइया, वाउ- काइया, वणप्फदि-काइया, तस- काइया, एदेसिं उद्दावणं, परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

वद-समि दिंदिय रोधो, लोचोआवासय- मचेल-मण्हाणं।
खिदि-सयण-मदंतवणं, ठिदि-भोयण-मेयभत्तं च।।१।।
एदे खलु मूल-गुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमाद-कदादो, अइचारादो णियत्तोऽहं।।२।।

छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं

पंचमहाव्रत-पंचसमिति-पंचेन्द्रिय-रोध- लोचषडावश्यक-क्रियादयो अष्टाविंशति-मूलगुणाः, उत्तक्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्-त्यागाकिंचन्य- ब्रह्मचर्याणि, दश-लाक्षणिको धर्मः, अष्टादश-शील-सहस्राणि, चतुरशीति-लक्षगुणाः, त्रयोदश-विधं चारित्रं, द्वादश-विधं तपश्चेति सकलं सम्पूर्णं अर्हत्-सिद्धाचार्योपाध्याय-सर्व साधु- साक्षिकं, सम्यक्त्व-पूर्वकं, दृढ़व्रतं सुव्रतं समारूढं ते मे भवतु।

अथ सर्वातिचार-विशुद्ध्यर्थं रात्रिक (दैवसिक) प्रतिक्रमण-क्रियायां, कृत-दोष निराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण, सकल कर्म क्षयार्थं भाव पूजा-वंदना-स्तव-समेतं आलोचना सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।

(यहां नमस्कार कर तीन आवर्त और एक शिरोनति करके निम्न-लिखित सामायिक दण्डक पढ़े।)

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

चत्तारि मंगलं-अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा-अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो

धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धेसरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

अड्ढाइज्ज-दीव-दो-समुद्देसु, पण्णारस-कम्म-भूमिसु, जाव-अरहंताणं, भयवंताण, आदियराण तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाणं, केवलियाणं सिद्धाणं, बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं, पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मणायगाणं धम्म-वर-चाउरंग-चक्कवट्टीणं, देवाहि-देवाणं, णाणाणं दंसणाणं, चरित्ताणं, सदा करेमि, किरियम्मं। करेमि भन्ते! सामायियं सव्व-सावज्ज जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा-वचसा, काएण, ण करेमि, ण कारेमि, ण अण्णं करंतं पि समणुमणामि। तस्स भन्ते ! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणं, जाव-अरहंताणं, भयवंताणं पज्जुवासं करेमि, तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(यहां तीन आवर्त एक शिरोनति करके २७ उच्छ्वास पूर्वक कायोत्सर्ग करें। पश्चात् नमस्कार कर तीन आवर्त और एक शिरोनति कर चतुर्विंशति स्तव पढ़ें)

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंत जिणे।
णर-पवर-लोए महिए विहुय-रय-मले महप्पण्णे।।१।।

लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउबीसं चेव केवलिणो।।२।।

उसह मजियं च वन्दे संभव-मभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वन्दे।।३।।
सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमल-मणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि।।४।।
कुंथुं च जिण वरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदाम्यरिट्ठ-णेमिं तह पासं वड्ढमाणं च।।५।।
एवं मए अभित्थुआ विहुय-रय-मला पहीण-जर-मरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु।।६।।
कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्ग-णाण-लाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं।।७।।
चंदेहिं णिम्मल-यरा, आइच्चेहिं अहिय-पया-संता।
सायर-मिव गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।८।।

(यहां तीन आवर्त और एक शिरोनति करके निम्न लिखित निषिद्धिका दण्डक पढ़ें।)

मुख्य मंगल

श्रीमते वर्धमानाय नमो नमित-विद्-विषे।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते।।१।।

सिद्ध भक्ति

तव सिद्धे णय-सिद्धे संजम सिद्धे चरित्त-सिद्धे य।
णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि।।२।।

इच्छामि भन्ते! सिद्धभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाण सम्मदंसण सम्मचारित्तजुत्ताणं, अट्ठविह-कम्म-

विप्प-मुक्काणं, अट्ठगुण संपण्णाणं उड्ढलोय-मत्थयम्मि पयट्ठियाणं, तव सिद्धाणं, णय-सिद्धाणं, संजम-सिद्धाणं, चरित्त-सिद्धाणं, अतीदाणागद-वट्टमाण-कालत्तय-सिद्धाणं, सव्व-सिद्धाणं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वन्दामि णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइ-गमणं समाहि मरणं जिन-गुण-सम्पत्ती होउ मज्झं।

आलोचना

इच्छामि भन्ते ! चरित्तायारो तेरस-विहो, परिविहा-विदो, पंच-महव्वदाणि, पंच-समिदीओ तिगुत्तीओ चेदि। तत्थ पढमे महव्वदे, पाणा-दिवादादो वेरमणं से पुढवि-काइया-जीवा-असंखेज्जासंखेज्जा, आउ-काइया- जीवा-असंखेज्जासंखेज्जा, तेउ- काइया-जीवा-असंखेज्जासंखेज्जा, वाउ-काइया-जीवा-असंखेज्जासंखेज्जा, वणप्फदि-काइया-जीवा-अणंताणंता, हरिया, वीआ, अंकुरा, छिण्णा भिण्णा तेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणु-मण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

बे-इन्दिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, कुक्खिकिमि-संख-खुल्लय, वराडय, अक्ख-रिट्ठय-गण्डवाल संबुक्क-सिप्पि, पुलवि-काइया तेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणु-मण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

ते इन्दिया जीवा। असंखेज्जासंखेज्जा, कुन्थुदेहिय-विंछिय-गोभिंद-गोजुव-मक्कुण-पिपीलियाइया तेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणु-मण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

चउरिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, दंसमसय-मक्खि-पयंग-कीड-भमर-महुयर, गोमच्छियाइया, तेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणु-मण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पंचिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, अंडाइया, पोदाइया, जराइया, रसाइया, संसेदिमा, सम्मुच्छिमा, उब्भेदिमा, उववादिमा, अवि-चउरासीदिजोणि-पमुह- सद- सहस्सेसु, तेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणु मण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

प्रतिक्रमण पीठिका दण्डक

गद्य

इच्छामि भन्ते! राईयम्मि (देवसियम्मि) आलोचेउं, पंच-महव्वदाणि तत्थ पढमं महव्वदं पाणा दिवादादो वेरमणं, विदियं महव्वदं मुसावादादो वेरमणं, तिदियं महव्वदं अदत्ता दाणादो वेरमणं, चउत्थं महव्वदं मेहुणादो वेरमणं, पंचमं महव्वदं परिग्गहादो वेरमणं, छट्ठं अणुव्वदं राई-भोयणादो वेरमणं। ईरिया-समिदीए, भासा-समिदीए, एसणा-समिदीए, आदाण-णिक्खेवण-समिदीए, उच्चारपस्सवण खेल सिंहाण-वियडि पइट्ठावणिया समिदीए, मणगुत्तीए, वचि-गुत्तीए काय-गुत्तीए, णाणेसु, दंसणेसु, चरित्तेसु, बावीसाय-परीसहेसु, पणवीसाय-भावणासु, पणवीसाय किरियासु, अट्ठारस-सील-सहस्सेसु, चउरासीदि-गुण सय सहस्सेसु, बारसण्हं संजमाणं, बारसण्हं तवाणं, बारसण्हं अंगाणं, चोदसण्हं पुव्वाणं, दसण्हं मुंडाणं, दसण्हं समण-धम्माणं, दसण्हं धम्मज्झाणाणं, णवण्हं

बंभचेर-गुत्तीणं, णवण्हं णोकसायाणं, सोलसण्हं कसायाणं, अट्ठण्हं कम्माणं, अट्ठण्हं पवयण-माउयाणं, अट्ठण्हं सुद्धीणं, सत्तण्हं भयाणं, सत्तविह संसाराणं, छण्हं जीव णिकायाणं, छण्हं आवासयाणं, पंचण्हं इंदियाणं, पंचण्हं महव्वयाणं, पंचण्हं समिदीणं, पंचण्हं चरित्ताणं, चउण्हं सण्णाणं, चउण्हं पच्चयाणं, चउण्हं उवसग्गाणं, मूलगुणाणं, उत्तरगुणाणं, दिट्ठियाए, पुट्ठियाए, पदोसियाए, परिदावणियाए, से कोहेण वा, माणेण वा, माएण वा, लोहेण वा, रागेण वा, दोसेण वा, मोहेण वा, हस्सेण वा, भएण वा, पदोसेण वा, पमादेण वा, पिम्मेण वा, पिवासेण वा, लज्जेण वा, गारवेण वा, एदेसिं अच्चासणदाय, तिण्हं दण्डाणं, तिण्हं लेस्साणं, तिण्हं गारवाणं, तिण्हं अप्पसत्थ-संकिलेस परिणामाणं, दोण्हं अट्ट-रुद्द संकिलेस-परिणामाणं, मिच्छा-णाण, मिच्छा-दंसण, मिच्छा-चरित्ताणं, मिच्छत्त-पाउग्गं, असंयम-पाउग्गं, कसाय-पाउग्गं, जोग-पाउग्गं, अपाउग्ग- सेवणदाए, पाउग्-गरहणदाए, इत्थ मे जो कोई राइओ (देवसिओ) अदिक्कमो, वदिक्कमो, अइचारो, अणाचारो, आभोगो, अणाभोगो तस्स भन्ते! पडिक्कमामि मए पडिक्कंतं तस्स मे सम्मत्त-मरणं, समाहिमरणं पंडिय-मरणं, वीरिय-मरणं, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहि-लाहो, सुगइ-गमणं, समाहि-मरणं, जिन-गुण -सम्पत्ति होउ मज्झं।

वद-समि-दिंदिय रोधो, लोचोआवासय-मचेल-मण्हाणं।
खिदि-सयण-मदंतवणं, ठिदि-भोयण-मेय-भत्तं च।।१।।
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमाद-कदादो, अइचारादो णियत्तोहं।।२।।

छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं।

अथ सर्वातिचार-विशुद्ध्यर्थं रात्रिक (दैवसिक) प्रतिक्रमण-क्रियायां कृत-दोष-निराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकल-कर्मक्षयार्थं, भाव-पूजा-वन्दना-स्तव समेतं श्री प्रतिक्रमण -भक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।

(ऐसी प्रतिज्ञा करके भूमि स्पर्श करते हुए नमस्कार करे, पश्चात् तीन आवर्त और एक शिरोनति करके निम्न लिखित सामायिक दण्डक पढ़ें।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

चत्तारि मंगलं-अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा-अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धेसरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

अड्ढाइज्ज-दीव-दो-समुद्देसु, पण्णारस-कम्म-भूमिसु, जाव-अरहंताणं, भयवंताण, आदियराण तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाणं, केवलियाणं सिद्धाणं, बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं, पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मणायगाणं धम्म-वर-चाउरंग-चक्कवट्ठीणं, देवाहि-देवाणं, णाणाणं दंसणाणं, चरित्ताणं, सदा करेमि, किरियम्मं। करेमि भन्ते! सामायियं सव्व-सावज्ज जोगं पच्चक्खामि

जावज्जीवं तिविहेण मणसा-वचसा, काएण, ण करेमि, ण कारेमि, ण अण्णं करंतं पि समणुमणामि। तस्स भन्ते ! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणं, जाव-अरहंताणं, भयवंताणं पज्जुवासं करेमि, तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(यहां तीन आर्वत एक शिरोनति करके २७ उच्छ्वास पूर्वक कायोत्सग करें। पश्चात् नमस्कार कर तीन आवर्त और एक शिरोनति कर चतुर्विंशति स्तव पढ़ें)

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंत जिणे।
णर-पवर-लोए महिए विहुय-रय-मले महप्पण्णे।।१।।
लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चौबीसं चेव केवलिणो।।२।।
उसह मजियं च वन्दे संभव-मभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वन्दे।।३।।
सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमल-मणंत भयवं धम्मं संतिं च वंदामि।।४।।
कुंथुं च जिण वरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदाम्यरिट्ठि-णेमिं तह पासं वड्ढमाणं च।।५।।
एवं मए अभित्थुआ विहुय-रय-मला पहीण-जर-मरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु।।६।।
कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्ग-णाण-लाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं।।७।।

चंदेहिं णिम्मल-यरा, आइच्चेहिं अहिय-पया-संता।
सायर-मिव गंभीरा सिद्धि सिद्धिं मम दिसंतु।।८।।

(यहां तीन आवर्त और एक शिरोनति करके निम्न लिखित निषिद्धि का दण्डक पढ़ें।)

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।१।।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।२।।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।३।।

णमो जिणाणं! णमो जिणाणं! णमो जिणाणं! णमो णिस्सिहीए! णमो णिस्सिहीए! णमो निस्सिहीए! णमोत्थु दे! णमोत्थु दे! णमोत्थु दे! अरहंत! सिद्ध! बुद्ध! णीरय! णिम्मल! सम-मण! सुभमण! सुसमत्थ! समजोग! सम भाव! सल्लघट्टाणं सल्लघत्ताण! णिब्भय! णीराय! णिद्दोस! णिम्मोह! णिम्मम णिस्संग, णिस्सल्ल! माण-माय-मोस-मूरण! तवप्पहावण! गुण रयण-सील-सायर! अणंत! अप्पमेय! महदि-महावीर-वड्ढमाण! बुद्धि-रिसिणो! चेदि! णमोत्थु ए! णमोत्थु ए! णमोत्थु ए!

मम मंगलं अरहंता य, सिद्धा य, बुद्धा य, जिणा य, केवलिणो, ओहिणाणिणो, मणपज्जवणाणिणो, चउदस-पुव्वं- गमिणो, सुद-समिदि-समिद्धा य, तवो य, बारह-विहो तवस्सी, गुणा य, गुणवंतो य, महरिसी, तित्थं, तित्थंकरा य, पवयणं, पवयणी य, णाणं, णाणी य, दंसणं, दंसणी य, संजमो, संजदा य, विणीओ,

विणदा य, बंभचेरवासो, बंभचारी य, गुत्तीओ चेव, गुत्ति-मंतो य, मुत्तीओ चेव, मुत्तिमंतो य, समिदीओ चेव, समिदि-मंतो य, सुसमय-परसमय-विदखंतिक्खवगा, खंतिवंतो य, खीण-मोहा य, खीणवंतो य, बोहिय-बुद्धा य, बुद्धिमंतो य, चेइय-रुक्खा-य, चेइयाणि।

उड्ढ-मह-तिरिय-लोए, सिद्धायदणाणि-णमस्सामि, सिद्ध-णिसीहियाओ, अट्ठावय-पव्वये, सम्मेदे, उज्जंते, चंपाए, पावाए, मज्झिमाए, हत्थिवालिय सहाय, जाओ अण्णाओ काओ वि-णिसीहियाओ, जीव-लोयम्मि, इसिपब्भार- तलग्गयाणं, सिद्धाणं, बुद्धाणं, कम्म-चक्क-मुक्काणं, णीरयाणं, णिम्मलाणं, गुरु-आइरिय-उवज्झायाणं, पव्व-त्तित्थेर-कुलयराणं, चउवण्णो य, समण-संघो य, दससु भरहेरावएसु, पंचसु महाविदेहेसु, जे लोए संति-साहवो-संजदा, तवसी एदे, मम मंगलं, पवितं, एदेहं मंगलं करेमि, भावदो विसुद्धो सिरसा अहि-वंदिऊण सिद्धे काऊण अंजलिं मत्थयम्मि, तिविहं तियरण सुद्धो।

इति निषिद्धिका दण्डकः

अथ रात्रि दिवस दोषालोचना

पडिक्कमामि भन्ते! राइयस्स (दिवसियस्स) अइचारस्स, अणाचारस्स, मण-दुच्चरियस्स, वचिदुच्चरियस्स, काय दुच्चरियस्स, णाणाइचारस्स, दंसणाइचारस्स, तवाइचारस्स, वीरियाइचारस्स, चारिताइचारस्स, पंचण्हं-महव्वयाणं, पंचण्हं-समिदीणं तिण्हं-गुत्तीणं, छण्हं-आवासयाणं, छण्हं-जीवणिकायाणं, विराहणाए, पील-कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणु-मण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पडिक्कमामि भन्ते! अइगमणे, णिग्गमणे, ठाणे, गमणे, चंकमणे, उव्वत्तणे, आउंचणे, पसारणे, आमासे, परिमासे, कुइदे, कक्कराइदे, चलिदे, णिसण्णे, सयणे, उव्वट्टणे, परियट्टणे, एइन्दियाणं, बेइन्दियाणं, तेइन्दियाणं, चउरिंदियाणं, पंचिंदियाणं, जीवाणं, संघट्टणाए, संघादणाए, उद्दावणाए, परिदावणाए, विराहणाए, एत्थ मे जो कोई राइयो (दिवसिओ) अदिक्कमो, वदिक्कमो, अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पडिक्कमामि भन्ते ! इरियावहियाए, विराहणाए, उड्ढमुहं चरंतेण वा, अहोमुहं चरंतेण वा, तिरियमुहं चरंतेण वा, दिसिमुहं चरंतेण वा, विदिसिमुहं चरंतेण वा, पाणचंकमणदाए, वीयचंकमणदाए, हरिय चंकमणदाय, उत्तिंग-पणय-दय-मट्टिय-मक्कडय-तन्तु-सत्ताण-चंकमणदाय, पुढवि-काइय-संघट्टणाए, आउ-काइय-संघट्टणाए, तेऊ-काइय-संघट्टणाए, वाउकाइय-संघट्टणाए, वणप्फदि-काइय-संघट्टणाए, तसकाइय- संघट्टणाए उद्दावणाए, परिदावणाए, विराहणाए, इत्थ मे जो कोई इरियावहियाए, अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पडिक्कमामि भन्ते! उच्चार-पस्सवण-खेल सिंहाण-वियडि-यपइट्ठावणियाए, पइट्ठावंतेण जे कोई पाणा वा, भूदा वा, जीवा वा, सत्ता वा, सघट्टिदा वा, संघादिदा वा, उद्दाविदा वा, परिदाविदा वा, इत्थ मे जो कोई राईओ (दिवसिओ) अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पडिक्कमामि भन्ते! अणेस-णाय, पाण-भोय-णाए, पणय-भोयणाए, बीय भोयणाए, हरिय-भोयणाए, आहा-कम्मेण वा, पच्छा-कम्मेण वा, पुराकम्मेण वा, उद्दिट्ठयडेण वा, णिद्दिट्ठयडेण वा, दयसंसिट्ठयडेण वा, रस-संसिट्ठयडेण वा,

परिसादणियाए, पइट्ठावणियाए, उद्देसियाए, णिद्देसियाए, कीदयडे, मिस्से, जादे, ठविदे, रइदे, अणसिट्ठे, बलिपाहुडदे, पाहुडदे, घट्टिदे, मुच्छिदे, अइमत्त-भोयणाए इत्थ मे जो कोई गोयरस्स अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पडिक्कमामि भन्ते! सुमणिंदियाए, विराहणाए, इत्थि-विप्परियासियाए, दिट्ठिविप्परियासियाए, मण विप्परियासियाए, वचि-विप्परियासियाए, काय-विप्परियासियाए, भोयण-विप्परियासियाए उच्चावयाए, सुमिण-दंसण-विप्परियासियाए, पुव्वरए, पुव्वखेलिए, णाण-चिंतासु, विसोत्तियासु इत्थ मे जो कोई राईओ (देवसियो) अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पडिक्कमामि भन्ते! इत्थी-कहाइ, अत्थ-कहाए, अत्थ-कहाए, भत्त-कहाए, राय कहाए, चोर-कहाए, वेर-कहाए, पर-पासंड-कहाए, देस-कहाए, भास -कहाए, अ-कहाए, वि-कहाए, निट्ठुल्ल-कहाए, पर-पेसुण्ण कहाए, कन्द प्पियाए, कुक्कुच्चियाए, डंबरियाए, मोक्खरियाए, अप्प-पसंसणदाए, पर-परिवादणदाए, पर-दुगन्छणदाए, पर-पीडा-कराए, सावज्जाणुमोयणियाए, इत्थ मे जो कोई राईओ (देवसिओ) अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पडिक्कमामि भन्ते! अट्टज्झाणे, रुद्दज्झाणे, इह-लोय-सण्णाए, पर लोय- सण्णाए, आहार-सण्णाए, भय-सण्णाए, मेहुण-सण्णाए, परिग्गह-सण्णाए, कोह सल्लाए माण-सल्लाए, माया-सल्लाए, लोह-सल्लाए, पेम्म-सल्लाए, पिवास-सल्लाए, णियाण-सल्लाए, मिच्छा-दंसण-सल्लाए, कोह-कसाए, माण कसाए, माया-कसाए, लोह-कसाए, किण्ह-लेस्स-परिणामे, णीललेस्स-परिणामे,

काउ-लेस्स-परिणामे, आरम्भ-परिणामे, परिग्गह-परिणामे, पडिसयाहिलास-परिणामे, मिच्छादंसण-परिणामे, असंजम-परिणामे, कषाय परिणामे पाव जोग-परिणामे, काय-सुहाहिलास-परिणामे, सद्देसु, रूवेसु, गन्धेसु, रसेसु, फासेसु, काइयाहिकरणियाए, पादोसियाए, परदावणियाए, पाणाइवाइयासु, इत्थ मे जो कोई राईओ (देवसिओ) अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पडिक्कमामि भन्ते! एक्के भावे अणाचारे, दोसु राय-दोसेसु, तीसु दंडेसु, तीसु गुत्तीसु, तीसु गारवेसु, चउसु कसाएसु, चउसु सण्णासु, पंचसु महव्वएसु, पंचसु समिदीसु, छसुजीव-णिकाएसु, छसु आवासएसु, सत्तसु भएसु, अट्ठसु मएसु, णवसु बंभचेर-गुत्तीसु, दसविहेसु समण-धम्मेसु, एयारस विहेसु उवासयपडिमासु, बारह-विहेसु भिक्खु-पडिमासु, तेरस-विहेसु किरिया-ट्ठाणेसु, चउदस-विहेसु भूदगामेसु, पण्णरस-विहेसु पमाय-ठाणेसु, सोलह-विहेसु पवयणेसु, सत्तारस-विहेसु असंजमेसु, अट्ठा-रस-विहेसु असंपराएसु, उणवीसाय णाहज्झाणेसु, वीसाए अ समाहि-ट्ठाणेसु, एक्कवीसाए, सवलेसु बावीसाए परीसहेसु, तेवीसाय सुद्दयडज्झाणेसु, चउवीसाए अरहंतेसु पणवीसाए भावणासु, पणवीसाए किरियट्ठाणेसु, छव्वीसाए पुढवीसु, सत्तावी-साए अणगारगुणेसु, अट्ठावीसाए आयार-कप्पेसु, एउणतीसाए पाव-सुत्त-पसंगेसु, तीसाए मोहणीय-ठाणेसु, एकत्तीसाए कम्म-विवाएसु, बत्तीसाए जिणो-वएसेसु, तेतीसाए अच्चासणदाए, संखेवेण जीवाण-अच्चासणदाए, अजीवाण अच्चासणदाए, णाणस्स अच्चासणदाए, दंसणस्स अच्चासणदाए, चरित्तस्स अच्चासणदाए, तवस्स अच्चासणदाए, वीरियस्स

अच्चासणदाए, तं सव्वं पुव्वं दुच्चरियं गरहामि, आगामेसीएसु पच्चुप्पण्णं इक्कंतं पडिक्कमामि, अणागयं पच्चक्खामि, अगरहियं गरहामि, अणिंदियं णिंदामि, अणालोचियं आलोचेमि, आराहण-मब्भुट्ठेमि, विराहणं पडिक्कमामि, इत्थे मे जो कोई राईओ (दिवसिओ) अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

निर्ग्रन्थ पद को मैं स्वेच्छा से ग्रहण करता हूं-

इच्छामि भन्ते! इमं णिग्गंथं पवयणं अणुत्तरं केवलियं, पडिपुण्णं, णेगाइयं, सामाइयं, संसुद्धं, सल्लघट्टाणं, सल्लघत्ताणं, सिद्धिमग्गं, सेढिमग्गं, खंतिमग्गं, मुत्तिमग्गं, पमुत्तिमग्गं, मोक्खमग्गं, पमोक्खमग्गं, णिज्जाणमग्गं, णिव्वाणमग्गं, सव्व-दुक्ख परिहाणि-मग्गं, सुचरिय-परिणिव्वाण-मग्गं, अवित्तहं, अविसंति-पवयणं, उत्तमं तं सद्दहामि, तं पत्तियामि, तं रोचेमि, तं फासेमि, इदोत्तरं अण्णं णत्थि, ण भूदं, ण भविस्सदि, णाणेण वा, दंसणेण वा, चरित्तेण वा, सुत्तेण वा, इदो जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परि-णिव्वाण-यंति, सव्व-दुक्खाण मंतं करेंति, पडिवियाणंति, समणोमि, संजदोमि, उवरदोमि, उवसंतोमि, उवहि-णियडि-माण-माय-मोस-मिच्छाणाण-मिच्छादंसण-मिच्छाचरित्तं च पडिविरदोमि, सम्मणाण- सम्मदंसण- सम्मचरित्तं च रोचमि जं जिणवरेहिं पण्णत्तं, इत्थ मे जो कोई राईओ (दिवसिओ) अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

सार्वकालिक दोषों की आलोचना

पडिक्कमामि भन्ते! सव्वस्स, सव्वकालियाए, इरियासमिदीए, भासा-समिदीए, एसणा-समिदीए, आदाण-निक्खेवण-समिदीए, उच्चार-पस्सवण-खेल- सिंहाणय-वियडि-पइ-ट्ठावणि-समिदीए,

मण-गुत्तीए, वचि-गुत्तीए, काय-गुत्तीए, पाणा दिवादादो-वेरमणाए, मुसावादादो-वेरमणाए, अदिण्ण-दाणादो-वेरमणाए, मेहुणादो-वेरमणाए, परिग्गहादो-वेरमणाए, राइभोयणादो-वेरमणाए, सव्व-विराहणाए, सव्व-धम्म-अइक्कमणदाए, सव्व-मिच्छा-चरियाए इत्थ मे जो कोई राईओ (दिवसिओ) अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

वीर-भक्ति कायोत्सर्ग की आलोचना

इच्छामि भन्ते! वीर-भक्ति काउस्सग्गो जो मे राईओ (दिवसिओ) अइचारो, अणाचारो, आभोगो, अणाभोगो, काइओ, वाइओ, माणसिओ, दुच्चिंतिओ, दुब्भासिओ, दुप्परिणामिओ, दुस्समिणीओ, णाणे, दंसणे, चरित्ते, सुत्ते, सामाइए, पंचण्हं महव्वयाणं, पंचण्हं समिदीणं, तिण्हं गुत्तीणं, छण्हं जीव-णिकायाणं, छण्हं आवासयाणं, विराहणाए, अट्ठ-विहस्स कम्मस्सणिग्घादणाए, अण्णहा उस्सासिएण वा, णिस्सासिएण वा, उम्मिसिएण वा, णिम्मिसिएण वा, खासिएण वा, छिक्किएण वा, जंभाइएण वा, सुहुमेहिं-अंग-चलाचलेहिं, दिट्ठि-चलाचलेहिं, एदेहिं सव्वेहिं आयरेहिं, असमाहिंपत्तेहिं, जाव अरहंताणं, भयवंताणं, पज्जुवासं करेमि, ताव कायं पाव कम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

वद-समिदिंदिय रोधो, लोचावासय-मचेल-मण्हाणं।
खिदि-सयण-मदंतवणं, ठिदि-भोयण-मेय-भत्तं च।।१।।
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमाद-कदादो, अइचारादो णियत्तोहं।।२।।

छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं

अथ सर्वातिचार-विशुद्ध्यर्थं रात्रिक (दैवसिक) प्रतिक्रमण क्रियायां कृत-दोष-निराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकल-कर्मक्षयार्थं भाव-पूजा-वन्दना-स्तव समेतं श्री निष्ठितकरण-वीर भक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं।

(ऐसी प्रतिज्ञा करके भूमि स्पर्श करते हुए नमस्कार करे, पश्चात् तीन आवर्त और एक शिरोनति करके निम्नलिखित सामायिक दण्डक पढ़ें।)

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

चत्तारि मंगलं-अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा-अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमो केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धेसरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

अड्ढाइज्ज-दीव-दो-समुद्देसु, पण्णारस-कम्म-भूमिसु, जाव-अरहंताणं, भयवंताण, आदियराण तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाणं, केवलियाणं सिद्धाणं, बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं, पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मणायगाणं धम्म-वर-चाउरंग-चक्कवट्टीणं, देवाहि-देवाणं, णाणाणं दंसणाणं, चरित्ताणं, सदा करेमि, किरियम्मं। करेमि भन्ते! सामायियं सव्व-सावज्ज जोगं पच्चक्खामि

जावज्जीवं तिविहेण मणसा-वचसा, काएण, ण करेमि, ण कारेमि, ण अण्णं करंतं पि समणुमणामि। तस्स भन्ते ! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणं, जाव-अरहंताणं, भयवंताणं पज्जुवासं करेमि, तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(यहां तीन आवर्त एक शिरोनति करके रात्रिक प्रतिक्रमण में ५४ उच्छ्वास पूर्वक दो कायोत्सर्ग और दैवसिक प्रतिक्रमण में १०८ उच्छ्वास पूर्वक चार कायोत्सर्ग कर, पश्चात् नमस्कार करके पुन: तीन आवर्त और एक शिरोनति करें, पश्चात् निम्न लिखित चतुर्विंशति स्तव पढ़ें।)

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंत जिणे।
णर-पवर-लोए महिए विहुय-रय-मले महप्पण्णे।।१।।
लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चौबीसं चेव केवलिणो।।२।।
उसह मजियं च वन्दे संभव-मभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वन्दे।।३।।
सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमल-मणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि।।४।।
कुंथुं च जिण वरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदाम्यरिट्ठ-णेमिं तह पासं वड्ढमाणं च।।५।।
एवं मए अभित्थुआ विहुय-रय-मला पहीण-जर-मरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु।।६।।
कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।

आरोग्ग-णाण-लाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं।।७।।
चंदेहिं णिम्मल-यरा, आइच्चेहिं अहिय-पया-संता।
सायर-मिव गंभीरा सिद्धि सिद्धिं मम दिसंतु।।८।।

(यहां तीन आवर्त और एक शिरोनति करें, पश्चात् वीर भक्ति पढ़ें।)

वीर -भक्ति

(शार्दूल विक्रीडित छन्द)

यः सर्वाणि चराचराणि विधि-वद्, द्रव्याणि तेषां गुणान्।
पर्यायानपि भूत-भावि-भवतः सर्वान् सदा सर्वदा।।
जानीते युगपत् प्रतिक्षण-मतः सर्वज्ञ इत्युच्यते।
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः।।१।।
वीरः सर्व-सुरासुरेन्द्र-महितो वीरं बुधाः संश्रिता।
वीरेणाभिहतः स्व-कर्म-निचयो वीराय भक्त्या नमः।।
वीरात् तीर्थ-मिदं प्रवृत्त-मतुलं वीरस्य घोरं तपो।
वीरे श्री द्युति-कांति-कीर्ति-धृतयो, हे वीर! भद्रं त्वयि।।२।

ये वीर-पादौ प्रणमन्ति नित्यम्
ध्यान-स्थिताः संयम-योग-युक्ताः।
ते वीत-शोका हि भवन्ति लोके
संसार-दुर्गं विषमं तरन्ति।।३।।
व्रत-समुदय -मूलः संयम -स्कंध-बंधो,
यम नियम-पयोभि-र्वर्धितः शील-शाखः।
समिति-कलिक-भारो गुप्ति-गुप्त-प्रवालो,
गुण-कुसुम-सुगंधिः सत्-तपश्चित्र-पत्रः।।४।।

शिव-सुख-फल-दायी यो दया-छाय-योद्धः
शुभ-जन-पथिकानां खेद-नोदे समर्थः
दुरित-रविज-तापं प्रापयन्नन्तभावम्
स भव-विभव-हान्यै नोऽस्तु चारित्र-वृक्षः ।।५।।

चारित्रं सर्व-जिनैश्चरितं प्रोक्तं च सर्व-शिष्येभ्यः।
प्रणमामि पञ्च-भेदं पञ्चम-चारित्र-लाभाय।।६।।
धर्मः सर्व-सुखाकरो हित-करो, धर्मं बुधाश्चिन्वते,
धर्मेणैव समाप्यते शिव-सुखं धर्माय तस्मै नमः।।
धर्मान्-नास्त्य-परः सुहृद्-भव-भृतां धर्मस्य मूलं दया,
धर्मे चित्त-महं दधे प्रतिदिनं हे धर्म! मां पालय।।७।।
धम्मो मंगल-मुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो।
देवा वि तस्स णमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।।८।।

अञ्चलिका

इच्छामि भन्ते ! पडिक्कमणादिचार-मालोचेउं, सम्मणाण सम्मंदसण-सम्मचारित्त-तव-वीरियाचारेसु, जम-णियम-संजम-सील-मूलुत्तर-गुणेसु, सव्व-मईचारं सावज्ज-जोगं पडिविरदोमि, असंखेज्ज-लोग-अज्झवसाय-ठाणाणि, अप्पसत्थ-जोग-सण्णा-णिंदिय-कसायगारव-किरियासु, मण-वयण-काय-करण-दुप्पणिहाणाणि, परि-चिंतियाणि, किण्ह-णील-काउ-लेस्साओ, विकहा-पलिकुंचिएण, उम्मग-हस्स-रदि-अरदि-सोय-भय-दुगंछ-वेयण-विज्झंभ-जम्भाइ-आणि अट्ट-रुद्दसंकिलेस-परिणामाणि-परिणामदाणि, अणिहुद-कर-चरण मण- वयण-काय -करणेण, अक्खित्त-

बहुल-परायणेण, अपडि-पुण्णेण वासक्खरावय- परिसंघाय पडिवत्तिएण, अच्छा-कारिदं मिच्छा-मेलिदं, आ मेलिदं, वा-मेलिदं, अण्णहा-दिण्णं, अण्णहा-पडिच्छिदं, आवास एसु-परिहीणदाए, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणु-मण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

वद-समि-दिंदिय रोधो, लोचावासय- मचेल-मण्हाणं।
खिदि-सयण-मंदतवणं, ठिदि-भोयण-मेयभत्तं च।।१।।
एदे खलु मूल-गुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमाद-कदादो, अइचारादो णियत्तोऽहं।।२।।

छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं

अथ सर्वातिचार-विशुद्ध्यर्थं रात्रिक (दैवसिक) प्रतिक्रमण-क्रियायां, कृत-दोष-निराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण, सकल कर्म क्षयार्थं भाव पूजा-वंदना-स्तव समेतं चतुर्विंशति-तीर्थंकर-भक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं।

(ऐसी प्रतिज्ञा करके भूमि स्पर्श पूर्वक नमस्कार करे, पश्चात् तीन आवर्त और एक शिरोनति करके निम्नलिखित सामायिक दण्डक पढ़ें)

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

चत्तारि मंगलं-अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा-अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा केवलि पण्णत्तो

धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धेसरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

अड्ढाइज्ज-दीव-दो-समुदेसु, पण्णारस-कम्म-भूमिसु, जाव-अरहंताणं, भयवंताण, आदियराण तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाणं, केवलियाणं सिद्धाणं, बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं, पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मणायगाणं धम्म-वर-चाउरंग-चक्कवट्टीणं, देवाहि-देवाणं, णाणाणं दंसणाणं, चरित्ताणं, सदा करेमि, किरियम्मं। करेमि भन्ते! सामायियं सव्व-सावज्ज जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा-वचसा, काएण, ण करेमि, ण कारेमि, ण अण्णं करंतं पि समणुमणामि। तस्स भन्ते! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणं, जाव-अरहंताणं, भयवंताणं पज्जुवासं करेमि, तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(यहां तीन आवर्त एक शिरोनति करके २७ उच्छ्वास पूर्वक कायोत्सर्ग करें। पश्चात् भूमि नमस्कार करके पुनः तीन आवर्त और एक शिरोनति कर चतुर्विंशति स्तव पढ़ें)

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंत जिणे।
णर-पवर-लोए महिए विहुय-रय-मले महप्पण्णे।।१।।
लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चौबीसं चेव केवलिणो।।२।।

उसह मजियं च वन्दे संभव-मभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वन्दे।।३।।
सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमल-मणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि।।४।।
कुंथुं च जिण वरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदाम्यरिट्ठ-णेमिं तह पासं वड्ढमाणं च।।५।।
एवं मए अभित्थुआ विहुय-रय-मला पहीण-जर-मरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु।।६।।
कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्ग-णाण-लाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं।।७।।
चंदेहिं णिम्मल-यरा, आइच्चेहिं अहिय-पया-संता।
सायर-मिव गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।८।।

(यहां तीन आवर्त और एक शिरोनति करें पश्चात् चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति पढ़ें।)

चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति

चउवीसं तित्थयरे उसहाइ-वीर-पच्छिमे वन्दे।
सव्वे सगण-गण हरे सिद्धे सिरसा णमंसामि।।१।।
ये लोकेऽष्ट-सहस्र लक्षण-धरा, ज्ञेयार्णवान्तर्गता।
ये सम्यग्-भव-जाल-हेतु-मथनाश्चन्द्रार्क-तेजोऽधिकाः।।
ये साध्विन्द्र-सुराप्सरो-गण शतै-र्गीत-प्रणूत्यार्चितास्।
तान् देवान् वृषभादि वीर चरमान् भक्त्या नमस्याम्यहम्।।२।।

नाभेयं देवपूज्यं, जिनवर-मजितं सर्व-लोक प्रदीपम्।
सर्वज्ञं संभवाख्यं, मुनि-गण-वृषभं नन्दनं देवदेवम्।।
कर्मारिघ्नं सुबुद्धिं, वर-कमल निभं पद्म पुष्पाभि गंधम्।
क्षान्तं दान्तं सुपार्श्वं, सकल-शशि-निभं चंद्रनामान-मीडे।।३।।
विख्यातं पुष्पदन्तं, भव भव-मथनं शीतलं लोक-नाथम्।
श्रेयांसं शील-कोशं, प्रवर-नर-गुरुं वासुपूज्यं सुपूज्यम्।।
मुक्तं दान्तेंद्रियाश्वं, विमल-मृषि-पतिं सिंहसैन्यं मुनींद्रम्।
धर्मं सद् धर्म-केतुं, शम-दम-निलयं स्तौमि शांतिं शरण्यम्।।४।।
कुन्थुं सिद्धालयस्थं, श्रमण-पतिमरं त्यक्त-भोगेषु चक्रम्।
मल्लिं विख्यात-गोत्रं, खचर-गण-नुतं सुव्रतं सौख्य-राशिम्।।
देवेन्द्रार्च्यं नमीशं, हरि-कुल-तिलकं नेमिचन्द्रं भवान्तम्।
पार्श्वनागेंद्र-वंद्यं, शरण-मह-मितो वर्धमानं च भक्त्या।।५।।

अञ्चलिका

इच्छामि भन्ते! चउवीस-तित्थयर-भत्ति-काउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं पंच महा-कल्लाण-संपण्णाणं, अटठ्-महा-पाडिहेर-सहियाणं, चउतीसातिसय-विसेस-संजुत्ताणं, बत्तीस-देविंद-मणि-मउड-मत्थय-महिदाणं, बलदेव-वासुदेव-चक्कहर-रिसि-मुणि-जइ-अणगारोव-गूढाणं, थुइ-सय-सहस्स -णिलयाणं-उस-हाइ-वीर-पच्छिम-मंगल-महा-पुरिसाणं, णिच्च-कालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइ-गमणं, समाहि-मरणं, जिण-गुण संपत्ति होउ मज्झं।

वद-समि-दिंदिय रोधो, लोचावासय-मचेल-मण्हाणं।
खिदि-सयण-मदंतवणं, ठिदि-भोयण-मेय-भत्तं च।।१।।
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमाद-कदादो, अइचारादो णियत्तो हं।।२।।

छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं

अथ सर्वातिचार-विशुद्ध्यर्थं रात्रिक (दैवसिक) प्रतिक्रमण-क्रियायां कृत-दोष-निराकरणार्थं पूर्वाचार्य अनुक्रमेण सकल-कर्मक्षयार्थं, भाव-पूजा-वन्दना-स्तव समेतं श्री सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, निष्ठित-करण-वीर-भक्ति, चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्तिः कृत्वा तद्धीनाधिक-दोष-विशुद्ध्यर्थं, आत्म-पवित्री-करणार्थं समाधिभक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं।

(इति विज्ञाप्य- णमो अरहंताणं इत्यादि दण्डकं पठित्वा कायोत्सर्गं कुर्यात्। थोस्सामीत्यादि स्तवं पठेत्)

अथेष्ट प्रार्थना

प्रथमं करणं चरणं द्रव्य नमः।
शास्त्राभ्यासो जिनपति-नुतिः संगतिः सर्वदार्यैः।
सद्-वृत्तानां गुण-गण-कथा दोष-वादे च मौनम्।।
सर्वस्यापि प्रिय-हित-वचो भावनाचात्म-तत्त्वे।
सम्पद्यन्तां मम भव-भवे यावदेतेऽपवर्गः।।१।।
तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पद-द्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावद्-यावन्-निर्वाण-सम्प्राप्तिः।।२।।

अक्खर-पयत्थ-हीणं, मत्ता-हीणं च जं मए भणियम्।
तं खमहु णाण देव! य मज्झवि दुक्खक्खयं कुणउ।।२।।

आलोचना

इच्छामि भन्ते! समाहि-भत्ति-काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, रयणत्तय-सरूव-परमप्पज्झाण-लक्खण-समाहि-भत्तीए णिच्च कालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइ गमणं, समाहि-मरणम्, जिण-गुण संपत्ति होउ मज्झं।

।। इति रात्रिक (दैवसिक) प्रतिक्रमण समाप्तम्।।

रात्रि योग निष्ठापन विधि

अब रात्रिक प्रतिक्रमण क्रिया की समाप्ति के बाद, कल सायं-काल प्रतिक्रमण के पश्चात् जो रात्रि-योग प्रतिष्ठापन (आज रत्रि को मैं इसी वसतिका में रहूँगा।'' ऐसा नियम विशेष) किया था, उसका निष्ठापन (रात्रि को जो इसी वसतिका में रहने का नियम किया था उसको समाप्त) करने के लिए निम्न लिखित प्रयोग विधि करना चाहिए।

विज्ञापन

अथ रात्रियोग-निष्ठापन-क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकल-कर्म-क्षयार्थं, भाव पूजा वंदना-स्तव-समेतं योगि-भक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं।

(ऐसी प्रतिज्ञा करके नमस्कार करें, पश्चात् तीन आवर्त और शिरोनति करके निम्नलिखित सामायिक दण्डक पढ़ें।)

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

चत्तारि मंगलं-अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा-अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धेसरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

अड्ढाइज्ज-दीव-दो-समुद्देसु, पण्णारस-कम्म-भूमिसु, जाव-अरहंताणं, भयवंताण, आदियराण तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाणं, केवलियाणं सिद्धाणं, बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं, पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मणायगाणं धम्म-वर-चाउरंग-चक्कवट्टीणं, देवाहि-देवाणं, णाणाणं दंसणाणं, चरित्ताणं, सदा करेमि, किरियम्मं। करेमि भन्ते! सामायियं सव्व-सावज्ज जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा-वचसा, काएण, ण करेमि, ण कारेमि, ण अण्णं करंतं पि समणुमणामि। तस्स भन्ते ! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणं, जाव-अरहंताणं, भयवंताणं पज्जुवासं करेमि, तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(यहां तीन आवर्त एक शिरोनति करके २७ उच्छ्वास पूर्वक कायोत्सर्ग करें। पश्चात् नमस्कार कर तीन आवर्त और एक शिरोनति कर चतुर्विंशति स्तव पढ़ें)

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंत जिणे।
णर-पवर-लोए महिए विहुय-रय-मले महप्पण्णे।।१।।
लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चौबीसं चेव केवलिणो।।२।।
उसह मजियं च वन्दे संभव-मभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वन्दे।।३।।
सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमल-मणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि।।४।।
कुंथुं च जिण वरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदाम्यरिट्ठ-णेमिं तह पासं वड्ढमाणं च।।५।।
एवं मए अभित्थुआ विहुय-रय-मला पहीण-जर-मरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु।।६।।
कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्ग-णाण-लाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं।।७।।
चंदेहिं णिम्मल-यरा, आइच्चेहिं अहिय-पया-संता।
सायर-मिव गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।८।।

(यहां तीन आवर्त और एक शिरोनति करें। पश्चात् भक्ति पढ़ें।)

योगि भक्ति

जाति-जरोरु-रोग-मरणातुर-शोक-सहस्र-दीपिताः।
दुःसह-नरक-पतन संत्रस्त्र-धियः प्रतिबुद्ध-चेतसः।।
जीवित-मम्बु-बिन्दु-चपलं, तडि-दभ्र-समा विभूतयः।
सकल-मिदं विचिन्त्य मुनयः प्रशमाय वनान्त-माश्रिताः।।

व्रत-समिति-गुप्त-संयुता:,
शम-सुखमाधाय मनसि वीतमोहा: ।
ध्यानाध्ययन-वशंगता:,
विशुद्धये कर्मणां तपश्चरन्ति ।।२।।

दिनकर-किरण-निकर संतप्त शिला निचयेषु निस्पृहा: ।
मल-पटलावलिप्त-तनव:, शिथिली-कृत-कर्म बंधना: ।।
व्यपगत-मदन-दर्प-रति-दोष-कषाय-विरक्त-मत्सरा: ।
गिरि-शिखरेषु चण्ड-किरणाभिमुख-स्थितयो-दिगम्बरा: ।।
सज्ज्ञानामृत-पायिभि: क्षांति-पय: सिंच्यमान-पुण्य-कायै ।
धृत-सन्तोष-च्छत्रकै-स्ताप-स्तीव्रोऽपि सह्यते मुनीन्द्रै: ।।
शिखि-गल कज्जलालि-मलिनै-र्विबुधाधिप-चाप-चित्रितै: ।
भीम-रवै-र्विसृष्ट-चण्डाशनि-शीतल-वायु-वृष्टिभि: ।।
गगन-तलं विलोक्य जलदै:, स्थगितं सहसा तपोधना: ।
पुन-रपि तरु-तलेषु विषमासु निशासु विशंक-मासते ।।५।।
जल-धारा शर-ताडिता न चलन्ति चरित्रत: सदानृ-सिंहा: ।
संसार-दु:ख-भीरव: परीषहाराति-घातिन: प्रवीरा: ।।६।।
अविरत- बहल तुहिन कण
वारिभि-रंघ्रिप पत्र पातनै-
रनवरत-मुक्त सीत्कार-रवै:
परुषै-रथानिलै: शोषित गात्र-यष्टय: ।।

इह श्रमणा धृति-कम्बलावृता: शिशिर-निशाम् ।
तुषार-विषमां गमयन्ति चतु: पथे स्थिता: ।।७।।

इति योग-त्रय-धारिणः सकल-तपः।
शालिनः प्रवृद्ध-पुण्य-कायाः।
परमानन्द-सुखैषिणः समाधि-
मग्र्यं दिशन्तु नो भदन्तः।।८।।

अञ्चलिका

इच्छामि भन्ते! योगि भत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अड्ढाइज्ज-दीव-दो-समुद्देसु, पण्णा-रस- कम्म- भूमिसु, आदावण- रुक्खमूल- अब्भोवास-ठाण-मोण-वीरासणेक्कपास कुक्कुडासण- चउत्थ-पक्ख-खवणादि जोग-जुत्ताणं, सव्व साहूणं, णिच्चकालं, अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइ-गमणं, समाहि-मरणं, जिण-गुण-संपत्ति होउ मज्झं।

उपर्युक्त प्रतिक्रमण एवं रात्रियोग निष्ठापन कर चुकने के बाद गोधूलि बेला से अर्थात् सूर्योदय होने के २४ मिन्ट पूर्व से सूर्योदय होने के २४ मिनट पश्चात् (सामायिक का यह ४८ मिनिट का जघन्य काल है) तक निम्नलिखित विधि के अनुसार प्रातः कालीन सामायिक करना चाहिए।

●

परमात्म स्वरूप

चिदानन्दमयं शुद्धं निराकारं निरामयं।
अनन्तसुखसम्पन्नं सर्वसंगविवर्जितम्।।१।।
लोकमात्रप्रमाणोऽयं निश्चये न हि संशयः।
व्यवहारे तनुर्मात्रः कथितः परमेश्वरैः।।२।।
यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं, तत्क्षण गतविभ्रमः।
स्वस्थचित्तः स्थिरीभूत्वा, निर्विकल्प समाधितः।।३।।
स एव परमं ब्रह्म, स एव जिनपुंगवः।
स एव परमं तत्त्वं, स एव परमो गुरुः।।४।।
ए एव परमं ज्योतिः, स एव परमं तपः।
स एव परमं ध्यानं, स एव परमात्मकः।।५।।
स एव सर्व कल्याणं, स एव सुखभाजनं।
ए एव शुद्धचिद्रूपं, स एव परमं शिवः।।६।।
स एव परमानंदः, स एव सुखदायकः।
स एव परमज्ञानं, स एव गुणसागरः।।७।।
परमाह्लादसंपन्नं, राग द्वेषविवर्जितम्।
सोहं तं देहमध्येषु, यो जानाति स पंडितः।।८।।
आकाररहितं शुद्धं स्व स्वरूपे व्यवस्थितम्।
सिद्धमष्टगुणोपेतं, निर्विकारं निरंजनं।।९।।
तत्सदृर्शनं निजात्मानं, यो जानाति स पंडितः।
सहजानन्दचैतन्य प्रकाशाय महीयसे।।१०।।

पाषाणेषु यथा हेमं, दुग्धमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलं देहमध्ये यथा शिवः।।११।।
काष्ठमध्ये यथा वह्निः, शक्ति रूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पण्डितः।।१२।।

कल्याणालोचना

परमप्पइ वड्ढमदिं परमेट्ठीणं करोमि णवकारं।
सगपर सिद्धिणिमित्तं कल्लाणालोयणा वोच्छे।।१।।
रे जीवा-णंत-भवे संसारे संसरंत बहुवारं।
पत्तो ण बोहिलाहो मिच्छत्तविजंभपयडीहिं।।२।।
संसारभमणगमणं कुणंत आराहिदो ण जिणधम्मो।
तेणविणा वरं दुक्खं पत्तोसि अणंतवाराइं।।३।।
संसारे णिवसंता अणंतमरणाइ पाओसि तुमं।
केवलि विणण तेसिं संखापज्जत्ति णो हवदि।।४।।
तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठिसहस्सवार मरणाइं।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि णिगोयमज्झम्मि।।५।।
वियलिंदिये असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेहिं।
पंचेंदिय चउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स।।६।।
अण्णोण्णं खज्जंता जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
णहु तेसिं पज्जत्ती कहपावइ धम्ममदिसुण्णे।।७।।
मायापिया कुडुम्बो सुजणजणो कोवि णायदि सत्थे।
एगायी भमदि सदा णहि वीओ अत्थि संसारे।।८।।

आउक्खएवि पत्ते ण समत्थो कोवि आउदाणेय।
देवेंदो ण णरेंदो मणिओसह मंतजालाई।।९।।
संपडि जिणवरधम्मो लद्धोसि तुमं विसुद्धजोएण।
खामसु जीवा सव्वे पत्तेसमये पयत्तेण।।१०।।
तिण्णिसया तेसट्ठि मिच्छत्ता दंसणस्स पडिवक्खा।
अण्णाणे सद्दहिया मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।११।।
महुमज्जमंसजूआपभिदीवसणाइ सत्तभेयाइं।
णियणो ण कथं च तेसिं मिच्छामे दुक्कडं हुज्ज।।१२।।
अणुवयमहव्वया जे जमणियमासीलसाहुगुरुदिण्णा।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।१३।।
णिच्चिदरधादुसत्तय तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणरयतिरियचउरो चउदस मणुए सदसहस्सा।।१४।।
एदे सव्वे जीवा चउरासीलक्खजोणिवसि पत्ता।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।१५।।
पुढवीजलग्गिवाओ तेओवि वणप्फदी य वियलतया।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।१६।।
मल सत्तरा जिणुत्ता वयविसये जा विराहणा विविहा।
सामइया खमइया खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।१७।।
फलफुल्लछल्लिवल्लि अणगल ण्हाणं च धोवणादिहिं।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।१८।।
णो शीलं णेव खमा विणओ तवो ण संजमोवासा।
ण कदा ण भाविकदा मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।१९।।

कंदफलमूलबीया सचित्तरयणीबभोयणाहारा।
अण्णाणे जे वि कदा मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।२०।।
णो पूया जिणचरणे ण पत्तदाणं न चेइयागमणं।
ण कदा ण भाविद मये मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।२१।।
बंभारंभपरिग्गह सावज्जा बहु पमाददोसेण।
जीवा विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।२२।।
सत्तातिसदखेतभवा तीदाणागदसुवट्टमाणजिणा।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।२३।।
अरूहासिद्धाइरिया उवझाया साहु पञ्चपरमेट्ठी।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।२४।।
जिणवयणधम्मचेदियजिणपडिमा किट्टियाअकिट्टिमया।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।२५।।
दंसणणाणचरित्ते दोसा अट्ठट्ठपञ्चभेयाइं।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।२६।।
मदिसुदओहीमणपज्जयं तहा केवलं च पंचमयं।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।२७।।
आयारादी अंगा पुव्वपइण्णा जिणेहिं पण्णत्ता।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।२८।।
पंच महव्वदजुत्ताअट्ठादससहस्ससीलकदसोहा।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।२९।।
लोए पियरसमाणा रिद्धिपवण्णा महागणवइया।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।३०।।

णिग्गंथ अज्जियाओ सड्ढा सड्ढी य चउविहो संघो।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।३१।।
देवा सुरा मणुस्सा णेरइयातिरियजोणिगदजीवा।
जे जे विराहिदा खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।३२।।
कोहो माणो माया लोहो एदेय रायदोसाइं।
अण्णाणे जे वि कदा मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।३३।।
परवत्थं परमहिला पमादजोगेण अज्जियं पावं।
अण्णावि अकरणीया मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज।।३४।।
एगो सहावसिद्धो सोहं अप्पा वियप्पपरिमुक्को।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।।३५।।
अरस अरूव अगंधो अव्वाबाहो अणंतणाणमओ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।।३६।।
णेयपमाणं णाणं समए, एगेण हुंति ससहावे।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।।३७।।
एयाणेयवियप्पप्पसाहणे सयसहावसुद्धगदी।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।।३८।।
देहपमाणो णिच्चो लोयपमाणो वि धम्मदो होदि।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।।३९।।
केवलदंसणणाणं समये एगेण दुण्णिउवओगा।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।।४०।।
सगरूव सहजसिद्धो विहावगुणमुक्ककम्मवावारो।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।।४१।।

सुण्णो णेय असुण्णो णोकम्मो कम्मवज्जिओ णाणं।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक परमप्पा।।४२।।
णाणाउजोण भिण्णो वियप्पभिण्णो सहावसुक्खमओ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।।४३।।
अच्छिण्णोवच्छिण्णो पमेय रूवत्त गुरुलहू चेव।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं लो एग परमप्पा।।४४।।
सुहअसुहभावविगओ सुद्धसहावेण तम्मयं पत्तो।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एग परमप्पा।।४५।।
णो इत्थी ण णउंसो णो पुंसो णेव पुण्णपावमओ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं लो एग परमप्पा।।४६।।
ते को ण होदि सुजणो तं कस्स ण बंधवो ण सुजणोवा।
अप्पा हवेह अप्पा एगागी जाणगो सुद्धो।।४७।।
जिणदेवो होदु सदा मई सु जिणसासणे सया होऊ।
सण्णासेण य मरणं भवे भवे मज्झ संपदओ।।४८।।
जिणो देवो जिणो देवो जिणो देवो जिणो जिणो।
दयाधम्मो दयाधम्मो दयाधम्मो दया सदा।।४९।।
महासाहू महासाहू महासाहू दिगंबरा।
एवं तच्चं सया हुज्ज जावण्णो मुत्तिसंगमो।।५०।।
एवमेव गओकालो अणंतो दुक्खसंगमे।
जिणोवदिट्ठसण्णासे ण यत्तारोहणा कया।।५१।।
संपइ एव संपत्तारोहणा जिणदेसिया।
किं किं ण जायदे मज्झ सिद्धिसंदोहसंपई।।५२।।

अहो धम्ममहो धम्मं अहो मे लद्धि णिम्मला।
संजादा संपदा सारा जेण सुक्खमणूपमं।।५३।।
एवं आराहंतो आलोयणवंदणापडिक्कमणं।
पावइ फलं च तेसिं णिद्दिट्ठं अजियबम्मेण।।५४।।

इति कल्याणालोचना।

●

गुरु-वंदना

वन्दौं दिगम्बर गुरु-चरन, जग-तरन-तारन जान;
जे भरम-भारी रोगको हैं, राजवैद्य महान।
जिनके अनुग्रह बिन कभी, नहिं कटै कर्म-जंजीर;
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहु पातक-पीर।।१।।

यह तन अपावन अथिर है, संसार सकल असार;
ये भोग विष-पकवान से, इह भांति सोच-विचार।
तप विरचि श्री मुनि वन बसे, सब छांडि परिग्रह भीर;
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहुँ पातक पीर।।२।।

जे काच-कंचन सम गिनहिं, अरि-मित्र एक सरूप;
निन्दा-बड़ाई सारिखी, वन- खण्ड शहर अनूप।
सुख-दुःख जीवन-मरन में, नहिं खुशी नहिं दिलगीर;
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहुँ पातक पीर।।३।।

जे वाह्य परवत वन बसैं, गिरि-गुफा-महल मनोग;
सिल-सेज समता-सहचरी, शशि-किरन-दीपक जोग।
मृग मित्र, भोजन तप-मई, विज्ञान-निरमल नीर;
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहुँ पातक पीर।।४।।

सूखहिं सरोवर जल भरे, सूखहिं तरंगिनि तोय;
बाटहिं बटोही ना चले, जहँ घाम-शिखर ठाड़े धीर;
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहुँ पातक पीर।।५।।

घनघोर गरजहि घन-घटा, जल परहि पावस-काल;
चहुँ ओर चमकहिं बीजुरी, अति चलै सीरी ब्याल।
तरु-हेठ तिष्ठहिं तब जती, एकान्त अचल शरीर;
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहुँ पातक पीर।।६।।

जब शीत मास तुषारसों, दाह सकल वन-राय;
जब जमैं पानी पोखरां, थरहरै सबकी काय।
तब नगन निवसैं चौहटैं, अथवा नदीके तीर;
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहुँ पातक पीर।।७।।

कर जोर 'भूधर' बीनवै, कब मिलहिं वे मुनिराज;
यह आश मन की कब फलै, मम सरहिं सगरे काज।
संसार-विषम- विदेश में,जे बिना कारण वीर;
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहुँ पातक पीर।।८।।

●

मुनिराज वंदना

पाप पंथ परिहरे, मोक्ष पंथ पगधरे।
अभिमान नहीं करें, निद्रा को निवारी है।
छोड़यो है संसारी संग, ज्ञानी साथे राचे रंग।
सुमति को करे संग, बड़ो उपकारी है।।१।।
मुनिमन निर्मल है, जैसो है गंगा को जल।
काटत करमफंद, नव-तत्त्व धारी है।
संयम सों करे संग, बारा विधि धरे तप।
ऐसे मुनिराज ताको वन्दना हमारी है।।२।।

मुक्ति मार्ग

सम्यग्दर्शन ज्ञान में, मिले चरित जब आय।
मुक्तिमार्ग तब हि बने, उमा स्वामी समझाय।।

•

णमोकार मंत्र का माहात्म्य

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।

शार्दूल विक्रीड़ित

विश्लिष्यन् घन कर्मराशिमशनिः संसार भूमि भृतः।
स्यर्निर्वाणपुर प्रवेशगमनेनिः पत्यवायः सताम्।।

मोहान्धावरसंकटे निपततां हस्तावलम्बोऽर्हतां ।
पायान्नः स चराचरस्य जगतः संजीवनं मंत्रराट् ।।१।।

प्रबल कर्मधन राशिमिटाता भव पर्वत को वज्र समान।
स्वर्ग मुक्ति पुर ले जाने में नेता जो निर्विघ्न प्रधान ।।
अंधकूप सम राग मोह में पतितजनों को कर अवलम्ब।
सर्व चराचर का संजीवन मंत्र राज है रक्षस्यम्ब ।।१।।
एक तरफ तो तीन लोक हों मंत्र राज हो दूजी ओर।
रखकर यदि कोई तोले तो मंत्र राज भार ले ठौर ।।
पंच परम गुरु नमन रूप इस महामंत्र की जो महिमा।
उसको नहि कह सकता कोई चाहे जितनी मति गरिमा ।।२।।
काल अनंते बीते पहले फिर आगे भी बीतेंगे।
उनमें शाश्वत रहा मंत्र यह गई महिमा गायेंगे ।।
नहीं आदि है नहीं अन्त है मंत्र अनादि निधन यह ही।
इसको जो जपता है प्राणी शिवपद पाता है वह ही ।।३।।
चलते फिरते गिरते पड़ते और जागते या सोते।
न्हाते धोते धरापीठ पर चाहे लोट पोट होते ।।
जो करता है संस्मरण मंत्र का वांछित फल पा जाता है।
भक्ति भाव से प्रेरित होकर संकट सभी मिटाता है ।।४।।
रण समुद्र के करि भुजंग के सिंहव्याघ्र के रोगों के।
शत्रु अग्नि के वध बंधन और किये सब लोगों के ।।
चोर डाकिनी प्रेत ग्रहों के राक्षस भूत पिशाचों के।
इस नवकार मंत्र जपने से भय मिट सुख होते चोखे ।।५।।

जो श्रद्धालु जितेन्द्रिय श्रावक पंच परम गुरुध्यानी हो।
बुद्ध शुद्ध उच्चारण करता परमशुद्ध सुज्ञानी हो।।
स्वेत सुगंध लाख पुष्पों से मंत्रराज को जो जपता।
विश्व पूज्य तीर्थंकर बनता विधि पूर्वक ऐसा करता।।६।।
चन्द्र सूर्य सम हो जाता है और सूर्य होता शशि रूप।
नभ समान पाताल बनेगा भूमि बने सुरलोक अनूप।।
अद्‌भुत महिमा मंत्र राजकी कहें कहां तक सब असमर्थ।
महामंत्र को जो जपता है उसके सफलित वांछित अर्थ।।७।।
मुक्ति धाम जिसने भी पाया उसने मंत्र जपा यह ही।
बिना नहीं इस मंत्र जाप के रहे सभी यों के यों ही।।
सर्व जगत उद्धार हेतु यह मंत्र शरीर बना जिसका।
उन्हींने शिवपद पाया है और क्लेश मेटा मनका।।८।।
चाहे हिंसक झूठा होवे परधन परनारी हर्ता।
अन्य निद्यपापों में रत पर पाठ मंत्र का नितकर्ता।।
वह अपराध शीघ्र छोड़ेगा अन्त समय सुख पावेगा।
निज पाप की निन्दा करके दुर्गति से बच जावेगा।।९।।
धर्म यही नवकार मंत्र है यही देव जिनपतिका रूप।
वही सकल व्रत मूल लोक में यही अमृत फल रस का कूप।।
अधिक कथन से क्या है मतलब यह अलभ्य फल का दाता।
ऐसा कोई भी नहीं वांछित जो इससे ही नहीं मिलता।।१०।।
जो शिला लेख की भांति हृदय में मंत्रराज अंकित करता।
चलता फिरता उठता सोता जागता कुछ करता रहता।
दुख सुख वनगिरि अब्धि गगन में जहां तहां भी रहो कहीं।
मंत्रराज का स्मरण करें जो पा सकता है क्लेश नहीं।।११।।

तीन लोक में सार अतुल सब रिपु का हर्ता।
भव दुःख करदे दूर विषय विष का हर्ता।।
करै कर्म निर्मूल सिद्धि सब सुख का दाता।
शिव सुख केवल बोध देत उसे जो जपता रहता।।१२।।
सुर संपद को है यह देता मुक्ति रमा को वश करता।
चारों गति की विपदा हरता निज रिपुओं की कृति हरता।।
दुर्गति का स्तम्भन करता रागद्वेष सारे हरता।
पंच नमन मय मन्त्राराधन सबही की रक्षा करता।।१३।।
सुख दुख संकट विपद में रण में दुर्गम पंथ।
जपो मंत्र नवकार नित सब विघ्नों का अंत।।१४।।
सब पापों को नाशता महामंत्र नवकार।
सभी मंगलों में प्रथम सकल सिद्धि आधार।।१५।।
नर सुर मुनि नृप इन्द्र भी जपे भक्ति उरधार।
पंच परम पद को नमन सौख्य शान्ति विस्तार।।१६।।

●

निर्वाणकाण्ड (भाषा)

वीतराग वंदौं सदा, भाव सहित सिरनाय।
कहूँ कांड निर्वाण की, भाषा सुगम बनाय।।

चौपाई

अष्टापद आदीश्वर स्वामी, वासुपूज्य चंपापुरि नामि।
नेमिनाथ स्वामी गिरनार, वंदौं भाव-भगति उर धार।।

चरम तीर्थंकर चरम-शरीर, पावापुरि स्वामी महावीर।
शिखरसम्मेद जिनेसुर बीस, भाव सहित वंदौं निश-दीस।।

वरदत्तराय रु इंद मुनिंद, सायर दत्त आदि गुणवृंद।
नगर तारवर मुनि उठ कोड़ि, वंदौं भाव सहित कर जोड़ि।।

श्रीगिरनार शिखर विख्यात, कोड़ि बहत्तर अरु सौ सात।
संबु प्रद्युम्न कुमर द्वै भाय, अनिरुद्ध आदि नमूं तसु पाय।।

रामचंद्र के सुत द्वै वीर, लाडनरिंद आदि गुणधीर।
पाँच कोडि मुनि मुक्ति मंझार, पावागिरि वंदौ निरधार।।

पाण्डव तीन द्रविड़-राजान, आठ कोडि मुनि मुकति पयान।
श्री शत्रुंजय-गिरि के सीस, भाव सहित वन्दौं निश-दीस।।

जे बलभद्र मुकति में गये, आठ कोड़ि मुनि और हू भये।
श्रीगजपन्थ शिखर सुविशाल, तिनके चरण नमूँ तिहुँ काल।।

राम हणू सुग्रीव सुडील, गव गवाख्य नील महानील।
कोड़ि निन्याणवै मुक्ति पयान, तुंगीगिरि वन्दौं धरि ध्यान।।

नंग अनंग कुमार सुजान, पांच कोडि अरु अर्ध प्रमान।
मुक्ति गये सोनागिरि-शीश ते वन्दौं त्रिभुवनपति ईश।।

रावण के सुत आदिकुमार, मुक्ति गये रेवा-तट सार।
कोटि पंच अरु लाख पचास, ते वन्दौं धरि परम हुलास।।

रेवानदी सिद्धवर कूट, पश्चिम दिशा देह जहँ छूट।
द्वै चक्री दश कामकुमार, ऊठकोड़ि वन्दौं भव पार।।

बड़वानी बड़नयर सुचंग, दक्षिण दिशि गिरि चूल उतंग।
इन्द्रजीत अरु कुम्भ जु कर्ण, ते वन्दौं भव-सायर-तर्ण।।

स्वर्णभद्र आदि मुनि चार, पावागिरि-वर-शिखर मंझार।
चेलना-नदी-तीर के पास, मुक्ति गये वन्दौं नित तास।।

फलहोड़ी बड़गाम अनूप, पश्चिम दिशा द्रोण गिरि रूप।
गुरुदत्तादि मुनीसुर जहाँ, मुक्ति गये वन्दौं नित तहाँ।।

बाल महाबाल मुनि दोय, नागकुमार मिले त्रय होय।
श्री अष्टापद मुक्ति मँझार, ते वन्दौं नित सुरत सँभार।।

अचलापुर की दिश ईसान, तहाँ मेढ़गिरि नाम प्रधान।
साढ़े तीन कोड़ि मुनिराय, तिनके चरण नमूँ चित लाय।।

वंसस्थल वन के ढिग होय, पश्चिम दिशा कुन्थुगिरि सोय।
कुलभूषण देशभूषण नाम, तिनके चरणनि करूँ प्रणाम।।

जसरथ राजा के सुत कहे, देश कलिंग पाँचसौ लहे।
कोटिशिला मुनि कोटि प्रमान, वन्दन करूँ जोरि जुग पान।।

समवसरण श्रीपार्श्व-जिनन्द, रेसिन्दी गिरि नयनानन्द।
वरदत्तादि पंच ऋषिराज, ते वन्दौं नित धरम-जिहाज।।

तीन लोक के तीरथ जहाँ, नित प्रति वन्दन कीजै तहाँ।
मन-वच-काय सहित सिर नाय, वन्दन करहिं भविक गुण गाय।।

संवत सतरहसौ इकताल, आश्विन सुदि दशमी सुविशाल।
'भैया' वन्दन करहिं त्रिकाल, जय निर्वाण काण्ड गुणमाल।।

बारहभावना

(श्री मंगतरायजी कृत)

दोहा

वंदू श्री अरहंत पद, वीतराग विज्ञान।
वरणूँ बारह भावना, जग जीवन-हित जान।।१।।

विष्णुपद छंद

कहाँ गये चक्री जिन जीता, भरत खंड सारा।
कहाँ गये वह राम-रु-लक्ष्मण, जिन रावण मारा।।

कहाँ कृष्ण रुक्मिणि सतभामा, अरु संपति सगरी।
कहाँ गये वह रंग महल अरु, सुवरन की नगरी।।२।।

नहीं रहे वह लोभी कौरव, जूझ मरे रन में।
गये राज तज पांडव वन को, अगनि लगी तन में।।
मोह-नींद से उठ रे चेतन, तुझे जगावन को।
हो दयाल उपदेश करैं गुरु, बारह भावन को।।३।।

1. अथिर भावना

सूरज चाँद छिपै निकलै ऋतु, फिर फिर कर आवै।
प्यारी आयु ऐसी बीते, पता नहीं पावै।।
पर्वत-पतित-नदी--सरिता--जल बह कर नहिं हटता।
स्वास चलत यों घटै काठ ज्यों, आरे सों कटता।।४।।

ओस- बूँद ज्यों गले धूप में, वा अंजुलि पानी।
छिन छिन यौवन छीन होत है क्या समझै प्रानी।।
इंद्रजाल आकाश नगर सम जग—संपति सारी।
अथिर रूप संसार विचारो सब नर अरु नारी।।५।।

2. अशरण भावना

काल-सिंह ने मृग-चेतन को, घेरा भव वन में।
नहीं बचावन-हारा कोई, यों समझो मन में।।
मंत्र यंत्र सेना धन संपति, राज-पाट छूटै।
वश नहिं चलता काल लुटेरा, काय-नगरि लूटै।।६।।

चक्ररत्न हलधर सा भाई, काम नहीं आया।
एक तीर के लगत कृष्ण की, विनश गई काया।।
देव धर्म गुरु शरण जगत में, और नहीं कोई।
भ्रम से फिरै भटकता चेतन, यूँ ही उमर खोई।।७।।

3. संसार भावना

जनम-मरन अरु जरा-रोग, से सदा दुखी रहता।
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव भव-परिवर्तन सहता।।
छेदन भेदन नरक पशुगति, बध बंधन सहना।
राग-उदय से दुख सुरगति में, कहाँ सुखी रहना।।८।।

भोगि पुण्य फल हो इकइंद्री, क्या इसमें लाली।
कुतवाली दिन चार वही फिर, खुरपा अरु जाली।।

मानुष-जन्म अनेक विपति मय, कहीं न सुख देखा।
पंचम गति सुख मिलै, शुभाशुभ को मेटो लेखा।।९।।

4. एकत्व भावना

जन्मै मरै अकेला चेतन, सुख-दुख का भोगी।
और किसी का क्या इक दिन यह, देह जुदी होगी।।
कमला चलत न पैंड जाय, मरघट तक परिवारा।
अपने अपने सुख को रोवैं, पिता पुत्र दारा।।१०।।

ज्यों मेले में पंथी जन मिल, नेह फिरैं धरते।
ज्यों तरुवर पै रैन बसेरा, पंछी आ करते।।
कोस कोई दो कोस कोई उड़ फिर थक थक हारै।
जाय अकेला हंस संग में, कोई न पर मारै।।११।।

5. भिन्न भावना (अन्यत्व भावना)

मोह-रूप मृग-तृष्णा जग में, मिथ्या जल चमकै।
मृग चेतन नित भ्रम में उठ उठ, दौड़ैं थक थक कै।।
जल नहिं पावै प्राण गवावै, भटक भटक मरता।
वस्तु पराई मानै अपनी, भेद नहीं करता।।१२।।

तू चेतन अरु देह अचेतन, यह जड़ तू ज्ञानी।
मिले-अनादि यतन तैं बिछुड़ै, ज्यों पय अरु पानी।।
रूप तुम्हारा सब सों न्यारा, भेद ज्ञान करना।
जौलों पौरुष थकै न तौलों, उद्यम सों चरना।।१३।।

6. अशुचि भावना

तू नित पोखै यह सूखे ज्यों, धोवै त्यों मैली।
निश दिन करै उपाय देह का, रोग-दशा फैली।।
मात-पिता-रज-वीरज मिल कर, बनी देह तेरी।
मांस हाड़ नश लहू राध की, प्रगट व्याधि घेरी।।१४।।
काना पौंडा पड़ा हाथ यह, चूसै तो रोवै।
फलै अनंत जु धर्म ध्यान की, भूमि-विषै बोवै।।
केसर चंदन पुष्प सुगंधित, वस्तु देख सारी।
देह परसते होय अपावन, निश दिन मल जारी।।१५।।

7. आस्रव भावना

ज्यों सर-जल आवत मोरी त्यों, आस्रव कर्मन को।
दर्वित जीव प्रदेश गहै जब पुद्गल भरमन को।।
भावित आस्रव भाव शुभाशुभ, निश दिन चेतन को।
पाप पुण्य के दोनों करता, कारण बंधन को।।१६।।
पन-मिथ्यात योग-पंद्रह द्वादश-अविरत जानो।
पंचरु बीस कषाय मिले सब, सत्तावन मानो।।
मोह-भाव की ममता टारै, पर परणति खोते।
करै मोक्ष का यतन निरास्रव, ज्ञानी जन होते।।१७।।

8. संवर भावना

ज्यों मोरी में डाट लगावै, तब जल रुक जाता।
त्यों आस्रव को रोकै संवर, क्यों नहिं मन लाता।।

पंच महाव्रत समिति गुप्ति कर, वचन काय मन को।
दश विध-धर्म परीषह-बाइस, बारह भावन को।।१८।।

यह सब भाव सतावन मिलकर, आस्रव को खोते।
सुपन दशा से जागो चेतन, कहाँ पड़े सोते।।
भाव शुभाशुभ रहित शुद्ध-भावन-संवर भावै।
डाँट लगत यह नाव पड़ी मझधार पार जावै।।१९।।

9. निर्जरा भावना

ज्यों सरवर जल रुका सूखता, तपन पड़ै भारी।
संवर रोकै कर्म, निर्जरा है सोखन हारी।।
उदय-भोग सविपाक-समय, पक जाय आम डाली।
दूजी है अविपाक पकावै, पाल विषै माली।।२०।।

पहली सबके होय, नहीं कुछ सरै काम तेरा।
दूजी करै जु उद्यम करकै, मिटै जगत फेरा।।
संवर सहित करो तप प्रानी, मिलै मुकत रानी।
इस दुलहिन की यही सहेली, जानै सब ज्ञानी।।२१।।

10. लोक भावना

लोक अलोक आकाश माहिं थिर, निराधार जानो।
पुरुष रूप कर-कटी भये षट, द्रव्यन सों मानो।।
इसका कोई न करता हरता, अमिट अनादी है।
जीवरु पुद्गल नाचै यामैं, कर्म उपाधी है।।२२।।

पाप पुण्य सों जीव जगत में, नित सुख दुख भरता।
अपनी करनी आप भरै शिर, औरन के धरता।।
मोह कर्म को नाश, मेट कर सब जग की आशा।
निज पद में थिर होय लोक के, शीश करो बासा।।२३।।

11. बोधि-दुर्लभ भावना

दुर्लभ है निगोद से थावर, अरु त्रस गति पानी।
नर काया को सुर पति तरसै, सो दुर्लभ प्रानी।।
उत्तम देश सुसंगति दुर्लभ, श्रावक कुल पाना।
दुर्लभ सम्यक दुर्लभ संयम, पंचम गुणठाना।।२४।।
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन, दीक्षा का धरना।
दुर्लभ मुनिवर के व्रत पालन, शुद्ध भाव करना।।
दुर्लभ से दुर्लभ है चेतन, बोधि ज्ञान पावै।
पाकर केवलज्ञान, नहीं फिर इस भव में आवै।।२५।।

12. धर्म भावना

धर्म 'अहिंसा परमो धर्मः' ही सच्चा जानो।
जो पर को दुख दे, सुख माने, उसे पतित मानो।।
राग द्वेष मद मोह घटा आतम रुचि प्रकटावे।
धर्म-पोत पर चढ़ प्राणी भव-सिन्धु पार जावे।।२६।।
वीतराग सर्वज्ञ दोष बिन, श्रीजिन की वाणी।
सप्त तत्व का वर्णन जामें, सब को सुखदानी।।

इनका चिंतवन बार बार कर, श्रद्धा उर धरना।
'मंगत' इसी जतन तैं इक दिन, भव-सागर-तरना।।२७।।

●

बारह मासा सीता सती का

बिन कारण स्वामी क्यों तजि, विनवै जनक दुलारि।
बिन कारण स्वामी क्यों तजी।।टेक।।

साढ घुमडि आये बादरा, घन गरजै चहुँओर।
निर्जन वन में स्वामी तुम तजी, बैठनकूं नहिं ठौर।।
बिन कारण स्वामी क्यों तजी, विनवै जनक दुलारि।।बिन०
क्या मैं सतगुरु निन्दियो, क्या दियो सतियन दोष।
क्या हम सत संजम तज्यो, किस कारण भयो रोष।।बिन
क्या पर पुरुष निहारिकें, पर भव कियो है निदान।
क्या इस भव इच्छा करी, क्या मैं कियो अभिमान।।बिन
कटुक वचन स्वामी नहिं कहे, हिंसा करम न कीन।
पर धन पर चित नहिं दियो, क्यों मन भयो है मलीन।।बिन
श्रावण तुम संग वन विषै, विपति सही भगवान।
पांव पयादी वन-वन में फिरी, तनक न राखी आन।।बिन०
स्वसुर दिसौटा जिस दिन तुम दियो, कियो भरत सरदार।
तादिन विकलप नहिं कियो, तज सम्पति भइ लार।।बिन०
जनक पिता की मैं हूं लाड़ली, मात विदेहा की बाल।
भ्रात प्रभा मण्डल से बली, विपत भरूँ बेहाल।।बिन०

मात मन्दोदरी गर्भ में, जन्मी रावण गेह।
पर-भव करम संयोग से, रावण कियो है सन्देह। ।बिन०
भादों पण्डित पूछियो, पण्डित करी है विचार।
कन्या के कारण राजा तुम मरो, दीनी तुरत विसार। ।बिन०
छोड़ी धर मंजूस मैं, जनक नगर वन बीच।
हल जोतत किसान के, लई करम ने खींच। ।बिन०
मरण भयो नहिं ता दिना, करम लिखे दु:ख दोष।
करी नजर राजा जनक ने, पाली पुत्र संजोग। ।बिन०
जनक स्वयंबर जब कियो, लिये सब भूप बुलाय।
दर्शन कर थारे वश भई, परी चरण बिच आय। ।बिन०
आश्विन मास फिर गये भूप सब, मो करुणा कियो युद्ध।
बहुत बली मारे रण विषै, ठायो धनुष प्रबुद्ध। ।बिन०
खरदूषण के युद्ध में, आयो रावण दौड़।
छल कर धोका प्रभु तोहि दियो, नाद बजायो घनघोर ।बिन०
जल्दी पधारो प्रभु मैं घिर गयो, तुम जानी भगवान।
कष्ट पड्यो जी मेरे भ्रात पै, उपज्यो मोह निदान। ।बिन०
मोहि लकोई पात बटोरिकैं, करम लिखी कछु और।
आप पधारे अपने वीर पै, आ गयो रावण चोर। ।बिन०
चील झपट्टा करिकै ले गयो, मोकूं अधर उठाय।
देखी नाथ जटायुनैं, क्या तुम जानत नाहिं। ।बिन०
झपटि-झपटि वाकै शिर हुयो मुकुट खसोटयो मूंछ उपारि।
मारि तमाचो डारयो भूमि पर, पक्षी खाईजी पछार। ।बिन०
लक्ष्मण तुमहिं निहारिकै, बात कही करि गौर।
बिनहिं बुलाये आये भ्रात क्यों, है कछु कारण और। ।बिन०

काहू छलियाने यह कछु छल कियो कै कछु करम चरित्र।
नहिं पिछान्यो जावे युद्ध में, कौन है बैरी कौन मित्र।।बिन०
कातिक तुरत पठाइयो, उलट तुम्हें थारे भ्रात।
विनही बुलाए आये आप क्यूं, शत्रु करेंगे उतपात।।बिन०
आए जी तुरत रक्षा करनकूं, हमसे धर प्रभु प्यार।
बिखरे ही पाये पत्र बेल तब, खाई आप पछार।।बिन०
भ्रात हटाई आके मूरछा, सकल शत्रु गण जीत।
पड़ा जटायू सिसकता, श्रावक धर्म पुनीत।।बिन०
जन्म सुधारयो वाको आपने, मो विन पायो नहिं चैन।
डारी-डारी ढूंढी वन विषैं, रोय सुजाये तुम नैन।।बिन०
धीर बँधाई लक्ष्मण भुजबली, बहुत करी थारी सेव।
विपति कटैगी प्रभुधीरज धरै, तदपि न माने थे तुम देव।।बिन०
ल्याऊँ काढ़ पताल से, ल्याऊँ पर्वत फोर।
अवर मिलैं सो सब कुछ मैं करूँ, चीर बगाऊँ थारो चोर।।बिन०
फेर मिले जी प्रभु सुग्रीव से, साहसगति दियो मार।
पाय सुतारा ल्यायो हुनमानकूं, ढूंढ़न भेज्यो मोहि ततकाल।।बिन०
अगहन खबर मंगायकै, मो ढिग भेज्यो हनुमान।
कूदि समुन्दर गयो गढ़लंकमें, भेजी तुम मुंदरी भगवान।।बिन०
तुम बिन बैठी रोऊँ बाग में, रामहि राम पुकार।
अन्न कियो ना पानी मैं पियो, पर-वश पड़ी थी लाचार।।बिन०
मधु धुलवायो हनुमान ने, तुम आज्ञा परबान।
प्राण बचाये मेरे विपत में, करवायो जलपान।।बिन०

तुरतही भेज्यो तुमरे चरण में, चूड़ामणि दियो डारि।
गाय फँसी है गाढ़ी गार में, खैंच निकारोजी भरतार।।बिन०
पौष चढ़े जो गढ़लङ्कपै, युद्ध कियो भगवान।
गारत किये लाखों सूरमा, मार कियो घमसान।बिन०
काटा शिर लंकेश का, लक्ष्मी घर वर वीर।
कूद पड़ेजी योधा लङ्क में, लवण समुन्दर चीर।।बिन०
ल्याये तुरत छुड़ाय के, अशरण शरण अधार।
इतनी कर ऐसी क्यों करी, घर से दई क्यूं निकार।।बिन०
पग भारीजी गिरि-गिर मैं पड़ूं, शरण सहाय न कोय।
अपनी कही न मेरी तुम सुनी, बहुत अन्देशा है मोहि।।बिन०
माघ प्रभुजी पाला पड़ रहया, पड़नेकूं नहिं सेज।
ओढ़नकू नहिं काँबली, दई क्यूं विपति में भेज।।बिन०
सिंह घडुकैं कूकैं भेड़िये, मारै गज चिंघाड़।
थर-थर कांपै थाँरी कामिनी, स्यालिनी रही दहाड़।।बिन०
भूत पिशाच गण, रुण्ड मुण्ड विकराल।
सनन सनन सारा वन करै, काँटे चुभैजी कराल।।बिन०
कित बैठूं लेटूं कित प्रभू, पास खवास न कोय।
अन्न करूँ ना पानी मैं पिऊँ, बालककूं दु:ख होय।।बिन०
तुम सब जानत मेरे हालकूं, अष्टम बलि अवतार।
तुम सूरज मैं पटवीजनी, क्या समझाऊँ भरतार।।बिन०
समरथ है प्रभु क्यों कसी, प्रकट किया क्यों ना दोष।
धोका दे क्यों धक्का दियो, आवै नहिं सन्तोष।।बिन०

फाल्गुण आईजी अठाइयाँ, अपने करम दे दोष।
ध्यान धरयो भगवान को, बैठ रही मनमोस।।बिन०
अरज करौं प्रभु दरबार में, ममता भाव निवार।
तुमही पिता प्रभु तुम मात हो, तुम ही भ्रात हमार।।बिन०
निर्धन के प्रभु तुम धनी, निर्जन के परिवार।
इक बार राम मिलाय के, दीजियों दोष उतार।।बिन०
तुम हो प्रभु राजा धरमके, परजा लगायो हमैं दोष।
शील में मेरे सब संशय करैं, राम रुसाये हुए रोष।।बिन०
त्याग दियो हम रामजी, त्याग दियो संसार।
गर्भवती हूं संजोग से, इससे हुई हूं लाचार।।बिन०
जिस दिन प्रभु पल्लापाक हो, मिलै मोहि भरतार।
भरम मिटाकै धारूँ धरम को, त्यागूं सब संसार।।बिन०
भावै यों सीता बैठी भावना, ध्यावे पद नवकार।
पाप घटयों प्रगटयो पुण्य फल, सुन लई तुरत पुकार।।बिन०
पुण्डरीक पुर नगर का, वज्रजंघ भूपाल।
आयो पुण्य संयोगसों, गज पकड़न तिहिं काल।।बिन०
ढूंढत गजपति वन विषैं, भनक पड़ी वाकै कान।
कोई सतवन्ती रोवै वन विषैं, किनही सताई अज्ञान।।बिन०
दोष लगायो कहा पूछियो, गज तज उतरयोधीर।
विनय सहित दु:ख पूछन चल्यो, जैसे बहनाके घर वीर।।बिन०
तुम हो बहन मेरी धर्म की, विपत कहो समुझाय।
मात-पिता परिवार से, दूंगा बहिन मिलाय।।बिन०
जनक पिता की मैं हूँ लाड़ली, भ्रात भामण्डल धीर।
स्वसुर हमारे दशरथ, नृपवली भर्ता श्री रघुवीर।।बिन०

रावण हर ले गयो, दोष धरै संसार।
शील में सब संशय करैं, दीनी राम निकार।।बिन०
सुनी कथा छाती थरहरी, टपकैं असुवन धार।
हायरे कर्म ऐसी क्यों कसी, कियो तुरत उपगार।।बिन०
देव धरम दिय बीच में, बहन बनाई तत्कार।
पुण्डरीक पुर ले गयो, करि के गज असवार।।बिन०
पुत्र भये लव अंकुश बली, शिवगामी अवतार।
वज्रजङ्घ रक्षा करी, पाल किया हुशियार।।बिन०
चैत्र मास नारद मुनि, मिले चरण पड़े दोऊ वीर।
राम लखन की-सी सम्पदा, हूज्यो थारै वर वीर।।बिन०
पूछ्यो तबै अपनी मातसूं, राम-लक्ष्मण माता कौन।
टस-टस लागे आँसू टपकने, मार्यो मन धार्यो मौन।।बिन०
नरद मुनि समझाइयो, पिछलो सकल वृतान्त।
सुनत उठे योधा खड्ग ले, बैठ विमान तुरन्त।।बिन०
घेरि अयोध्या रणभेरि दई, काँपे सुरग पताल।
सोच भयो श्री रघुवीर को, आये कौन अकाल।।बिन०
निकसे दोऊ भ्राता युद्धकूं, खूब मचा घमसान।
राम-लक्ष्मण घबरा दिये, तोड़यो रथ काटे बाण।।बिन०
हल मूशल धारे राम ने, लक्ष्मण चक्र सम्भार।
सात बार फेंक्यों तानके, वृथा ही गये सातों वार।।बिन०
हम हरि बल अरु ये किधौं, उपज्यों सोच अपार।
आग बबूला होकै फिर लियो, चक्र प्रलय करतार।।बिन०
तब नारद आये भूमि पर, राम लक्ष्मण ढिग जाय।
बात कही सब समुझायकै, किसपै कोपे रघुराय।।बिन०

पुत्र तुम्हारे दोऊ भुजबली, लव-अंकुश बलवन्त।
मात विपति सुनि कोपिया, भाख्यो सकल वृतान्त। ।बिन०
भरि आई छाती श्रीरघुवीर की, रणकूं दियो है निवार।
आय परे सुत चरण में, लीने दोऊ पुचकार। ।बिन०
मास बैशाख बसन्त ऋतु, सुनि सीताजी की सार।
भाग पड़े हनुमन्त से बली, ल्याये करि मनुहार। ।बिन०
वज्रजङ्घ आयो धूम से, लायो सब परिवार।
राम कहैं मैं आने दूं नहीं, सीता दई मैं निकार। ।बिन०
जो आवै तो आवो इसतरां, कूदो अगनि मझार।
देय परीक्षा अपने शील की, होवे मेटी पटनार। ।बिन०
सीता सती प्रण धारियो, होवै कुण्ड तैयार।
अगन जलावो देर मत करो, इक जोजन विस्तार। ।बिन०
साड़ी कसि त्यारी करी, अंग ढक्यों बड़भाग।
कुण्ड खुदायो मनभावती, चेतन कर दई आग। ।बिन०
जाय चढ़ी ऊँचे दमदमे, देखै सब संसार।
सत मूरत सूरत सोहनी, मनमैं हर्ष अपार। ।बिन०
देखैं देवी देवता, देखैं भवन पतीस।
चन्द्र-सूरज देखैं ज्योतिषी, देखैं भूत पतीस। ।बिन०
देखैं सब विद्याधरा, देखैं गण गन्धर्व।
कमर कसी फौजें आ पड़ी, देखैं राजा सर्व। ।बिन०
अगनि लपट उठी गगनलौं, तड़तड़ाट भयो घोर।
कहत प्रजा श्रीरामसों, क्यों प्रभु भये हो कठोर। ।बिन०
वज्र बचै ना ऐसी अगनि में, फटि धरणि पताल।
पर्वत फटि मठ गिर पड़ैं, हे प्रभु कीजिये टाल। ।बिन०

राम खड्ग सूंत्यो हाथ में, मत कोई कहोजी बनाय।
आज्ञा मानै मेरी जानकी, देवै भरम मिटाय।।बिन०
हुकम दियो रघुवीर ने, शील परीक्षा देहु।
नातर क्यों आई तू यहां, परजा करै है सन्देह।।बिन०
पञ्च परमगुरु वन्दिकैं, करि पतिकूं प्रणाम।
छिमा कराई सब जीवसों, देखैं लक्ष्मण-राम।।बिन०
पुत्र जुगल छोड़ रोवते, सो हैं चन्द्र समान।
हर्ष भरी सतवन्ती महा, बोली वचन महान।।बिन०
जो पर-पुरुष निहारिकै, मैं कछु कियो है कुभाव।
भस्म अगनि मोहि कीजियो, नातर जल हो जाव।।बिन०
जेठ तपै सूरज आकरो, नीचे अगनि प्रचण्ड।
आस-पास जल थल सभी, सूकि गए वन खण्ड।।बिन०
कूद पड़ी जलती अगनि में, शान्ति भई ततकार।
उभर कमल अकाशलों, लीनी अधर सहार।।बिन०
जल हलरावै बोलैं हँसनी, कर रही मीन कलोल।
छत्र फिरैजी उसके शीश पै, इन्द्र चँवर रह ढोल।।बिन०
शीतल मन्द सुगन्ध युत, मीठी-मीठी चलत बयार।
वरषै मनु अमृत कणी, देव करैं जैजैकार।।बिन०
धन्य सती धन सतवन्तिनी, धन-धन धीरज येह।
धिक्-धिक् हम उनकूं करैं, जिनके मन सन्देह।।बिन०

●

बारह भावना सीताजी की

सीता भावै मन में भावना, यह संसार अनित्य।
धर्म बिना तीनों लोक में, शरण सहाई ना मित्त। ।बिन०

उलट-पुलट चालै रहट सा, यह संसारी चक्र।
एक अकेलो भटकै आत्मा, क्या पशु पंछी क्या शक्र। ।बिन०

ना कोई जग में अपना, ओर न हम काहूके मीत।
अशुचि अपावन तन विषै, करम करै विपरीत। ।बिन०

संबर जल बिन ना बुझै, तृष्णा अगनि प्रचण्ड।
कर्म खिपाये बिन ना खपै, भटकै सब ब्रह्मण्ड। ।बिन०

दुर्लभबोध जगत में, दुर्लभ श्री जिन धर्म।
दुर्लभ स्वपथ विचार है, कर्मन डारयो भर्म। ।बिन०

पर-वश भोगी भारी वेदना, स्ववश सही नहिं रञ्च।
शाश्वत सुख जासां पावती, लई करम ने वञ्च। ।बिन०

अब मैं सब वेदन सही, कीनी धर्म सहाय।
प्रतिज्ञा पूरी करूं, मोह महा दु:खदाय। ।बिन०

राम कहै प्यारी चल घरां, ल्या ध्रुज में भुज डार।
पाड़ि शिखा करपै धरि दई, त्यागयो हम संसार। ।बिन०

तुम त्यागी निर्दोषकूं, हम त्यागे लख दोष।
करिकै छिमा मैं संजम लियो, करियो मत अफसोस। ।बिन०

गई सतीजी वन खण्डकूं, भई अर्जिका धीर।
उग्र-उग्र तप वह करै, सब दु:ख सहै है शरीर। ।बिन०
पूरी करि परजायकूं, अच्युत सुरग मझार।
इन्द्र भईजी पुण्य संयोगसों, भोगै सुक्ख अपार। ।बिन०

इति बारहमासा सीता सती का समाप्त।

●

समाधि मरण भाषा

वन्दौं श्रीअरहन्त परम गुरु, जो सबको सुखदाई।
इस जग में दु:ख जो मैं भुगते, सो तुम जानो राई।।
अब मैं अरज करूँ प्रभु तुमसे, कर समाधि उर माहीं।
अन्त समय मैं यह वर मांगूं, सो दीजे जग राई।।१।।
भव-भवमें तनधार नयो मैं, भव-भव शुभ संग पायो।
भव-भव में नृपऋद्धि लई मैं, मात-पिता सुत थायो।।
भव-भव में तन पुरुषतनों धर, नारी हू तन लीनो।
भव भव में मैं भयो नपुंसक, आतमगुण नहीं चीनो।।।२।।
भव भवमें सुर पदवी पाई, ताके सुख अति भोगे।
भव भव में गति नरकतणी धर, दु:ख पाये विधि योगे।।
भव भव में तिर्यंच योनि धर, पायो दु:ख अति भारी।
भव भव में साधर्मीजनको, संग मिल्यो हितकारी।।३।।

भव भव में श्रीजिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो।
भव भव में समवशरण में, देखो श्रीजिन गुण भीनो।।
एती वस्तु मिली भव-भव में सम्यक्गुण नहिं पायो।
न समाधियुत मरण कियो मैं, तातें जग भरमायो।।४।।
काल अनादि भयो जग भ्रमतैं, सदा कुमरणहिं कीनो।
एक बार हू सम्यक्युत मैं, निज आतम नहिं चीनो।।
जो निज परको ज्ञान होय तो, मरण समय दुःख काई।
देह विनाशी मैं निज भासी, जोति स्वरूप सदाई।।५।।
विषय कषायन के वश होकर, देह आपनो जान्यो।
कर मिथ्या सरधान हिये बिच, आतम नाहि पिछान्यो।।
यों क्लेश हिय धार मारण कर, चारों गति भरमायो।
सम्यक्दर्शन-ज्ञान चरण ये, हिरदे में नहिं लायो।।६।।
अब या अरज करूँ प्रभु सुनिये, मरण समय यह मांगो।
रोग जनित पीड़ा मत होवे, अरु कषाय मत जागो।।
ये मुझ मरण समय दुःखदाता, इन हर साता कीजे।
सो समाधियुत मरण होय मुझ, अरु मिथ्यागद छीजे।।७।।
यह तन सात कुधातमई है, देखतही घिन आवै।
चर्मलपेटी ऊपर सोहै, भीतर विष्टा पावै।।
अति दुर्गंध अपावनसों यह, मूरख प्रीति बढावै।
देह विनासी, जिय अविनाशी नित्यस्वरूप कहावै।।८।।
यह तन जीर्ण कुटीसम आतम, यातें प्रीति न कीजै।
नूतन महल मिलै जब भाई, तब यामैं क्या छीजे।।

मृत्यु होन से हानि कौन है, याको भय मत लावो।
समता से हो देह तजोगे, तो शुभ तन तुम पावो।।९।।
मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, इस अवसर के माहीं।
जीरण तन से देत नयो यह, या सम काहू नाहीं।।
या सेती इस मृत्यु समय पर, उत्सव अतिही कीजै।
क्लेश भाव को त्याग सयाने, समता भाव धरीजै।।१०।।
जो तुम पूरब पुण्य किये हैं, तिनको फल सुखदाई।
मृत्यु मित्र बिन कौन दिखावै, स्वर्ग सम्पदा भाई।।
राग-रोष को छोड़ सयाने, सात व्यसन दुखदाई।
अन्त समय में समता धारो, पर भव पंथ सहाई।।११।।
कर्म महा दुठ वैरी मेरो, ता सेती दुःख पावै।
तन पिञ्जर में बन्ध कियो मोहि, यासों कौन छुड़ावै।।
भूख तृषा दुःख आदि अनेकन, इस ही तन में गाढ़े।
मृत्युराज अब आय दया कर, तन पिञ्जरसों काढै।।१२।।
नाना वस्त्राभूषण मैंने, इस तन को पहराये।
गन्ध सुगन्धित इतर लगाये, षट्रस असन कराये।।
रात्रि-दिना मैं दास होय कर, सेव करी तन केरी।
सो तन मेरे काम न आयो भूल रह्यो निधि मेरी।।१३।।
मृत्युराय को शरण पाय तन, नूतन ऐसो पाऊँ।
जा में सम्यक् रतन तीन लहि, आठों कर्म खपाऊं।।
देखो तन सम और कृतघ्नी, नाहिं सु या जगमाहीं।
मृत्यु समय में येही परिजन, सबही हैं दुःखदाई।।१४।।

यह सब मोह बढ़ावनहारे, जियको दुर्गति दाता।
इनसे ममत निवारो जियरा, जो चाहो सुखसाता।।
मृत्यु कल्पद्रुम पाय सयाने, मांगो इच्छा जेती।
समता धर कर मृत्यु करो, तो पावो सम्पति तेती।।१५।।
चौआराधन सहित प्राण तज, तो या पदवी पावो।
हरि प्रति हरि चक्री तीर्थेश्वर, स्वर्ग मुक्ति में जावो।।
मृत्यु कल्पद्रुम सम नहिं दाता, तीनों लोक मझारे।
ताको पाय क्लेश करो मत, जन्म जवाहर हारे।।१६।।
इस तन में क्या राचै जियरा, दिन दिन जीरण हो है।
तेजकान्ति बल नित्य घटत है, या सम अथिर सु को है।।
पांचों इन्द्री शिथिल भई अब, स्वास शुद्ध नहिं आवै।
तापर भी ममता नहिं छोड़ै, समता उर नहिं लावै।।१७।।
मृत्युराज उपकारी जियको, तनसौं तोंहि छुड़ावै।
नातर या तनबन्दी गृह में, परयो परयो बिललावै।।
पुद्गल के परमाणु मिलकैं, पिण्ड रूप तन भासी।
याही मूरत मैं अमूरती, ज्ञान जोति गुण खासी।।१८।।
रोग-शोक आदिक जो वेदन, ते सब पुद्गल लारै।
मैं तो चेतन व्याधि बिना, नित हैं सो भाव हमारे।।
या तनसों इस क्षेत्र सम्बन्धी, कारण आन बन्यो है।
खान-पान दे याको पोष्यो, अब सम भाव ठन्यो हैं।।१९।।
मिथ्यादर्शन आत्मज्ञान बिन, यह तन अपनो जान्यो।
इंद्रीभोग गिने सुख मैंने, आपो नाहिं पिछान्यो।।

तन विनशनतैं नाश जानि निज, यह अयान दुखदाई।
कुटुम्ब आदिको अपनो जान्यों, भूल अनादि छाई।।२०।।
अब निज भेद जथारथ समझयो, मैं हूं ज्योतिस्वरूपी।
उपजै विनसै सो यह पुद्गल, जान्यो याको रूपी।।
इष्टऽनिष्ट जेते सुख दुख हैं, सो सब पुदगल सागै।
मैं जब अपनो रूप विचारों, तब वे सब दुख भागे।।२१।।
बिन समता तन अनन्त धरे मैं तिनमैं ये दु:ख पायो।
शस्त्रघाततैं अनन्त बार मर, नाना योनि भ्रमायो।।
बार अनन्तहि अग्नि माहिं जर, मूवो सुमति न लायो।
सिंह व्याघ्र अहि अनन्त बार मुझ, नाना दु:ख दिखायो।।२२।।
बिन समाधि ये दु:ख लहे हैं, अब उर समता आई।
मृत्युराजको भय नहिं मानो, देवै तन सुखदाई।।
यातैं जब लग मृत्यु न आवै, तब लग जपतप कीजै।
जपतप बिन इस जग के माहीं, कोई भी नहिं सीजै।।२३।।
स्वर्ग सम्पदा तपसों पावै, तपसों कर्म नसावै।
तपही सों शिवकामिनि पति है, यासों तप चित लावै।।
अब मैं जानी समता बिन, मुझ कोई नाहिं सहाई।
मात-पिता सुत बांधव तिरिया, ये सब हैं दु:खदाई।।२४।।
मृत्यु समय में मोह करें ये, तातैं आरत हो है।
आरततै गति नीची पावै, यों लख मोह तज्यो है।।
और परिग्रह जेते जग में, तिनसों प्रीति न कीजै।
पर भव में ये संग न चालैं, नाहक आरत कीजै।।२५।।

जे जे वस्तु लखत हैं ते पर, तिनसों नेह निवारो।
पर-गति में ये साथ न चालैं, ऐसो भाव विचारो।।
जो पर भव में संग चलैं तुझ, तिनसे प्रीति सु कीजै।
पञ्च पाप तज समता धारो, दान चार विधि कीजै।।२६।।
दश लक्षणमय धर्म धरो उर, अनुकम्पा उर लाओ।
षोडश कारण नित्य विचारो, द्वादश भावना भावो।।
चारों परवी प्रोषध कीजे, अशन रात्रि को त्यागो।
समता धर दुर्भाव निवारो, संयमसों अनुरागो।।२७।।
अन्त समय में ये शुभ भावहि, होवैं आनि सहाई।
स्वर्ग मोक्षफल तोहि दिखावै, ऋद्धि देहिं अधिकाई।।
खोटे भाव सकल जिय त्यागो, उरमें समता लाके।
जा सेती गति चार दूर कर, बसो मोक्षपुर जाके।।२८।।
मन थिरता करके तुम चिन्तो, चो आराधन भाई।
ये ही तोको सुखकी दाता, और हितु कोउ नाहीं।।
आगे बहु मुनिराज भये हैं, तिन गहि थिरता भारी।
बहु उपसर्ग सहे शुभ भावन, आराधन उर धारी।।२९।।
तिनमें कछुइक नाम कहूं मैं, सुनो जिया चित लाके।
भाव-सहित अनुमोदे तासे, दुर्गति होय न ताके।।
अरु समता निज उरमैं आवै, भाव अधीरज जावै।
यो निशदिन जो उन मुनिवर को, ध्यान हिये विचलावे।।३०।
धन्य धन्य सुकुमाल महा मुनि, कैसे धीरज धारी।
एक श्यालनी युगबच्चायुत, पांव भख्यो दुःख कारी।।

यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
जो तुमरे जिय कौन दु:ख है? मृत्यु महोत्सव भारी।।३१।।
धन्य धन्य जु सुकौशल स्वामी, व्याघ्रीने तन खायो।
तो भी श्रीमुनि नेक डिगे नहिं, आतम सो हित लायो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।।
जो तुमरे जिय कौन दु:ख है? मृत्यु महोत्सव भारी।।३२।।
देखो गज मुनि के शिर ऊपर, विप्र अगिनि बहु बारी।
शीश जलै जिम लकड़ी जिनको, तौ भी नाहिं चिगारी।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।
जो तुमरे जिय कौन दु:ख है? मृत्यु महोत्सव भारी।।३३।।
सनतकुमार मुनि के तन में, कुष्ट वेदना व्यापी।
छिन्न-भिन्न तन तासों हूवों, तब चिंत्यो गुण आपी।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दु:ख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।३४।।
श्रेणिक सुत गंगा में डूब्यो तब जिन नाम चितारयो।
धर सल्लेखना परिग्रह छोड़यो शुद्ध भाव उर धारयो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित्त धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दु:ख है मृत्यु महोत्सव भारी।।३५।।
समन्तभद्र मुनिवर के तन में, क्षुधा वेदना आई।
तो दु:ख में मुनि नेक न डिगियो, चिंत्यो निज गुण भाई।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दु:ख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।३६।।

ललित घटादिक तीस दोय मुनि, कोशाम्बी तट जानो।
नदी में मुनि बह कर मूवे, सो दुःख उन नहिं मानो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।३७।।
धर्मघोष मुनि चम्पा नगरी, वाह्य ध्यान धर ठाढ़ो।
एक मास की कर मर्यादा, तृषा दुःख सह गाढ़ो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।३८।।
श्रीदत्त मुनि को पूर्व जन्म को, बैरी देव सु आके।
विक्रिय कर दुःख शीत तनो सो, सह्यो साधु मन लाके।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।३९।।
वृषभसेन मुनि उष्ण शिलापर, ध्यान धरो मनलाई।
सूर्य घाम अरु उष्ण पवन की, वेदन सहि अधिकाई।।
यह उपसर्ग सह्‌यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।४०।।
अभयघोष मुनि काकन्दीपुर, महा वेदना पाई।
बैरी चण्डने सब तन छेद्यो, दुःख दीनो अधिकाई।।
यह उपसर्ग सह्‌यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।४१।।
विद्युतचरने बहु दुःख पायो, तो भी धीर न त्यागी।
शुभ भावन से प्राण तजे निज, धन्य और बड़भागी।।

यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।४२।।
पुत्र चिलाती नामा मुनि को, बैरी ने तन घाता।
मोटे-मोटे कीट पड़े तन, तापर निज गुण राता।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।४३।।
दण्डक नामा मुनि की देही, वाणन कर अरि भेदी।
तापर नेक डिगे नहिं वे मुनि, कर्म महारिपु छेदी।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।४४।।
अभिनंदन मुनि आदि पांच सौ, घानी पेलि जु मारे।
तो भी श्रीमुनि समताधारी, पूरबकर्म विचारे।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।४५।।
चाणक्य मुनि गौघर के माहीं, मूंद अगिनि परजाल्यो।
श्री गुरु उर समभाव धारकै, अपनो रूप सम्हाल्यो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।४६।।
सात शतक मुनिवर दुःख पायो, हथनापुर में जानो।
बलिब्राह्मणकृत घोर उपद्रव, सो मुनिवर नहिं मानो।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।४७।।

लोहमयी आभूषण घढ़ के, ताते कर पहराये।
पांचों पाण्डव मुनि के तन में, तो भी नाहिं चिगाये।।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी।
तौ तुमरे जिय कौन दु:ख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।४८।।
और अनेक भये इस जग में, समता रस के स्वादी।
वे ही हमकों हों सुखदाता, हरि हैं टेव प्रमादी।।
सम्यकदर्शन ज्ञान चरण तप ये आराधन चारों।
ये ही मोकों सुख के दाता, इन्हें सदा उर धारों।।४९।।
यों समाधि उर माहीं लावों, अपनो हित जो चाहो।
तज ममता अरु आठों मदको जोति स्वरूपी ध्यावो।।
जो कोई नित करन पयानो, ग्रामान्तर के काजै।
सो भी शकुन विचारे नीके, शुभ के कारण साजै।।५०।।
मात पितादिक अरु सर्व कुटुम सौं, नीके शकुन बनावै।
हल्दी धनिया पुंगी अक्षत, दूध दही फल लावे।।
एक ग्राम जाने के कारण, करैं शुभाशुभ सारे।
जब परगति को करत पयानो, तब नहिं सोचो प्यारे।।५१।।
सर्व कुटुम्ब जब रोवन लागै, तोहि रुलावे सारे।
ये अपशकुन करैं सुन तोकों, तू यों क्यों न विचारे।।
अब परगति को चालत बिरियां धर्मध्यान उर आनो।
चारों आराधन आराधो, मोहतनो दु:ख हानो।।५२।।
होय नि:शल्य तजो सब दुविधा, आतमराम सुध्यावो।
जब परगति को करहु पयानो, परम तत्त्व उर लावो।।

मोह जाल को काट पियारे, अपनो रूप विचारो।
मृत्यु मित्र उपकारी तेरे, यों उर निश्चय धारो।।५३।।

दोहा

मृत्यु महोत्सव पाठको, पढ़ो सुनो बुधिवान।
सरधा धर नित सुख लहो, सूरचन्द शिवथान।।
पञ्च उभय नव एक नभ, संवत सौ सुखदाय।
आश्विन श्यामा सप्तमी, कह्यो पाठ मनलाय।।

●

अठाई रासा

प्राणी वरत अठाई जे करैं, ते पावे भव पार।। प्राणी०।।
जम्बूद्वीप सुहावनों, लख योजन विस्तार।
भरतक्षेत्र दक्षिण दिशा, पोदनपुर हित सार।।प्राणी०।।
विद्यापति विद्या धरी, सोमा रानी राय।
समकित श्रावक व्रत धरे, धर्म सुने अधिकाय।।प्राणी०।।
चारण मुनि तहां पारणों, आये राजा गेह।
सोमा रानी आहार दे, पुण्य बढ़ो अति नेह।।प्राणी०।।
तिस समय नभ में देवता, चले जात विमान।
जय-जय शब्द भयो घनो, मुनिवर पूछो ज्ञान।।प्राणी०।।
मुनिवर बोले राय सुनि, नन्दीश्वर सुर जात।
जे नर करहिं स्वभाव सो, ते होवें शिव पात।।प्राणी०।।

यही वचन रानी सुने, मन में भयो आनन्द।
नन्दीश्वर पूजा करै, ध्यावै आदि जिनेन्द्र।।प्राणी०।।
कार्तिक फाल्गुण षाढ़ में, पाले मन वच देह।
वसु दिन वसु पूजा करै, तीन भवान्तर लेह।।प्राणी०।।
विद्यापति सुनि चालियौ, रच्यो विमान अनूप।
रानी वरजै राय को, तुम तो मानुष भूप।।प्राणी०।।
मानुषोत्तर लंघत नहीं, मानुष जाती जात।
जिनवाणी निश्चय सही, तीन भुवन विख्यात।।प्राणी०।।
सो विद्यापति ना रहो, चलो नन्दीश्वर द्वीप।
मानुषोत्तर गिरिसो मिलो, जायो न जाय महीप।।प्राणी०।।
मानुषोत्तर से भेंटतैं, परो धरणि शिर भार।
विद्यापति भव चूरियो, देव भयो सुरसार।।प्राणी०।।
द्वीप नन्दीश्वर छिनक में, पूजा वसु विधि ठान।
करी सु मन वच काय से, माला पहनी आन।।प्राणी०।।
विद्यापति को रूप धरि, परखन रानी बात।
आनन्द सो घर आइयो, नन्दीश्वर करि जात।।प्राणी०।।
रानी बोले राय सों, यह तो कबहुँ न होय।
जिनवाणी मिथ्या नहीं, निश्चय मन में सोय।।प्राणी०।।
नन्दीश्वर जयमाला को, राय दिखाई आन।
अब सांचों मोहि जानियो, पूजा करी बहुमान।।प्राणी०।।
रानी फिर तासों कहै, यह भव परसैं नाहिं।
पश्चिम सूरज ऊगई, हो विष अमृत माहिं।।प्राणी०।।
चन्द अङ्गारा जो झरे, खिला कमल उपजन्त।
रवि अन्धेरा जो करे, बालू घी निकलन्त।।प्राणी०।।

पुनि रानी सों नृप कहे, बावन भवन जिनाल।
तेरह चौका बन्दि कर, पूजा करी तत्काल। ।प्राणी०।।
जयमाला तहां मो मिली, आयो हूं तुझ पास।
अब तू मिथ्या मत कहे, पूज करी तज आस। ।प्राणी०।।
पूरब दक्षिण वन्दि कर, पश्चिम उत्तर जान।
मैं मिथ्या नही भाष हूँ, मोहि जिनवरकी आन। ।प्राणी०।।
सुन राजा तैं सच कही, जिनवाणी शुभ सार।
ढाई द्वीप न लङ्घई, मानुष गिरि विस्तार। ।प्राणी०।।
विद्यापति से सुर भयो, रूप धारि यह सोय।
रानी की तब स्तुति करी, निश्चय समकित तोय। ।प्राणी०।।
देव कहे रानी सुनो, मानुषोत्तर गिरि जाय।
तहँ तैं चय है सुर भयो, पूजि नन्दीश्वर आय। ।प्राणी०।।
एक भवान्तर मो रहो, जिन शासन प्रमाण।
मिथ्याती माने नहीं, श्रावक निश्चय आण। ।प्राणी०।।
सुरचय तहां हयनापुरी, राजा कियो भरपूर।
परिग्रह तज संयम लियो, कर्म महागिरि चूर। ।प्राणी०।।
केवलज्ञान उपाय कर, मोक्ष गयो मुनिराय।
शाश्वत सुख विलसे सदा, जामन मरण मिटाय। ।प्राणी०।।
अब रानी की सुन कथा, संयम लीनो सार।
तप करके वह सुर भई, विलसे सुख विस्तार। ।प्राणी०।।
गजपुरी नगरी अवतरी, राम करै बहु भाय।
सोलह कारण भाईयो, धर्म सुनो अधिकाय। ।प्राणी०।।
मुनि संघाटक आइयो, माली सार जनाय।
राजा वन्दे भावसों, पुण्य बढ़ी अधिकाय। ।प्राणी०।।

राजा मन वैरागियो, संयम लीनो सार।
आठ सहस नृप साथ ले, यह संसार असार।।प्राणी०।।
केवलज्ञान उपाय के, दोय सहस निर्वाण।
दोय सहस सुख स्वर्ग के, भोग भोग सुथान।।प्राणी०।।
चार सहस भूलोक में, भोगूं बहु संसार।
काय पाय शिव जायेंगे, उत्तम धर्म विचार।।प्राणी०।।
याही मानुष लोक में, तीन जन्म प्रमाण।
लोकालोक सुजान ही, सिद्धार्थ कुल ठाण।।प्राणी०।।
भव समुद्र के तरण को, बावन नौका जान।
जे जिय करे स्वभावसों, जिनवर सांच बखान।।प्राणी०।।
मन वच काय जे पढ़ें, ते पावे भव पार।
विनय कीर्ति सुख सो भणे, जनम सफल संसार।।
प्राणी व्रत अठाई जे करे, ते पावें भव पार।।प्राणी०।।

●

आलोचना पाठ

वंदों पांचों परम-गुरु, चौबीसों जिनराज।
करूं शुद्ध आलोचना, शुद्धि-करन के काज।।१।।

सखी छन्द

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अति भारी।
तिनकी अब निर्वृति काजा, तुम सरन लही जिन राज।।२।।

इक वे ते चउ इंद्री वा, मन रहित सहित जे जीवा।
तिनकी नहिं करुणा धारी, निरदई ह्वै घात विचारी।।३।।
समरंभ समारंभ आरंभ, मन वच तन कीने प्रारंभ।
कृत कारित मोदन करिकैं, क्रोधादि चतुष्टय धरिकैं।।४।।
शत आठ जु इमि भेदनतैं, अघ कीने परिछेदनतैं।
तिनकी कहुँ कोलों कहानी, तुम जानत केवलज्ञानी।।५।।
विपरीत एकांत विनय के, संशय अज्ञान कुनय के।
वश होय घोर अघ कीने, वच तैं नहिं जाय कहीने।।६।।
कुगुरुन की सेवा कीनी, केवल अदया करि भीनी।
या विधि मिथ्यात भ्रमायो, चहुं गति मधि दोष उपायो।।७।।
हिंसा पुनि झूठ जु चोरी, पर वनिता सों दृग जोरी।
आरंभ परिग्रह भीनो, पन पाप जु या विधि कीनो।।८।।
सपरस रसना घ्रानन को, चखु कान विषय सेवन को।
बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय अन्याय न जाने।।९।।
फल पंच उदंबर खाये, मधु मांस मद्य चित चाये।
नहिं अष्ट मूलगुण धारे, सेये कुविसन दुखकारे।।१०।।
दुइवीस अभख जिन गाये, सो भी निश-दिन भुंजाये।
कुछ भेदाभेद न पायो, ज्यों त्यों करि उदर भरायो।।११।।
अनंतानु बंधी जु जानो, प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यानो।
[illegible] चौकड़ी गुनिये, सब भेद जु षोडश मुनिये।।१२।।
परिहास अरति रति शोक, भय ग्लानि त्रिवेद संयोग।
पनबीस जु भेद भये इम, इनके वश पाप किये हम।।१३।।

निद्रा वश शयन कराई, सुपने मधि दोष लगाई।
फिर जागि विषय वन धायो, नाना विध विष-फल खायो।।१४।।
आहार विहार नीहारा, इनमें नहिं जतन विचारा।
बिन देखी धरी उठाई, बिन शोधी वस्तु जु खाई।।१५।।
तब ही परमाद सतायो, बहु विधि विकलप उपजायो।
कछु सुधि बुधि नाहिं रही है, मिथ्या मति छाय गई है।।१६।।
मरजादा तुम ढिग लीनी, ताहू में दोष जु कीनी।
भिन भिन अब कैसें कहिये, तुम ज्ञान विषैं सब पइये।।१७।।
हा हा ! मैं दुठ अपराधी, त्रस-जीवन-राशि विराधी।
थावर की जतन न कीनी, उर में करुणा नहिं लीनी।।१८।।
पृथवी बहु खोद कराई, महलादिक जागाँ चिनाई।
पुनि बिन गाल्यो जल ढोल्यो, पंखा तै पवन बिलोल्यो।।१९।।
हा हा ! मैं अदयाचारी, बहु हरितकाय जु विदारी।
तामधि जीवन के खंदा, हम खाये धरि आनंदा।।२०।।
हा हा ! परमाद बसाई, बिन देखे अगनि जलाई।
तामध्य जीव जे आये, ते हू परलोक सिधाये।।२१।।
बीध्यो अन राशि पिसायो, ईंधन बिन सोधि जलायो।
झाडू ले जागां बुहारी, चींटी आदिक जीव बिदारी।।२२।।
जल छानि जिवानी कीनी, सो हू पुनि डारि जु दीनी।
नहिं जल-थानक पहुँचाई, किरिया बिन पाप उपाई।।२३।।
जल मल मोरिन गिरवायो, कृमि-कुल बहु घात करायो।
नदियन बिच चीर धुवाये, कोसन के जीव मराये।।२४।।

अन्नादिक शोध कराई, तामें जु जीव निसराई।
तिनका नहिं जतन कराया, गलियारे धूप डराया।।२५।।
पुनि द्रव्य कमावन काजे, बहु आरंभ हिंसा साजे।
किये तिसना वश अघ भारी, करुणा नहिं रंच विचारी।।२६।।
इत्यादिक पाप अनंता, हम कीने श्री भगवंता।
संतति चिरकाल उपाई, वाणी तैं कहिये न जाई।।२७।।
ताको जु उदय अब आयो, नाना विध मोहि सतायो।
फल भुंजत जिय दुख पावै, वचतैं कैसे करि गावै।।२८।।
तुम जानत केवलज्ञानी, दुख दूर करो शिवथानी।
हम तो तुम शरण लही है, जिन तारन विरद सही है।।२९।।
इक गांवपती जो होवे, सो भी दुखिया दुख खोवै।
तुम तीन भुवन के स्वामी, दुख मेटहु अंतरजामी।।३०।।
द्रोपदि को चीर बढ़ायो, सीता-प्रति कमल रचायो।
अंजन से किये अकामी, दुख मेटयो अंतरजामी।।३१।।
मेरे अवगुन न चितारो, प्रभु अपनो विरद सम्हारो।
सब दोष-रहित करि स्वामी, दुख मेटहु अतंरजामी।।३२।।
इन्द्रादिक पद नहिं चाहूँ, विषयनि में नाहिं लुभाऊं।
रागादिक दोष हरीजे, परमातम निज पद दीजे।।३३।।

दोहा- दोष-रहित जिनदेव जी, निज-पद दीज्यो मोय।
सब जीवन के सुख बढ़ैं, आनंद मंगल होय।।
अनुभव माणिक पारखी, जौहरि आप जिनन्द।
येही वर मोहि दीजिये, चरण शरण आनन्द।।

बारह भावना

(दोहा)

१. अनित्य- राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार।।१।।

२. अशरण-दल बल देवी देवता, मात पिता परिवार।
मरती बिरियाँ जीव को, कोई न राखनहार।।२।।

३. संसार- दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान।।३।।

४. एकत्व- आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय।
यो कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय।।४।।

५. अन्यत्व-जहां देह अपनी नहीं, तहां न अपना कोय।
घर संपति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय।।५।।

६. अशुचि- दिपे चाम-चादर मढ़ी, हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में, अवर नहीं घिन-गेह।।६।।

(सोरठा)

७. आस्रव-मोह-नींद के जोर, जगवासी घूमैं सदा।
कर्म-चोर चहूँ ओर, सरबस लूटैं सुध नहीं।।७।।

८. संवर- सतगुरु देय जगाय, मोह-नींद जब उपशमैं।
तब कछु बने उपाय, कर्म-चोर आवत रुकैं।।८।।

(दोहा)

९. निर्जरा-ज्ञान दीप तप-तेल भर, घर शोधै भ्रम छोर।
या विध बिन निकसे नहीं, पैठे पूरब चोर।।
पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच प्रकार।
प्रबल पंच इन्द्रिय- विजय, धार निर्जरा सार।।९।।

१०. लोक- चौदह राजु उत्तंग नभ, लोक पुरुष-संठान।
तामें जीव अनादितैं, भरमत हैं बिन ज्ञान।।१०।।

११. बोधिदुर्लभ-धन कन कंचन राजसुख, सबहि सुलभकर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान।।११।।

१२. धर्म- जांचे सुर-तरु देय सुख, चिंतत चिन्तारैन।
बिन जांचै बिन चिंतये, धर्म सकल सुख दैन।।१२।।

●

श्री सिद्धचक्र का पाठ

श्री सिद्धचक्र का पाठ करौ दिन आठ, ठाठ से प्रानी,
फल पायो मैना रानी।। टेक।।
मैना सुन्दरि इक नारी थी, कोढ़ी पति लखि दुखियारी थी,
नहिं पड़े चैन दिन रैन व्यथित अकुलानी।।
फल पायो मैना रानी।।
जो पति का कष्ट मिटाऊंगी, तो उभय लोक सुख पाऊंगी,
नहिं अजागलस्तनवत निष्फल जिंदगानी। फल पायो मैना रानी।।

इक दिवस गई जिन मन्दिर में, दर्शन करि अति हर्षी उर में
फिर लखे साधु निर्ग्रन्थ दिगम्बर ज्ञानी।।
फल पायो मैना रानी।।
बैठी मुनिको करि नमस्कार, निज निन्दा करती बार बार,
भरि अश्रु नयन कही मुनि सों दुखद कहानी।।
फल पायो मैना रानी।।
बोले मुनि पुत्री धैर्य धरो, श्री सिद्धचक्र का पाठ करो,।
नहिं रहे कुष्ट की तन में नाम निशानी, फल पायो मैना रानी।।
सुनि साधु वचन हर्षी मैना, नहिं होय झूठ मुनि के बैना,
करि के श्रद्धा श्री सिद्धचक्र की ठानी।।
फल पायो मैना रानी।।
जब पर्व अठाई आया है, उत्सवयुत पाठ कराया है,।
सबके तन छिड़का यंत्र न्हवन का पानी, फल पायो मैना रानी।।
गंधोदक छिड़कत वसु दिन में, नहिं रहा कुष्ठ किंचित तन में
भई सात शतक की काया स्वर्ण समानी।।
फल पायो मैना रानी।।
भव भोग भोगि योगेश भये, श्रीपाल कर्म हनि मोक्ष गये,
दूजे भव मैना पावे शिव रजधानी, फल पायो मैना रानी।।
जो पाठ करें मन वच तन से, वे छूटि जांय भव बंधन से,
मक्खन मत करो विकल्प कहा जिन वानी।।
फल पायो मैना रानी।।

●

श्री पार्श्वनाथ की स्तुति

तुमसे लागी लगन, ले लो अपनी शरण।
पारस प्यारा, मेटो-मेटो जी संकट हमारा।।
निश दिन तुमको जपूं, परसे नेहा तजूं।
जीवन सारा, तेरे चरणों में बीते हमारा।।
तुम से लागी लगन, ले लो अपनी शरण।।१।।
अश्वसेन के राज दुलारे, वामा देवी के सुत प्राण प्यारे।
सबसे नेहा तोड़ा जग से मुंह को मोड़ा।
संयम धारा, मेटो मेटो जी संकट हमारा।। तुमसे।।
इन्द्र और धरणेन्द्र भीआये, देवी पद्मावती मंगल गाये।।
आशा पूरो सदा, दु:ख नहीं पावे कदा।
सेवक थारा, मेटो-मेटोजी संकट हमारा।। तुमसे०
जग के दु:ख की तो परवाह नहीं है।
सर्व सुख की भी चाह नहीं है।।
मेटो जामन-मरण होवे, ऐसा यतन।
पारस प्यारा, मेटो-मेटो जी संकट हमारा।।
तुमसे लागी लगन, ले लो अपनी शरण।।४।।
लाखों बार तुम्हें शीश नवाऊँ, जग के नाथ तुम्हें कैसे पाऊँ।
पंकज व्याकुल भया, दर्शन बिन ये जिया।।
लागे खारा, मेटो-मेटो जी संकट हमारा।
तुमसे लागी लगन, ले लो अपनी शरण।।५।।

देव-स्तुति

दौलतराम कृत

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रस लीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त निज, अरि-रज-रहस-विहीन।।१।।
जय वीतराग विज्ञान-पूर, जय मोह-तिमिर को हरन सूर।
जय ज्ञान अनन्तानन्त धार, दृग-सुख-वीरज-मण्डित अपार।।२।।
जय परम शान्त मुद्रा समेत, भवि-जन को निज अनुभूति हेत।
भवि-भागन वच जोगे वशाय, तुम ध्वनि है सुनि विभ्रम नशाय।।३।।
तुम गुण चिन्तन निज पर विवेक, प्रगटे विघटे आपद अनेक।
तुम जग भूषण दूषण वियुक्त, सब महिमा युक्त विकल्प मुक्त।।४।।
अविरुद्ध शुद्ध चेतन-स्वरूप, परमात्म परम पावन अनूप।
शुभ अशुभ विभाव अभाव कीन, स्वाभाविक परिणति मय अछीण।।५।।
अष्टादश दोष विमुक्त धीर, स्व-चतुष्टय में राजत गम्भीर।
मुनि गणधरादि सेवत महंत, नव केवल-लब्धि-रमा धरंत।।६।।
तुम शासन सेय अमेय जीव, शिव गये जांहि जैहैं सदीव।
भव-सागर में दुख छार वारि, तारन को और न आप टारि।।७।।
यह लखि निज दुःख-गद-हरण-काज, तुम ही निमित्तकारण इलाज।
जाने तातैं मैं शरण आय, उचरो निज दुख जो चिर लहाय।।८।।
मैं भ्रम्यो अपनपो विसरि आप, अपनाये विधि-फल पुण्य-पाप।
निज को पर का कर्त्ता पिछान, पर में अनिष्टता इष्ट ठान।।९।।

आकुलित भयो अज्ञान धारि, ज्यों मृग मृग-तृष्णा जानि वारि।
तन परिणति में आपो चितारि, कबहूँ न अनुभवो स्वपद-सार।।१०।।
तुमको जाने बिन जाने जो कलेश, पाये सो तुम जानत जिनेश।
पशु-नारक-नर-सुर-गति मंझार, भव धर-धर मर्यो अनन्त बार।।११।।
अब काललब्धि बलतैं दयाल, तुम दर्शन पाय भयो खुशाल।
मनशान्त भयो मिटि सकल द्वंद, चाख्यो स्वात्म-रस दु:ख-निकंद।।१२।।
तातें ऐसी अब करहूँ नाथ, बिछुरै न कभी तुम चरण साथ।
तुम गुणगण को नहीं छेव देव, जग तारन को तुम विरद एव।।१३।।
आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।
मैं रहूँ आप में आप लीन, सो करहुँ होऊँ जो निजाधीन।।१४।।
मेरे न चाह कुछ और ईश, रत्नत्रय निधि दीजे मुनीश।
मुझ कारज के कारण सु आप, शिव करहुँ हरहु मम मोह-ताप।।१५।।
शशि शान्तिकरण तप-हरण हेत, स्वयमेव तथा तुम कुशल देत।
पीवत पियूष ज्यों रोग जाय, त्यों तुम अनुभव ते भव नशाय।।१६।।
त्रिभुवन तिहुँ काल मंझार कोय, नहिं तुम बिन निज सुखदाय होय।
मो उर यह निश्चय भयो आज, दु:ख जलधि उधारण तुम जहाज।।१७।।

तुम गुण-गण-मणि गणपति, गणत न पावहिं पार।
'दौल' स्वल्पमति किमु कहे, नमूँ त्रियोग सम्हार।।

●

पुण्याह-वाचनम्

ॐ पुण्याहं पुण्याहं। लोकोद्योतनकरा अतीत-काल-संजाता निर्वाण सागर - महासाधु - विमलप्रभ - शुद्धाभ - श्रीधर - श्रीदत्त - सिद्धाभा - मलप्रभोद्धारागिन - संयम-शिव- कुसुमांजलि- उत्साहोत्साह - ज्ञानेश्वर-परमेश्वर - विमलेश्वर - यशोधर - कृष्णमति - ज्ञानमति - शुद्धमति - श्रीभद्रानन्तवीर्याश्चेति चतुर्विंशति - भूतपरमदेवाश्च वः प्रीयन्तां प्रीयन्ताम्। धारा।।१।।

ॐ संप्रति-काल-श्रेयस्कर-स्वर्गावतरण-जन्माभिषेक- परिनिष्क्रमण- केवलज्ञान-निर्वाण- कल्याण-विभूति विभूषित- महाभ्युदयाः श्रीवृषभ-अजित-सम्भव-अभिनन्दन- सुमति- पद्मप्रभ-सुपार्श्व- चन्द्रप्रभ -पुष्पदन्त-शीतल-श्रेयांस- वासुपूज्य- विमल-अनन्त-धर्म- शान्ति -कुन्थु-अर-मल्लि- मुनिसुव्रत-नमि -नेमि-पार्श्व-वर्द्धमानश्चेति-वर्तमान- चतुर्विंशति- परमदेवाश्च वः प्रीयन्तां प्रीयन्ताम्।। धारा।।२।।

ॐ भविष्यत्-कालाभ्युदय-प्रभवाः श्रीमहापद्म - सुरदेव - सुपार्श्व स्वयं- प्रभ-सर्वात्मभूत - देवपुत्र-कुलपुत्र - उदंक- प्रौष्ठिल - जयकीर्ति - मुनिसुव्रत - अर - निष्पाप - निष्कषाय - विपुल - निर्मल - चित्रगुप्त - समाधिगुप्त - स्वयंभूअनिर्वतक- जय - विमल - देवपाल - अनन्तवीर्याश्चेति चतुर्विंशति-भविष्यत् - परमदेवाश्च वः प्रीयन्तां प्रीयन्ताम्।। धारा।।३।।

ॐ त्रिकालवर्ति-परमधर्माभ्युदयाः सीमंधर-युगमंधर- बाहु-सुबाहु-संजात- स्वयंप्रभ- ऋषभेश्वर -अनन्तवीर्य- सूरिप्रभ- विशालकीर्ति वज्रधर -चन्द्राननभद्रबाहु- भुजंगम-ईश्वर- नेमिप्रभ -वीरसेन-महाभद्र-देवयश -अजितवीर्याश्चेति पंचविदेह-

क्षेत्र-विहरमाणा विंशति-परमदेवाश्च वः प्रीयंतां प्रीयन्ताम्।। धारा।।४।।

ॐ वृषभसेनादि-गणधर-देवाः वः प्रीयन्तां प्रीयन्ताम्।। धारा।।५।।

ॐ कोष्ठ-बीज-पादानुसारि-बुद्धि-संभिन्न-श्रोतृ-प्रज्ञाश्रमणाश्च वः प्रीयन्तां प्रीयन्ताम्।। धारा।।६।।

ॐ आमर्ष-क्ष्वेड-जल्ल-मल्ल-विड्रुत्सर्ग-सर्वौषधि-ऋद्धयश्च वः प्रीयन्तां प्रीयन्ताम्।। धारा।।७।।

ॐ जल-फल-जंघा-तन्तु-पुष्प-श्रेणि-पत्राग्नि-शिखाकाश-चारणाश्च वः प्रीयन्तां प्रीयन्ताम्।।धारा।।८।।

ॐ आहार-रस वद क्षीणमहानसालयाश्च वः प्रीयन्ता प्रीयन्ताम्।। धारा।।९।।

ॐ उग्र-दीप्त-तप्त-महाघोरानुपम-तपसश्च वः प्रीयन्ता प्रीयन्ताम्।। धारा।।१०।।

ॐ मनो-वाक्-काय-बलिनश्च वः प्रीयन्तां प्रीयन्ताम्।। धारा।।११।।

ॐ क्रिया-विक्रिया-धारिणश्च वः प्रीयन्तां प्रीयन्ताम्।। धारा।।१२।।

ॐ मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलज्ञानिनश्च वः प्रीयन्तां प्रीयन्ताम्।। धारा।।१३।।

ॐ अगांग-बाह्य-ज्ञान-दिवाकराः कुन्दकुन्दाद्यनेक-दिगम्बर-देवाश्च वः प्रीयन्तां प्रीयन्ताम्।। धारा।।१४।।

ॐ इह वान्य-नगर-ग्रामदेवता-मनुजाः सर्वे-गुरुभक्ताः जिनधर्म-परायणा भवन्तु।। धारा।।१५।।

ॐ दान-तपो-वीर्यानुष्ठानं नित्यमेवास्तु।। धारा।।१६।।

ॐ मातृ-पितृ-भ्रातृ-पुत्र-कलत्र-सुहृत्स्वजन- सम्बन्धि-बन्धु-सहितस्य- अमुकस्य ते धन- धान्यैश्वर्य- बल-द्युति-यशः-प्रमोदोत्सवा........प्रवर्द्धन्ताम्।। धारा।।१७।।

तुष्टि-रस्तु, पुष्टि-रस्तु, वृद्धि-रस्तु, कल्याण-मस्तु, अविघ्न-मस्तु, आयुष्य-मस्तु, आरोग्य-मस्तु, कार्य-सिद्धि-रस्तु, इष्ट-सम्पत्ति-रस्तु, निर्वाण-पर्वोत्सवाः सन्तु, पापानि शाम्यन्तु, घोराणि शाम्यन्तु, पुण्यं वर्धतां, धर्मो वर्धतां, श्री वर्धतां, कुलं गोत्रं चाभिवर्धतां। स्वस्ति भद्रं चास्तु, क्ष्वीं क्ष्वीं हं सः स्वाहा। श्रीमज्जिनेन्द्र-चरणार-विन्देष्वानंद-भक्तिः सदास्तु।

●

मंगलाचरण

मंगलं भगवान्वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्।।१।।
नमः स्यादर्हद्भ्यो, निखिलगुणधामभ्यस्त्रिभुवने।
नमोऽस्तु सिद्धेभ्यः, प्राप्तं न गुणपारं द्युपतिभिः।।
नमो ह्याचार्येभ्यः सुरगुरुनिकारो भवति यैः।
नमः उपाध्यायेभ्यः भवतिमिरयाने रविरिव।।२।।
नमः स्यात्साधुभ्यो जगदुदधियानं तव पदम्।
इदं तत्त्वं मन्त्रं, पठति त्रिकाले यदि जिन।।
असारे संसारे तव पदयुगध्याननिरतः।
समृद्धीमान्पुरुषः सहि भवति दीर्घायुरव्ज्ञा:।।३।।

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धीश्वराः।
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।।
श्रीसिद्धान्तसुपाठकाः मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः।
पंचैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु मे मंगलम्।।४।।

●

नव नारायणों के नाम

१. त्रिपृष्ट	२. द्विपृष्ट	३. स्वयंभू
४. पुरुषोत्तम	५. पुरुषसिंह	६. पुरुष पुंडरीक
७. पुरुषदत्त	८. लक्ष्मण	९. श्रीकृष्ण।

नव प्रतिनारायणों के नाम

१. अश्वग्रीव	२. तारक	३. मेरक
४. निशुंभ	५. मधुकैटभ	६. बलि
७. प्रहरण	८. रावण	९. जरासंध

नव नारदों के नाम

१. भीम	२. महाभीम	३. रुद्र
४. महारुद्र	५. काल	६. महाकाल
७. दुर्मुख	८. नरकमुख	९. अधोमुख

चौबीस कामदेव के नाम

१. बाहुबलि	२. अमिततेज	३. श्रीधर
४. यशभद्र	५. प्रसेनजित	६. चन्द्रवर्ण

७. अग्निमुक्ति　८. सनत्कुमार　९. वत्सराज
१०. कनकप्रभ　११. सिद्धवर्ण　१२.शांतिनाथ (तीर्थङ्कर)
१३. कुन्थुनाथ(तीर्थङ्कर)　१४.अरहनाथ　१५. विजयराजा
१६. श्रीचन्द्र　१७. राजानल　१८. हनुमानजी
१९. बलगजा　२०. वसुदेव　२१. प्रद्युमन
२२. नागकुमार　२३. श्रीपाल　२४. जम्बूस्वामी

●

तीर्थंकरों के नाम

भूतकाल सम्बन्धी चतुर्विंशति तीर्थंकरों के नाम

१. श्रीनिर्वाण　२. सागर　३. महासाधु
४. विमलप्रभ　५. श्रीधर　६. सुदत्त
७. अमलप्रभ　८. उद्धर　९. अंगिर
१०. सन्मति　११. सिन्धु　१२.कुसुमाञ्जलि
१३. शिवगण　१४. उत्साह　१५. ज्ञानेश्वर
१६. परमेश्वर　१७. विमलेश्वर　१८. यशोधर
१९. कृष्णमति　२०. ज्ञानमती　२१. शुद्धमती
२२. श्रीभद्र　२३. अतिक्रान्त

२४. शांताश्चेति भूतकाल सम्बन्धी चतुर्विंशति तीर्थङ्करेभ्यो नमो नमः ।

वर्तमानकाल सम्बन्धी चतुर्विंशति तीर्थंकरों के नाम

१. ऋषभ　२. अजित　३. संभव
४. अभिनन्दन　५. सुमति　६. पद्मप्रभु

७. सुपार्श्व ८. चन्द्रप्रभ ९. पुष्पदन्त
१०. शीतल ११. श्रेयांस १२. वासुपूज्य
१३. विमल १४. अनन्त १५. धर्मनाथ
१६. शांतिनाथ १७. कुन्थुनाथ १८. अरनाथ
१९. मल्लिनाथ २०. मुनिसुव्रत २१. नमिनाथ
२२. नेमिनाथ २३. पार्श्वनाथ
२४. महावीरारश्चेति वर्तमानकाल सम्बन्धी चतुर्विंशति तीर्थङ्करेभ्यो नमः ।

भविष्यतकाल सम्बन्धी चतुर्विंशति तीर्थंकरों के नाम

१. श्रीमहापद्म २. सुरदेव ३. सुपार्श्व
४. स्वयंप्रभ ५. सर्वात्मभूत ६. देवपुत्र
७. कुलपुत्र ८. उदङ्क ९. प्रोष्टिल
१०. जयकीर्ति ११. मुनिसुव्रत १२. अर
१३. निष्पाप १४. निष्कषाय १५. विपुल
१६. निर्मल १७. चित्रगुप्त १८. समाधिगुप्त
१९. स्वयंभू २०. अनिवर्तक २१. जय
२२. विमल २३. देवपाल २४. अनन्तवीर्य ।इति ।
भविष्यत काल सम्बन्धी चतुर्विंशति तीर्थङ्करेभ्यो नमः ।

विदेह क्षेत्रस्थ विंशति तीर्थंकराः

१. श्रीसीमंधर २. युगमंधर ३. बाहु
४. सुबाहु ५. संजात ६. स्वयंप्रभ
७. वृषभानन ८. अनन्तवीर्य ९. सूरिप्रभ
१०. विशालप्रभ ११. वज्रधर १२. चन्द्रानन

१३. भद्रबाहु　　१४. भुजंगम　　१५. ईश्वर
१६. नेमिप्रभ　　१७. वीरसेन　　१८. महाभद्र
१९. देवयश　　२०. अजीत वीर्याश्चेति विदेह क्षेत्र
सम्बन्धीबीस तीर्थङ्करेभ्यो नमः।

भगवान की माता के सोलह स्वप्न

१. ऐरावत हाथी　　२. सफेद बैल　　३. सिंह
४. दो हाथियों के द्वारा कलशों से स्नान करती हुई लक्ष्मी
५. युगल पुष्पमाला　　६. पूर्ण चन्द्रमा　　७. उदित होता हुआ सूर्य
८. मीन युगल　　९. दो कलश कमल व पत्र से ढके हुए
१०. कमलों से युक्त तालाब　　११. गम्भीर समुद्र
१२. सुन्दर सिहांसन　　१३. छोटी-छोटी ध्वजाओं से शोभित विमान
१४. धरणेन्द्र का विमान　　१५. रत्न राशि
१६. निर्धूम अग्नि

भगवान के पांच कल्याणक

१. गर्भ २. जन्म ३. तप ४. केवलज्ञान ५. मोक्ष कल्याणक

12 चक्रवर्ती के नाम

१. भरत　　२. सगर　　३. मघवा
४. सनत्कुमार　　५. शान्तिनाथ　　६. कुन्थुनाथ
७. अरनाथ　　८. सुभौम　　९. महापद्म
१०. हरिषेण　　११. जयसेन　　१२. ब्रह्मदत्त

नव बलभद्रों के नाम

१. विजय २. अचल ३. धर्म
४. सुभद्र ५. सुदर्शन ६. नन्दीषेण
७. नन्दिमित्र ८. पद्मरामचन्द्र ९. बलदेव (बलभद्र)

●

दर्शन पाठ

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।१।।

दर्शन पाठ

दर्शनं देव देवस्य, दर्शनं पापनाशनं।
दर्शनं स्वर्गसोपानं, दर्शनं मोक्षसाधनं।।
दर्शनेन जिनेन्द्राणां, साधूनां वन्दनेन च।
न चिरं तिष्ठते पापं, छिद्रहस्ते यथोदकम्।।
वीतरागमुखं दृष्टवां पद्मरागसमप्रभं।
अनेक जन्मकृतं पापं, दर्शनेन विनश्यति।।
दर्शनं जिन सूर्यस्य, संसारध्वान्तनाशनं।
बोधनं चित्तपद्मस्य, समस्तार्थप्रकाशनं।।
दर्शनं जिन चन्द्रस्य, सद्धर्मामृतवर्षणं।
जन्मदाहविनाशाय, वर्धनं सुखवारिधेः।।

जीवादितत्त्व प्रतिपादकाय, सम्यक्त्वमुख्याष्टगुणार्णवाय।
प्रशांतरूपाय दिगंबराय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय।।

चिदानन्दैकरूपाय, जिनाय परमात्मने।
परमात्मप्रकाशाय, नित्यं सिद्धात्मने नमः।।
अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम।
तस्मात्कारुण्यभावेन, रक्ष रक्ष जिनेश्वरः!।।
नहि त्राता नहि त्राता नहि त्राता जगत्त्रये।
वीतरागात्परो देवो, न भूतो न भविष्यति।।
जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने।
सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु भवे भवे।।
जिनधर्मविनिर्मुक्तो, मा भवेच्चक्रवर्त्यपि।
स्याच्चेटोपि दरिद्रोपि, जिनधर्मानुवासितः।।
जन्मजन्मकृतंपापं जन्मकोटिमुपार्जितं।
जन्ममृत्युजरारोगं हन्यते जिनदर्शनात्।।

अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य,
देव ! त्वदीयचरणाम्बुजवीक्षणेन।।
अद्य त्रिलोकतिलकं प्रतिभासते मे,
संसार वारिधिरयं चुलुकप्रमाणम्।।

●